

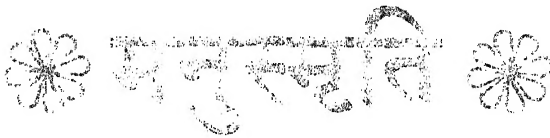
आप्यन्थावलि

१० राजाजी प्रोबोप डी.ए.बी.

कालेज लाहौर प्रणीत

25/10

सरल लिपि में लिखा गया है



जैसे वही भारी विषयवस्तु सरल है, कि अथवा वही
के साथ, संस्कृत की जितनी शक्तियों के वर्ण भेद

और दूसरी शक्तियों के वर्ण भी दिये

हैं। शक्तियों का भेदनामि शक्ति

भी लिखा है। जो आप में

अथवा आप में अथवा

अथवा अथवा

अथवा अथवा

अथवा अथवा

अथवा अथवा अथवा अथवा

अथवा अथवा अथवा अथवा

अथवा अथवा

अथवा अथवा

मासिक] “आर्ष-ग्रन्थावलि” [वार्षिक मूल्य ३)

इस ग्रन्थावलि में संस्कृत के उत्तम २ ग्रन्थ हिन्दी भाष्यों समेत छपते रहते हैं । इस के सम्पादक पं० राजारामजी प्रोफेसर डी. ए. बी. कालेज लाहौर हैं । पण्डितजी के किये भाष्य बड़े सरल और यथार्थ होते हैं, इसीलिये कई बार पण्डितजी को गवर्नमिण्ट और यूनीवर्सिटी से इनाम भी मिला है । ३) भेजकर आप इस को व भर घर बैठे पाते रहेंगे ।

पता—मैनेजर

आर्ष-ग्रन्थावलि, लाहौर

आर्ष-ग्रन्थावलि में अब तक छपे ग्रन्थ

श्रीवाल्मीकिरामायणकी टीका और तिसार ७००) इन

(क) पं० राजारामजी प्रोफेसर डी. ए. बी. कालेज लाहौर ने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी उल्था किया है, वह ऐसा अद्वितीय और प्रामाणिक उल्था हुआ है, कि उस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने ५००) रु० और पञ्जाब गवर्नमिण्ट ने २००) रु० पण्डितजी को इनाम दिया है । (१) इस में मूल संस्कृत भी साथ (२) हिन्दी टीका बड़ी ही सरल है, जिस को बच्चे भी चाव से पढ़ें, (३) कष्ट करने योग्य उत्तम उत्तम श्लोकों पर निशान दिये हैं

यह जीवन को सुधार कर नया जीवन बना देने वाली पुस्तक हर एक घर में अवश्य होने योग्य है । ऐसी उत्तम और इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य ५।) मुनहरी असरों की जिल्द वाली ५।।।)

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता—इस पर भी पण्डितजी को गवर्नमिण्ट से ३००) इनाम मिला है । मूल श्लोक के नीचे पद पद का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर भाष्य है । मूल्य २)

(३) गीता हमें क्या सिलखाती है ।)

(ग) ११ उपनिषदें । (पुस्तक के अन्त में देखो)

मनुस्मृति का विषय सूची

सूची जितनी संक्षिप्त हो, उतना कोई विषय हटाना आसान होता है, इसलिये सूची में मुख्य २ विषय देकर छोटे-विषय उन्हीं के नीचे श्लोक संख्या देकर दे दिये हैं।

भूमिका—इसमें मनुष्य को धर्म की आवश्यकता, और धर्मियों की उत्पत्ति आदि का वर्णन है:—

प्रथमाध्याय

विषय श्लो० पृष्ठ
ऋषियों के धर्म विषय के प्रश्न १-१५
मनु का उत्तर—मनुष्य का वर्णन ५-१६
सृष्टि का उत्पत्ति का काल ६-१७
इसमें श्लोक १, १०, ११ में ब्रह्मा, नारायण, प्रथमस्वरूप का वर्णन है, २३ में तीनों वेदों की रचना कही है, ३१ में ब्राह्मणादि वर्णों की सृष्टि कही है, ३३ में मनु की सृष्टि इसमें आगे पञ्चमाली, कीड़े पतंगें वनस्पति आदि की उत्पत्ति, ५५ से जीव का एक

विषय श्लो० पृष्ठ

देह से दूसरे देह में जाना, ६९ से चारों सुगों का, मन्वन्तर का और कल्प का परिमाण, ८१ से सुगों के धर्म, ८८ से चारों वर्णों के कर्म, ९२ से ब्राह्मण की श्रेष्ठता, १०८ से आचार, और १११ में ग्रन्थ की सूची आरम्भ होती है।

द्वितीयाध्याय

धर्म का सामान्य लक्षण १-४८
अकल्प की मरिमा २-४८
धर्म के मूल (स्रोत) ६-४९
धर्म में परममार्ग १-४९
धर्म प्रधान देश-प्रजापति, ब्रह्मर्षि देश, अश्वमेध, आर्यावर्त १७-५३
संस्कार २६-५५
२९ में जात-कर्म, ३० से नाम करण, ३४ में निष्क्रमण और अवगमन, ३५ में मुंडन उपनयन संस्कार ३६-५७
३६ से उपनयन का समय, ३९ से व्रात्य, ४१ से ब्रह्मचारियों के वस्त्रादि, ४८ से भिक्षा

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
विधान, ५१ से भोजन विधान, ५८ से आचमन, और ६३ में यज्ञोपवीत धारण, ६५ में केशान्त संस्कार ६६ से कन्याओं के संस्कार, ७० से ब्रह्मचारी के नियम, गायत्री जप आदि ८८ से इन्द्रिय संयम, १०१ से सन्ध्योपासना, १०५ से स्वाध्याय विधान. १०८ में नियम, १०९ में पढ़ाने योग्य पुरुष, ११० से विद्यादान के अधिकारी अनधिकारी, ११७ से गुरुओं और दूसरे बड़ों का आदर मान. और अभिवादन की रीति, १३६ से पुरुष को मान दिवाने के कारण. १३८ से सबसे बड़कर माननीय पुरुष कहे हैं, १४० से आचार्य, उपाध्याय, गुरु, ऋत्विज्, कहे हैं, १४४ से माता, पिता और गुरुओं का आदर कहा है, १५० से विद्यादान और धर्म शिक्षण का महत्त्व, १५४ से विद्वान् की प्रशंसा, १५७ से अविद्वान्		की निन्दा, १५९ से अध्यापक और उपदेशक के नियम, १६४ से वेदाभ्यास की प्रशंसा, १६८ में वेद त्याग से शूद्र होना, १६९ से द्विजत्वकी उत्पत्ति, १७५ से ब्रह्मचारी के नियम, २२४ में धर्म, अर्थ काम की व्यवस्था, २२५ से सम्बन्धियों का मान, २२७ से माता पिता और आचार्य की सेवा और आज्ञापालन, २३८ से विद्या आदि उत्तम रत्नों का सबसे ग्रहण कर लेना, २३८ से अब्राह्मण गुरु से विद्या अध्ययन, २४३ से नैष्ठिक (मरण पर्यन्त) ब्रह्मचारी के धर्म, २४५ से उपकुर्वाणक के धर्म कहे हैं।	
		तृतीयाध्याय	
		ब्रह्मचर्यकी अवधि ११-११	
		से गृहाश्रम में प्रवेश ५ से विवाह ने योग्य और न विवाह ने योग्य कन्याएं, १२ से अपने तुल्य वर्ण और छोटे वर्णों से कन्या लेने की आज्ञा, १४ से द्विजों	

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
तो अकेली शूद्रा के विवाहने		दिये जानेवाले भोजन और उन	
का निषेध, २० से आठ		से तृप्ति की अवधि २७५ से श्राद्ध	
कार के विवाह, ३५ में कन्या		दिन, २८५ में यज्ञ शेष भोजन	
दान, ३६ से ब्राह्म्यादि विवाहों		की प्रशंसा कही है ।	
के गुण अवगुण, ४३ से सवर्णा		चतुर्थाध्याय	
असवर्णा के विवाहने की रीति		(स्नातक के व्रत)	
४५ से मन्तानोत्पादन, ५१ से		दूसरा आश्रम १-१८६	
कन्या के बेचने का निषेध ५५		ब्राह्मण की आजीविकाएं २-१८६	
से स्त्रियों का आदरमान, ६३		ब्राह्मण के रहने	
से कुलों का गिरना और ऊंचा		सहने का ढंग १६-२०	
होना, ६७ से पांचमहायज्ञ कहे हैं ।		शास्त्र का अभ्यस १९-१२०	
श्राद्ध १२२-१४३		पांचमहायज्ञ २१-१२१	
१२८ से श्राद्ध जमाने योग्य		अग्निहोत्र, और इष्टियें २५-१२२	
ब्राह्मण, १५० से श्राद्ध न		पूजनीय और अपूजनीय	
जमाने योग्य ब्राह्मण, १८३ से		ब्राह्मणों का भेद २१-१२३	
पंक्तिपावन ब्राह्मण, १८७ से		स्नातक ब्राह्मण के व्रत ३५-१२४	
श्राद्ध का निमन्त्रण, और		८८ से २१ नरक, ९२ से प्रातः	
निमन्त्रित ब्राह्मण के नियम,		कर्तव्य, ९५ से उपाकर्म और	
१२३ से पितरों की उत्पत्ति,		उत्सर्ग १०१ से अन्ध्याय १-९	
२०२ से श्राद्ध के नियम, २०८		से साधारण नियम, १३७ में	
से श्राद्ध जमाने की रीति		पुरुषार्थ, १३८ में लोकों से वर्तव्य	
२५८ से पितरों से वर मांगना,		१४५ से मंगलाचार, १४७ से	
२६६ से श्राद्ध में पितरों को		वेदाभ्यास, १५५ से सदाचार	

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
की प्रशंसा, १५१ से स्वतन्त्रता		शुद्धि करने वाले द्रव्य और	
की प्रशंसा, १६२ से वर्तव्य,		कर्म	१०५-२७६
१६५ से ब्राह्मण को सताने के		द्रव्यों की शुद्धि	११०-२७७
दोष, १७७ से पाप से से भय,		स्त्रियों के धर्म	१४६-२८६
१७५ से रहन सहन वर्तव्य,		पतिव्रता के धर्म	१५१-२८७
१८१ से दान लेने से वचना,		षष्ठः अध्याय	
और दान लेने के दोष, २०७		दानप्रस्थाश्रम	१-२११
से किन लोगों का वा कैसा		दानप्रस्था के धर्म	५-२१२
अन्न न खाए, २२७ से दान		संन्यासाश्रम	३३-२१९
धर्म, २३८ से धर्म संचय की		संन्यासी के धर्म	४२-३०१
महिमा, २४४ से कुल को ऊंचा		वेद संन्यासियों का	
बनाने का उपाय, २४७ में सबसे		कर्मयोग	८६-३१२
लेने योग्य दान, २५३ से वह शुद्ध		गृहस्थ की प्रशंसा	८७-३१२
जिनका अन्न भोज्य है, २५७ से		चारों आश्रमों के सांझे	
पुत्र के योग्य होजाने पर पिता		द्विः धर्म	९१-३१३
का अपना कर्तव्य कहा है।		सप्तमाऽध्याय (राजधर्म)	
पञ्चमाध्याय		राजा और उसका	
मृत्यु का बल ब्राह्मण पर क्यों		प्रभाव	१-३१५
होता है ? यह प्रश्न उठाकर		दण्ड और उसका प्रभाव	१७-३१८
इसका उत्तर	१-२४९	राजा की सफलता	३२-३२१
भक्ष्य और अभक्ष्य	५-२५०	विनय (राजा की	
(आशौच) जन्म मरण का मृतक		शुश्रूषा)	३६-२२२
पातक	५७-२६१	व्यसन (१० काम जन्य और	

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
८ क्रोध जन्य) ४५-३२४		अष्टमाध्याय (व्यवहार)	
मन्त्री (सात वा आठ) ५४-३२६		अठारह प्रकार के व्यवहार	
राजा का मुख्यमन्त्री ५८-३२७		(मुकद्दमे) १-३६९	
भिन्न २ प्रकार के अधिकारी		न्यायाधिकारी (जज और	
६०-३२८		सभासद) और उनमें सचाई	
दूत और उमका काम ६३-३२८		का पक्षपात ९-३७१	
राजधानी और गढ़ ६९-३३०		व्यवहार के सामान्य नियम	
राजा का विवाह ७७-३३२		२३-३७४	
ब्राह्मण पूजा ७८-३३२		ऋणका न देना (कर्जेका शगड़ा	
मंग्राम और उसके धर्म ८७-३३४		४७-३८०	
पुरुषार्थ और समावधानता ९१-३३७		साक्षी, उनकी योग्यता, और	
प्रजा रक्षा और कर (टैक्स)		उनमें सच बुलवाने की चेष्टा	
आदि का प्रबन्ध १०९-३३९		और सचाई की परख ६१-३८३	
राजा के निज के भृत्य १२५-३४३		माप तोल १३१-४०१	
व्यापारी वस्तुओं पर कर		ऋण में व्याज आदि के नियम	
१२७-३४४		१३९-४०३	
श्रोत्रिय का आदर १३३-३४५		अमानत १८५-४१३	
मन्त्र विचार १४५-३४७		क्रय विक्रय (खरीद फरोखत के	
राजमण्डल का ज्ञान १५३-३४९		शगड़े) १९७-४१६	
लःगुण (सन्धि आदि) १६०-३५२		मिलकर कमाना आदि	
शेष कर्तव्य और सैनिकों का		२०६-४१८	
देखना २१६-३६६		इकैरार तोड़ना २१५-४२१	

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
लेनेदेने में पछतावा २२२-४२२		जुआ २२०-५२६	
(पशुओं के) स्वामी और पालक का विवाद २२९-४२४		रिक्वत आदि का दण्ड २३१-४२९	
हद्द का विवाद २४५-४२७		महा पातक २३५-५३०	
बाणी की कठोरता के विवाद २६६-४३१		देशके कांटों (चोर ठग आदि) का संशोधन २५३-५३४	
मारपीट का विवाद २७८-४३४		राजा का कर्तव्य २९४-५४४	
चोरी के दण्ड ३०१-४३९		वैश्य और शूद्र का कर्तव्य ३२५-५५०	
साहस (धक्का-सीनाजोरी) ३४४-४४९			
स्त्रीसंग्रहण (व्यभिचार आदि) ३५२-४५१		दशमाध्याय	
धर्म सम्बन्धी विवाद ३८८-४६०		चारों वर्ण १-५५३	
गुणादि से माननीय ३९४-४६१		वर्ण संकर और उनकी जीविकाएं ६-५५४	
धुलाई, बुनवाई ३९६-४६२		वर्ण परिवर्तन ६४-५६७	
चुंगी ३९८-४६३		वर्णों के कर्तव्य ७४-५७१	
मीलबहरी ४०४-४६४		एकादशाध्याय	
चारों वर्णों को अपने २ कर्म पर लगाना ४१०-४६५		दान के पात्र १-५८५	
नवमाध्याय		यज्ञ कर्म ७-५८६	
स्त्री पुरुष धर्म १-४६६		प्रायश्चित्ती ४४-५९५	
नियोग ५६-४८०		पूर्व पापों के फल ४८-५९५	
दाय भाग १०४-४९६		महा पातक ५४-५९७	
		उपपातक ५९-५९९	

विषय	श्लो० पृष्ठ	विषय	श्लो० पृष्ठ
महापातकों के प्रायश्चित्त	७१-८०३	तमस्, ३१ से सात्विकी,	
उपपातकों के प्रायश्चित्त	१०७-८१३	राजसी, तामसी योनियां, ५२	
पापमात्र के प्रायश्चित्त	२२७-८४३	से महा पातकियों उपपातकियों	
द्वादशाऽध्याय		की गतियां, और सब प्रकार के	
शुभाशुभ कर्म और उनके फल	१-८५	पापियों की गतियां ।	
५ से मानस वाचिक, कायिक		कल्याणकारी वैदिक कर्म	८२-८७१
पाप, ८ से दूसरे जन्म में उनके		वेद का गौरव	१४-८७३
फल, २४ से देह में सत्व, रजस,		धर्म निर्णय के लिये परिपद्	१०८
		आत्म ज्ञान और उसका फल	११८

मनुस्मृति के श्लोकों का अकारादि सूची ।

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
अ			
अकन्येति तु यः कन्याम्	४२३	अग्निहोत्रं समादाय	२९२
अकामतः कृतं पापम्	५९६	अग्निहोत्रपविष्याग्नीन्	५९५
अकामतः कृते पापे	४९५	अग्नीनात्मनि वैतानान्	२९७
अकामनस्तु राजन्यम्	६१७	अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम्	७४
अकामस्य क्रिया काचित्	४८	अग्नेः सोमयमाशां च	१६६
अकारणपरित्यक्ता	१५३	अग्नेः सोमस्य चैवादौ	१३३
अकारं चाप्युकारं च	६६	अग्नौ मास्तादृतिः सम्पक्	१३१
अकुर्वन्विहितं कर्म	४९५	अग्न्यभावे तु विप्रस्य	१६६
अकृतं च कृतात्क्षेत्रात्	५८०	अग्न्यगारे गवां गोष्ठे	२००
अकृता वा कृता वापि	५०४	अग्न्याधेयं पाकयज्ञान्	८४
अकृत्वा भैक्षचरणम्	१४	अग्रः सर्वेषु वेदेषु	१५९
अक्रोधनान्मुपमादान्	१६७	अग्रं न केवलं भुङ्क्ते	१४२
अक्रोधनाः शौचपराः	१६२	अज्ञावपीडनार्थां च	४३६
अक्षमाला वसिष्ठेन	४७३	अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य	५४०
अक्षरलवणाद्याः स्युः	२६७	अङ्गुष्ठमूलस्य तले	६२
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टम्	५७०	अचक्षुर्विषयं दुर्गम्	२०५
अगरदाही गरदः	१५३	अच्छलेनैव चान्विलेख	४१४
अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये	४५९	अजडश्चेदपौगण्डः	४०५
अग्निदग्धानग्निदग्धान्	१६३	अजाविकं सैकशफम्	४९९
अग्निदान्भक्तदांश्चैव	५४०	अजाविके तु संरुद्धे	४२५
अग्निपकाशनो वा स्यात्	२९५	अजीगर्तः सुतं हन्तुम्	२७८
अग्निवायुरविभ्यस्तु	२३	अजीवंस्तु यथे क्तन	५७२
अग्निं बाह्यगदेनम्	३९७	अज्ञानात्पश्य विष्णुमूत्रम्	६२३
अग्निहोत्रं च जुहुयात्	१९२	अज्ञानाद्यादि वा ज्ञानात्	६४४
		अज्ञानाद्धारुणी पीत्वा	६२२

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः	६७५	अदेश्यं यश्च दिशति	३८१
अज्ञो भवति वै बालः	८६	अद्भिरेव द्विजाग्र्याणाम्	१२०
अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः	२८	अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति	२७६
अण्वो मात्रा विनाशिन्यः	२४	अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचम्	२७९
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि	२१०	अज्योमिर्वसतः क्षत्रम्	५५०
अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते	५८	अद्यात्काकः पुगोडाशम्	३११
अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये	५८६	अद्रोहेणैव भूतानाम्	१८६
अतपःस्त्वनधीयानः....	२३२	अद्वारेण च नातीयात्	२०४
अतस्तु विपरीतस्य	३२२	अवपर्णार्थमिध्वर्थं	३८०
अतिक्रान्ते दशाहे च	२६७	अधर्मदण्डनं लोके	४००
अनिक्रामेत्पमत्तं या	४९०	अधर्ममभवं चैव	३०६
अतिथिं च ननु ज्ञाप्य	२१५	अधर्मेण च यः प्राह....	७५
अतिवादांस्तितिक्षत	३०३	अधर्मेणैव ते तावत्	२२७
अत्रैजमानि पात्राणि	३०४	अधस्तान्नोपदध्याच्च....	१११
अतोऽन्यतममास्याय	६०७	अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायै	४४१
अतोऽन्यतमया वृत्त्या	१८१	अधार्मिको नरो यो हि	२२७
अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यात्	१७३	अधितिष्ठेन्न केशांस्तु	२०५
अत्र गाथा वायुगिताः	४७७	अधिपङ्क्तं व्रतं जपेत्	३११
अथ मूलमनाहार्यम्....	३१७	अधिविन्ना तु या नारी	४११
अदण्ड्यान्दण्डयन्त्राजा	४००	अधीस विधिवद्देवान्	२११
अदत्तानामुपादानम्	६०४	अधीयीरंक्ष्यो वर्णाः	५५३
अदत्ता तु य एनेभ्यः	१४१	अधोदृष्टिर्नैकृतिरुः	२३३
अदर्शयित्वा तत्रैव	४०७	अध्यक्षान्निविधान्कुर्यात्	३३३
अदातरे पुनर्दाता	४०८	अध्यक्ष्यध्यावाहनिकम्	५२०
अदीक्षमाना भर्तारम्	४१२	अध्यात्मरतिरामीनः	३०४
अदूषितानां द्रव्याणाम्	५४२	अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः	१३०

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं [३]
अध्यापनमध्ययनम्	५७१	अनियुक्तासुतश्चैव	५०६
अध्यापनमध्ययनम्	४०	अनिर्दशाया गोः क्षीरम्	२५३
अध्यापयामास पितृन्	८६	अनिर्दशार्हा गां सूताम्	४२७
अध्येष्यमाणस्वाचान्तः	६५	अनुक्तनिष्कृतीनां तु	६३८
अध्येष्यमाणं तु गुरुः	६५	अनुगम्येच्छया प्रेतम्	२७५
अनेशौ क्लीवपतिगौ	५२२	अनुपन्ननिनृद्वयम्	५२४
अनधिरनिकेतः स्यात्	३०१	अनुबन्धं परिह्राय	३२९
अनधीस द्विजो वेदान्	३००	अनुभावी तु यः कश्चित्	३८५
अनन्तरः सपिण्डाद्यः	५१८	अनुमन्ता विशसिता	२६०
अनन्तरमरिं विद्यात्	३५२	अनुगक्तः शुचिर्दक्षः	३५३
अनन्तरामु जातानाम्	५५४	अनुष्णाभिरफेनाभिः	६३
अनपसस्य पुत्रस्य	५२६	अनृतं च समुत्कर्षे	५९८
अनपेक्षितपर्यादम्	४४१	अनृतं तु वदन्दण्ड्यः	३७७
अनभ्यासेन वेदानाम्	२४९	अनृतावृत्तकाले च	२८७
अनर्चितं वृथामांनम्	२३७	अनेकानि महस्त्राणि	२८८
अनातुः स्वानि खानि	२२०	अनेन क्रमयोगेन	८९
अनादेयं नाददीत	४१०	अनेन क्रमयोगेन	३११
अनादेयस्य चादानात्	४१०	अनेन तु विधानेन	५०२
अनाम्रातेषु धर्मेषु	६११	अनेन नारीवृत्तेन	३५४
अनारोग्यमनायुष्यम्	६२	अनेन विधिना नित्यम्	१९१
अनार्यता निष्ठुरता	४३६	अनेन विधिना यस्तु	६१४
अनार्यमार्थकर्मणं	५७०	अनेन विधिना राजा	४१२
अनार्याणां समुत्पन्नः	५६९	अनेन विधिना राजा	४४२
अनाहिताग्निता स्तयम्	६०१	अनेन विधिना श्राद्धम्	१८४
अनिसो विजयो यस्मात्	३६२	अनेन विधिना सर्वान्	३१०
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः	११२	अनेन विप्रो वृत्तेन	२४८

४] श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
अन्तर्गतशत्रे ग्रामे	२१०	अपाङ्गो यावतः पङ्कान् १५८	
अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्	२६८	अपाङ्गदाने यो दातुः १५६	
अन्धो जडः पीठमपी	४६१	अपाङ्गोपहता पङ्क्तिः १५९	
अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति	३९१	अपामयेश्च मयोगात् २७७	
अन्नेमेषां पराधीनम्	५६५	अपि नः स कुले जायात् १८२	
अन्नहर्तामयावित्त्वम्	५९७	अपि यत्सुकरं कर्म ३२६	
अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि	४४३	अपुत्रायां मृतायां तु ५०४	
अन्नाद्यजानां मन्त्रानाम्	६२१	अपुत्रोऽनेन विधिना ५०२	
अन्यदुप्तं जातमन्यत्	४७७	अपुष्पाः फलवन्तो ये २८	
अन्यां चेद्दर्शयित्वान्ना	४१८	अमणोऽत्रोऽतिथिः सायम् १३९	
अन्यानपि प्रकुर्वीत	३२८	अमयन्नः सुखार्थेण २१७	
अन्ये कृतयुगे धर्माः	४०	अप्राणिभिर्यत्क्रियते ५२८	
अन्येषां चैवमादीनाम्	४४६	अप्सु प्रवेश्य तं दण्डम् ५३३	
अन्येष्वपि तु कालेषु	३५७	अप्सु भूमिवादिसाहः ३१३	
अन्योन्यस्थाव्यभीचारः	४९५	अशीजविक्रयी चैव ५४३	
अन्वाधेयं च यद्वचम्	५२०	अब्दार्धमिन्द्रमिषोत्त ६५०	
अपः शस्त्रं विषं मांसम्	५७४	अब्राह्मणः संग्रहणे ४५३	
अपः सुराभाजनस्थाः	६२२	अब्राह्मणादव्ययनम् १०८	
अपसं धर्मकार्याणि	४७४	अमयस्य हि यो दाता ४४०	
अपसलोभाद्या तु स्त्री	२८९	अभिचारेषु सर्वेषु ५४३	
अपदिश्यापदेश्यं च	३८१	अभिपूजितयासांस्तु ३०५	
अपराजितां वास्थाप	२९८	अभियोक्ता न चेद्भूयात् ३८३	
अपर हस्तया दर्भा	१७८	अभिवादनशीलस्य ७८	
अपसव्यमग्नौ कृत्वा	१६७	अभिवदयेद्दृष्ट्वाश्च २२३	
अपह्वरेऽवर्णस्य	३८१	अभिवादात्परं विप्रः ७८	
अपां समीपे नियतः	७३		

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं [५
अभिज्ञस्तस्य षण्दस्य	२३५	अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः	३९
अभिषेका तु यः कन्याम्	४५४	अर्थकमेवमक्तानाम्	५१
अभोज्यमन्नं नात्तव्यम्	६२६	अर्थमम्पादनार्थं च....	३५४
अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नम्	६२४	अर्थस्य संग्रहं चैनाम्	४७०
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोः	९२	अर्थानर्थान्बुधौ बुद्ध्वा	३७४
अभ्यञ्जनं स्थापनं च	१०१	अर्थेऽप्यव्ययमानं तु	३८१
अग्निं काष्णायिमीं दद्यात्	६१९	अलंकारं नाददीत	४९३
अमघ्नैतानि पद् जग्ध्वा	२५३	अलंकृतश्च संपश्येत्....	३६७
अमन्त्रिका तु कार्ग्यम्	६४	अलम्बं चैव लिप्सेत्....	३३७
अमासः प्राद्विराको वा	५३०	अलम्बमिच्छेदण्डेण	३३७
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञम्	३४६	अलाबुं दारुपात्रं च....	३०४
अमात्यराष्ट्रदुर्गर्थ	३५१	अत्राभे न विषादी स्यात्	३०५
अमात्ये दण्ड आयत्तः	३२९	अलिङ्गी लिङ्गिवेण	२३४
अमानुषीषु पुरुषः	६२९	अल्पं वा बहु वा यस्य	८५
अमाययैव वर्तेत	३३८	अल्पान्न भ्यरहारेण	३०५
अमावास्या गुरुं हनि	२१४	अवकाशेषु चोक्षेषु	१६५
अमावस्यामष्टमीं च....	२१७	अवकीर्णी तु काणेन	६१५
अमोघे वा पतेन्मत्तः	६१०	अवगृह्य चरेत्कृच्छ्रम्	६३८
अयं द्विर्जैर्द्वि विद्भिः	४८३	अवगृह्य त्वद्गतम्	६३८
अयमुक्तो विभागो वः	५२६	अवनिष्ठीवतो दर्पात्	४३५
अयज्यमाजनं चैव	१०८	अवहार्यो भवेच्चैव	४१६
अबुध्यमानस्योत्पाद्य	२२६	अवाशिशरास्तमस्यन्धे	३९१
अक्षिता गृहे रुद्धाः....	४७१	अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना	२८०
अक्षितारं राजानम्	४४१	अविद्यानां तु सर्वेषां	५२३
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य	६५०	अविद्रांश्चैव विद्रांश्च....	५४९
अराजके हि लोकेऽस्मिन्	३१५	अविद्रांसमलं लोके	१०१

६] श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
अत्रेक्षेत गतीर्नृणाम्....	३०६	अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तः	४५
अवेदयानो नष्टस्य	३७५	असं गमयति प्रेतान्	१७२
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीम् ११३		अस्वान्नः स्त्रियः कार्याः ४६८	
अव्रतानाममन्त्राणाम्	६७८	अस्वादिना कृतो यस्तु	४१६
अव्रतैर्यदिद्वजैर्भुक्तम्	१५६	अदन्यदन्यवेक्षेत	४६८
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषाम्	५७६	अहं प्रजाः गिर्यश्रुस्तु	२५
अशासंस्तस्करान्यस्तु	५३४	अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यम्	५११
अश्मनोऽस्थीनि गोवालात् ४२८		अहिंसयोन्द्रियामङ्गैः....	३०१
अश्रोत्रियः पिता यस्य	१४७	अहिंसयैव भूतानाम्....	८७
अश्लीलमेतत्साधूनाम्	१३५	अहिंसा मत्समतेयम्	५६७
अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य....	४४७	अहुतं च हुतं चैव	१३१
अष्टावष्टौ समश्नीयात्	६४१	अहोरात्रे विभजते	३४
अष्टौ मासान्यथादिस	५४६	अह्ना चैकेन रात्र्या च	२६४
असंस्कृतप्रमीतानाम्	१७५	अह्ना रात्र्या च याजन्तु ३०८	
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैः	२५७	आ	
असकृद्दर्भवाग्नेषु	६७०	आकारैरिङ्गितैर्गत्या	३७५
असंख्या मूर्तयस्तस्य	६५६	आकाशात् त्रिकुर्वाणात्	३७
असंधितानां संधाता	४४४	आकाशेशास्तु विज्ञेयाः	२३०
असपिण्डं द्विजं प्रेतम्	२७५	आगमं निर्गमं स्थानम्	४६३
असपिण्डा च या मातुः	११२	आगस्तु ब्राह्मण्यैव	५३२
असंभाष्ये साक्षिभिश्च	२८२	आगादपिनिष्क्रान्तः	३०१
अगंभोज्या लसंयाज्याः	५३१	आचम्य प्रयतो निसम्	१०३
अमम्यक्कारिणश्चैव	५३६	आचम्य प्रयतो निसम्	२७०
अमाक्षिकेषु त्वर्येषु	३१५	आचम्योदकमागत्य	१६८
अस्थिमतां तु मत्त्वानाम्	६२०	आचारः परमो धर्मः	४५
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतम्	३०१	आचारहीनाः क्लीबश्च	१५५

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं[७]
आचाराद्विच्युतो विमः	४५	आपः शुद्धाः भूमिगताः	२८१
आचाराल्लभते ह्यायुः	२२३	आपत्कल्पेन यो धर्मम्	५९१
आचार्यं स्वमुपाध्यायम्	२७१	आपदर्थं धनं रक्षेत्....	३६५
आचार्यं च प्रवक्तारम्	२२५	आपद्रुतोऽथवा वृद्धः	५४१
आचार्यपुत्रः शुश्रूषुः	७५	आपो नारा इति प्रोक्ता	१८
आचार्यश्च पिता चैव	१०४	आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु	३८४
आचार्यस्त्वस्य यां जातिम्	८५	आमन्त्रितन्तु यः श्राद्धे	१६१
आचार्यं तु खलु मेते	११०	आयति सर्वकार्याणाम्	३५६
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः	२३०	आयसां गुणदोषज्ञः	३५७
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः	१०४	आयुष्मन्तं सृते सृते	१८०
आच्छाद्य चार्चयित्वा च	११८	आयुष्मान्भव सौम्येति	७९
आतुरगमिशस्तां वा	६१४	आयुष्यं प्राञ्जुखो भुङ्क्ते	६१
आत्मनश्च परित्राणे	४५०	आयोगवश्च क्षत्ता च	५५७
आत्मनो यदि वान्येषाम्	६१४	आरण्याश्च पशून्सर्वान्	५७४
आत्मैव देवताः सर्वाः	६७९	आरण्यानां च सर्वेषाम्	२५१
अतनैव ह्यत्मनः साक्षी	३८९	आरभेतैव कर्माणि	५४५
आददीत न शूद्रोऽपि	४९४	आरम्भरुचिताऽधैर्यम्	६६०
आददीताथ षड्भागम्	३४४	आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्	४२१
आददीताथ षड्भागम्	३७६	आर्द्रपादस्तु भुञ्जति	२०५
आदानमपि यकम्	३६३	आधिकः कुलमित्रं च	२४७
आदाननिसाक्षादातुः	५८८	आर्यता पुरुषज्ञानम्....	३६५
आदिष्टी नोदकं कुर्यात्	२७०	आर्यं धर्मोपदेशं च	६७६
आद्यं यत्पक्षं ब्रह्म	६५२	आर्वे गोमिथुनं शुल्कम्	१२५
आद्याद्यस्यं गुणं तेषाम्	२१	आवृत्तानां गुरुकुलात्	३३३
आधिः सीमा बालधनम्	४०५	आश्रमादाश्रमं गत्वा	२९८
आधिश्रोपनिधिश्रोभौ	४०४	आश्रमेषु द्विजातीनाम्	४६०

श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ
आ षोडशाङ्गस्त्रयण	५८	इत्यनेनमामुक्तम्	६४८
आसनं चैव यानं च	३५२	इत्येवन्मानवं शास्त्रम्	६८१
आसनावसथौ शय्याम्	१३१	इदं शरणमज्ञानाय	३११
आसनाशनशय्याभिः	११०	इदं शास्त्रं तु कृत्वामौ	६२
आसनेषूपकट्टमेषु	१६५	इदं शास्त्रमधीयानः	४४
आसपिण्डाक्रियाकर्म	१७६	इदं स्वस्थयने श्रेष्ठम्	४४
आ समाप्तेः शरीरस्य	१०१	इदं तु वृत्तिवैकल्यात्	५७३
आ समुद्रात्तु वे पूर्वान्	५४	इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च	५४८
आसां महर्षिचर्याणाम्	२१८	इन्द्रानिष्ठयमार्कणि म	३१५
आभीता मणालज्ञाना	२८८	इन्द्रियाणां च सर्वेषाम्	७२
आमीदिदं तमोभूयम्	१६	इन्द्रियाणां जये योगम्	३२४
आसीनस्य स्थितः कुर्यात्	१७	इन्द्रियाणां निरोधेन	३०१
आहरेत्त्रयीणि वा द्वेवा	५८८	इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन	७६
आहवेषु मिथोऽन्योन्यम्	३३४	इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन	६६४
आहृतः भुञ्जतां भिक्षाम्	२४६	इन्द्रियाणां विनाशम्	६१
आह्वैव मनस्त्राग्नेभ्यः	८१	इन्द्रियाणि यशः स्वर्गम्	५६४
इ		इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु	११०
इच्छयान्योन्यमयोगः	१११	इन्धनार्थमधुपक्ष्माणां	६६७
इतरानपि मरुयादीन्	४४१	इमं लोकं मानुषक्या	१०६
इतरे कृतवन्तस्तु	५३२	इमं हि सर्ववर्णानाम्	४६१
इतरेषां तु पण्यानाम्	५७५	इमान्निवमनध्यायान्	२११
इतरेषु त्वपाङ्गेषु	१५१	इयं भूमिर्हि भूतानाम्	४७६
इतरेषु समन्धेषु	३५	इयं विशुद्धिरुदिता	६०८
इतरेषु तु शिष्टेषु	१२२	इष्टिं वैश्वानरीं नित्यम्	५११
इतरेष्वागमाज्जर्मः	३१	इह दुश्चरितैः कांचन	५१६
इत्येतत्तपसो देवाः	६४७	इह चासुखं वा काम्यम्	६७२

श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ
ई		उदके मध्यरात्रे च	२१३
ईशो दण्डस्य वरुणः	५३३	उदितेऽनुजिते चैव	५२
उ		उदितोऽयं विस्तारः	५३४
उक्ता चैवानृतं माक्ष्ये	६०७	उद्गारो न दृश्यस्ति	४९८
उच्चावचेषु भूतेषु	३०९	उद्धृतं दक्षिणे पाणौ	६३
उच्छिष्टमन्नं दातव्यम्	५८३	उद्धवर्तन्मनश्चैव	१९
उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टः	२८५	उच्छिज्जाः स्थावराः सर्वे	२८
उच्छिपिके श्रियै कुर्यात्	१३४	उद्यतेराद्ये क्षत्रेः	२७४
उच्छेषणं भूमिगतम्	१७५	उद्धृतं नवपञ्चाननम्	२१८
उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेत्	१८१	उन्मत्तं पतिं क्लीबम्	४९०
उत्कृष्टायाश्चिन्ताय	४९२	उपचारक्रिया केलिः	४२२
उत्कोचकाशोपश्रिताः	५३५	उपच्छिन्नं चान्यानि	४२८
उत्तमां भवमानस्तु	४५४	उपजप्यानुपजपेन	३६१
उत्तमाङ्गोऽवाङ्मयैः प्रसार	४१	उपश्रामिश्च यः कश्चित्	४१५
उत्तमानुत्तमान्गच्छन्	२४५	उपनीय युक्तः शिष्यम्	८२
उत्तमैरुत्तमैर्निर्दिष्टम्	२४४	उपनीय तु तत्पर्वम्	१७१
उत्थाय पश्चिमे यामे	३४७	उपपन्नो गुणः सर्वः	५०६
उत्थायावश्यकं कृत्वा	२०९	उपपन्नं तत्पदकः	६१३
उत्पत्तिरेव विप्रस्य	४२	उपपन्नं शिष्यानीति	३६१
उत्पद्यते गृहे यस्य	५१२	उपवासकृशं तं तु	६३५
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च	६०४	उपवेश्य तु तान्निमानं	१६६
उत्पादकव्रत्तादात्रोः	८४	उपमर्जनं वाचस्पत्यः	४९९
उत्पादनं च शास्त्राणाम्	१००	उपस्थगुदं जिह्वा	३९९
उत्पादनमप्यस्य	४७४	उपस्पृशंस्त्रिपत्रणम्	२९६
उदकं निनयेच्छेषम्	१६८	उपस्पृश्य द्विजो निसम्	६१
उदकुम्भं सुमनसः	९३		

१०] श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
उपाकर्माणि चोत्तमैः	२१४	ऋणे देये प्रतिज्ञाते	४०३
उपाध्यायान्दशाचार्यः	८४	ऋणे धने च सर्वस्मिन्	५२६
उपानहौ च वामश्च....	२०२	ऋतमुज्जिशिलं ज्ञेयम्	१८७
उपासते ये गृहस्थाः....	१०९	ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु	१८७
उपेतारमुपेयं च	२६५	ऋतुःस्वाभाविकः स्त्रीणाम् १२३	
उभयोर्द्विस्तयोर्मुक्तम्....	१७१	ऋतुकालाभिगाभी स्यात् १२३	
उभ्यामप्यजीवंस्तु	५७१	ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः	२३०
उभावपि तु तावेव	४५७	ऋत्विग्यदि वृत्तो यज्ञे	४१८
उष्ट्रयानं समारुह्य	५३६	ऋत्विजं यस्य जेद्याज्यः	४६०
उष्णे वर्षति शीते वा	६१४	ऋषयः पितरो देवाः	१३२
ऊ		ऋषयः संयतात्मानः	६४५
ऊनद्विर्वाषिकं प्रेतम्	२६५	ऋषयो दीर्घमध्याह्नात्	२०९
ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु	५२६	ऋषिभिर्वाष्पणैश्चैव	६३०
ऊर्ध्वं नाभर्मध्यतरः....	४१	ऋषिभ्यः पितरो जाताः	१६४
ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि	२८२	ऋषियज्ञं देवगणम्	१९१
ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च	४९६	ए	
ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति	७८	एक एव चरेन्नियम....	३०१
ऋ		एक एव सुहृद्दर्पः	३७२
ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव....	२९४	एक एवौरसः पुत्रः....	५११
ऋक्मंहितां त्रिरभ्यस्य	६५१	एकः प्रजःयते जन्तुः	२४३
ऋग्वेदविद्युर्जीवच्च	६७७	एकः शतं योधयति	३३१
ऋग्वेदो देवदैवस्यः	२१६	एकः शयीत सर्वत्र	९३
ऋचो यजूंषि चान्यानि	६५२	एकं वृषभमुद्धारय	५००
ऋजवस्ते तु सर्वे स्युः	६०	एककालं चरेद्भैक्षम्	३०५
ऋणं दातुमशक्तो यः	४०६	एकं गोमिथुनं द्वे वा	११८
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य	२९९	एकजातिर्द्विजार्तोस्तु	४३२

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं[११]
एकदेशं तु वेदस्य	८३	एतदेव चरेद्ब्रह्म	८१८
एकमप्याशयोद्विषम....	१३३	एतदेव व्रतं कुर्युः	६१५
एकमेव तु शूद्रस्य	४१	एतदेव व्रतं कृत्स्नम्....	६१८
एकमेव ददस्यः	३१६	एतदेव विधिं कुर्यात्	६३३
एकरात्रं तु निवसन्	१३८	एतद्देशममृतस्य	५३
एकाकिनश्चास्यधिके	३५३	एतद्धि जन्ममाफल्यम्	६७३
एकाकी चिन्तयेन्नियम्	२४८	एतद्रुद्रास्तथादिसाः....	६४१
एकाक्षरं परंब्रह्म	६८	एतद्रः सारफलगुत्वम्	४८०
एकादशं मनो ज्ञेयम्	७७	एतद्विदन्तो विद्वांसः	२०८
एकादशेन्द्रियाण्याहुः	७०	एतद्विदन्तो विद्वांसः	२१६
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः	४२८	एतद्विधानमातिष्ठेव	३६८
एकान्तरे त्वानुलोम्यात्	५५६	एतद्विधानमामिष्ठेव	४२७
एका लिङ्गे गुदे तिस्रः	२८३	एतद्विधानं विज्ञेयम्	५०८
एकैकं हामयेत्पिण्डम्	६४०	एतद्रोऽभिहितं शौचम्	२७४
एकैकं ग्राममश्नीयात्	६३९	एतद्रोऽभिहितं सर्वम्	१८६
एकैकमपि विद्वांसम्	१४५	एतद्रोऽभिहितं सर्वम्	६७८
एकोऽपि वेदविद्धर्मम्	६७८	एतद्रोऽयं भृगुः शास्त्रम्	३२
एकोऽलुब्धस्तु माक्षी स्यात् ३८७		एतमेके वदन्त्यग्निम्	७७१
एकोऽहमस्मीत्यात्मानम्	३११	एतमेव विधिं कृत्स्नम्	६४०
एतच्चतुर्विधं विद्यात्	३३७	एतचर्या विमंयुक्तः	६७
एतच्छौचं गृहस्थानाम्	२८३	एतस्मिन्नेनामि प्राप्ते	६१६
एतच्च न परे चक्रुः	४९५	एताः प्रकृतयो मूलम्	३५०
एतन्नयं हि पुरुषम्	२१८	एतांस्त्वभ्युदितान्विद्यात्	२११
एतदण्डविधिं कुर्यात्	४२१	एता दृष्ट्यास्य जीवस्य	६६५
एतदक्षरमेतां च	६७	एतानाहुः कौटमाक्ष्ये	३११
एतदन्तास्तु गतयः....	२१	एतानेके महायज्ञान्....	१९१
एतदुक्तं द्विजातीनाम्	१५५	एतान्दोषानवेक्ष्य त्वम्	२९३

१२] श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
एतान्द्रिजायतो	५४४	एवं मृगश्रमे	२११	एवमान्द्रितोऽपि	४५
एतान्येनामि	६०३	एवं तामित्येनामि	१११	एवमादीनिजानी	५३६
एतान्विगर्हिता	१५५	एवं चरन्मदा	५५५	एवमेतस्मिन् सर्वम्	२७
एतावानेव पुरुषः	४०८	एवं वदन्तेऽपि	३०६	एव दण्डविधिः	४३४
एताश्चान्याश्च	२१८	एवं मन्त्राणि	२३४	एव धर्मविधि	५८४
एताश्चान्याश्च	४७३	एवं निर्वपणं	१८०	एव धर्मोऽनन्तरि	३१२
एतास्तिस्रस्तु	६२९	एवं पयजं कुर्वीत	३३७	एव धर्मोऽपि	४२१
एते चतुर्णां	४०४	एवं यः पूर्वश्रुतिः	३३६	एव धर्मोऽपि	४८०
एतेभ्यो हि द्विजा	५८७	एवं यः पूर्वभूतेषु	६८०	एव धर्मोऽपि	४८५
एते मनुस्तु मत्ता	२८	एवं यथोक्तं	२४५	एव धर्मोऽपि	६५
एते रष्ट्रे वर्तमानाः	५२८	एवं यथापि	५४५	एव धर्मोऽपि	१४५
एते पदं महशान्	५५५	एवं विजयन्तान्	३३५	एव धर्मोऽपि	३१४
एतेषां निग्रहो राज्ञः	४६०	एवं विजयन्तः	५३७	एव धर्मोऽपि	२८६
एतेष्वविविधेषु	११०	एवं तस्य नृपतेः	३१०	एव धर्मोऽपि	२७७
एतैरुपायैरन्यैश्च	५४७	एवं तस्य मन्त्राणि	२११	एव धर्मोऽपि	६६४
एतैर्द्रिजातयः	६४२	एवं न जायन्	२१	एव धर्मोऽपि	६७१
एतैर्लिङ्गैर्नैतैः	४२०	एवं मंचिन्य	६४४	एव धर्मोऽपि	६८०
एतैर्विवादान्	२२०	एवं मन्त्रस्य	३१४	एव धर्मोऽपि	४२५
एतैर्वैरपोहेन	६११	एवं म भगवान्	६७८	एव धर्मोऽपि	५५
एतैर्वैरपोहेन	६२८	एवं समस्तकाले	४२८	एव धर्मोऽपि	६३१
एतैर्वैरपोहेयुः	६१३	एवं सम्यग्	१३४	एव धर्मोऽपि	१४२
एतैर्वैरपोहं	६२२	एवं सर्वं मष्टेन्द्रम्	३०	एव धर्मोऽपि	३१८
एषोदकं मूलफलं	२४५	एवं सर्वं विधाये	३४६	एव धर्मोऽपि	६१०
एनसां स्थूलसूक्ष्मं	६४५	एवं सर्वं विधानं	४६८	एव धर्मोऽपि	३७०
एनस्त्रिभिर्निधि	६३३	एवं मह वपेयुर्वा	४५६	एव धर्मोऽपि	५५०
एवं कर्मविशेषेण	५१७	एवं स्वभावं ज्ञात्वा	४७२	एव धर्मोऽपि	४३१

श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः
एषोऽखिलेनाभि	४४२	कर्णश्रवेऽनिले	२११	कारुकात्रं प्रजां	२३२
एषोदिता गृहस्थ	२४८	कर्णौ चर्म च	४२५	कार्पासमुपवीतं	५९
एषोदिता लोक	४७४	कर्मणा च	२३	कार्पासकीटजो	६२८
एषोऽनायादन	६२६	कर्मणापि समं	३११	कार्यं सोऽवेक्ष्य	३१६
एषोऽनापदि	५५२	कर्मात्मनां च	२२	कार्षापणं	४४७
एषोऽनुपस्कृतः	३३६	कर्मारस्य निषाद	२३८	कार्णरौरव	५८
एष्वर्थेषु पशून्	२५८	कलविद्धं पुत्रं	२५१	काञ्चं कालविभे	२३
ये		कलिः प्रसुप्तो	५४६	कालशाकं	१८२
ऐन्द्रं स्थानम्	४४९	कल्पयित्वास्य	५८९	कालेऽदाता	४६८
ओ		काणं वाप्यधत्वा	४३३	किञ्चिदेव तु	४५४
ओघघाताहतं	४८०	कानीनश्चमहोदधश्च	२११	किञ्चिदेव तु	६२१
ओंकारपूर्विका	६८	कामं श्राद्धेऽर्चये	१४९	कितवान्	५२८
ओषध्यः पशवो	२५८	कामक्रोधौ तु	३११	किन्नरान्वातशान्	२७
औ		कामजेषु प्रसक्तो	३२५	कीटाश्चाहिपत	६४६
औगिध्रिको माहि	१५५	कामतो रेतसः	६१५	कीनाशो गोवृषो	५०८
औरमःक्षेत्रजश्चैव	२१०	कामं तु सपये	२८८	कुटुम्बार्थेऽध्य	४०२
औरमक्षेत्रजोपुत्रौ	५१२	कामं तु गुरुपत्नी	१०२	कुरुक्षेत्रं च	५३
औषधान्यगदा	६४५	काममामरणा	४९२	कुरुक्षेत्रांश्च	३६०
क		काममुत्पाद्य	५७४	कुर्याद्वृतपशुं मङ्गे	२५७
कणान्वा भक्ष	६०९	कामात्माता न	४८	कुर्याद्वरहः	१३२
कन्यां भजन्ती	४५४	कामादशगुणं	२९९	कुलजे वृत्तमंपले	४१२
कन्यायादूषणं चैव	५९९	कामान्माता	८५	कुले मुखेऽपि	६६६
कन्यायां दत्त	४९४	कामिनीषु	३९५	कुत्रिवादैः क्रिया	१२८
कन्यैव कन्यां या	४५५	कागावरो	५६१	कुशीलवाऽव	१५२
कपालं वृक्षमूलानि	३०१	कारुकाञ्जलिपन	३४६	कुशूलधान्यकोवा	१८८

१४] श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ
कुसीदवृद्धिर्द्वै	४०६	केशान्तिको	४०६
कुहै चैवानुपलैच	१३३	केशेषु गृह्णतो	४३६
कूटशासनकर्तृश्च	५३०	कोष्ठागारायुधा	५४१
कूष्माण्डैर्वापि	३२४	कौटमाक्ष्यं तु	३११
कृतदारोऽपरान्	५८६	कौत्सं जप्त्वाप	४४८
कृतं त्रेतायुगं चैव	५४५	कौशेयं तित्तिरि	६६७
कृतवापनो	६०५	कौशेयाविक्रयो	२७१
कृतानुमाराद्	४०६	कयविक्रयमध्वा	३४४
कृतोपनयनस्यास्य	९१	कव्यादमूकरो	६२५
कृत्वा पापं हि	६४४	कव्यादां	६२०
कृत्वा मूत्रं पुरीषं	२८३	कव्यादाञ्छ	२५१
कृत्वा विधानं	३५८	क्रियाभ्युपगमा	४८०
कृत्वैतद्वलिकर्मेव	१३३	कीणीयाद्यस्य	५१४
कृत्स्नं चाष्टविधं	३४१	कीत्वा विक्रीय	५२२
कृमिकीटपतङ्गांश्च	२७	कीत्वा स्वयं	२५६
कृमिकीटपतङ्गा	६६५	कृध्यते न प्रति	३०३
कृमिकीटवयो	६०२	अचूर्जितस्तथो	५५७
कृषिं साध्विति	५७३	अचुग्रपुष्कमानां	५६४
कृष्टजानामोपधी	६२१	अत्रविदुःशूद्रयोनि	५२१
कृष्णपक्षे	१८३	अत्रस्यातिपटुद्	५४१
कृष्णसारस्तु	५४	अत्रियं चैव सर्पं च	२१८
कलृप्तकेशनखश्म	१९४	अत्रियं चैव वैश्यं	४६५
कलृप्तकेशनखश्म	३०४	अत्रियस्य परो	३४६
केतितस्तु यथा	१६१	अत्रियाच्छूद्रक	५५४
केशग्रहान्	२०६	अत्रियाद्विम	५५८
केशान्तः षोडशे	६४	अत्रियायाम	४५१
		अत्रियोवाहुवी	५२३
		अन्तर्गमं प्रभुणा	४४२
		संरंति मर्वा	६८
		क्षान्त्वा शुध्यन्ति	२७६
		क्षीणस्य चैव	३५४
		क्षुद्रकाणां पशूनां	४३१
		क्षुधार्तश्चाक्षुष	५७८
		क्षेत्रं हिरण्यं	१०१
		क्षेत्रकूपतडागा	४३१
		क्षेत्रजादीन्	५१७
		क्षेत्रभृता स्मृता	४७५
		क्षेत्रियस्यात्यये	४२०
		क्षेत्रेण्येषु तु	४२६
		क्षेत्र्यां मस्यमर्दा	३६५
		क्षौमवच्छेदशृङ्गा	२७१
		क्ष	
		क्षत्रो वा यदि	१७५
		क्षत्राङ्गीचिरवामा	६१२
		क्षत्राश्वरोष्ट्रपुंग	६०२
		क्षत्रान्क्षेत्राद्	५८१
		क्षं मन्त्रिवेशयेन	६७१
		क्षयापनेनानुता	६४३
		क्ष	
		क्षत्वा कक्षान्तं	३६८
		गन्धर्वा गुणका	६६३
		गर्दभाजाविकानां	४३१
		गर्भाष्टमेऽब्दे	५७

श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठः १५
गभिणी तु	४६५	गोत्ररिक्थे जन	५०६	चण्डालेन तु ५६२
गवा चान्नमुपा	२३७	गोपः क्षिरभृतो	४२४	चतुरः प्रातर ६४१
गार्भेर्होमैर्जातकर्म	५५	गोमूत्रमग्निवर्णं	६०९	चतुर्गोशान् ५०९
गिरिपृष्ठं समारुह्य	३४८	गोमूत्रं गोमयं	६३९	चतुरो ब्राह्मण ११७
गुच्छगुल्मं तु	२९	गोरक्षकान्	३९३	चतुर्णामपि वर्णा ११६
गुणांश्च सूयशाका	१७१	गोवधोऽपाज्य	५२९	चतुर्णामपि चैते १८८
गुरुं वा बालवृद्धौ	४५०	गोऽश्वोष्ट्रयान	२९	चतुर्णामपि चैते ५३०
गुरुणानुमतः	१११	गोषु ब्राह्मण	४४५	चतुर्थकालम् ६१३
गुरुतल्प्यभिभा	६११	गौडी पैष्टी च	६०९	चतुर्थमाददानो ५८१
गुरुतल्पव्रतं	६२८	ग्रहीता यदि नष्टः	४०९	चतुर्थमायुषो १८६
गुरुतल्पे भगः	५३०	ग्रामघाते हिता	५३९	चतुर्थे मासि ५७
गुरुपत्नी तु युवतिः	१०१	ग्रामस्याधिपतिं	३४१	चतुर्भिर्गपि ३१३
गुरुवत्पतिपूज्याः	१०१	ग्रामादाहृत्य	२५८	चतुष्पात्सकलो ३८
गुरुषु त्वभ्यतीतिषु	२४६	ग्रामदोषान्	३४१	चत्वार्याहुः ३७
गुरुभृत्यां	२४६	ग्रामीयककुलानां	४२९	चराणामन्नमचरः २५५
गुरोः कुले न	९४	ग्रामेष्वपि च ये	५३९	चरितव्यमतो ५९७
गुरोः प्रेतस्य	२६४	ग्राम्ये पञ्चतपास्तु	३९६	वरूणां सुक् १७८
गुरोर्गुरौ मंनिहिते	९९	घ		चर्म वार्मिकभाण्डे ४३७
गुरोर्यत्र परीवादः	९८	घृत्तकुम्भं वराहे	६१९	चाण्डालश्च १७४
गुल्मान्वेणुंश्च	४२८	घाणेन सूकरो	१७४	चातुर्वर्ण्यं त्रयो ६७४
गुल्मांश्च स्थापये	३६८	च		चातुर्वर्ण्यस्य ६५२
गृहं तडागमारामं	६३१	वक्रवृद्धिं समारु	४०७	चान्द्रायणं वा ६१२
गृहस्थस्तु यदा	२५२	वक्रिणो दशमी	८२	चान्द्रायणविधा २६६
गृहिणः पुत्रिणो	३८४	चण्डालश्चपचानां	५६५	चारणाश्च ६६२
गृहीत्वा सुमलं	६११	चण्डालात्पाण्डुः	५६१	चारेणोत्ताह ५४५
गृह गुरावरण्य	२५८	चण्डालान्सस्त्रियो	६३०	

श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ
चिकित्सकस्य	२३७	जपोऽहुतो हुतो	१३४	ज्ञानोन्मुखाय	१४६
चिकित्सकान्	१५१	जप्यैव तु	६९	ज्यायांममनयो	१४७
चिकित्सकानां	५४२	जरां चैवाप्रती	६७२	ज्येष्ठ एव तु	४९६
चिरस्थितमपि	२५४	जराशोकपमा	३०९	ज्येष्ठः कुलं	४९६
चूडाकर्म द्विजाती	५७	जाह्नले सस्य	३३२	ज्येष्ठता च	६३२
चैसदुमश्मशानेषु	५६४	जातिज्ञानपदान्	३७४	ज्येष्ठस्तु जातो	५०१
चैलवचर्मणां	२७९	जातिभ्रंशकां कर्म	६१६	ज्येष्ठैश्च कनि	४९८
चौरैरुपप्लुते ग्रामे	२२४	जातिमात्रोपजीवी	३७३	ज्येष्ठस्य विश	४९८
चोदितो गुरुण	९५	जातो नायमिना	५६९	ज्येष्ठेन जातमात्रेण	४९६
चौरैर्हृतं जलेनोदं	४१४	जातो निपादा	५५७	ज्येष्ठो यवीयमा	४८१
छ		तामयोपवरमां	२३०	ज्योतिषश्च	३७
छत्राकं विड्वराहं	२५३	जामयो यानि	१२७	ज्ञ	
छायायामन्त्रकारे	१९८	जालान्तर्गते	४०१	झला मला	६६३
छायास्वेदाम	२३१	जित्वा संपूजये	३६२	झला मलश्च	५५८
छिन्ननास्ये	४३७	जीवकार्मुकव	६२०	ड	
छुच्छुन्दरिः	६६७	जीर्णोद्यानन्य	५३७	डिमादवदनानां	२७२
छेदने चैव	४३८	जीवन्तीनां तु	३७५	त	
ज		जीवमंज्ञोऽन्तरा	६५५	तं यस्तु द्वेष्टि	११७
जगतश्च समुत्	४६	जीविताययमापन्न	५७७	तं हि स्वयम्भू	४२
जटिलं चानधी	१५१	जीवेदेतेन राजन्यः	०७६	त एव हि जयो	१०५
जडमूकान्	३४८	ज्ञातिभ्यो द्रविणं	११९	तं चेदभ्युदियान	१०३
जनन्यां संस्थि	५२०	ज्ञातिभंचान्धि	५३१	तडागमेदकं	५४१
जन्मज्येष्ठेन	५०१	ज्ञाननिष्ठा द्विजाः	१४६	तडागान्युद्	५३२
जन्मप्रभृति	३९१	ज्ञाननिष्ठेषु	१४६	ततः प्रभृति यो	४८३
जपन्वान्यतमं	६०४	ज्ञानं तपोऽग्निरा	२७६	ततः स्वयम्भू	१७
जपहोमरैपैत्येन	५७९	ज्ञाननैवापरे	१९०	तत्तन्मया स तेनोक्त	३२
जपित्वा त्रीणि	६३४				

श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ[१७]
ततो दुर्गं च गच्छे ३२१	नं देशकालौ ३१७	तस्य भृशजनं ५८९	
ततो भुक्तवतां १७७	नपः परं कृतयुगे ४०	तस्य मध्ये ३३२	
तत्प्राज्ञेन विनीतेन ४७७	नपस्यादिसवचैपः ३१५	तस्य सर्वाणि ३१७	
तत्र भुक्त्वा पुनः ३६८	नपमापनुनुत्पुस्तु ६११	तस्य मोऽह ३६	
तत्र यत्प्रोति ३५८	नपमैव विद्युद्भस्य ४४२	तस्यार्थे सर्व ३१७	
तत्र यद्भक्षजन्मा ९०	नपस्तप्यास्तु नयं २५	तस्याहुः संपणे ३२०	
तत्र ये भोजनीयाः १४४	नपंचीजपभ वस्तु ५६३	तस्यैह त्रिविध ६५३	
तत्र स्थितः पजाः ३४७	नपो मूलमिदं ६४५	नां त्रिवर्जयतस्त १२६	
तत्रात्मभूतैः ३३६	नपो वाचं रति २३	नाडयित्वा २२६	
तत्रापमित्रं ४२६	नपो विद्या च ६७५	नाडयित्वा ६३७	
तत्रामीनः स्थितो ३६९	नपोविशपैः ८९	तान्प्रजापतिरा २४०	
तत्समुत्थो हि ५५१	नपुच्छं चरन् ६४०	तान्विदित्वा ५३६	
तत्सद्भायैरनुगतैः ५३७	नपभा बहुरूपेण २९	तान्मर्वाभि ३५२	
तत्स्यादायुध ३३१	नममो लक्षणं ६६१	तापमा यतयो ६६३	
तथा च श्रुतयो ४७२	नमोऽयं तु ३१	तापमेधेव विप्रेषु २२७	
तथा भग्निमेया ४४४	नं प्रतीतं १११	ताभ्यां स १९	
तथा नित्यं यते ४९५	नयोर्विशं प्रियं १०५	तामिहमन्थता २०८	
तथैव मत्समे भक्ते ५५८	नस्मादधिद्रान् २३२	तामिह्मादिषु ६७१	
तथैवाक्षेत्रिणो ४७५	नस्मादेताः सदा १२७	ताभ्यः कांस्य २७७	
तदण्डमभवद्भैरव १८	नस्माद्धर्म २४४	ताभ्युभावप्य ५६९	
तदध्यास्योद्वेद ३३२	नस्माद्धर्म ३१७	ताभ्युभौ भूत ६५६	
तदाविशन्ति २१	नस्माद्यम इव ४११	तामां क्रमेण १२९	
तद्वदन्धर्मिनोऽर्गेषु ३१४	नस्मिन्देशे य ५३	तामां चेद्वरुद्धा ४२५	
तद्धि कुर्वन्मया ५९३	नस्मिन्नण्डे म १९	तामायाश्चत १२३	
तद्वै युगमहम्ना ३६	नस्मिन्स्वपति ३०	तिगृह्योचरेत् १९८	
तन्तुवायो दशपलं ४६२	तस्य कर्म ४३	तिलैर्वीहियैर्मा १८१	

१८]श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ
तिष्ठन्तीष्वनु	६१४	तेषां न दद्याद्यादि ४१३	विभ्व पर तु ६६
तीक्ष्णश्चैव	३४६	तेषामनुपरोधेन	१०७ विद्वर्त्तिनिशया ६४२
तीरितं चानुशिष्टं	५३०	तेषामर्थे नियु	३०८ त्रिगचामेदपः ६३
तुगीयो ब्रह्महत्याः	६१७	तेषामाद्यमृणा	३७० त्रिगचामेदपः २८४
तुलामानं मती	४६४	तेषामारक्षभृतं तु	१६४ त्रिगचामेदपः २६८
तृणकाष्ठद्रुमाणां	६२८	तेषामिदं तु	२१ त्रिवारं प्रतिगोद्रा ६०५
तृणगुल्मलतानां	६६५	तेषामुदकमानीय	१६६ त्रिविधा त्रिवि ६४१
तृणाणि भूमि	१३८	तेषु तेषु तु	५४५ त्रिष्वप्येतेषु २३२
ते चापि बाह्यान्	५५९	तेषु सम्यक् वर्त	४९ त्रिष्वप्येतेषु १०६
ते तमर्थमपृच्छन्त	८६	ते षोडश	४०२ त्रिष्वेतेष्विति १०७
तेन यद्यत्रभृसेन	३२२	तैः सार्धं चिन्तये ३२७	त्रिस्तु तस्माद्भवः १६७
तेनानुभूयता	६५६	तैजमानां मणीनां	२७७ त्रीणि देवाः २८१
ते पृष्ठास्तु यथा	४२९	तौ तु जातौ पर	१५७ त्रीणि वर्षाण्यु ४९२
ते पृष्ठास्तु यथा	४३१	तौ धर्मं पश्यतस्त	६५७ त्रीणि श्राद्धे १७३
तेऽभ्यामात्कर्मणः	६६१	यज्ञेदाश्वयुजे	२१५ त्रीण्याद्यान्या ३३०
तेभ्यांऽधिगच्छे	३२३	त्रयः परार्थे	४१० त्रिविधेभ्यस्त्रयी ३०४
तेभ्यो लब्धेन	६१६	त्रयाणामपि	६५२ त्रैविद्यां हेतु ६७७
तेषां वेदविदो	६०६	त्रयाणामपि	६४० त्रयंशं दायोद्देश ५०८
तेषां सततमज्ञानां	५९५	त्रयाणांऽप्युपाया	३६२ त्रयंशं चोद्देश ६१८
तेषां स्वं स्वमभि	३२७	त्रयाण मुदकं	५१८ त्रयं तृपयमेत्युक्तः ६५०
तेषां ग्राम्याणि	३४२	त्रयो धर्मा	५७१ त्रयं प्रानऽत्रयं ६२९
तेषां तु समवेता	८३	त्रयेणवोऽष्टौ	४०१ त्रयमेदकः शतं ४३६
तेषां त्रयाणां	१०५	त्रिशद्वर्षोद्देह	४९३ त्रयेणो ह्यस्य १५
तेषां त्वययवान्	२	त्रिणाचिकेतः	१६० दक्षिणामु च ४१८
तेषां दक्षा तु	१७	त्रिदण्डमंतत्रि	६५५ दक्षिणेन मृतं २७१
तेषां दोषानभि	५३६	त्रिपक्षाद्वृत्त	३९५ दण्डः क्षास्ति ३१८

श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ[१९
दण्डव्यूहेन	३५९ दानधर्मं निषेवेत	२४१ देवतानां गुणो	२१७
दण्डस्य पातनं	३२६ दानेन वध	६२० देवताभ्यस्तु	२२४
दण्डो हि सुमह	३२० दाराभिहोत्र	१५६ देवत्वं सात्त्विका	६६१
दत्तस्यैषोदिता	४२० दाराभिगमनं चैव	४६ देवदत्तां पति	४९४
दत्त्वा धनं तु	५५० दासी घटमपां	६३२ देवदानवगन्धर्वाः	३२०
ददौ स दश	५०२ दास्यं तु कारये	४६६ देवब्राह्मणमां	३९०
दधि भक्ष्यं च	२५१ दास्यं वा दास	५१६ देवराट्ठा मणिण्डा	४८१
दन्तजातेऽनुजाते	२६३ दिवाकीर्ति	२७० देवस्वं ब्राह्मणस्वं	५९१
दर्भाः पत्रिचं	१७८ दिवा चरेयुः	५६५ देवानृषीन्	१४२
दर्शनप्रातिभाष्ये	४०७ दिवानुगच्छेद्	६१३ देशधर्माञ्जाति	४७
दश काम	३२४ दिवा वक्तव्यता	४२४ देहादुत्क्रमणं चैव	३०६
दश पूर्वापरान्	१२० दीर्घाध्वनि यथा	४६५ दैत्यदानवयक्षा	१६३
दश मामांस्तु	१८२ दुराचारो हि	२२४ देवानान्याभि	२२३
दशलक्षणकं	३१३ दुष्प्रेयुः सर्व	३२० देवपिड्याति	११५
दशलक्षणानि	३१४ दूत एव हि	३२९ दैवाद्यन्तं तदीहेत	१६४
दशमूनाममं	२०७ दूतं चैव प्रकुर्वीत	३२८ दैविकानां युगानां	३६
दशमूनामहस्या	२०७ दूतं संप्रेषणं चैव	३४९ दैवे रजःपहनी	३४
दश स्थानानि	३९९ दूरस्थो नार्चये	९८ दैवोढाजः सुतश्चैव	१२०
दशावदारुणं	८१ दूरादावस्थान	२२२ दौहित्रो ह्यखिलं	५०३
दशावारा वा	६७७ दूरादाहृत	९४ द्यूतं समाहृत्यं चैव	५२७
दशाहं शाव	२६२ दूरादेव परीक्षित	१४५ द्यूतं च जनवादं	९२
दशी कुलं तु	३४१ दूषितोऽपि	३०७ द्यूतमेतत्पुरा	५२९
दक्षान्ते धमाय	३३० दृढकारी मृदु	२४५ द्यूर्भूमिरापो	३८९
दातव्यं सर्व	३७८ दृष्टिपुनं न्यमेव	३०२ द्रवाणां चैव	२७८
दातारो नोऽभि	१७९ देवकार्याणि	१६४ द्रव्याणामल्पमा	६२७
दातृन्प्रतिग्रही	१४८ देवतातिथि	१३० द्रव्याणि हिंस्या	४३७

२०]श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ
द्वयोरप्येतयो	३२६ धर्मार्थं येन दत्तं	४२० नक्तं चाशं सम	२०६
द्वयोस्त्रयाणां	३४० धर्मार्थो यत्र न	५८ नगरे नगरे	३४२
द्वौवेव वर्जये	२१७ धर्मार्थावुच्यते	१०४ नमो मुण्डः कपा	३०१
द्विकं शतं वा	४२६ धर्मोत्तमविष्टा	३७४ न च वैश्वस्य	५५१
द्विकं त्रिकं चतु	४२७ धर्मैव च द्रव	५२२ न च दृन्यान्मपटा	३३५
द्विजातयः सवर्णा	५५८ धर्मैव व्यवहारं	३८० न नोत्पातनिमित्ता	३०४
द्विजोऽध्वगः	४४८ धर्मोऽधिगतो	४३७ न जतु कामः	७१
द्वितीयमेकैपजनम्	४८७ धर्मोऽपरवस्तु	५८४ न जतु वाक्मयं	४२६
द्विधा कृत्वात्मनो	२५ धर्मोऽदेशं दर्पेण	४३३ न ते स्नेना न	३३३
द्विविधांस्तस्करा	५३५ धर्मो विद्वस्व	३७१ न तथेतानि	७१
द्वौ तु यो विवदेया	५११ धान्यं हृत्वा	६६६ न तादृशं यवयेनः	२५६
द्वौ दैवे पितृ कार्ये	१४० धान्यकुण्डपथु	६०१ न तापमैवाणि	३०४
द्वौ मामौ मत्स्य	१८१ धान्यं दशभ्यः	४४३ न निष्ठति तु यः	७३
ध	४०० धान्यान्नधन	६०६ न तेन वृद्धो	८७
धनं यो विभृयाद्	५०६ धान्येऽष्टमं विशां	५८२ न तेः समयमन	५६५
धनानि तु यथा	५८६ धृतिः क्षमा दमो	३१३ न त्वेवाधौ सोप	४०३
धनुः शनं परी	४२६ ध्यानिकं सर्व	३१० न दक्षरा कस्य	४८८
धनुः शराणां	१५३ ध्यायमानेष्टं यन्	४७२ नदीकले यथा	३०१
धन्वदुर्गं मही	३३० ध्रियमाणे तु	१६० नदीषु देवस्य तेषु	२३५
धरणानि दश	४०० ध्वजाहतो भक्त	४६७ न दृष्टाणाम	२३१
धर्मं शनैः संचि	२४३ न	न धर्मस्यापदेशेन	२३४
धर्म एव हतो	३७२ न कदाविहिजे	२२६ न निर्हारं त्रियः	५२१
धर्मज्ञं च कृतज्ञं	३६४ न कन्यायाः	१२५ न निष्कय	४७८
धर्मध्वजी सदा	२३३ न कश्चिद्योनिः	४७० न नृपेदयवा	२०१
धर्मप्रधानं पुरुषम्	२३३ न कुर्वीत वृथा	२०१ न पाणिपाद	२२८
धर्मस्य ब्राह्मणो	६०६ न कृतेऽनुवै	३३५ न पादौ धावयेत्	२०२

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
न पूर्व गुरवे	१०९	न वर्षयेदघा	२७०	न सुप्तं न	३३५		
न पैतृयज्ञियो	१८४	न वारयेद्वा	२००	न स्कन्दते न	३३३		
न फालकृष्टम	२९५	न वार्यपि	२३२	न स्नानमाचरेद्	२१७		
न फालकृष्टे न	१९७	न विमृश कथां	२०४	न स्पृशेत्पाणि	२२०		
न ब्राह्मणक्षत्रिय	११४	न विमं स्वेषु	२७५	न स्वामिना	४६६		
न ब्राह्मणवेद	५९२	न विवादे न कलहे	२१५	न दायनैर्न पलितैः	८६		
न ब्राह्मणं परीक्षेत	१५०	न विस्मयेत	२४२	न हि दण्डादते	५३७		
न ब्राह्मणवधाद्	४५८	न वृथा शपथं	३९५	न हीदृशमना	२१८		
न ब्राह्मणस्य	१४०	न वेनानर्चिता	१९२	न होढेन विना	५१२		
न भक्षयति यो	२६०	न वै कन्या न	५९३	नाकृत्वा प्राणिनां	२५९		
न भक्षयेदेक	२५२	न वैतान्स्नातकान्	५८५	नाक्षैः क्रीडेत्	२०४		
न भुञ्जीतोद्धृत	२०१	न वै स्वयं तद्	१३९	नाग्निं मुखेनोप	१९१		
न भोक्तव्यो	४०४	न शूद्रराज्ये	२०१	नाञ्जयन्तीं स्वके	१९६		
न भोजनार्थं स्वे	१४०	न शूद्राय मतिं	२०६	नाततायित्रधे	४५०		
न भ्रातरो न	५१८	न शूदे पानकं	५८३	नातिकल्पं नाति	२१९		
न मांसपक्षणे	२६१	नश्यतीषुर्यथा	४७७	नातिमांस्त्वमरीं	४०६		
न मातान पिता न	४६०	नश्यन्ति हव्य	१३७	नात्ता दुप्यस्य	२५५		
न मित्रकारणा	४५०	न श्राद्धे भोजयेत्	१४७	नात्मानमवन्येत्	२१९		
न मृल्लोष्टं च	२०३	नष्टं विनष्टं	४०१	नात्रिर्वर्षस्य	२६५		
न यज्ञार्थं धनं	५९०	न संवमेच्च	२०५	नाददीत नृपः	५३२		
नरके हि पतन्त्येते	५९३	न संहताभ्यां	२०६	नाद्याच्छृद्रस्य	२४०		
न राहः प्रति	२०७	न संभाषां पर	४५३	नाद्यादविधिना	२५६		
न राजामघदोषो	२७२	न सप्तर्षेण	१९७	नाधर्मश्चानितो	२२७		
न रक्षितस्तनदी	११३	न साक्षी नृपतिः	८४	नाधार्मिके वसेद्	२०१		
न लङ्घयेद्गन्तुं	१९५	न सीदन्नपि	२२७	नाधीयीत	२१४		
न लोकवृत्तं	१८९	न मीदेत्स्नातको	१९४	नाधीयीताश्रमा	२१५		

२२] श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ
नाध्यधीनो न	३८८	नाश्रोयाद्भार्यया	१९६	निधीनां तु	३७८
नाध्यापनाद्या	५७७	नाश्रोयात्मांघ्रि	१९९	निन्दितभ्यां	६०२
नानिष्ठा नवसस्ये	१९२	नाश्रोत्रियतते	२३५	निन्धास्वष्टासु	१५५
नानुशुश्रुम जाले	४९५	नास्तिक्वयं	२२५	निमन्त्रितां द्विनः	१६१
नान्नमद्यादेक	१९७	नास्ति स्त्रीणां	४७२	निमन्त्रिनादि	१६१
नान्यदन्येन	४१७	नास्ति स्त्रीणां	२८७	निक्षेपस्यापहर्तारं	४१५
नान्यस्मिन्निधवा	४८३	नास्य कार्योऽग्नि	२६५	निमेषा दश चाष्टौ	३३
नान्योत्पन्ना मजा	२८९	नास्य च्छिद्रं परो	३३१	नियुक्तस्तु	२५७
नापृष्ठः कस्यचिद्	७५	नास्यमापातये	१६८	नियुक्तायामपि	५०६
नाप्सु मूत्रं	१९९	निक्षिप्तस्य	४१५	नियुक्तौ यौ विवि	४८२
नाब्रह्म क्षत्र	५५०	निक्षेपस्या पहरणं	५९८	निरस्य तु	२६४
नाब्राह्मणे गुरौ	१०८	निक्षेपस्या पहरारं	४१४	निरादिपृथनश्चेत्	४०८
नाभिनन्देत	३०२	निक्षेपेषु सर्वेषु	४१४	निर्यते भूमिचलने	२१२
नाभिर्व्याहारयेद्	९१	निक्षेपोपनिधौ	४१३	निर्दशं ज्ञात	२६८
नामजातिग्रह	४३२	निक्षेपो यः कृतो	४१५	निर्धयं तु भवेद्यस्य	५३४
नामधेयं दशम्यां	५६	नियुक्तं दापये	४२२	निर्लेपं काञ्चनं	२७७
नामधेयं दशम्यां	५६	निग्रहं प्रकृतीनां	३५६	निर्वर्तनास्य	३२८
नामधेयस्य ये	७८	निग्रहेण हि	४४१	निर्वर्तेश्च तस्मान्नु	६३२
नामुत्र हि	२४३	नित्यं शुद्धः	२८१	निपादस्त्री तु	५६२
नायुधव्यसन	३३५	नित्यं स्नात्वायुचिः	९२	निपादो मार्गश्च	५६१
नारं स्पृष्ट्वास्थि	२७०	नित्यं तस्मिन्	३२८	निषेकादिभ्य	५२
नारुन्तुदः	८८	नित्यमास्यं युचि	२८१	निषेकादीनि	८३
नार्तो न मत्तो	३८५	नित्यमुद्धृतपाणिः	९६	निष्पद्यन्ते च	५३३
नार्थमबन्धिनो	३८४	नित्यमुग्रदण्डः	३३८	नीचं शय्यामनं	९७
नाविनीतैर्वनैर्दुर्धै	२०२	नित्यमुग्रतदण्ड	३३८	नीहारे त्राणशब्दे	२१४
नाविस्पष्टम	२११	नित्यानध्याय	२१२	नृणामकृत	२६५
नाश्रान्ति पितर	२४५				

श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं २३
नेक्षेतोद्यन्तमा	१९५ पञ्चानां त्रिषु	८२ परस्य पत्न्या	४५२
नेहेतार्थान्प्रमद्रेन	१८९ पञ्चाशद्वाह्यणो	४३२ पराञ्जुलस्याभि	९७
नैः श्रेयसमिदं	६७६ पञ्चाशत्स्त्वभ्य	४४४ परामप्यापदं	५४८
नैकः स्वप्नाच्छृ	२०७ पञ्चाशद्भाग	३४४ परित्यजेदर्थकामौ	२२८
नैकग्रामिणमति	१३९ पञ्चैतान्यो महा	१३४ परिपूतेषु धान्येषु	४४६
नैतारूपं परीक्षन्ते	४७१ पणं यानं तरे	४६४ परिपूर्णं यथा	५४७
नैतैरपूतैर्विधिवत्	५८८ पणानां द्वे शते	४०२ परिवित्तिः परि	१५७
नैत्यके नास्त्यन	७४ पणो देयोऽव	४६८ परिवित्तितानुजे	५९९
नैष चारणदारेषु	४५३ रतिं या नाभि	२९० परीक्षिताः स्त्रिय	३६७
नोच्छिन्त्यदात्मनो	३४६ रतिं हित्वापकृष्टं	२९० परीवादात्त्वरो	९८
नोच्छिष्टं कस्य	६२ रतितस्योदकं	६३२ परेण तु दशाहस्य	४२२
नोच्छिष्टं कुर्वते	२८४ रतिर्भार्या	४७० पलं मुवर्णाश्च	४०२
नोत्पादयेत्स्वयं	३७० रतिव्रता धर्मपत्नी	१८० पशवश्च मृगाश्चैव	२७
नोदाहरेदस्य नाम	९८ पत्नौ जीवति यः	५२१ पशुमण्डूकमार्जार	३१६
नोद्वेष्टेच्छापिलां	११३ पत्रशाकतृणानां	३४४ पशुषु स्वामिनां	४२४
नोन्मत्ताया न	४१८ रथि क्षेत्रे परितृप्ते	४२६ पशूनां रक्षणं	४१
नोपगच्छेत्प्रमत्तो	१९६ रथः पिबेद्विगात्रं	६१८ पांसुवर्षे दिशां	२१४
नोद्राहिकेषु	४८३ रक्तीयानपानेषु	२३५ पाटीनरोहिता	२५२
न्युप्य पिण्डांस्त	१६७ रग्दाराभिमर्शेषु	४५१ पाणिग्रहण	१२२
प	रग्दारेषु जायेते	१५७ पाणिग्रहणिका	३९९
पक्षिजग्धं गवा	२८० रद्गव्येष्वभि	६५४ पाणिग्रहणिका	४००
पञ्च पञ्चनृते	३९२ परपत्नीतु या स्त्री	८० पाणिग्राहस्य	२८८
पञ्चभ्य एव	६५६ परमं यत्र	४४० पाणिभ्यां तूपसं	१७०
पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे	४६४ परस्त्रियं योऽभि	४५२ पाणिमुद्यम्य	४३५
पञ्च मूना	१२९ परस्परविरुद्धा	३४९ पात्रस्य हि	३३२
पञ्चानां तु त्रयो	११७ परस्य दण्डं	२२५ पादोऽधर्मस्य	३७२

२४]श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं
पानं दुर्जनसंमर्गं ४७१	पितुनः पौत्रिणा ५९७	पृथक्पृथग्वा ११७	
पानमक्षाः स्त्रिय ३०४	पितुनः नृत्तनो २३८	पृथुस्तु विनया ३२३	
पारुष्यमनृतं चैव ६५४	पीडितानि च ५४५	पृथोरपीमां ४७७	
पार्ष्णिग्राहं च ३६३	पुण्यान्यन्यानि ५९४	पृष्ठोऽपव्ययया ३८३	
पाषण्डमाश्रितानां २७१	पुत्रः कानेष्ठो ५००	पृष्ठा स्वदित १७७	
पाषण्डिनो विरुर्ध १९३	पुत्रं मत्पुद्गलं ४७५	पृष्ठतस्तु शरीर ४३९	
पिण्डनिर्वपणं १८०	पुत्रान्द्रादश ५१०	पृष्ठमास्तुनि १३४	
पिण्डेभ्यस्त्वलिप १६८	पुत्रा येऽवनन्तर ५५६	पैतृकं तु पिता ५२४	
पिताचार्यं सुहृन् ४४७	पुत्रकायां ५०४	पैतृकमेपी ६२९	
पितामहो वा १७०	पुत्रेण ५०५	पैतृकं साहसं ३२५	
पिता यस्यानि १७७	पुत्राति पङ्क्ति ४४४	पौण्ड्रकाचौद्ध ५६३	
पिता रक्षति ४३८	पुत्रास्त्रो ५०५	पौत्रदौहित्रयो ५०३	
पिता वै गार्ह १०५	पुत्रांसे ४२७	पौत्रदौहित्रयो ५०५	
पितुर्भगिन्या ८१	पुत्रान्पुंनोऽत्रिके १९८	पौत्रिणीं म २२२	
पितृदत्त ६७३	पुरुषस्यास्त्रियाश्चैव ४६८	पौत्रपात्र ४७१	
पितृभिर्भ्रातृभि १२६	पुरुषाणां ४४४	पकल्पया तस्य ५८३	
पितृयज्ञं तु १४३	पुत्रोदितं च ३३२	पकाशयेतत्तास्त ५२८	
पितृवश्यनि ५०४	पुष्पमूर्च्छफलेर्वापि २९६	पकाशयश्चकास्त ५३१	
पितृणा मासिकं १४३	पुष्पेषु हरिते ४४६	पक्षालय ११८	
पितृव पालयेत् ४९६	पुष्प तु छन्दसां २१०	पच्छन्नं वापकाशं ५२९	
पित्रां भर्त्रा २८६	पूजयेदशनं नित्यम् ६१	पजनार्थ ४७४	
पित्राविदमानश्च १५३	पूजितं ह्यशनं ६२	पजनार्थं स्त्रिय ४९४	
पित्रे नद्याच्छुल्लं ४२३	पूयं चिकित्सक २३९	पजानां रक्षणं ४०	
पिड्यं वा भजत ५६६	पूर्वा मन्थ्यां ७२	पजापतिरिदं ६४७	
पिड्ये गडपदनी ३४	पूर्वा मन्थ्यां ७२	पजापतिरिदं ५५१	
पिड्ये स्वदित १७८	पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा १६१	पण्डितस्वामिकं ३७५	

श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं २५
मणप्राधिगतं	३७७ पाचिनावीतिनाम १८३	कलत्रनभिमंघाय ४७९	
प्रतापयुक्तम्	४०२ प्राजकश्चन्द्रवेदास ४२०	कलदानांतुवक्षा ६२१	
प्रतिकूलं वतमानां ५५२	प्राजापत्यमदत्वा ५९४	कलमूलशानमेधये २६१	
प्रतिगृथ द्विजो २१३	प्रजापत्यां निरूप्ये ३००	व	
प्रतिगृथेष्मिन् ६०	प्राज्ञं कुलीनं शूरं च ३६४	रक्तं चैव बलाकां च २५२	
प्रतिग्रहममर्थोऽपि २३१	प्राणस्याग्निमिदं २५५	रक्तवचिन्तयदर्थं ३३८	
प्रतिग्रहाद्याजना ५७९	प्राणायामा ब्राह्म ३०८	रक्तो भवति हृत्वा ६६७	
प्रतिवातेऽनुवात च १८८	प्राणायामे देहे दोषा ३०८	रन्ध्रानि च सर्वा ५४३	
प्रतिश्रवणमभापे ९६	प्राणि वा यदि वाऽऽ २१४	रन्ध्रभिरिव यो ६७०	
प्रतिपिद्रापिचेद्या ४९१	प्रतिभाव्यं वृथा ४०७	रभृर्बुद्धिपुगोडाशा २५४	
प्रतुदा आहपादां २५१	प्रतिवेद्यानुवेद्यौ ४६१	रत्नस्य स्यात् ३५४	
प्रत्यक्षचानुमानं च ६७६	पादुष्कृतेष्वग्निषु तु २१२	रत्नादत्तं रत्नाद्भुक्तं ४०९	
प्रत्यक्षं प्रतिस्मृतिं च १९८	पायश्चित्तं तु कुर्या ५३१	रत्नो विनयाज्ञेष्टः ३२३	
प्रत्यहं देशदृष्टश्च ३५२	पायश्चित्तं चिकीर्ष ६३४	रत्नं परि ३८६	
प्रथिता प्रेतकृत्या १४४	पायश्चित्तीयतां ५९६	रत्नवर्णगणा ६६९	
प्रभुः प्रथमकल्पस्य ५९१	पायश्चित्ते तु चरिते ६३३	रत्नः समानजन्मा १००	
प्रमाणानि च कुर्यात् ३६३	प्रयपु स्वेपु मुकृत ३१०	रत्नग्रांश्च ६३४	
प्रविश्य सर्वभूतानि १४६	प्रेतशुद्धिं प्राक्षया २६१	रत्नदायादिकं ३७५	
प्रवृत्तं कर्म संमेव्य ६७०	प्रेते राजनि २६२	रत्नया वा युवत्या २८६	
प्रशाभितारं भर्षपा ६७९	प्रत्येह चेदृशा विप्रः २३४	रत्नद्वद्वातुराणां ३८६	
प्रमाथनोपचारज्ञम २६०	प्रेतो ग्रामस्य राज्ञ १५१	रत्नातपः प्रेतधूमः २०३	
प्रहर्षयेद्दलं व्यूढ ३६०	प्रोक्षणं चृणकाष्टं २८०	रत्ने देशान्तरस्थे २६८	
प्राकारस्य च भत्तारं १४३	प्रोक्षितं भक्षयेन्मामं २५५	रत्नोऽपि ३१५	
प्राक्कूलान्पर्यपासीन ६६	प्रोषितो धर्मकार्यार्थ ४८९	रत्नये पितुर्वशे २८६	
प्राङ् नाभिवर्धनात्पुं ५६	फ	रत्नैर्विभावये ३७५	
	फलं कतकदृक्षस्य ३०७	विडालकाका ६२५	

श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः
विभर्ति सर्वभूतानि ६७४		ब्राह्मणं भिक्षुकं १७५		ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन ६२	
बीजमेके ५७०		ब्राह्मणस्तु ६२३		ब्राह्मे मुहूर्ते २०८	
बीजस्य चैव ४७६		ब्राह्मणस्त्वन १५६		ब्राह्मो देवस्तथै ११६	
बीजानामुप्तिविच्च ५५१		ब्राह्मणस्य चतुः ४४७		बृहीति ब्राह्मणं ३९०	
बुद्धिष्टादि १२०		ब्राह्मणस्य तपो ६४५		बृहीत्युक्तश्च न ३८२	
बुद्धीन्द्रियाणि ७०		ब्राह्मणस्य रुजः ६०२		म	
बुद्ध्वा च सर्व ३३०		ब्राह्मणस्यानु ५०८		मक्ष्यभोज्यपदे ५३८	
ब्रह्मघ्नो ये स्मृता ३२०		ब्राह्मणस्यैव कर्म १५		मक्ष्यभोज्या ६२७	
ब्रह्मचारी ३१२		ब्राह्मणादुग्र ५५६		मक्ष्यं भोज्यं च १७१	
ब्रह्मचारी तु ६२५		ब्राह्मणाद्वैश्य ५५४		मगवन सर्ववर्णा २५	
ब्रह्मणः प्रणवं ६६		ब्राह्मणान्पर्यु ३२३		मद्रं भद्रमिति २१९	
ब्रह्म यस्त्वननु ७७		ब्राह्मणान्वाधमानं ५३३		मद्राजः क्षुधा ५७८	
ब्रह्मवर्चसकामस्य ५७		ब्राह्मणा ब्रह्मयो ५७१		मवत्पूर्वं च गेहैक्षम ६०	
ब्रह्महत्या मृग ५२७		ब्राह्मणायावगूयैव २२६		भर्तारं लंघयेद्या ४५६	
ब्रह्महा च ५३०		ब्राह्मणार्थे गवार्थे ५६७		भर्तुः पुत्रं ४७५	
ब्रह्माभिः प्रवमाने च ६५		ब्राह्मणार्थे गवार्थे ६०५		भर्तुः शरीर ४२२	
ब्रह्मा विश्वसृजो ६६४		ब्राह्मणी यद्यगुप्ता ४५७		पाण्डूपूर्णानि ४६४	
ब्रह्मोज्झता ५२८		ब्राह्मणेषु च ४२		भार्या पुत्रश्च ४३९	
ब्राह्मणः संभवेनैव ६०६		ब्राह्मणो जायमानो ४३		भार्या पुत्रश्च ४६७	
ब्राह्मणः क्षत्रियो ५५३		ब्राह्मणो बलवपा ५९		भार्यायै पूर्व २२१	
ब्राह्मणः क्षत्रियो ६८०		ब्राह्मदैवार्प ५२१		भिक्षामण्युदपात्रं १३७	
ब्राह्मणक्षत्रिय ५०९		ब्राह्मं प्राप्तेन ३१५		भिक्षुका बन्दिन ४५३	
ब्राह्मणक्षत्रिया ४३६		ब्राह्मस्य जन्मनः ८५		भिन्दन्त्यवमता ३४८	
ब्राह्मणं कुशलं ७५		ब्राह्मस्य तु ३४		भिन्द्याच्चैव ३६१	
ब्राह्मणं दशवर्षं तु ८२		ब्राह्मादिषु १२१		मुक्तवत्स्वथ १४१	
				मुक्तवान्विहरेच्चैव ६६७	

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
भुञ्जानोऽन्यत २४०		गणिमुक्ता ५५१		वमदमिति यो ३७५	
भुञ्जानां प्राणिनः ४२		गणमुक्ता ६२८		परीचिमव्यङ्गिरमौ २३	
भूमावप्येक ४७६		गणिमुक्तामत्रा ६६६		रुद्रयज्ञितुद्वारि १३४	
भूमिरो भूमिषा २४१		गत्क्रुदातुगणां २३६		पदपिपितृद्वना २४८	
भूमौ विवर्ति १२६		गतोन्नतःतद्वि ४०८		पदपिभिश्चदेवैश्च ३९५	
भुनक्तव्यापको १५२		भस्यघातोतिषा ५६४		उदन्तमेवचात्मानम् १२	
भुनो नार्तो न ४२१		भस्मानां पक्षिणां १४५		उदन्त्यपिममृदा ११२	
भुञ्जानामुपगंभेन ५८७		भयना माधुमुक्ता ४२०		उदापशूनां हरणे ४४४	
भुञ्जानां च भृति ५५१		मध्यमूत्रैःपुगीपैर्वा २८०		उदापातकर्मयुक्तः ६५०	
भैक्षेण वर्तयेत् ९५		मधुर्के च यज्ञे च २१७		उदापातकितश्चैव ६४६	
भोः शब्दं कीर्तये ७२		मध्यदिनेऽर्धरात्रे ३४१		उदाव्याहृतिभि ६४२	
भोजसाध्यजनान् ५७४		मध्यमस्यमवांच ३५०		सांनगृध्रोवपांमदुः ६६६	
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य ४८१		मनसिन्दुदिशः ६७२		सांनमत्तयितामु २६१	
भ्रातुर्भाष्योप ८१		मनःसृष्टिविकृतो ३७		सातरं वा स्वसारं वा ६१	
भ्रातुर्मृतस्य १५७		मनुकेकान्तवाचीनं १५		सातरं गिरंजायां ४३३	
भ्रातृणामेक ५१७		मनुष्यवारणे ४३८		साता पिता वा ५२१	
भ्रातृणां यस्तु ५२४		मनुष्याणां तु हरणे ६२७		सातापितृभ्यां २३०	
भ्रातृणामपि ५२६		मनुष्याणां पशूनां ४३६		सातापितृभ्या ५१४	
भ्रामरी गण्डवाली १५४		मनुःस्त्रायंभुवो १६२		सातापितृविहीनो ५१५	
भ्रूणत्रात्रेक्षितं २३६		नोर्द्वैरण्यगर्भस्य १६२		सातामहं मातुलं च १५०	
म		मन्त्रतस्तु समृद्धा १२९		सातुस्तु यौतुकं ५०३	
मक्षिका विमुषः २८२		मन्त्रैःशाकल्योपी ६५०		सातुः प्रथमतः ५०५	
मङ्गलाचारयुक्तः २२१		मन्यन्तेऽपिपकृतः ३८९		सातुरग्रेऽधिजननम् २०	
मङ्गलाचार २११		मन्येत्तारिं यदा ३५५		सातुर्चांश्चपितृभ्यां ८०	
मङ्गलाचर्याम् २८७		मन्त्रतराण्यमरुता २८		मत्तृत्वमामातुञ्जानी ८१	
मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य ५६		मायमिति यो ३७७		मात्रास्वस्त्रादुद्वि १०२	

२८]श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं
मानसं मनसैवायमद ५४	मौजनीविहृतममा	५२ यज्ञार्थं ब्राह्मणे	२५६
मार्गशीर्षे शुभे ३५७	मौण्ड्यं माणा	४५८ यज्ञार्थं पशव	२५८
मार्जनं यज्ञ २७८	मालाञ्जलास्त्र वेदः ३२६	यज्ञार्थमर्थ	५१०
मार्जारिनकुलौ ६१८	प्रियमाणो	३४२ यज्ञे तु वितते	११८
मारुतं पुरुहूतं च ६१७	य	यज्ञोऽनृतेन क्षरति २४३	
मामिकाञ्चं तु ६२७	य ब्राह्मणस्तु	५१५ यज्वान ऋषयो	६६४
मिथो दायः कृतो ४१७	य वदन्ति तमो	६७८ यतश्च भयमा	३५१
मुखवाहूरुपज्जा ५६३	यः कश्चित्कस्य	५०० यथात्मनोऽप	६४०
मुञ्जालाभे तु ५०१	यः क्षिप्तो मर्ष	४४२ यत्करोत्येक	६३१
मुण्डो वा जटिलो १०३	यः संगतानि	१४८ यत्कर्म कुर्वतोऽस्य २२४	
मुन्यन्नानि पयः १७९	यः साधयन्तं	४११ यत्कर्म कृत्वा	६६०
मुन्यन्नैर्विविधैर्मे २०२	यः स्वयं साधये	३८१ यत्किञ्चित्तिनरि	५२३
मूत्रोच्चार १०८	यः स्वाध्याय	७४ यत्किञ्चित्स्नेह	२५४
मृगयाक्षा ३२७	यः स्वाभिमानस्तु	४०५ यत्किञ्चिदपि	२४१
मृतं शरीर २३४	य आदृणोऽस्य	८४ यत्किञ्चिदपि	३४६
मृतवस्त्रभृत्सु ५६१	य एते तु गणा	१०३ यत्किञ्चिदेनः	६४६
मृते भर्तारि माध्वी २८०	य एतेऽन्ये	२४० यत्किञ्चिदश	४०५
मृत्तोयैः शुध्यते २७६	य एतेऽभिहितः	५१७ यत्किञ्चिन्मधुना	१८२
मृदं गां दैवतं १२५	यक्षरक्षः पिशाचांश्च २८	यत्तत्क्राणमव्य	१८
मृष्यन्ति ये चोप २३२	यक्षरक्षः पिशाचा ६०१	यत्तु दुःखममा	६५८
मेखलाभजिनं ६४	यक्ष्मी च पशु	५१ यत्तु वाणिजके	१५९
मेत्रं प्रसाधनं २२२	यथास्य मुकृतं	३३५ यत्तु स्यान्मोहमं	६५८
मैत्राक्षज्योतिरुः ६६४	यजेत राजा	६४ यत्तवस्याः स्याद्धनं ५२१	
मैत्रेयकं तु वैदेहः ५६१	यजेत वाश्वमेधेन	६०४ यत्नेन भोजये	१४१
मैथुनं तु समभिव्य ६३०	ज्ञश्च यतिरुद्धः	५८ यत्पुण्यफलमा	१३७
मोहाद्राजा त्वराष्ट्रं ३३९	ज्ञाय जग्निर्मी	२५६ यत्पागद्वादश	३६

श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः
यत्र त्वेते परि	५६६	यथा यथा हि	५८४
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण	३७२	यथा यमः प्रिय	५४७
यत्र नार्यस्तु	१२६	यथा हर्मनान	४६०
यत्र वर्जयत	५३३	यथा लालयमद	३४४
यत्र इयामो	३२०	यथा वायुं	१३१
यत्रानिवद्रो	३८७	यथा विध्यधिगम्यै	४८३
यत्रापवर्तते	४३८	यथा शास्त्रं तु	२१०
यत्पर्वणेच्छति	६६१	यथा श्वपेधः	६५०
यथर्तुलिङ्गान्मृतव	२४४	यथा षण्ठाऽकलः	८७
यथा कथंचित्ति	६४१	यथा सर्वाणि	५४७
यथा काष्ठमयो	८७	यथेदमुक्तवज्जला	४७
यथा म्वनन्वनित्रे	१०२	यथेदं शावमाशौ	२६३
यथा गोऽवोष्ट	४७८	यथेरिणे वीज	१४८
यथा चैवापरः	१८३	यथैव स्तेनसा	६४७
यथा जातवज्रो	६७५	यथेनं नाभि	३५७
यथा त्रयाणां	५४८	यथैव शूद्रो	५५९
यथा दुर्गाश्रिताने	३३१	यथैवात्मा तथा	५०३
यथा नदीनदाः	३१२	यथोक्तमार्तः	४२१
यथा नयत्य	३७८	यथोक्तान्वयि	६७४
यथा प्लोनौषलेन	२३३	यथोक्तनयन्त	४२९
यथा फलेन	३४४	यथोदितेन	२२१
यथा मडाहदं	६५२	यथोद्धरति	३७९
यथा यथानरो	६४६	यदर्थाते यद्यजते	४४०
यथा यथानिपवन्ते	६६८	यदन्यगोषु	४७२
यथा यथा मन	६४४	यदाणुमात्रिको	३१
यथा यथा हि	१००	यदा तु यानमा	३५७
		यदा तु स्यात्परि	३५५
		यदा परबलानां	३५५
		यदा प्रहृष्टा मन्येत	३५५
		यदा भावेन	३१०
		यदा मन्येत भावेन	३५५
		यदा वगच्छेदाय	३५५
		यदा सदेवो जागर्ति	३०
		यदा स्वयं न	३७१
		यदि तत्रापि	३५६
		यदि तु प्रायशो	६५७
		यदि ते तु न	३३९
		यदि त्वत्तिथिधर्मे	१४०
		यदि त्वात्यन्तिक	१०९
		यदि न प्रणये	३१९
		यदि नात्मनि	२२७
		यदि स्त्री यद्य	१०४
		यदि संशय एव	४२९
		यदि संसाधये	४२०
		यदि स्वाश्रापरा	४९१
		यदि हि स्त्री न	१२७
		यदेतत्परिपंरुयानम्	३५
		यदेव तर्पयन्त्याह्निः	१८५
		यद्वाहितेनार्चयन्ति	६३४
		यद्गुह्यं गेहपरा	६४५४

श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ	श्लोकः	पृष्ठ
।दुद्रयोरनयोर्वैथ ३८८		यं मातापितरौ १०५		यस्य कायगतं ब्रह्म ६१०	
।द्धनं यज्ञशीलान ५८९		यन्विज्ज्येष्ठभार्या ४९९		यस्य त्रैवर्षिक ५८६	
।द्धयायति २५९		यश्चापि धर्म ५३९		यस्य दृश्यते ३९५	
।द्धस्यं स्यात्ततो २९३		यश्चैतान्माप्नुया ७१		यस्य समादे पद्मा ३१७	
यद्यत्परवंश कर्म २२४		यस्तल्लवः प्रमी ५१२		यस्य भंज न ३४८	
यद्यद्दाति १८५		यस्तु तत्कारये ४९२		यस्यमित्रप्रधाना १४७	
यद्यद्रोचेत विप्रैभ्य १७२		यस्तु दोषवर्ती ४२३		यस्य राज्ञस्तुविपये ३४७	
यद्यन्नमत्ति तेषां तु २७५		यस्तु दोषवर्ती ४८८		यस्य वाञ्छनमी ८८	
यद्यपि स्यात्तु ५०९		यस्तु पूर्वनिविष्टस्य ५४१		यस्यविद्राहिहवदत ३९२	
यद्यथिता तुदारैः ५२२		यस्तुर्भीतः पावृत्त ३३५		यस्य शूद्रस्तुकुरुते ३७३	
यद्यस्य विहितं चर्म ९१		यस्तु रज्जुं घटं ४४३		यस्य स्तेनः पुगे ४५९	
यद्याचरति धर्म मः ६५७		यस्त्वधर्मेण ४११		यस्यास्त्रियेन ४८३	
यद्येकरिक्थिनौ ५११		यस्त्वनासारितः ४५२		यस्यास्तु न भवेद् ११३	
यद्राष्ट्रशूद्रभूयिष्ठं ३७३		यस्त्वैतान्पुपत्तु ४४६		यस्यास्येन सदा ४२	
यद्वा तद्वापरद्रव्यम् ६६८		यस्मात्त्रयोऽप्य १३१		यां यां योनिं तु ६६४	
यद्वेष्टितशिराभुङ्क्ते १७४		यस्मादण्यपि ३०१		या गर्भिणी ५१४	
यं तु कर्मणि २४		यस्मादुत्पात्तिरेत १६२		राजनाध्यापने ५७९	
यं तु पश्येन्निधि ३७८		यस्मादिषां सुरेन्द्रा ३१५		या तु कन्या ४५५	
यन्नावि किंचिद्वा ४६५		यस्माद्भीजप्रभावेण ५७०		यात्राभात्रभानिध्य १८६	
यन्मूर्त्यवयवाः २०		यस्मिन्कर्मणि यास्त ४१८		यादृशगुणेन भर्त्रा ४७२	
यन्मेमाता प्रलुप्तमे ४७२		यस्मिन्कर्मण्यस्य ६४४		यादृशं तूष्यते ४७६	
यमान्सेवेत सततम् १३५		यस्मिन्दशे निषी ३७१		यादृशं भजते हि ४७०	
यमिद्रोनदहत्यग्निः ३९७		यस्मिन्नृणं संनय ४९६		यादृशं फलमाप्नोति ५११	
यमेव तु शुचि ७६		यस्मिन्यस्मिन्कृते ४२३		यादृशा धनिभिः ३८३	
यमा वैवस्वतो देवः ३९१		यस्मिन्यस्मिन्निवा ३२८		यादृशेन तु भावेन ६७१	
यं ब्राह्मणास्तु ५१५		यस्मै दद्यात्पिता २८७		यादृशोऽस्य २४७	

श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः
यानशय्यामना	२३५	ये कार्याकेभ्यो	३४२	योऽदत्तादायिनो	४४८
यानशय्याप्रदो	२४२	येऽक्षेत्रिणो	४७२	यो दत्त्वा सर्व	३०१
यानस्य चैव	४३७	येतत्र नोपपर्वेयुः	५३८	योऽधीतेऽह्न्य	६८
यानिचैवंपकारा	४२८	येद्विजानामपमदा	५६४	योऽनधीत्य द्विजो	९०
या नियुक्तान्यतः	५०६	येन केनचिदङ्गेन	४३५	यो न वेत्त्याभिवा	७९
यानिराजप्रदेयानि	३४३	येन यस्तु गुणे	६४७	योऽनाहिताग्नि	५८८
यानुपाश्रित्य	५४०	येन येन तु भावेन	२४२	यो निक्षेपं याच्य	४१२
या पत्या वा	५१८	येन येन यथाङ्गेन	४४७	यो निक्षेपं नार्प	४१२
यामीस्ता यातनाः	६५७	येन स्मिन्कर्षणा	६६०	योऽन्यथा सन्त	२४७
या रोगिणी	४२१	येनास्य पितरो	२२९	यो बन्धनवध	२४९
यावतः स्मृशदङ्गे	१५८	ये नियुक्तास्तु	५२९	यो यथा निक्षिपे	४१२
यावतो ग्रमेते	१४६	ये पाकयज्ञाश्च	५९	यो यदैषां गुणो	६५८
यावतो बान्धवा	३९२	ये वक्रवर्तिनो	२३३	यो यस्य धर्म्यो	११७
यादत्तव्यस्ते जीवि	१०६	ये शूद्रादधिगम्य	५९५	यो यस्य प्रतिभु	४०७
यावदुष्णं भवत्य	१७४	येषां ज्येष्ठः	५२४	यो यस्य मांस	२५२
यावदेकानु दिष्ट	२१३	येषां तु यादृशं कर्म	२७	यो यस्येषां विवा	१२०
यावन्ति पथु	२५७	येषां द्विजानां	६३४	यो यावन्निहुवी	३८३
यावन्नः पितृभेद्या	२८०	ये स्तेनपातित	१५०	यो येन पतितेनै	६३२
यावानवध्यस्यवधे	४४३	येः कर्मभिः	५७६	योऽरक्षन्बलिमो	४४०
या वेदवाद्याः	६७३	येरभ्युपायैरेनांसि	६३८	योऽर्चितं प्रति	२४३
या वेदविहिता	२५८	यैरुपायैरर्थ	३८०	यो राज्ञः प्रति	२०७
यासां नाददते	१२५	योऽकामां दूषये	४५४	यो लोभादधमो	६७४
यास्तामांस्यु	५२०	योगाधमनवि	४०९	यो वमन्येत ते मूले	५०
युष्मत् कुर्वन्दिन	१८३	यो ग्रामदेशमंघा	४२१	यो वैश्यः स्याद्वा	५८७
युगपत्तु प्रलीयन्ते	३०	यो ज्येष्ठो ज्येष्ठ	४२६	योऽमाधुभ्योऽर्थ	५८९
युष्मासु पुत्रा	१२३	यो ज्येष्ठो विनि	४९८	योऽसावतीन्द्रिय	१७

३२] श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं
योऽस्यात्मनः ६५५	राज्ञो माहात्मिके २५२	वध्यांश्च हन्युः ५६५	
योऽर्हिसक्कानि २५२	राज्ञो हि रक्षाधि ३४२	वनस्पतीनां ४३६	
यो ह्यस्य धर्ममा २०६	रात्रिभिर्मामितु २६५	वनेषु च विद्वत्सम २५९	
र	रात्रौ श्राद्धं न १८४	वन्द्याष्टमेऽधि ४९०	
रक्षणादार्यवृत्ता ५३४	राष्ट्रस्य संग्रहे ३४०	वपनं मेखलादण्डौ ६२४	
रक्षन्धर्मेण भूतानि ४४१	राष्ट्रेषु रक्षाधि ५३९	वयनः कर्मणो १९०	
रजसाभिप्लुतां १२६	रूपमत्त्वगुणो १२१	वरं स्वधर्मो ५७६	
रथं हरेत बाध्वर्यु ४१९	रेतःमेकः स्वयो ५९९	वरुणेन यथा ५४७	
रथाश्वं हस्तिनं ३३६	ल	वर्जयेन्मधु मामं ९२	
रसा रमैर्निमात ५७५	लक्ष्यं शस्त्रभृतां ६०३	वर्जयेन्मधु मामं २५४	
राजकर्मसु युक्ता ३४३	लग्नं गृज्जनं २५०	वर्णापितमविज्ञातम् ९६६	
राजतैर्भाजितैरे १६४	लूनाहिमरट नां व ६६५	वर्तयश्च शिलो १८८	
राजतो धनमन्वि १९४	लोकमन्वयवहार ४०१	वर्षे वर्षेऽवमयेन २६०	
राजधर्मान्मिव ३१५	लोकानन्यान् ५४८	रक्षापुत्रासु चैव ३७५	
राजनिधूर्तदण्डा ४४२	लोकानां तु २५	रशो कृत्वेन्द्रिय ७२	
राजभिः कृतद ४४३	लोकेशाधिष्ठितो २७३	रमा मुक्रमसृज्या २८३	
राजर्त्विक्कलातक १४२	लोभः स्वप्नेऽधृति ६६०	रमिष्ठविहितां ४०३	
राजा कर्मसुयुक्ता ३४३	लोभात्महंसं १९८	रसीत चर्म चीर २९३	
राजा च श्रोत्रिय ४३	लोभः न्योदाद् ३९८	रमुन्वदन्ति १८५	
राजानः क्षत्रिया ६६३	लोष्टमर्दी तृण २०३	रस्त्रं पत्रमलकारम् ५२६	
राजान्नं तेज २३९	लोहशंकुपृजीपं २०८	वाग्दण्डं प्रथमं ४००	
राजा भवत्यने ३७२	लोहितान्वृक्ष २५०	वाग्दण्डोऽथ ६५२	
राजा स्तेनेन ४२२	लौकिकं वैदिकं ७७	वाग्दुष्टात्तस्करा ४४९	
राज्ञः कोपापह ५४०	व	वाग्दैवतैश्च ३९४	
राज्ञः प्रख्यात ४६३	वत्सस्य ह्यधि ३९७	वाच्यार्था नियतः २४७	
राज्ञश्च दद्युरुद्धा ३३६	वधेनापि यदा ४००	वाच्येके जुहति १९१	

श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः
वाणिज्यं कारयेद् ४६५		विद्यातपः १३७		विभक्ताः सह ५२४			
वानस्पत्यं मूल ४४८		विद्याधने तु ५२३		विराट्पुताः सोम १६२			
वान्ताश्चुल्का ६६८		वेद्या ब्राह्मण ७६		वेविभाश्चैव ६६९			
वान्तो विरिक्तः २८५		विद्या शिल्पं ५८०		विशिष्टं कुत्रचिद् ४७६			
वायोरपि ३७		विद्युतोऽशनि २६		विशीलः काम २८७			
वायव्यप्रिविष ११०		विद्युत्स्नानित २११		विस्मयं ब्राह्मणः ४६७			
वारिदस्तृप्ति २४१		विद्रुजिः सेवित ४८		विश्वेभ्यश्चैव १३४			
वार्षिकांश्चतुरो ५४६		वद्रांस्तु ब्राह्मणो ३७८		विश्वेश्च देवैः ५९१			
वासन्तशारदै २९४		वेधवायां ४८८		विषद्वैरगदश्चास्य २६६			
वासांसि मृत ५६५		वेधवायां ४८८		विपादप्यमृतं १०७			
वामो दद्याद्दयं ६२०		विधाता शासिता ५९३		विस्मज्य ब्राह्मणां १७८			
वामोदश्चन्द्र २४२		विधाय प्रोषिते ४८९		विक्षयान्धो नवतेः १५८			
विंशतीशस्तु ३४१		विधाय वृत्ति ४८८		वृको मृगेभ्यं ६६७			
विक्रयाद्यो धनं ३१७		विधियज्ञाज्जप ६८		वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत ४२६			
विक्रीणीते परस्य ३१६		विधिवत्पति ४८८		वृत्तीनां लक्षणं ४६			
विक्रोशन्त्यो यस्य ३४६		विधूये सन्नमुमले ३०५		वृथाक्रमं मयावम २५०			
विगतं तु विदेश २६७		विनाज्जिरप्सु ६३६		वृथामंकरजाता २७०			
विप्रमाशी भवेत् १८५		विनीतैस्तु व्रजेन २०२		वृद्धांश्च नित्यं ३२३			
विष्णुष्य तु हृतं ४२४		विमः शुध्यत्यपः २७४		वृषभैकादशा ६१५			
विशूद्रयोरेवमेव ४३४		विप्रदुष्टां स्त्रियं ६३०		वृषज्जीफेनपीतस्य ११६			
विड्वग्गाढखगो ६२४		विप्रयोगं प्रियै ३०६		वृषो हि भगवान् ३७२			
विष्णुत्रोत्सर्ग २८३		विप्रमेवैव शूद्रस्य ५८४		वेणुवैदल ४४५			
वित्तं बन्धुर्वयः ८२		विप्रस्य त्रिषु ५५४		वेतनस्यैव ३७०			
विदुषा ब्राह्मणे ४४		विप्राणां वेद ५५२		वेदः स्मृतिः ५१			
विद्ययैव सधं ७६		विप्राणां ज्ञानतो ८७		वेदप्रदानादाचार्य ९०			
विद्यागुरुष्वेतदेव ९९		विप्रोप्य पाद १०२		वेदमेवाभ्यसेन् २२१			

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं
वेदमेव सदा	८१	वैश्यः पर्वस्वदण्डः	४५७	व्रीहयः शालयो	४७७
वेदयज्ञैरहीना	९३	वैश्यं प्रति	५७१	श	
वेदविच्चापि विप्रो	१५८	वैश्यवृत्तिमता	५७७	शक्तः परजने	५८७
वेदविद्याव्रत	१९३	वैश्यवृत्त्यापि	५७३	शक्तितोऽपच	१९३
वेदशास्त्रार्थ	६७५	वैश्यशूद्रावपि	१४१	शक्तेनापि हि	६१८
वेदानधीस वेदौ	१११	वैश्यशूद्रोपचारं च	४७	शतं ब्राह्मण	४३२
वेदाभ्यासस्तपो	६६०	वैश्यशूद्रो प्रयत्नेन	४६७	शत्रुमेव निमित्रे च	३५८
वेदाभ्यासस्तपो	६७१	वैश्यश्चेत्क्षत्रियां	४५८	शनैः कस्तु क्रिया	५६३
वेदाभ्यासेन	२२२	वैश्यस्तु कृत	५५१	शब्दः स्पर्शश्च रूपं	६७४
वेदाभ्यासोऽन्वहं	६४७	वैश्यात्तु जायते	५५८	शयानः प्रोढपादश्च	१३३
वेदार्थवित्प्रवक्ता	१६०	वैश्यः न्मागध	५५७	शय्यां शृङ्गान्कुशा	२४६
वेदाभ्यासो	५७२	वैश्योऽजीवन्	५७६	शय्यामनमल	४७२
वेदास्त्रागाश्च	७१	वैश्वदेवस्य मिद्ध	१३३	शय्यामेनेऽध्या	७७
वेदोक्तमायुर्मर्त्या	३९	वैश्वदेवे तु	१४०	शरणागतं	६३५
वेदोऽखिलो धर्म	४९	व्यसस्तपाणिना	६५	शरीरकर्मणा	३४०
वेदोदितं स्वकं	१८९	व्यभिचारात्तु	४७५	शरीरजैः कर्मदापै	६५४
वेदादितानां	६३६	व्यभिचारात्तु	२२०	शरीरं चैव वाचं च	९६
वेदोपकरणे चैव	७३	व्यभिचारेण	५५८	शरः क्षत्रियया	१२२
वेनो वितृष्टो	३२३	व्यवहारान्दिदृक्षु	३६९	शर्मवद्ब्राह्मणस्य	५६
वैणवीं धारयेद्	१९४	व्यसनस्य च	३२६	शस्त्रं द्विजातिभि	४२०
वैतानिकं च	२२३	व्याघ्रांश्छाकुनि	४३१	शस्त्रास्त्रभृत्वं	५७२
वैदिके कर्मयोगे	६७२	व्रतवदेवदैवत्ये	९५	शालमलीफलके	४६२
वैदिकैः कर्मभिः	५८	व्रतस्थमपि	१७३	शामनाद्वा विप्रो	४४३
वैरिणं नोपसेवेत	२१८	व्रात्यता बान्धव	६००	शिरोभिस्ते	४२१
वैवाहिको विधिः	६४	व्रात्यात्तु जायते	५५८	शिलानप्युज्जतो	१३८
वैवाहिकेऽग्नौ	१२९	व्रात्यानां याजनं	६३५	शिलोज्जम्प्या	५७१
वैशेष्यात्प्रकृति	५५३				

श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः	श्लोकः	पृष्ठः
शिलेनव्यवहारे	१२८	शोणितं यावतः	६३८	श्वमांसमिच्छन्ना	५७८
शिष्टा वा भूमि	६०६	अमशानेष्वापि	५४९	श्ववतां शौण्डिका	२३८
शुक्तानि च	६२४	प्रदधानः शुभां	१०७	श्वसृगालखौर्दष्टः	६३५
शुचिना मत्स्य	३२१	अद्रयेष्टं च पूर्णं च	२४०	श्वसूकरखरोष्ट्रा	६६५
शुचिदेशं विविकं	१६५	आद्रभुग्वृषची	१७७	श्वविधं शल्यकं	२५३
शुचिस्तृष्टुशु	५५०	आद्रं भुक्त्वा य	१७७	प	
शुध्यद्विषो दशा	२७०	आवण्यां प्राप्य	२०९	श्वरुमैको भवत्ये	१८८
शुनां च पतितानां	१३६	श्रुतवृत्तं विदित्वा	३४५	श्वत्रिशदाब्दिकं	१११
शुभाः शुभफलं कर्म	६५३	श्रुतं देशं च जातिं	४३३	श्वहानुपूर्व्या विप्र	११७
शुक्रस्थानं	४६३	श्रुतिद्वये तु यत्र	५१	श्वर्णां तु कर्मणा	५७१
शुक्रस्थानेषु	४६२	श्रुतिस्तु वेदो	५१	श्वर्णामेषां तु	६७१
शुष्काणि भुक्त्वा	६२७	श्रुतिस्मृत्युद्दिनं	५०	श्वर्णमांशलाग	१८२
शूदं तु कारयेद्वा	४६६	श्रुतिस्मृत्युद्दिनं	२२३	श्वर्णं तु क्षेत्रजस्यां	५११
शूद्रविद्वज्ज	३१४	श्रुतीगर्वागिरसी	५९२	श्वर्णाक्षकाळा	६३६
शूद्रस्तु वृत्ति	५८२	श्रुताः सृष्ट्वा च	७०	स	
शूद्रस्य तु सर्वेणैव	५१०	श्रुत्यैतानृपयो	२४९	श्वयोगं पतिनैर्ग	६६६
शूद्रां शयनमारोप्य	११५	श्रेयःपु गुरुवदृ	१००	श्वरक्षणार्थं जन्तु	३०७
शूद्राणां मासिकं	२८४	श्रेयसः श्रेयसो	५१७	श्वरक्ष्यमानो राज्ञ	३४५
शूद्रादायोगवः	५५६	श्रावं तरक्चक्षुषी	७०	श्ववत्सरं तु	१८२
शूद्रायां ब्राह्मणा	५६७	श्रोत्रियः श्रोत्रियं	४६१	श्ववत्सरं प्रतीक्षेत्	४९०
शूद्रावेदी पतत्यत्रे	११५	श्रोत्रियं वधाधि	४६१	श्ववत्सरस्यैकमपि	२५३
शूद्रैव भार्या	११४	श्रोत्रियस्य कद	२४०	श्ववत्सराभिशा	४५६
शूद्रो गुप्तगुप्तं वा	४५६	श्रोत्रियायैव	१४५	श्ववत्सरेण पतति	६३१
शूद्रो ब्राह्मणं	५६७	श्रोत्रिये तूपसंपन्ने	२६२	श्वमंशोध्य त्रिविधं	३५८
शोचन्ति जाययो	१२६	श्वक्रीडी श्येनजी	१५४	श्वमंशारगमनं चैव	४७
शोणितं यावतः	२२६	श्वभिर्हतस्य	२८०	श्वस्थितस्यानपत्य	५१२
				श्वहतान्यो धयेद्	३६०

३६]श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं
सकामा दूषयंस्तु ४५५	सत्येन पूयतेसा ३८८	भां वा न ३७२	
सकृज्जप्त्वास्पवा ६२३	सत्येन शापयेद्वि ३१७	मक्षदर्शनात्मा ३८६	
सकृदंशो निपतति ४७८	म त्वप्सु तं घटे ६३३	ममत्राक्षणेदान ३३४	
संकरापात्रकृत्या ६१६	मदा प्रहृष्टया २८६	मवर्णामु ये ५१०	
संकरे जातयस्त्वे ५६२	मदशं तु मकु ५१२	मवर्णे द्विजाती ४३२	
संकल्पमूलः कामो ४८	मदशस्त्रिषु जाता ५०१	म महीमस्त्रिलां ४३२	
संकीर्णयोनयो ये ५५९	मद्विराचरितं ३७९	मानयानकर्माच ३५३	
संक्रमध्वजयष्टी ५४२	मद्यः पति मां ५७५	मम हृत्य तु ६१	
संग्रामेष्वनिवर्ति ३३४	मद्यः प्रक्षालकां २९५	मीक्ष्य स धृतः ३१९	
स चेत्तु पथि संरुद्ध ४३८	मन्तुष्टो भार्यया १२७	मुत्पत्तिं च २६०	
सजातिजानन्तर ५६२	मन्तोषं परमा १८९	मुत्प्रेजद्राजमार्गे ५४१	
संजीवनं महावी २०८	मन्त्यज्य ग्राम्यमा २९२	मुद्रयानकुशला ४०७	
स ताननुपरिका ३४२	मंथि च विग्रहं ३५०	मर्षिं विपमंयस्तु ५४२	
स तानुवाच धर्मा २४९	मंथि छित्त्वा तु ५४०	मोत्तमाधर्मजा ३३४	
स तानुवाच धर्मा ६५३	मंथि तु द्विविधं ३५२	मोत्तमायत्वतिथये १३८	
सतैः पृष्टस्तथाम १५	मंध्यां चोपास्य ३६८	मोत्तया भुज्यमा ४०४	
सत्क्रियां देशका १४४	मन्निशापे वै २६७	मोत्तवांश्च ६७०	
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽ ६५८	मन्यस्य सर्वकर्मा ३१४	मभूय स्वानि ४१९	
सत्त्वं रजस्तम ६५८	मपिण्डता तु २६२	मभोगा दृश्यते ४१७	
सत्यं साक्ष्ये ३८८	मसकस्यास्य वर्ग ३२६	मभोजनी १४८	
सत्यधर्मर्यवृत्तेषु २२८	मस वित्तागमा ५८०	ममान द्वाक्षणो ८८	
सत्यं ब्रूयात्प्रियं २१९	मस ह्रस्वेद ५४४	मार्जनापाजनेन २८७	
सत्यमर्थं च संप ३७९	मसानां प्रकृतीनां ५४४	मम्यदर्शन ३०९	
सत्यमुक्त्वा तु ६३५	मव्रत्तचारिण्ये २६६	मम्यङ्गनिविष्ट ५३४	
सत्या न भाषा ४०८	मभान्तःमाक्षिणः ३८८	म यदि प्रतिपद्येत ४१३	
सत्यानृतं तु वाणि १८७	मभाप्रपापूप ५३७	मरस्वतीद्वयोः ५३	

श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं	श्लोकः	पृष्ठं [३७]
स राजा पुरुषो	३१८	सर्वे तस्याहता	१०६	मह सर्वाः ममु	६३५
सर्वेष्व विकर्मस्था	५२५	सर्वेऽपि क्रम	३१२	हस्तं हि महस्ता	१४५
सर्वलक्षणहीनो	२२४	सर्वेषां ब्राह्मणो	५१३	महस्र कृत्वस्त्व	६७
सर्वे वापि	१४	सर्वेषां शावमा	२६३	महस्रं ब्राह्मणो	४५८
सर्वे वा रिक्थजातं	५०८	सर्वेषां तु नामा	२२	महस्रं ब्राह्मणो	४५९
सर्वे स्वं ब्राह्मण	४३	सर्वेषां तु विशिष्टेन	३२७	महासनमभिमपु	४३५
सर्वकण्टकपापि	५४४	सर्वेषां तु विदित्वा	३६२	महोभौ चगतां	११८
सर्वे कर्मदमाय	३६३	सर्वेषां धनजाता	४१८	मावत्तरिकमा	३३३
सर्वे च तान्त्रवं	५७४	सर्वेषामपि चैतेषाम	३१२	माक्षिणः सन्ति	३८२
सर्वे च तिल	१०४	सर्वेषामपि चैतेषाम	६७१	माक्षिप्रश्चाविधानं	४६
सर्वतः पतिपृच्छी	५७७	सर्वेषामपि चैतेषाम	६७१	माक्षी दृष्टश्रुताद	३८६
सर्वतो धर्मषड्	४४०	सर्वेषामपि तु	५२०	माक्ष्यभावे तु	४३०
सर्वे तु समवेक्ष्य	५०	सर्वेषामप्यभावे तु	५१८	माक्ष्यभावे प्राणि	४१३
सर्वपरवशदुःखम्	२२४	सर्वेषामधिना	४१९	माक्ष्येऽनृतं वद्	३८८
सर्वभूतेषु	६७३	सर्वेषामेवदानाना	२४२	मा चेत्पुनः प्रदु	६३०
सर्वमात्मानि	६७८	सर्वेषामेव शौचा	२७६	मा चेदक्षतयोनि	५१५
सर्वरत्नानि राजा	५८६	सर्वो दण्डजितो	३१९	मातानिकं यक्ष्य	५८५
सर्वलक्षणहीनो	२२४	सर्वोपायैस्तथा	३५६	मामध्वनादृग्यजु	२१६
सर्ववर्णेषु	५५४	सर्वपाः षट्पुत्रो	४०१	मामन्ताश्चेन्मृषा	४३१
सर्वस्यास्य तु	४०	वर्णाग्ने द्विज.ती	११४	मामन्तानामभावे	४३०
सर्वस्वं वेदविदुषे	६०४	विद्यादस्य कृ	३२९	मामादीनामुपा	३३९
सर्वाकरेण्यथीकार	६००	व्याहृतिप्रण	६४८	मास्त्रा दानेन	३६२
सर्वान्परित्यजेद्	१९०	म सन्धार्यः	१३२	सायं त्वन्नस्य	१४३
सर्वान् रमान	५७३	नस्यान्ते नवमस्ये	१९२	मारासारं च	५५१
सर्वामेकपत्नी	५१७	महपिण्डक्रियायां	१७६	सार्ववर्णिकमन्त्रा	१७५
सर्वेण तु प्रयत्नेन	१३०	मह वापि व्रजे	३६३	सार्ववर्णिकान्ति	२२७

श्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठश्लोकः	पृष्ठ
सावित्री च जपे ६४२	मेनापातिरला	३२७ स्त्रीधर्मयोगं	४३
सावित्रीमात्रारो ७७	मेवेतेमांस्तु	२१ स्त्रीपुंभर्मा	३७०
साहसे वर्तमानं ४५०	मैनःपत्यं च राज्यं	६७४ स्त्रीवालोन्मत्त	५२९
साहमेषु च सर्वेषु ३८६	मोऽग्निर्भवति	३१५ स्त्रीधनन्तर	५५४
मीताद्रव्यापहरणे ५४४	मोदर्या विभजे	५२५ स्थलजोदक	२९४
सीदाद्भिः कुप्यमि ५८०	मोऽनुभूयासुखो	६५६ स्थानामनाभ्यां	६४२
सीमां प्रतिस्मुत्प ४२७	मोऽभिध्याय	१७ स्थावराः कृमि	६६२
सीमायामविष ४३१	मोमपा नाम	१६३ स्पृशन्ति विन्दवः	२८४
सीमाविवाद ३७०	मोमपास्तु कवेः	१६३ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च	६२२
सीमावृक्षांश्च ४२७	मोमविक्रयिणे	१५८ स्पृष्टैतानशुचि	२२०
मुखं ह्यवमतःशेत ८८	मोमग्न्यर्कानिले	२७३ स्यन्दनाश्वैः	३६०
मुखाभ्युदयिकं ६७२	मोमारौद्रं तु	६४९ स्यात्साहसं	४४६
मुक्तां मत्तां प्रमत्तां १२०	मोऽवहायेनमूढेन	३२१ स्रोतमां भेदको	१५४
मुक्त्वा क्षुत्वा च २८५	मोऽस्य कार्याणि	३७१ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां	२१२
मुक्तीजं चैव मुक्षेत्रे ५६९	स्फन्धेनादाय	४४२ स्वधर्मो विजय	५८१
मुगं पीत्वा द्विजो ६०८	स्तेनगायनयो	२७३ स्वधास्त्रिखेव तं	१७७
मुरा वै मलमन्ना ६०९	स्त्रियं स्पृशेददेशे	४५२ स्वप्ने भिक्त्वा	९३
मुवर्णचौरः ५९७	स्त्रियां तु रोचमा	१२८ स्वभाव एव	१०१
मुवर्णस्तेयकृद्रिपः ६१०	स्त्रियाप्यभवे	३८५ स्वभावेनैव	३८७
मुत्रासिनीः १४१	स्त्रियां तु यद्भवे	५२१ स्वमांसं परमां	२६०
सूक्ष्मतां चान्वे ३०७	स्त्रियोऽप्यनेन	६६८ स्वमेव ब्राह्मणो	४३
सूक्ष्मेभ्योऽपि ४६९	स्त्रियोरत्रान्ययो	१०८ स्वयं वा शिश्न	६१२
सूतानामवसार ५६४	स्त्रीणां सुखोद्यम	५६ स्वयंकृतश्च	३५३
सूतो वैदेहकश्चैव ५५५	स्त्रीणामसंस्कृता	२६६ स्वयमेव तु यो	४१३
सूत्रकार्पासकि ४४५	स्त्रीणां साक्ष्यं	३८५ स्वराष्ट्रेन्यायवृत्तः	३२१
सूर्येण ह्यभिनि १०३	स्त्रीधनानि तु	१२५ स्वर्गार्थमुभयार्थं	५८३

श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं श्लोकः	पृष्ठं ३९
स्ववीर्याद्राज	५९२ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु ६६८	हिमवद्विन्ध्ययो	५४
स्वादानाद्वर्ण	४१० स्वे स्वे धर्मे	३२२ हिरण्यमायु	२३१
स्वाध्यायं श्रावये १७२	ह	हिरण्यभूमिमथं	२३१
स्वाध्याये १३१	इत्वा गर्भम्	६०७ हिरण्यमायुरन्नं	३६४
स्वाध्याये नित्य २९३	इत्वा छित्त्वा च ११९	हिंसा भवन्ति	६६४
स्वाध्यायनव्रतै ५५	इत्वा लोकान	६५० हिरण्यभूमि	३६४
स्वाध्यायेनार्चये १३२	इत्वा हंसं	६१९ हिंसा हिंसे	२४
स्वानि कर्माणि ३७२	इन्ति जाता	३९२ जीनक्रियं	११२
स्वाम्यमासौ पुरं ५४४	इरेत्तत्र नियुक्ता ५०६	जीनजातिस्त्रियं	११५
स्वां प्रसूतिं ४७०	इर्पयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टु १७३	जीनाङ्गान	२२०
स्वायंभुवस्यास्य ३२	इविर्गच्छि (रात्राय १८१)	जीनाञ्जवस्त्रेषः	९६
स्वायंभुवाद्याः ३३	इविष्णान्तीय ६४९	इत्वाग्नौ विधि	६१५
स्वारोचिष ३२	इविष्णभुग्नाऽनु ३०५	इंकारं ब्राह्मण	६३७
स्वेदजं दंशम् २	इस्तिगोचोष्ट्र १५४	इद्राभिः मूयते	६३
स्वभ्योऽंशभ्यस्तु ४९९	इस्तिनश्चतुरङ्गाश्च ६६२	इमे मदाने	१७४

इति मनुस्मृतिश्लोकानामकारादिवर्णक्रमेण
अनुक्रमणिका सम्पूर्णा ।



निरुक्त का हिन्दी भाष्य छपना आरम्भ हो गया है।

(१) मूल निरुक्त (संस्कृत) भी साथ है।

मूल में विराम चिन्ह (कौमे) देकर और अलग २ परिच्छेद देकर ऐसा स्पष्ट कर दिया है, कि मूल को पढ़ने से भी अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है।

(२) मूल का अर्थ बड़ी अच्छी तरह खोल कर लिखा है। निरा अर्थ ही नहीं, किन्तु भाष्य लिख कर, और टिप्पणी देकर हर एक बात को पूरी तरह समझा दिया है।

(३) शब्दों की सिद्धि व्याकरण के सूत्रों से दिखला दी है।

(४) निरुक्त में जितने मन्त्र आए हैं, उन सब के हवाले दे दिये हैं।

(५) निरुक्त में वेद के जितने शब्द आए हैं, उन सब का अकारादिक्रम से सूची दिया है।

(६) जितने वेद मन्त्र आए हैं, उन सब का भी अकारादिक्रम से सूची दिया है।

(७) जिस २ वेद के जा २ मन्त्र आए हैं, उस २ वेद के अध्याय आदि के क्रम से अलग सूची दिया है।

(८) निरुक्त में जितने पुराने आचार्यों के नाम आए हैं, उन सब का आकारादि सूची दिया है।

ऐसी उत्तमता के साथ यह ग्रन्थ आर्षग्रन्थावलि में छप रहा है, ३) भेजने से बरस भर आपको एक २ अंक हर महीने मिलता रहेगा, हर एक अंक में १८×२२=८ पेजी के ५६ पृष्ठ रहेंगे।

पत्रादि भेजने का पता—

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।

॥ ओ३म् ॥

❀ भूमिका ❀

हरएक मनुष्य इस जगत् में कुछ अपने कर्त्तव्य रखता है ।
धर्म की आवश्यकता } जिन २ के साथ उसका सम्बन्ध है, उन
सब की ओर उस का कुछ कर्त्तव्य है ।
अपनी ओर, माता पिता की ओर, भाई बहिनों की ओर,
सम्बन्धि बान्धवों की ओर, जाति और देश की ओर, और सब
से बढ़कर, उसका अपने परमात्मा की ओर जो कर्त्तव्य है, इस
सब को धर्म कहते हैं । धर्म के आचरण में इस लोक में कीर्ति और
सुख लाभ करता है, और परलोक में परमोत्तम सुख । इसलिये धर्म
को जानना और धर्म पर चलना प्रत्येक नर नारी के लिए
अत्यावश्यक है ॥

मनुष्य के साथ ही इस जगत् में धर्म का भी प्रकाश हुआ,
धर्म का प्रकाश } यह प्रकाश ऋषियों के शुद्ध हृदयों में
परमात्मा की ओर से था । इसी प्रकाशका
नाम वेद वा श्रुति है । उसके पीछे वेद का सहारा लेकर देश
काल अनुसार जो ऋषियों ने धर्म मर्यादाएं बांधी हैं, उनका
नाम धर्म-शास्त्र वा स्मृति है । श्रुति मार्वाधौम धर्म का उपदेश
देती है, स्मृति इसी का विस्तार करती हुई देशकाल की सीमा में
रहनेवाली लौकिक मर्यादाएं भी बांधती है, मनुष्य को इन दोनों
के जानने की आवश्यकता है । इसलिये श्रुति और स्मृति दोनों
मनुष्य के नेत्र कहे हैं, जैसे—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्तिते ।

काणः स्यादेकया हीनो दाभ्या मन्धः प्रकीर्तितः ॥

अर्थ-श्रुति और स्मृति ब्राह्मणों (= द्विजों) के दो नेत्र बतलाए गए हैं। एक से हीन काणा होता है, और दोनों से (हीन) अन्धा कहा गया है ॥

वेद अपौरुषेय हैं, अतएव उसमें पौरुषेय दोषों की सम्भावना धर्म की शुद्धि } ही नहीं होसक्ती। पर धर्मशास्त्र पौरुषेय } है, वह इस सम्भावना से विमुक्त नहीं हो सक्ता। इसलिए वेद तो गङ्गात्तरी से निकले गङ्गा जल की तरह, धर्म का शुद्ध स्रोत है, और स्मृति निचले मैदानों में बहने, दूसरी वस्तुओं से मिश्रित, गङ्गाजल की तरह धर्म का मिश्रित स्रोत है। जैसा कि भगवान् व्यास ने कहा है :-

धर्मशुद्धिमभीप्सद्विर्न वेदादन्यदिष्यते ।

धर्मस्य कारणं शुद्धं मिश्रमन्यत प्रकीर्तितम् ॥

अर्थ-धर्म की शुद्धि चाहने वालों को वेद से भिन्न (और कुछ) अभीष्ट नहीं है। (वेद) धर्म का शुद्ध कारण है। और दूसरा (स्मृति आदि) मिश्र हुआ कहा गया है।

सो धर्म के प्यासों के लिये शुद्ध मीठा स्रोत श्रुति है, और मिश्रित मीठा स्रोत स्मृति है ॥

शुद्ध धर्म सब देश, सब काल, और सब जातियों के लिये शुद्ध धर्म की } होता है, उसमें किसी मानुषी छुट्टि का } एकरस स्थिति } लेश न रहने से सदा एकरस स्थित रहता है, वह देश काल और अवस्था के अनुसार बदलता नहीं रहता ॥

पर लोक मर्यादाएं देश काल और अवस्था के अनुसार

लोक मर्यादाओं में } परिवर्तित होती रहती हैं। जीती जागती } हर एक जाति अपनी मर्यादाओं को देश } परिवर्तन } काल और अवस्था के अनुसार संशोधन

मनुस्मृति

करती रहती है। यह संशोधन ही उसके जीवन का चिन्ह है, क्योंकि वह अपने आपको हर एक देश काल और अवस्था के अनुकूल बना लेती है। अतएव देशकाल और अवस्था उस पर प्रहार नहीं करते, प्रत्युत उस के सहायक बनकर उस को आगे बढ़ाते हैं ॥

हमारे पूर्वजों के पास धर्म का स्रोत वेद तो था ही, पर उनके लोक मर्यादाओं के लिए धर्मशास्त्र की उत्पत्ति } वर्त्ताव ने पावित्र्य २ लोक मर्यादाओं का भी प्रादुर्भाव किया। तब उन मर्यादाओं में सब को एक समान चलाने के लिए धर्म-शास्त्र की सृष्टि हुई ॥

जो धर्मशास्त्र पहले पढ़े रचे गए, वह धर्मसूत्र कहलाते हैं। धर्मसूत्रों में कहीं २ बीच में पहले धर्मशास्त्र } श्लोक भी हैं ॥

पिछले धर्मशास्त्र } इन सूत्रों के आधार पर पीछे श्लोक बद्ध स्मृतियां बनीं ॥

धर्मशास्त्रों की मर्यादाओं में यतः देश काल के अनुसार धर्मशास्त्रों की संख्या } भेद होजाया करता है। अतः धर्मशास्त्र भिन्न भिन्न काल में अलग २ बने हैं। इसलिए धर्म शास्त्रों की संख्या अधिक हुई है। याज्ञवल्क्य की अपराई टीका में धर्मशास्त्रकारों की गिनती में गौतम के नाम से यह दो सूत्र उद्धृत किए हैं "स्मृतिर्धर्मशास्त्राणि, तेषां प्रणेतारः मनु विष्णु दक्षः ऋषिः ऋषिः ऋषिः आपस्तम्बः गौतमः संवर्तात्रेयः कात्यायनः शङ्खलिविनः पराशरः व्यासः शातातपः मन्वेतो याज्ञवल्क्यः दयः" = स्मृति धर्मशास्त्र हैं, उन के बनाने वाले हुए हैं ;—मनु,

विष्णु, दक्ष, अङ्गिरा, अत्रि, बृहस्पति, उशना, आपस्तम्ब, गौतम, संवर्त, आत्रेय, कात्यायन, शङ्ख, लिखित, पराशर, व्यास, शातातप, प्रचेता, याज्ञवल्क्य आदि । यह १९ नाम गिनकर आदि शब्द दिया है । याज्ञवल्क्य आचाराध्याय श्लोक ४, ५ में २० नाम दिए हैं । उन में उपर्युक्त से हारीत, यम और वासिष्ठ नाम अलग हैं, और प्रचेता और आत्रेय यह दो नाम नहीं हैं । भविष्यत पुराण गुह्येश्वर वाक्य में ३६ स्मृतियां बतलाई हैं—मनु, विष्णु, यम, दक्ष, अङ्गिरा अत्रि, बृहस्पति, उशना, आपस्तम्ब, वासिष्ठ, कात्यायन, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, संवर्त, गौतम, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, प्रचेता, बुध, देवल, सोम, जमदग्नि, विश्वामित्र, प्रजापति, नारद, पैठिनसि, पितामह, बोधायन, छागलेय, जाबालि, ज्यवन, मरीचि, कश्यप । पर इन ३६ में भी आत्रेय का नाम नहीं आया है । इसका कारण कदाचित् यह हो, कि किसी एक देश में थोड़ाही काल प्रचलित रहने के पीछे आत्रेय का स्थान किसी दूसरी स्मृति ने लेलिया हो । और यह भी सम्भव है, इसतरह और भी कई स्मृतियां उत्पन्न होकर लुप्त हुई हों । इनमें से याज्ञवल्क्य स्मृति में जो जो स्मृतियां गिनी हैं, वह सब छप गई हैं । अर्थात् मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वासिष्ठ ॥

सब से पहला धर्मशास्त्र भगवान् मनु का रचा हुआ है, पर
 सबसे पहला धर्मशास्त्र } वह यह मनुस्मृति नहीं, मानवधर्म
 मानव धर्मसूत्र } सूत्र थे, जो अब नहीं मिलते हैं ।
 मानव धर्मसूत्रों के आधार पर बहुत
 काल पीछे यह वर्तमान मनुस्मृति बनी है ॥

गौतम वमिष्ठादि धर्मसूत्र तो मिल गये हैं, और छप भी गये
मानव धर्मसूत्रों की खोज } हैं। पर मानव धर्मसूत्र नहीं मिले, यद्यपि उनकी
बहुत बड़ी खोज की गई है। पर यह खोजना
सारी गवर्नमेण्ट वा विदेशी सभाओं वा पुरुषों
की ओर से ही हुई है। हमारी अपनी ओर से बिल्कुल नहीं। इस
से हमें यह नहीं जान लेना चाहिए, कि मानव धर्मसूत्र अब लुप्त
ही होगये हैं। राजकीय पुस्तकालयों में न मिलने पर भी, निर्धन
ब्राह्मणों की झोंपाड़ियों में इनका मिल जाना अधिक सम्भव है,
जहाँ से कि प्रतिवर्ष ऐसे कई पुस्तक निकलने रहते हैं, जिनका उम
से पहले लोगों को नाम भी मालूम नहीं होता। मैंने स्वयं ऐसे कई
ग्रन्थ पुराने पंडितों के पास देखे हैं, जो न मुद्रित हुए हैं, न राज-
कीय पुस्तकालयों की सूची में हैं। अभी मेरे मित्र बाबू नारायण
दलपति भक्त डिप्टिक्ट इन्स्पेक्टर छेटा उदयपुर ने दो ग्रन्थ मेरे
पास ऐसे भेजे हैं, जो दोनों अथर्ववेद के सम्बन्ध में हैं। एक उनमें
से अथर्ववेद की ऋष्यादि की अनुक्रमणिका है दूसरा वितान सूत्र है

इन ग्रन्थों को सौपते समय श्रीमान् सात बलैकरजी ने मुझे
बतलाया, कि “बड़े २ पुस्तकालयों में इनकी ढूँढ की गई। कुछ पना
नहीं लगा, अन्ततः बड़ी ढूँढ के पीछे एक अप्रख्यात श्रोत्रिय ब्राह्मण
के घर से यह मिले हैं। सारे अर्थवर्च में और कहीं यह ग्रन्थ नहीं हैं।
यदि उस एक ब्राह्मण के पास से लुप्त हो जाते। तो लुप्त ही हो जाते”।
यह दोनों ग्रन्थ और कहीं मिलते हैं, वा नहीं, यह दूसरी बात है, पर यह
निःसन्देह है कि बड़े २ उपयोगी ग्रन्थ हमारे समाज में लुप्त हो चुके
हैं और अब भी हो रहे हैं। उन ही रक्षा का कोई प्रबन्ध हमारी
ओर से नहीं हो रहा, यद्यपि हमारा यश और इतिहास उनके साथ
सम्बद्ध है। यह कितने बड़े शोक की बात है, कि आर्य जाति

अपने इस भारी कर्त्तव्य में बहुत बड़ा प्रमाद कर रही है जिसकी निष्कृति नहीं होमकेगी। हमारे कई ग्रन्थ हमसे आदर न पाकर विदेशों में चले गये, जिनकी एक भी प्रति अब हमारे देश में नहीं है। अस्तु, प्रकृत यह है, कि मानवधर्म सूत्रों की पूरी २ खोज यदि राजकीय पुस्तकालयों को छोड़कर अब ब्राह्मणों के घरों में, विशेषतः उनके घरों में, जिनमें अज्ञात समय से वंश परम्परा से बिधा चली आरही है, की जाए, तो सम्भव है लुप्त हुए मानवधर्म सूत्र फिर हमें मिल सकें। मानवधर्म सूत्रों का मिलना हमारे प्राचीन जातीय जीवन का मिलना है। हमारी वृद्धि के समय हमारा सामाजिक जीवन क्या था? यह ठीक पता हमें मानवधर्म सूत्रों से मिल सकता है। मानवधर्म सूत्र यदि फिर हमारी आंखों के सामने आजाएं और हम उनका पहचान लें, कि यह हैं हमारे पूर्वजों का निर्णीत मार्ग, जिस पर चलत हुए वह जगत् में बढ़ रहे थे, तो हमारे सुधार का मार्ग हमारी आंखों के सामने आजाएगा। मानवधर्म सूत्र देश के सारे समाज सुधारकों से बढ़कर काम कर सकेगा। एक दूसरा प्रयत्न यह भी होसکتा है कि मानवधर्म सूत्रों का जो २ प्रमाण दूसरे धर्म सूत्रों वा अन्य ग्रन्थों में दिया गया है, उन गव का संग्रह करके उसको एक उचित क्रम देकर प्रकाशित करना चाहिए। यह भी एक बड़ा भारी काम है। अब जैसा आदर मनुस्मृति है। पहले वैसा आदर मानवधर्म सूत्रों का रहा है, इसलिये उनके बहुत से प्रमाण मिल जाएंगे। इसीप्रकार मैंने अभी कपिलमुनि के प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य के सूत्रों को इकट्ठा करके प्रकाशित किया है ॥

यह वर्त्तमान मनुस्मृति यद्यपि उन्हीं सूत्रों के आधार पर

मनु ने कहा है, क्योंकि इस में श्रुति नहीं है” । कुमारिल भट्ट ने श्रुतिमूलक और लोकमूलक स्मृतिवचन के परखने की जो कसौटी बतलाई है, वह इस श्लोकमें आजाती है “विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दृष्टकारणा । स्मृतिर्नश्रुतिमूलास्याद् या चैवासम्भवश्रुतिः”
= विरुद्ध, निन्दित दृष्ट प्रयोजनवाली, दृष्ट कारण वाली स्मृति श्रुतिमूलक नहीं होती और जो असम्भव वचन है, वह भी ।

(१) विरुद्ध—जो वचन वेद से विरुद्ध है, वा प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध है, वह वेदमूलक कैसे होसकता है । क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुँच से परली बात का वर्णन तो करती है, पर प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नहीं है । (२) निन्दित—जिस बात की दूसरे वैदिक शास्त्र निन्दा करते हैं, वह भी श्रुतिमूलक नहीं होसकती, क्योंकि श्रुति सर्वमान्य होने से निन्दास्पद नहीं होसकती । (३) दृष्ट प्रयोजनवाली—जो वचन किसी प्रत्यक्ष प्रयोजन के लिये कहा है, वह लोकमूलक है, न कि श्रुतिमूलक । जैसे पाचवें अध्याय में द्रव्यों की शुद्धि कही है, जिस से जो वस्तु शुद्ध होते देखी, उससे उसकी शुद्धि कही । किसी की छीपने बुहारने से, किसी की धोने से, किसी की माँजने से, किसी की तपाने से । (४) दृष्ट कारणवाली—जिस स्मृति वचन का कोई लौकिक कारण है, अर्थात् स्मृतिकारने लोक संग्रह, वा किसी लाभ वा पूजा वा ख्याति के लिए कहा है । उसका मूल लोक संग्रहादि है न कि श्रुति । (५) असम्भव—जो असम्भव बात हो, वह भी श्रुतिमूलक नहीं होसकती, क्योंकि श्रुति असम्भव नहीं कहती है ॥

कुमारिल भट्टाचार्य ने एक छोटासा नियम यह भी दिया है । “ यावद् धर्ममोक्षसम्बन्धि तद् वेदप्रभवम्, यच्चर्थसुखविषयं

तल्लोकव्यवहारपूर्वकामिति ”= जो धर्म और मोक्ष सम्बन्धि वचन है, वह वेदमूलक है, और जो अर्थ (धनादि कमाने) वा सुख (यहां सुख लाभ करने) के विषय में कहा है, वह लोक व्यवहारमूलक है (मीमांसा १ । ३ । २ पर तन्त्रवार्तिक) ॥

इस सब का सारांश यह है, कि स्मृति की प्रवृत्ति मनुष्य के लोक और परलोक दोनों के सुधार के लिए है । परलोक के सुधार के लिए जो नियम दिए हैं, वह श्रुतिमूलक हैं । और वह अटल हैं । लोक के सुधार के लिए जो नियम दिए हैं, वह लोक व्यवहार मूलक हैं, उनमें से कई बातें समयानुसार बदलने की आवश्यकता होती है । क्योंकि लोक व्यवहार जो उनका मूल है, वह स्वयं बदलता रहता है । धर्म शास्त्रकार स्वयं ही इस बात का उपदेश देते चले आए हैं, और ऐसा करते रहे हैं । इसीलिए भिन्न २ समयों पर भिन्न २ स्मृतियां बनी हैं । और भिन्न २ समयों में भिन्न २ स्मृतियां प्रमाण मानी गई हैं । पर यह बात निःसन्देह है, कि मनुस्मृति के समय में लोग धर्म प्रधान थे, इसलिये मनुस्मृति की प्रधानता सदा स्थिर रही है ॥

अब समय का बहुत हेर फेर होगया है । कोई भी स्मृति धर्म शास्त्र के विषय में हमारा कर्तव्य } इस समय सर्वांश में पूरी प्रचलित नहीं होमक्ती । और न ही कोई एक स्मृति इस समय के सारे विचारों का निर्णय कर सकती है । इसलिये एक अव्यवस्था सी मच गई है । जो जिस विषय में जिसके जी में जिसप्रकार आता है, करता है, कोई एक व्यवस्थित मार्ग नहीं रहा । दूसरी ओर कोई २ पुरुष पुगानी हर एक बात के ऊपर ऐसे पड़े हैं, कि वह किसी एक भी अंश में स्वतन्त्र होना पाप मानते हैं । पर

मार्ग इन दोनों के मध्य में है, न तो व्यवस्था को बिगाड़ना ठीक है, और न ही समय से बेपरवाह होना ठीक है। क्या मनु १.१.१० में जो शराब पीने का प्रायश्चित्त अग्नितुल्य गर्म शराब पीकर मरना लिखा है, यह अब माना जा सकता है। इसलिए उचित तो यह है कि आर्यजाति के नेतृजन शास्त्रज्ञ और देशकालज्ञ—सभी मिल कर आर्यजाति के लिए सारे धर्म शास्त्रों में से एक ऐसा धर्म संग्रह तैयार करें। जो समयोचित सारी आवश्यकताओं को पूरा करे। यह मुझे पूरा विश्वास है, कि ऐसा ग्रन्थ बहुत ही उत्तम तैयार हो सकता है, और सारी अव्यवस्था की जगह सुव्यवस्था हो सकती है, जब सब मिलकर इस कार्य को पूरा करना चाहें। भगवान् करे, कि ऐसा शीघ्र हो। दूसरा काम प्राचीन धर्मशास्त्रों के ज्यों के त्यों अनुवाद लोगों के हाथों में पहुंचाना है, जिस से कि धर्म के उच्चर उपदेश सर्व साधारण को ज्ञात हो सकें, इस दूसरे उद्देश्य को लेकर मनुस्मृति का यह सरल अनुवाद आरम्भ किया गया है॥

पूर्व कह आए हैं, कि मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र मानवधर्म सूत्र है। मनुस्मृतिमें प्राक्षिप्त } जब वह श्लोकबद्ध हुए, तो अवश्यमेव
का विचार } आवश्यकतानुसार नई मर्यादाओं का भी समावेश उसमें हुआ। फिर श्लोक बद्ध भी जैसा ग्रन्थ रचा गया, उसमें भी हस्ताक्षेप अवश्य हुआ है। क्योंकि दूसरे ग्रन्थोंमें मनु के कई ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो मनुस्मृति में नहीं पाए जाते। यह बात दो गतार से हो सकती है, या तो वह श्लोक मनुस्मृति में से किसी ने निकाल दिये, या मनुस्मृति के जो पुस्तक उन प्रमाणदाताओं के पास थे, उन में वह अधिक किसी ने डाल दिये हुए थे। दोनों प्रकार इसमें हस्ताक्षेप हुआ सिद्ध होता है। दूसरा यह, कि

जो मनुस्मृति कुल्लुकभट्ट की टीकावाली छपी है, उसमें कई अधिक श्लोक उसमें पाए जाते हैं, जो सात टीकावाली छपी है । उस में जो श्लोक अधिक हैं, उन पर पुरानी कोई टीका नहीं, नई टीकाएं ही है । पुराने आचार्यों की टीका का उन पर न होना इस बात का साधक है, कि उनके समय वह श्लोक मनुस्मृति में न थे, पीछे डाले गए । और यदि पीछे प्रक्षिप्त हुए हैं, तो पहले भी होसकते हैं । इसलिये यह तो निःसन्देह है, कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुआ है । तथापि कौन २ श्लोक प्रक्षिप्त हैं, ऐसा निर्णय करने के लिए बहुत बड़ी सामग्री लेकर बरमों अनुसन्धान की आवश्यकता है । किसी श्लोक को प्रक्षिप्त मानने के लिये ऐसा प्रमाण चाहिए, जिसमें यह सिद्ध हो जाए, कि ग्रन्थकार ने यह नहीं लिखा था, इस मनशा में पीछे किसी ने डाला है । यदि ऐसा प्रमाण न हो, तो किसी बात का मानना न मानना हमारे इच्छित्यार में है, पर बिना प्रमाण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते । इसलिए मैं कोई भी श्लोक न छोड़कर सारी की सारी मनुस्मृति छापना हूँ । जो जिस को प्रक्षिप्त वा देशकाल विरुद्ध प्रतीत हो, वह उसको छोड़दे । मैं केवल इस बात का उन्मग्न हूँ, कि जो कुछ अर्थ मैंने किया है वह ठीक है, और जो जहां व्यवस्था की है, वह वर्तमान मनुस्मृति के अनुसार है ॥

मनुस्मृति का भाषान्तर करने में जैसा कि मुझे उचित था मैंने मनुस्मृति को आशोपान्त कई बार देख लिया है । दूसरी भी जितनी स्मृतियां छप चुकी हैं, सब देखी हैं । मनुस्मृति की संस्कृत की सारी टीकाएं देखी हैं । और जिन ग्रन्थों में सारी स्मृतियों को लेकर विचार किया है, उन में से पागशरमाधव, मिताक्षरा, अपरार्क और वीरमित्रोदय को परिश्रम से देख लिया है । मेरा

विचार तो यह था, कि इतने परिश्रम के पीछे हर एक विषय पर दूसरी स्मृतियों के भी बचन लिखकर देशकालानुसार उस २ विषय में जो २ परिवर्तन हुए हैं, उसे भी अपने पाठकों के सामने रखदूँ। पर इसमें ग्रन्थ बहुत बढ़ता देखकर इस प्रकार लम्बे विचार तो नहीं किए, तथापि दूसरी स्मृतियों के सम्वादी (मनु से मेल खाते हुए) प्रमाण नीचे टिप्पणी में दे दिए हैं। उन २ पत्तों से उन २ स्मृतियों को निकालकर देखने से यह सारा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा

अर्थ लिखने में इन बातों पर ध्यान रक्खा है, (१) अर्थ अन्वय भाषा अर्थ के नियम } क्रम से (वा मुहाविरा) हिन्दी की शैली के अनुसार लिखा है (२) अर्थ उतना लिखा है, जितना मूल श्लोक का वनमत्ता है, बीच २ में अपनी ओर से (जो किसी के अर्थ नहीं, ऐसे) शब्द डाल कर गड़बड़ नहीं की, भाषा की शैली के अनुसार जो शब्द ऊपर से डाला भी है, वह ऐसी () बन्धनी में कर दिया है, इससे संस्कृत श्लोक भी आसानी से समझ में आजाएंगे। (३) जहाँ २ कोई मर्म वा तात्पर्य खोलने की आवश्यकता थी, वह अलग नीचे खोलकर लिखा है, वा अर्थ में ही बन्धी () बन्धनी के अन्दर कर दिया है (४) नीचे टिप्पणी में उभी विषय पर दूसरी स्मृतियों के पते दिए हैं, इससे उस विषय पर आप दूसरी सारी स्मृतियों का विचार भी जान सकेंगे ॥

स्मृतियों में कई परिभाषिक शब्द (technical words) आते विशेष शब्दों के अर्थ } हैं। जिनका अर्थ स्मृति के अन्दर दिया हुआ होता है, पर कई शब्द कई बार बोलते पढ़ेंगे, जिनका जगह २ अर्थ नहीं होगा, उनका अर्थ यहाँ लिख देते हैं ॥

अग्नि-स्मृतियों में तीन अग्नियों का वर्णन होता है, श्रौताग्नि, स्मार्ताग्नि, और लौकिकाग्नि ॥

श्रौताग्नियें—जिनमें श्रौत यज्ञ किये जाते हैं, वह तीन होती हैं गार्हपत्य, आहवनीय, और दक्षिणाग्नि । इन्हींको अग्नित्रयः अर्थात् तीन अग्नियें कहते हैं । वेदी में गार्हपत्य अग्नि का कुण्ड पाश्चिम में गोल, आहवनीय का पूर्व में चतुष्कोण, दक्षिणाग्नि का दक्षिण में अर्धचन्द्राकार । इनमें से गार्हपत्य में अग्नि सदा बना रहता है । दूसरे कुण्डोंमें यज्ञ के समय गार्हपत्यमें अग्नि लेजाते हैं ।

स्मार्ताग्नि—राजसमें पाकयज्ञ किये जाते हैं, जिनका वर्णन गृह्यसूत्रों में है, यह विवाह के समय वा दाय विभाग के समय स्थापन किया जाता है, और सदा के लिए बना रहता है ॥

लौकिकाग्नि—इन दोनोंसे भिन्न जो अग्नि है, वह लौकिकाग्नि है ॥

वर्ण—चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

अन्तराल—भिन्न दो वर्णों के मेल से बनी जाति (mixed tribe or caste) । अन्तराल दो प्रकार के हैं—

अनुलोम—जो ऊंचे वर्ण के पुरुष से निचले वर्ण की स्त्री में से उत्पन्न हो ॥

प्रतिलोम—जो निचले वर्ण के पुरुष से ऊंचे वर्ण की स्त्री में से उत्पन्न हो । स्मृतियों के अनुसार ऊंचे वर्ण को निचले वर्ण की स्त्री से विवाह की अनुज्ञा है, पर निचले वर्ण को ऊंचे वर्ण की स्त्री से नहीं । इसलिए प्रतिलोम निन्दित है अनुलोम नहीं । प्रतिलोमज जातियें वर्णभङ्ग कहलाती हैं ॥

अनुक्रम से—मिलमिलावार । यथावत्—ठीक २ । यथाविधि—शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार । कर = हासिल जो राजा को दिया जाता है मुआमला वा टैक्स ॥



मनुस्मृति

प्रथम अध्याय ।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।

प्रति पूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

महर्षि एकाग्र (-चित्त) बैठे मनु के पास पहुंचे, और यथोचित पूजा करके यह वचन बोले ॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।

अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः ।

अचिन्त्यस्याप्रेमयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो ॥ ३ ॥

भगवन् ! आप हमें सारे वर्णों के और अन्तरालों के धर्म ठीक ठीक और अनुक्रम में बतलाने की कृपा कीजिए ॥ २ ॥ क्योंकि आप अकेले हे प्रभो ! इस सारे विधान (रीति=कानून) के कार्य (कर्त्तव्य भाग) का मन्त्रा तत्पर्य समझने वाले हैं, जो (विधान) अचिन्त्य, अपरिमेय, स्वयम्भु (अनादि परमात्मा, का है (अर्थात् वेद है) ॥ ३ ॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।

प्रत्युवाचार्य तान सर्वान् महर्षीञ्श्रूयतामिति ॥ ४ ॥

इसप्रकार जब उन विशाल हृदय वालों ने उस अपरिमित शक्तिवाले (मनु) से पूछा, तो वह बड़े आदर पूर्वक उन सब महर्षियों को उत्तर देते भए—‘मुनिये’ ॥ ४ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

*यह (विश्व) अपना अस्तित्व रखता था, अन्धेरे के रूप में, न प्रत्यक्ष, न कोई चिन्ह, न तर्क से जानने योग्य, न (शब्द से) जानने योग्य, मानों गहरी नींद सोया पड़ा था ॥ ५ ॥

* मिलाओ ऋग १०।१२८।३; तै० ब्रा० ११।८।८।४।
और ५ में १३ तक मिलाओ ग० ब्रा० ११।१।६।१ ॥

† जगत् का अस्तित्व था, पर अन्धरे में था, उसे कोई जानता नहीं था। आगे १२।१०५-१०६ में ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और तर्क कहेंगे, उन सब का अशिष्य था। कुन्लूकभट्ट अन्धरे से प्रकृति का अभिप्राय लेता है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि महर्षियों ने धर्म पूछा था, उत्तर में धर्म ही कहना चाहिए था, प्रलय और सृष्टि, त्याग का वर्णन क्यों किया? इस का समाधान मिधार्तिथ और गोविन्दराज यह करते हैं, कि भिन्न २ प्राणियों की सृष्टि सब धर्म अधर्म का फल है। अधर्म का फल नीच योनियाँ, और धर्म का उत्तम योनियाँ हैं, ऐसा जानकर मनुष्य अधर्म से बचकर सदा धर्म में मन को लगाए गा, इसलिए सृष्टि उत्पात के वर्णन में शास्त्र का भारी प्रयोजन वाला बतलाया गया है। कुन्लूकभट्ट कहता है, कि यह प्रयोजन बारहवें अध्याय से सिद्ध होजाता है, जहाँ धर्म अधर्म का फल विविध गतियाँ बतलाई हैं। इसलिए वह मिधार्तिथ और गोविन्दराज से सहमत न होकर यह तात्पर्य कहता है, कि यहाँ प्रलय और सृष्टि का वर्णन ब्रह्मज्ञान के लिए है, क्योंकि सृष्टि और प्रलय ब्रह्म में होती है।

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तोव्यञ्जयन्निदम् ।

महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥६॥

तब * भगवन् स्वयम्भू जिसकी (रचना-) शक्ति काय्यों
न्मुख ११ हुई है, वह उस अन्धेरे को हटाता हुआ, अव्यक्त हुआ
भी इस महाभूत आदि धी को व्यक्त करता हुआ प्रकट हुआ ॥६॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भवौ ॥ ७ ॥

वह, जो इन्द्रियों से परले (= आत्मा) का ग्राह्य * सूक्ष्म
अव्यक्त, सनातन (सदा से है), सब भूतों का अन्तर्यामी, अचिन्त्य
(है), वही स्वयं प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

और ब्रह्मज्ञान परम धर्म है, इसलिये पहले अध्याय से इस परम
धर्म का निरूपण करके पोछे संस्कारादि धर्मों का निरूपण दूसरे
अध्याय से लेकर है, क्योंकि संस्कारादि धर्म ब्रह्मज्ञानरूप परम धर्म
के अङ्ग हैं ॥ “पर सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन धर्मशास्त्र में अनावश्यक है,
गीतमादि धर्मसूत्रों में कहीं नहीं किया । तद्वत् मानवसूत्रों में
भी अवश्य नहीं होगा । सो मानवधर्म सूत्रों के अनुसार प्रण तो
धर्मविषयक ही उठाया है, किन्तु मनुजी प्रथम सृष्टि में उत्पत्तिसे
मनु का महत्त्व, और उस से धर्म शास्त्र का मिलना बोधन करने
के लिये मनुस्मृति के सम्पादक ने यह स्वयं कहा प्रतीत होता है”

(सम्पादक)

* तब प्रलयकाल की समाप्ति पर ११ वृत्त = प्रवृत्त सृष्टि रचना
की ओर । महाभूत = पञ्चभूत, और-प्रादि = बाकी सृष्टि ॥

* अव्यक्त परमात्मा मन बाणी की पहुँच से परे केवल आत्मा
का ही विषय है (मन्विस्तर देखो वेदापदेश में परब्रह्म का वर्णन) ।

उस (भगवान्) ने अपने शरीर * में भिन्न २ प्रकार के जीवों को रचने की इच्छा करते हुए, ध्यान से, पहले जलों (पानी की तरह पतला द्रवावस्था में मादा) को रचा, और उनमें अपना बीज छोड़ा ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्वैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।

तस्मिञ्जले स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

वह (बीज) सूर्य तुल्य चमकवाला एक सुनहरी (= लाल भस्मता हुआ) अण्डा (= गोला) होगया, उस (अंडे) में वह स्वयं + ब्रह्मा (होकर) प्रकट हुआ, जो पारे लोकों का पितामह है ॥

संज्ञा—प्रसङ्ग से परमात्मा का नाम जो नारायण है, उसका निर्वचन बतलाने हैं :-

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरस्मून्वः ।

ता यदस्यायनं पूर्व तेन नागयणः स्मृतः ॥ १० ॥

जल नार कहे जाते हैं, क्योंकि जल नर के पुत्र हैं । जिस लिये वह (जल) इस (परमात्मा) का पहला घर है, इसलिये वह नारायण + कहलाया है ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदमदात्मकम् ।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मोति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

* परमात्मा का शरीर प्रकृति है (देखो वेदोपदेश) ।

† अव्यक्त ही इस सुनहरी गोले में प्रकट हुआ, वही इस ब्रह्मरूप में हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहा जाता है (मितायी ऋ० १०।१२१) ब्रह्मा सारे लोकों का पितामह इससे है, कि ब्रह्मा से सभी विराट् (स्थूल जगत्) और विराट् में सारी प्रजापति की उत्पत्ति है ॥

* नार + अयन = नारायण, नार = जल, अयन = घर । जल जिस का घर है । इससे नर परमात्मा का नाम सिद्ध ही है ॥

वह (पहला) कारण जो अव्यक्त, निरु, व्यक्त अव्यक्त स्वभाववाला है* उसमे रचा वह पुरुष लोक में ब्रह्मा प्रख्यात है।११

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥

उस अण्डे में वह भगवान् पूरा वर्षभर ७ निवास करके आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे के दो टुकड़े करते भये ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्येव्योमदिशश्चाष्टावर्षास्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥

उन दोनों टुकड़ों से उसने द्यौ और भूमि को, और (उनके) मध्य में आकाश और आठों दिशाएं ‡ और जल का निरु स्थान § बनाया ॥ १३ ॥

उद्वर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।

मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

और (जीवों के भोग के लिये) अपने आपसे उसने व्यक्त अव्यक्त स्वभाववाला (समष्टि) मन निकाला, जो अभिमान करने

* यह स्वरूप में अव्यक्त और प्रबल स्वरूप में व्यक्त (प्रकट) है ॥

७ उस गोले का पूरा दौरा (Cyclic Motion)

‡ आठों दिशाएं, चार दिशा, और चार कोणें, § जल का निरु स्थान=अन्तरिक्ष का समुद्र । पृथिवी का समुद्र आगे २४ में कहेंगे ॥

वाला और (अपने कार्य) में समर्थ हैं ॥ १४ ॥ और महान्
आत्मा(समाष्टिवृद्धि)को और सब तीन गुणोंवालों को,और विषयों
के ग्रहण करनेवाले पाँचों इन्द्रियों को क्रमशः (निकाला)*॥१५॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्पण्णामप्यामितौजसाम् ।

सन्निवेशात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

उन अपरिमित शक्तिकाले छोड़ों (मन और पाँचों इन्द्रियों)
के सूक्ष्म अवयवों को अपने(शरीर के) अंशों में जोड़कर सब भूतों
(घात से लेकर मनुष्य पर्यन्त)को रचा, (ब्रह्मा के शरीर के अंशों
से भूतों के शरीर रचेगए, और उन शरीरों में ब्रह्मा के समाष्टि
मन और इन्द्रियों से व्यष्टिरूप होकर मन और इन्द्रियां उनमें
प्रविष्ट हुई) ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येभान्याश्रयन्ति पट् ।

तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥१७॥

जिम लिए उम (उत्पन्न हुए भूतमात्र) की मूर्ति के
अवयव इन छोड़ों इन्द्रियों का आश्रय लेते हैं, इसलिए बुद्धिमान
पुरुष (उम भूत मात्र) की मूर्ति को शरीर कहते हैं ॥ १७ ॥

* द्यौ और पृथिवी की रचना के पीछे भूतों की उत्पत्ति के
लिये ब्रह्मा ने पहले,अपने आपसे = अपने शरीरांशसे,समाष्टि मन को
निकाला, मन जोफि अपने कार्यों से व्यक्त और स्वरूप से अव्यक्त
है। मन से अहंकार (मैं हूँ. इसप्रकार स्वरूप ज्ञान का साधन)
और बुद्धि तत्त्व प्रकट हुआ। और क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस्
गुणोंवाले सब विषय और विषयों के ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय
निकाले ॥

तदाविशान्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

उस (शरीर) में अपने कर्मों समेत महाभूत * प्रवेश करते हैं, और सूक्ष्म अवयवों (इन्द्रियों) समेत मन, जो सब भूतों का बनाने वाला * अविनाशी है ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥

(इसप्रकार) बड़ी शक्ति वाले, उन सात पुरुषों † की सूक्ष्म मूर्ति मात्राओं से यह (भूत ग्राम) उत्पन्न होता है, अविनाशी से विनाश शील ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।

यो यो यावत्तिथ्यैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

इनमें से पहले २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है। इन में से जो २ जितना है, वह २ उतने गुणोंवाला कहा गया §॥२०॥

* महाभूत-आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी। उन के कर्म-अवकाश देना, रचना में लाना, पकाना, इकट्ठा करना, धारण करना।
† मन की वासनानुसार ही सब भूतों की उत्पत्ति है।

‡ श्लोक १६ में कहे छः मन इन्द्रिय और सातवीं आत्ममात्रा शरीरांश। ब्रह्मा को पुरुषरूप वर्णन किया है, और उसका शरीररूप होने से इन सातों को पुरुष कहा है ॥

§ पहली भूतोत्पत्ति औपचर्ये थी, उनमें जो गुण-अपने जीवन का पोषण और अपने सदृश सन्तानका उत्पन्न करना आदि था, वह उससे अगली सजीवसृष्टि=पशु पक्षियों में रहा, किन्तु उनसे

सर्वेषां तु स नामाणि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक् मन्त्राश्च निर्ममम् ॥ २१ ॥

पर उम (ब्रह्मा) ने आदि में मन्त्र के नाम और कर्म अलग
अलग, और अलग-२ मर्यादाएं वेद के शब्दों से ही रचीं ॥ *२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

बढ़कर उनमें चेतनताद्विक्ता प्रकाश हुआ और सबसे बढ़कर मनुष्य
में सभ्यताके और परलोक साधन के गुण प्रकट हुए । १४-२० तक
की व्याख्या में टीकाकारोंका मतभेद है। प्रायः वेदों के अर्थोंमें सामान्यतः
वा भास्कराय वेदान्तानुसार सृष्टि का वर्णन फिर आरम्भ करते हैं।
सांख्य का क्रम ठीक रखने के लिए चौदहवें में 'मन से अहंकार'
के स्थान 'पूर्व' ऊपर से लगाकर 'मन से पूर्व अहंकार', और महान्
आत्मा, के स्थान 'अहंकार से पूर्व महान् आत्मा,' अर्थ करते हैं ;
'सारं तीन गुणोंवालों' से पांच तन्मात्रा, तात्पर्य लेते हैं । १७ में ब्रह्मा
के शरीरका व्युत्पादन करते हैं । १८ में पञ्चतन्मात्राओं से महाभूतों
की उत्पत्ति बतलाते हैं (आविशन्ति का अर्थ उत्पन्न करते हैं)
१९ में सात-पुरुष महत् अहंकार और पांच तन्मात्रा लेते हैं । और
२० में पांच महाभूतों के गुणों का वर्णन लेते हैं, योंही २१ सा भेद
सब में है । मेरा व्याख्यान उनसे स्वतन्त्र है, पर बहुत सोंच समझ
कर है, मेरा अर्थ १३ वें से आगे बराबर सम्बन्ध जाना चला आता
है । और अध्याहारादि के बिना स्वयम्भूतः अर्थ बनता चला आता
है, अपितु इससे अगले २१ वें से सम्बन्ध भी ठीक रहता है ॥

* सब के नाम=ओषधि, यनस्पति, पशु, पक्षी मनुष्यादि के
वैदिक नाम। और कर्म=ब्राह्मण का अध्ययन अध्यापनादि और क्षत्रिय
का प्रजारक्षणादि । मर्यादाएं=विद्यादि सम्बन्ध की मर्यादाएं ।
वेद शब्दों से ही रचीं, क्योंकि यह पहले कल्प की सृष्टि के
अनुसार सृष्टिरची, जैसाकि कहा है :- (धाता यथा पूर्वमकल्पयत्) ॥

और उस प्रभु ने कर्म स्वभाववाले देवताओं के, प्राणियों, और साध्यों के सूक्ष्मगण को और सनातन यज्ञ को रचा ॥२२॥

अमिवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सानलक्षणम् ॥ २३ ॥

और उसने अग्नि वायु और सूर्य से ऋग्, यजु, सामस्वरूप तीन प्रकार का वेद यज्ञ की सिद्धि के लिए दोहा (जैसे थनों में पहले ही विद्यमान दूध दोहा जाता है, इस प्रकार पहले ही विद्यमान सनातन वेद को दोहा) ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।

सरितः सागरान् शैलान् सगानि विषभाणि च ॥२४॥

और उसने काल और काल के भेद (दिन, रात, मासादि) नक्षत्र, तथा ग्रह, नदियें, सागर, पर्वत, मैदान और ऊंचे नीचे (स्थान आर-) ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।

सृष्टिं ससर्ज चैवेमां सृष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥२५॥

तप, वाणी, रति (खुशी) काम और क्रोध यह सारी सृष्टि उसने रची, जब इन प्रजाओं को उसने रचना चाहा ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवचयत् ।

द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥२६॥

और कर्मों के (= यह करना है, यह नहीं करना है, इस प्रकार) निखेरने के लिए उसने धर्म अधर्म को अलग किया

(धर्म को अधर्म से निखेर दिया) और इन प्रजाओं को (धर्म अधर्म के फल जो) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से (एक दूसरे विरोधी जोड़े हैं, उनसे) युक्त किया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः
ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

किन्तु यह सब अनुक्रम से* उनके द्वारा बना है, जो पाँचों की सूक्ष्ममात्रा † परिणाम शील हैं ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।

स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

जिस (प्राणी) को जिस कर्म में उस प्रभु ने आदि में लगाया, वह फिर २ जब उत्पन्न हुआ, उसी में अपने आप लगा ॥ २८ ॥

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

हिंसावाला, अहिंसावाला, कोमल, कठोर, धर्म, अधर्म, सच, झूठ जो (कर्म) जिसका उसने सृष्टि के समय धारा हुआ था, वह उसका अपने आप (वाननानुसार उममें) आविष्ट हुआ ॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।

स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

* ऊपर सृष्ट वस्तुएं आगे पीछे करके कहीं हैं, उनकी उत्पत्ति का क्रम वही जानना चाहिए, जिस क्रम से यह उत्पन्न होती हैं, वहाँ का क्रम विवक्षित नहीं ॥

† पाँचों भूतों की सूक्ष्म तन्मात्रा हैं ।

जैसे ऋतु पलटने पर ऋतुएं अपने २ ऋतु के चिन्हों को प्राप्त होती हैं (बसन्त में आम पर मज्जरी आती है और वर्षा में वृष्टि आती है) वैसे प्राणधारी (अपने आप) अपने २ कर्मों को (प्राप्त होते हैं) ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निर्वर्तयत् ॥ ३१ ॥

और लोकों की वृद्धि के लिए मुख, भुजा, रानों, और पाओं से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को रचा ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

अपने देह के दो भाग करके आधे से पुरुष होगया, और आधे से नारी, उस (नारी) में से उस प्रभु ने विराट् को उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य सृष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे द्विजों में श्रेष्ठो ! फिर विराट् ने तप करके जिसको रचा, वह मुझे समझो, जो (आगे) इस सब का रचने वाला है ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।

पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

* सूक्ष्म जगत् ब्रह्मा का शरीर है. उससे स्थूल समष्टि जगत् विराट् उत्पन्न हुआ । विराट् से आगे मनु=मन्वन्तर चला मन्वन्तर की चराचर सृष्टि मनु की सन्तान हुई । इसी लिए ब्रह्मा सब का पितामह है । इतना अंश तो रूपक से है ॥

फिर मैंने प्रजाओं को रचने की इच्छा से बड़ा उग्र तप करके पहले १० महर्षि उत्पन्न किये, जो प्रजाओं के पाति (प्रजापाति) (कहलाते) हैं ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।

प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३५ ॥

एते मनूस्तु सप्तान्या न सृजन् भृगि तेजसः ।

देवान् देवतिकायांश्च ब्रह्मर्षींश्चाभितोजसः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार और बड़े तेजवाले मान मनुओं को, देवताओं को, देवगणों को और अपरिमित पापक्रमवाले महर्षियों को रचते भए ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।

नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण और पितरों के अलग २ गण * ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।

उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

विजली (चमकनेवाली) वज्र (गिरनेवाली विजली) मेघ, रोहित (आधा इन्द्र धनुष) और पूरा इन्द्र धनुष, उल्का (गिरने वाले तारे) निर्घात (आकाश वा पृथिवी के उत्पात शब्द)

* पितरों के अलग २ गण देखो मनु ३ । १९४-१९९ ।

केतु (पूछवाले तारे) और भिन्न २ प्रकार के तारे ॥ ३८ ॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विषांश्चाविहंगमान् ।

पशून्मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

(घोड़े के मुखवाले) किन्नर, वानर, मछलियाँ, भान्ति २ के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य और दोनों ओर के (ऊपर नीचे के) दातोंवाले हिंस्रजीव ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतंगांश्च यूका मक्षिकमत्कुणम् ।

सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

कृमि, कीड़े, पतङ्गे, जू, मक्खी, खटमल सभी, डाँस, मच्छर (डसने काटने वाले) और भिन्न प्रकार के स्थावर (वृक्ष, झाड़ी बेल आदि) ॥ ४० ॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।

यथाकर्मतपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

इसप्रकार इन महात्माओं ने मेरी आज्ञा से और अपने तप के प्रभाव से यह सब स्थावर जङ्गम अपने-२ कर्मानुसार रचा है ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।

तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

इस (संसार) में जिन भूतों का जैसा कर्म (पूर्वाचार्यो) ने बताया है, वह तुम्हें वैसा बतलाऊंगा, और जन्म में (जो) क्रम योग है (जिस क्रम से जन्म होता है) ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।

रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पशु, मृग, दोनों ओर के दानोंवाले हिंसजीव, राक्षस, पिशाच और मनुष्य जरायुज (जेरज=गर्भ की शिल्ली से उत्पन्न होनेवाले) हैं ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नका मत्स्याश्चकच्छपाः ।

यानि चैवं प्रकाशणि स्थलजान्यौदकानिच ॥४४॥

पक्षी, साँप, घड़ियाल, मछलियों, और कछुए, और जो इसीप्रकार के स्थल वा जल में उत्पन्न होने वाले हैं यह सब अण्डज (अंडों से उत्पन्न होने वाले) हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।

ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥४५॥

हाँस, मच्छर, जूँ, मक्खी, खटमल-स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होनेवाले) हैं, और भी जो कोई इसप्रकार का जन्तु गर्मी से उत्पन्न होता है (स्वेदज) है ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्रगोद्विणः ।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज वा काण्ड (डाली में जोड़) से उगने वाले मारे स्थावर, उद्भिज्ज (भूमि को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले) हैं, (उन में से) ओषधियें वह हैं, जो बहुत फूल फलों से भरी हुई फल पकने पर नाश होती हैं (एक ही बार पकती हैं) ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।

पुष्पिणः फालिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥

जो फूल के बिना फलवाले होते हैं, वह वनस्पति कहलाते हैं, और जो फूल और फल दोनों वाले हैं, वह वृक्ष कहलाते हैं ॥४७॥

गुच्छं गुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।

बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्यएवच ॥ ४८ ॥

अनेक प्रकार की झाड़ियों, जो एक जड़ से, वा अनेक जड़ों से होती हैं, और घास की (भिन्न २) जातियों, प्रतान (भूमि पर फैलनेवाली बेलें, खीरा, कद्दू आदि) और बेलें (वृक्षों पर चढ़नेवाली गिलो आदि) यह सब बीज और काण्ड से ही उत्पन्न होनेवाले (उद्भिज्ज) हैं ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।

अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

यह (उद्भिज्ज) (अपने पिछले जन्म के) कर्म के फल से अनेक प्रकार के अन्धेरे से ढके हुए * पर भीतर छुपे ज्ञानवाले और सुख दुःख से युक्त होते हैं + ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।

घोरोस्मिन्भूतसंसारं नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

* मिलाओ १२। ४२ + पौधे सजीव हैं दूसरे सजीवों की तरह जन्मते, बढ़ते और मरते हैं । अपने शरीर पर लगे घाव को अपने अन्दर से भरते हैं । अपने जैसी संतान उत्पन्न करते हैं । नर नारी का भेद भी इनमें है । नरनारी के बीज के मिल से ही इनमें फल फूल आते हैं, जा, वायु वा मौसमों के द्वारा होता है । लाजवंती का पौधा रात को सोता दिन को जागता है । सर्दी गर्मी आदि को सभी पौधे अनुभव करते हैं । खिडकी में कुछ गमले रखें, तो उनके पौधे पहले की तरह सीधे न रहकर घुप और प्रकाश लेने के लिए टेढ़े होकर बाहर निकल जाते हैं ॥ इत्यादि ॥

इस बदलते रहनेवाले घोर, भूत संसार (जावों के जन्म मरण के चक्र) में ब्रह्मा से लेकर यहाँ तक गतियां बतलाई हैं ॥५०॥

एवं सर्वं स सृष्टेर्दं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥

इसप्रकार वह अचिन्त्य शक्तिवाला (प्रभु ब्रह्मा) इस माँ को और मुझको रच करके काल का काल में (सृष्टि काल को प्रलय काल में) दबाता हुआ बार २ अपने आप में छिपा लेता है ५१॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥

जब वह देव जागता है, तब यह जगत् चेष्टा करने लगता है, जब शान्तात्मा होकर सो जाता है, तब सारा (विश्व) आँख मूंद लेता है (सो जाता है) ॥ ५२ ॥

तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे तु कर्मात्मनः शरीरिणः ।

स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३॥

जब वह सुपचाप की नींद सो जाता है, तो वह शरीर धारी, जिनकी प्रकृति कर्म करने की है, अपने कर्मों में निहत्त होते हैं, और मन स्थिति को प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।

तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

और जब एक साथ उन महान् आत्मा में प्रलीन होते हैं, (यदा प्रलय में), तब यह सब भूतों का आत्मा कान्त होकर

मुख से सोता है * ५४ ।

संगति-प्रलय के प्रसंग से जीव का शरीर से निकलना और प्रवेश बतलाते हैं—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।

न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

जब यह (जीव) इन्द्रियों समेत देर तक अन्धेरे में प्रवेश करके (=मूर्छित होकर) रहता है, और अपना काम (सांस लेना आदि) नहीं करता है, तब शरीर से निकलता है । ५५ ।

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्तु चरिष्णु च ।

समाविशति संसृष्ट स्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

जब सूक्ष्म मात्राओं * वाला होकर (सूक्ष्म शरीर से) युक्त हुआ चर अचर बीज में प्रवेश करता है, तब शरीर को धारता है । ५६ ।

एवं स जाग्रत्स्वप्राभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार वह अविनाशी सोने जागने से इस सब चर अचर को लगातार जिलाता है और मारता है । ५७ ।

* मनुष्य जैसे दिन को काम करते और रात को काम बन्द करके सोते हैं, इसी तरह परमात्मा का सोना जागना सृष्टि के काम में लगने और उस से निवृत्त होने के भाव में कहा है । वास्तव सोना जागना उस में नहीं ।

* सूक्ष्म मात्राएँ = भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि वासना, कर्म, प्राण, और अविद्या यह आठ । इसी का नाम पुर्यष्टक है (कुल्लुक भट्ट)

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।

विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥

और यह शास्त्र रच कर स्वयं उस (ब्रह्मा) ने आदि में मुझे ही विधि अनुसार सिखलाया, और मैंने मरीचि आदि मुनियों को (सिखलाया) । ५८ ।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।

एतद्धिमत्तोऽधिजगे सर्वमेवोऽखिलं मुनिः ॥५९॥

यह भृगु तुम्हें यह सारा शास्त्र सुनाएगा, क्योंकि इस मुनि ने सारा अपने पूर्णरूप में मुझ से पढ़ लिया है । ५९ ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।

तानब्रवीदधीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

तब उस मनु से ऐसा कहा हुआ वह भृगु प्रमत्ताचित्त हुआ उन सब ऋषियों से बोला 'मुनिये' । ६० ।

स्वायंभुवस्यास्य मनोः पद् वंश्या मनवोऽपरे ।

सृष्ट्वन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानोमहौजमः ॥६१॥

स्वयम्भू के पुत्र इस मनु के वंश में और छः उदार हृदय और महा शक्ति वाले मनु अपने-अपने पर प्रजा का रचते भए ।

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसोऽश्वस्तथा ।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

(वह यह हैं) —स्वारोचिष, उत्तम, तामस, वैवत, चाक्षुष, विवस्यान् का पुत्र (=विवस्वत) (जो) बड़ा तेजस्वी (हुआ है) । ६२ ।

स्वायंभुवाद्याः सैते मनवो भूरितेजसः ।

स्वेस्वेऽन्तरेऽसर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

स्वायंभुव आदि सार्तो यह महातेजस्वी मनु अपने २ (अधिकार के) समय में प्रजा को उत्पन्न करते और पालते भए *॥६३॥
अब प्रसंग से मन्वन्तर और सृष्टि प्रलयकालका परिमाण कहते हैं ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्ताः कला ।

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अठारह निमेष (आंख का पलक मारना) एक काष्ठा,
तीस काष्ठा एक कला, तीस कला एक मुहूर्त, और उतने
(=३०) मुहूर्त एक दिन रात (होता है) ॥ ६४ ॥

* एक कल्प में मनु १४ होते हैं। इस समय तक सात मनु हो चुके हैं, जो ऊपर गिना दिये हैं :—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, वैवस्वत। इनमें एक २ का अन्तर (अधिकार का समय) आगे बतलायेंगे। मनु एक समय को समझकर, तो यह समझ में आजाता है, कि विराट् से आगे जितना काल ७१ चतुर्युगियों का है, वह काल एक मनु वा एक मन्वन्तर (मनु का अवसर) है। उससे आगे इतना २ ही दूसरा तीसरा आदि मनु। इस अवसर में जो २ चर अचर की उत्पत्ति, वा त्रिलोकी में नई घटना मेघ आदि की उत्पत्ति वा नक्षत्रों के उदय अस्त की होती है, वह सब इस मनु की प्रजा है। (देखो ३४-४८) और मनु (काल) उसका राजा है। इस अवसर के सर्वमान्य धर्मों के प्रवर्तक राजा को मनु और उसके धर्म को मानवधर्म कहना सम्भव है। पर यहाँ काल और राजा दोनों को मिला जुला दिया है। इस श्लोक से यह भी प्रतीत होता है, इस स्मृति का सम्पादक इस सतावें वैवस्वतमनु में हुआ है, सम्पादक का यह प्रयत्न, कि इस स्मृति को स्वायम्भुव मनु की माना जाय, प्रयत्नमात्र ही है ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।

रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥६५॥

दिनरात जो मनुष्य और देवताओं के हैं, इनका विभाग सूर्य * करता है, रात भूतों के सोने के लिए, और दिन कामों की दौड़ धूप के लिए ॥ ६५ ॥

पित्र्ये राज्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥६६॥

महीना पितरों के दिनरात हैं, (उनका) विभाग पक्षों में (होता है) कृष्ण (पक्ष) कर्म की दौड़ धूप के लिए दिन, और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात है ॥ ६६ ॥

दैवे राज्यहनी वर्षे प्रविभागस्तयोः पुनः ।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः म्याहक्षिणायनम् ॥६७॥

एक बरस देवताओं का दिनरात है, उनका विभाग (यह है) उत्तरायण उसमें दिन होता है दक्षिणायन रात † है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समामतः ।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥६८॥

अब ब्रह्मा के दिनरात का और अलग २ एक २ युग का जो परिमाण है, उसे क्रम से संक्षेपतः सुनो ॥ ६८ ॥

* पितरों के दिनरात का चन्द्रमा विभाग करता है देखो ६६ ।

† ६६, ६७—कर्म चंद्रलोक को जाते हैं, और पितर कहलाते हैं क्षपासक सूर्य लोक को जाते हैं, और दैव कहलाते हैं ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्चतथाविधः ॥ ६९ ॥

चार हजार वर्षों का सत्ययुग कहते हैं, उसकी उतने सौ
की सन्ध्या और वैसा ही सन्ध्यांश होता है ॥ ६९ ॥

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

(अपनी २) सन्ध्या और सन्ध्यांश समेत जो दूसरे तीनों
युग (त्रेता, द्वापर, कलियुग) हैं, उनमें हजार वा सैकड़ा एक २
के घाटे से रहते हैं ॥ ७० ॥

* ऊपर ६७ में देवताओं का दिनरात चला हुआ है, अतएव
६९, ७० में भी देवताओं के ही बरस अभिप्रेत हैं । हमारे वर्ष का
देवताओं का एक दिनरात, सो हमारे ३६० वर्ष का देवताओं का
एक वर्ष । सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि यह चार युग क्रम से है ।

इनमें पहले युग (सत्ययुग) की आयु ४००० दिव्य वर्ष । इतने
ही सौ वर्षों की उसकी सन्ध्या अर्थात् ४०० वर्ष की सन्ध्या और इतने
ही सौ वर्षों का सन्ध्यांश अर्थात् ४०० वर्ष का सन्ध्यांश । ४०० वर्ष सन्ध्या
और ४०० सन्ध्यांश अर्थात् ८०० मिलाकर ४८०० वर्ष का सत्ययुग
हुआ । आगे युग की आयु में से एक २ हजार और सन्ध्या सन्ध्यांश
में से एक २ सौ घटाते आगे से त्रेता द्वापर और कलि होते हैं ।
अर्थात् त्रेता के ३००० वर्ष । उसकी ३०० वर्ष की सन्ध्या और ३००
वर्ष का सन्ध्यांश । सन्ध्या सन्ध्यांश समेत ३६०० वर्ष का त्रेता, इसी
प्रकार आगे एक २ घटाने से २४०० वर्ष का द्वापर, १२०० का
कलियुग । यह दिव्य वर्ष हैं, मानुषवर्ष ३६० में गुणने से होजाते
हैं । अर्थात् $४८०० \times ३६० = १७२८०००$ मानुषवर्षों का सत्ययुग
 $३६०० \times ३६० = १२९६०००$ का त्रेता । $२४०० \times ३६० = ८६४०००$ का
द्वापर, $१२०० \times ३६० = ४३२०००$ का कलियुग ॥

यदेतत्परि संख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।

एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

यह जो पहले ही बारह हजार (वर्ष) का चतुर्युग गिना है, * यह देवताओं का युग कहलाता है ॥ ७१ ॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीरात्रिरेव च ॥ ७२ ॥

देवताओं के युगों की एक हजार संख्या, एक ब्रह्मा का दिन जानो, और उतनी ही लंबी रात † ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्य महर्विदुः ।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

वह जो ब्रह्मा के उस पुण्य दिन को जानते हैं, जो देवताओं के हजार युग पर्यन्त है, और उतनी ही लम्बी रात्रि को जानते हैं, वह (वस्तुतः) दिन और रात (की लंबाई) जानने वाले हैं ॥ ७३ ॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।

प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

उस दिन रात के अन्त में, वह जो सोया था, जागता है,

* $४८०० + ३६०० + २४०० + १२०० = १२०००$ दिव्य वर्ष का एक दिव्ययुग । दिव्ययुग हमारी चतुर्युगी का है । हमारी चतुर्युगी जिसके दिव्यवर्ष १२००० हैं, मानुषवर्ष ४३२०००० है ॥

† एक हजार दिव्य युग अर्थात् चतुर्युगियों का ब्रह्मा का एक दिन । अर्थात् $१२००० \times १००० = १२००००$ दिव्य वर्ष वा $४३२०००० \times १००० = ४३२०००००००$ मानुषवर्षों का एक ब्राह्म दिन, यह सृष्टि का समय है, इतनी लम्बी ही ब्राह्मरात्रि, यह प्रलय का समय है ॥

और जागा हुआ व्यक्त अव्यक्त स्वभाव वाले मन को रचता है ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।

आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥

मन (ब्रह्मा की) रचने की इच्छा से प्रेरित हुआ रचना को बदलता है उससे आकाश उत्पन्न होता है, उसका शब्द गुण जानते हैं ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।

बलवान् जायते वायुः सवै स्पर्शगुणोमतः ॥७६॥

जब आकाश बदलता है, तो उससे सारे गन्धों का लेजाने वाला, शुद्ध बलवान् वायु उत्पन्न होता है, वह स्पर्श गुणवाला है वायोरपि विकुर्वाणाद्विशोचिष्णु तमोनुदम् ।

ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥

वायु भी जब बदलता है, तो उससे चमकीला, अन्धेरे का हटाने वाला, प्रकाशक तेज उत्पन्न होता है, वह रूप गुण वाला है ज्योतिश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।

अदृभ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥७८॥

जब तेज बदलता है, तो उससे जल, वह रस गुणवाले माने गये हैं, जलों से गन्ध गुणवाली पृथिवी, इस प्रकार यह आदि में सृष्टि हुई ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहसमुदितं दैविकं युगम् ।

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥

पूर्व जो बारह हजार का देवयुग कहा है, वह एकद्वार गुणा यहाँ मन्वन्तर कहाता है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यनि सर्गः संहारएव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८०॥

मन्वन्तर और (जगत्की) सृष्टि और प्रलय अनगिनत हैं, ब्रह्मा मानो खेलता हुआ इस (सर्व) को बार २ करता है * ॥८०॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रतिवर्त्तते ॥८१॥

सत्ययुग में धर्म चारपाओं वाला सारे अंगों में † पूर्ण

* एक कल्प में तो १४ ही मन्वन्तर होते हैं, पर जब कल्प ही अनगिनत हुए, तो मन्वन्तर सुतरां अनगिनत हैं । ७१ दिव्ययुगों वा चतुर्युगियों का मन्वन्तर, और १४ मन्वन्तर का कल्प होता है । इस गिनती में $७१ \times १४ = ९९४$ दिव्ययुग एक कल्प में आते हैं, पर पूर्व १००० दिव्ययुग का एक कल्प कहा है । अर्थात् १४ मन्वन्तरों के हिसाब ६ दिव्ययुग न्यून रहते हैं । इसका उत्तर सूर्य सिद्धान्त में दिया है । कि सत्ययुग के आयु जितनी मन्वन्तर की सन्ख्या होती है, जो हर एक मन्वन्तर के आदि में गिनी जाती है, और चौदहवें मनु के अन्त में भी होती है । अर्थात् चौदह मन्वन्तर के साथ पन्द्रह सन्ख्या होती हैं । सो सत्ययुग के दिव्य वर्ष $४८०० \times १५ = ७२०००$ इसको १२००० (जो दिव्ययुग का आयु है) पर बाँटा तो ६ आए । सो ६ और ९९४ मिल कर १००० दिव्ययुग वा चतुर्युगी पूरी होजाती है ।

† किसी पूर्णवस्तु के चार ही पाद कहे जाते हैं । और धर्म को तो यूँ भी ८ । १६ वें बेलरूप वर्णन करेंगे, अथवा ८६ में कहे

था, और ऐसी ही सच्चाई थी † न ही कोई कमाई ‡ अधर्म से मनुष्यों की होती थी ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।

चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैतिपादशः ॥ ८२ ॥

दूसरों में (अन्याय की) कमाई से धर्म पाद २ करके घटता गया, चोरी, झूठ और छल के द्वारा धर्म पाद २ घटता है ॥ ८२ ॥ *

अरोगाःसर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।

कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्हसतिपादशः ॥ ८३ ॥

रोगों से रहित, मनोरथ जिनके सब पूरे होते हैं, चार सौ वर्ष की आयु वाले (मनुष्य होते हैं) सत्ययुग में, त्रेता आदि में में इनकी आयु (इससे) पाद २ घटती जाती है ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मत्यार्नामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।

फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्चशरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

सत्य, ज्ञान, यज्ञ और दान यही चार पाओं हैं † सच्चाई भी धर्म है, प्रधानता दिखलाने के लिये अलग कही है । सच्चाई भी पूरी सांगो-पांग थी, सीधी सरल सच्चाई थी, अन्दर छल कपट से मिली बाहरी सच्चाई का नाम न था । ‡ कमाई धन विद्यादि को । नन्दन " नाभ्रमेणागमः कश्चित् " के स्थान 'ना धर्मो नागमः काश्चित्' पाठ पढ़कर यह अर्थ करता है, न अधर्म था, न कोई शास्त्र=धर्म शास्त्र था, क्योंकि अनावश्यक था ।

* सत्ययुग की कमाई में अन्याय का नाम न था, त्रेता, द्वापुर, कलि में कमाई में अन्याय का मेल होता गया, चोरी झूठ और छल भी कमाई के लिये बतौ जाने लगा, और अधिक २ बढ़ता गया

वेदों में कही मनुष्यों की आयु, कर्मों के फल, और शरीर
भारियों के प्रभाव लोक में युग के अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रितायां द्वापरे परे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

सत्ययुग में मनुष्यों के और धर्म होते हैं, और युग की घटती
के अनुरूप त्रेता में और, द्वापर में और, और कलियुग में
और होते हैं ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

सत्ययुग में प्रधान (धर्म) तप कहा जाता है, त्रेता में (देवताओं
का) ज्ञान, द्वापर में यज्ञ ही कहते हैं, और कलियुग में
अकेला दान ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।

मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

इस सारी सृष्टि के रक्षा की अर्थ उस महानेजस्वी ने मुख,
भुजा रान और पाओं से उत्पन्न हुओं के कर्तव्य अलग २ नियत किये
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रातिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

(वेद का) पढ़ाना और पढ़ना, यज्ञ करना और कराना,
(दान) देना और लेना ब्राह्मणों का नियत किया ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ ८९ ॥

प्रजा की रक्षा करना, (दान) देना, यज्ञ करना (वेद का) पढ़ना, और विषयों (खुशियों) में न फँसना, क्षत्रिय का बतलाया ॥८९॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिकपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशुओं का पालन, दान, यज्ञ और (वेद का) पढ़ना, सौदागरी व्याज और खेती वैश्य का (बतलाया) ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

एक ही कर्म प्रभु (ब्रह्मा) ने शूद्र का बतलाया है, कि नमी से इन्हीं वर्णों की सेवा ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥९२॥

पुरुष नाभि से ऊपर (नीचे की अपेक्षा) पवित्रतर कहा है, इस कारण ब्रह्मा ने इसका मुख पवित्रतम (अंग) कहा है † ॥९२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण जिस लिये (ब्रह्मा के) मुख से जन्मा है, सबसे बड़ा है (सब से पहले जन्मा है), और वेद को धारण करता है, इस लिये वह धर्म से (by Right) इस सारे सर्ग का प्रभु है ॥ ९३ ॥

* ८७ देखो पूर्व ३१ † ८८-९१ देखो आगे १० । ७५-७९, ९९ । ‡ ९२ देखो आगे ५ । १३२ ।

तं हि स्वयंभुः स्वादाभ्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।

हव्यकव्याभेवाह्वाय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

क्योंकि उसको ब्रह्मा ने तप तपकर* देवता और (पितरों का) हव्य और कव्य पहुंचाने के लिये और (अपने कर्तव्य के उपदेश से) इस सारे जगत् की रक्षा के लिये सबसे पहले अपने मुख से रचा है ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्रन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।

कव्यानि चैव पितरः किंभूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

जिस के मुख से देवता सदा हव्य और पितर कव्य खाते हैं, उस से अधिक (और) कौन भूत (हो सकता है) ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनां श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतों में सांस लेने वाले श्रेष्ठ हैं, सांस लेनेवालों में बुद्धि से जीने वाले, बुद्धि वालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में ब्राह्मण माने हैं। ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणों में (वेद के) जानने वाले, जानने वालों में कृतबुद्धि, † कृत बुद्धियों में अनुष्ठानी, अनुष्ठानियों में ब्रह्म के जानने वाले ।

उत्पत्तिरेव निप्रम्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

* पवित्र स्नान के लिये पहले तप तपना आवश्यक है देखो पूर्व ३३, ३४, ४१ । ९७ कृत बुद्धि । धार्मिक कर्म जिस रीति से करने में पूर्ण होते हैं, ऐसी बुद्धि पाय बुद्ध ।

ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की सनातन मूर्ति है, क्योंकि वह धर्म (करने कराने) के लिये उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म होने (निर्दोष होकर मुक्त होने) के समर्थ है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथिवी पर ऊँचा हो कर जन्मता है, धर्मकोश की रक्षा के लिये वह सब भूतों का प्रभु है ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।

श्रेष्ठेयनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

दुनिया में जो कुछ है, यह सब ब्राह्मण का अपना है, अपनी श्रेष्ठ उत्पत्ति के हेतु ब्राह्मण निःसंदेह इस सब के योग्य है ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, और अपना देता है, क्योंकि दूसरे मनुष्य ब्राह्मण की कृपा में खाते हैं * ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदंशास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

उसके कर्तव्य की विवेचना के लिये, और अनुक्रम से

* ब्राह्मण धर्म का उपदेष्टा, और जीविका के उपायों का आविष्कारक और शिक्षक होने से सब उसकी कृपा का फल भोगते हैं। उसमें से जो उसका दिया जाता है, वह उसका हक है। दूसरों का दिया जाने पहनने देने में वह अपना ही खाना पहनता देता है ॥

दूसरों के (कर्तव्य की विरचना के लिये) ब्रह्मा के पुत्र उद्दिमान
मनु ने यह शास्त्र रचा ॥ १०० ॥

विदुषा ब्राह्मणेन दमयन्त्यनन्यं प्रयत्नतः ।

शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित् ॥ १०१ ॥

विद्वान् ब्राह्मण ने प्रयत्न से यह शास्त्र पढ़ना चाहिये और
उसीने पलीभांति शिष्यों को पढ़ाना चाहिये, न कि अन्य किसी ने
(पढ़ाना चाहिये) ।

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदापैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

इमं शास्त्र का अभ्यास करता हुआ और (इस में कहे) व्रतों
(यमनियमों) को श्रद्धा से पुरा करता हुआ ब्राह्मण उन पापों से कभी
लिप्त नहीं होता, जो मन, वाणी और शरीर से उत्पन्न होते हैं ॥

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्तमस्र पगवगन् ।

पृथिवीमपि चैवेमां कृत्वा मेकोपि मोहति ॥ १०५ ॥

वह (उम) पङ्क्ति (पंक्त) का पवित्र करता है (जिस में बैठता
है), और अपने वंश के मातृ उपान्यों (पिता पितामहादि) को और
मातृ निचलों (पुत्र पौत्रादि) को पवित्र करता है, और वह अकेला
इस सारी भी पृथिवी (को ग्रहण करने) के योग्य होता है ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं वृद्धिविवर्धनम् ।

इदं यज्ञस्य मागुण्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

यह श्रेष्ठ स्वस्त्ययन (कल्याण प्राप्ति का द्वार) है, यह वृद्धि
का बढ़ाने वाला है, यह यज्ञ और दीर्घायु का लाने वाला है,
यह परम कल्याण (मोक्ष) का लाने वाला है ॥ १०६ ॥

आस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इस (शास्त्र) में धर्म पूर्णता से कहा गया है, और कर्मों के गुण दोष * और चारों ही वर्णों का सनातन आचार ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।

तस्मादास्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् ॥ १०८ ॥

श्रुति और स्मृति में कहा आचार परम धर्म है, इस लिये आत्मवान् (अपने आत्मा का मान रखने वाले) द्विज को इस (के पालन) में सदा सावधान होना चाहिये ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभागभवेत् ॥ १०९ ॥

वह ब्राह्मण, जो आचार से गिर गया है, वेद के फल (वेदोक्त कर्म फल) को नहीं पाता है, हाँ, जो आचार से युक्त है, वह पूरे फल का भागी होगा ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार मुनि धर्म की गति आचार से (नींव आचार पर) देख कर, तपों की उत्तम जड़ उन्होंने आचार को ग्रहण किया† ।

संगति—अब अध्याय की समाप्ति तक मनुस्मृति की विषय सूची देते हैं :-

* शुभाशुभकर्मों की प्रशंसा और निन्दा, वा कर्मों के अच्छे बुरे फल ।

† आचार पर देखो वासिष्ठ ६। १-८ ।

जगतश्चसमुत्पत्तिं संस्कार विधिमेव च ।

व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

(अध्याय पहलेमें) जगत् की उत्पत्ति (दूसरे में) संस्कारों का विधान (ब्रह्मचारियों की) व्रतचर्या, और (गुरु की ओर) आदर का वर्त्ताव, (तीसरे में) (गुरुकुल से छोटते समय) स्नान का उत्तम विधान ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥

स्त्री की प्राप्ति (विवाह) और विवाहों के लक्षण, महायज्ञों का विधान और सनातन श्राद्ध विधान ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नानकर्मव्रतानि च ।

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

(चौथे में) जीविकाओं के लक्षण, और स्नानकर्म के व्रत (पांचवें में) भक्ष्य अभक्ष्य, (सूतक पातक का) शौच, और द्रव्यों की शुद्धि ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं ग्रन्थाममेव च ।

राज्ञश्चधर्ममखिलं कार्याणां च धितिर्गवध् ॥ ११४ ॥

स्त्री धर्म का सम्बन्ध (छठे में) तपस्वियों (वानप्रस्थियों) का धर्म, और मोक्ष (का उपाय) और त्याग (सातवें में) राजा का पूर्ण धर्म (आठवें में) कार्यों (मरुद्वयों) के निर्णय का उपाय ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्म स्त्री पुंसयोगि ।

विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

साक्षियों से पूछने का विधान (नवें में) स्त्री पुरुष का धर्म, भाइयों के अलग होने का धर्म, जुआ (जुए से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म) और कांटों (दुष्ट मनुष्यों) का शोधन॥११५॥
वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भवम् ।

आपद्धर्मं च वर्णाणां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥११६॥

वैश्य और शूद्र का वर्त्ताव (दसवें में) संकर जातियों की उत्पत्ति, और वर्णों का आपद्धर्म, (ग्यारहवें में) प्रायश्चित्त का विधान है॥
संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् ।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥११७॥

(बारहवें में) तीन प्रकार की (सात्विकी, राजसी, तामसी) संसारगति (=पुनर्जन्म) जो (अच्छे बुरे) कर्मों से होती है, परम कल्याण (की प्राप्ति का उपाय) और कर्मों के गुण दोषकी परीक्षा॥
देशधर्माज्ञातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् ।

पाखण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥११८॥

(देश विशेष में नियत) देशधर्म, (जाति विशेष में नियत) जातिधर्म (कुल विशेष में नियत) कुलधर्म सनातन, वेद विरोधियों के धर्म और समुदायों (कम्पनियों) के धर्म मनु ने इस शास्त्र में कहे हैं ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाजशास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

जैसा कि मनु ने पूर्व मेरे पूछने पर यह शास्त्र बतलाया था तुम भी अब वैसा यह (सारा) मुझ से जानो ॥ ११९ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

विद्वद्धिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषर्गाग्निभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

धर्म, जो (वेद के) जाननेवाले, धर्मात्मा, सदा राग द्वेष से रहित पुरुषों से सेवन किया गया है और हृदय में अनुज्ञा दिया गया है, उसे जानो ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहात्म्यकामता ।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कामनामय होना अच्छा नहीं, और कामना से सर्वथा शून्य होना इस (जगत्) में है ही नहीं, सो वेद की प्राप्ति और वेद में कहा कर्मसम्बन्ध कामना करने योग्य है ॥ २ ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पमंभवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

कामना(इच्छा) की जड़ निःसन्देह संकल्प (इस से यह फल मिलेगा यह खयाल) है । यज्ञसंकल्प से उत्पन्न होते हैं । व्रत और यम धर्म (पावन्दियां) सब संकल्पजन्य माने हैं ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्त्वकामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

कामना से शून्य की कभी कोई क्रिया उग लोक में नहीं दीखती है, क्योंकि (मनुष्य) जो २ करता है वह २ कामना की चेष्टा है ॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकेताम् ।

यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

उन (कहे कर्मों) में जो ठीक वर्त्तता है * वह अमरावस्था को प्राप्त होता है और इस लोक में उन सारी कामनाओं को प्राप्त होता है । जिनको वह ख्याल करता है ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

वेद सारा धर्म का मूल है, और उस (वेद) के जाननेवालों की स्मृति और शील, और भलों का आचार, और आत्मा का संतोष ।

* वेदोक्त रीति से पालन करता है और कर्त्तव्य बुद्धि से पालन करता है, न कि फल की कामना से ॥

† मिलाओ वालिष्ठ १।४-६ ; गौतम १।१-४ ; २८।४८ आपस्तम्ब १।१।१।१-३ धौघायन १।१।३।१-६ याज्ञवल्क्य १।७ यहां शील और सदाचार दो अलग २ कहे हैं । गौतम धर्मसूत्र १।१।२ में शील कहा है, पर सदाचार अलग नहीं कहा, वसिष्ठादि में सदाचार कहा है, शील नहीं कहा, यहां भी आगे १२ में सदाचार कहा है, शील नहीं कहा । शील का भेद दिखलाने के लिए कुल्लूक ने हारीत के प्रमाण से यह १३ कर्म शील लिखे हैं । ब्रह्मण्यता, देव और पितरों में भक्ति, सौम्य स्वाभाव होना, किसी को संताप न देना, किसी से असूया न करना, मृदुता (नमी, हलीमी), सख्त न होना, मित्रता, प्रिय बोलना, कृतज्ञता, शरण देना, दया और शांति । पर वस्तुतः शील सदाचार के अंतर्गत ही है । जैसा कि आगे १२ में है । आत्मा का संतोष = जिस से करने में अपने आत्मा को भय शंका लज्जा न हो ॥

यः काश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वो ऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

जिस किसी (पुरुष) का जो कुछ धर्म मनु ने बतलाया है,
वह सारा वेद में कहा है क्योंकि वह (ऋषि) सर्वज्ञ (था) ॥७॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत् वै ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् (पुरुष) इस सब को ज्ञान के नेत्र से पूरा २
देखकर श्रुतिकी प्रमाणता अनुसार अपने धर्म में पक्का हो ॥८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

क्योंकि वह पुरुष जो श्रुति और स्मृति में कहे धर्म का
अनुष्ठान करता है, वह इस (लोक) में कीर्त्ति को प्राप्त होता
है, और मरने के पीछे सब से उत्तम सुख को ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वर्तौ ॥१०॥

श्रुति वेद ज्ञानना चाहिए (वेद का नाम है), और स्मृति
धर्मशास्त्र, यह दोनों सब विषयों में बिन बिचारे ग्रहण करने
योग्य हैं, क्योंकि इन दोनों से धर्म प्रकाशित हुआ है ॥ १० ॥

योज्वमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।

ससाधुभिर्बाहिष्कार्यो नाम्ति को वेदनिन्दकः ॥११॥

जो द्विज हेतुशास्त्र के आश्रय से इन दोनों (धर्म के) मूलों का

अपमान करे। उस नास्तिक को शिष्ट लोगों ने अलग कर देना चाहिए, जोकि वेदानन्दक है* ॥ ११ ॥

वेदःस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का सन्तोष, यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण कहते हैं† ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ और काम में न फंसे हुआओं के लिये धर्म का ज्ञान विधान किया है, धर्म के जिज्ञासुओं को परम प्रमाणश्रुति है‡ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्माविभौ स्मृतौ ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥१४॥

जहां फिर दो श्रुतियों का भेद हो, वहां वह दोनों धर्म माने गये हैं, क्योंकि बुद्धिमानों ने वह दोनों ही ठीक धर्म कहे हैं ¶ ॥

* हेतु शास्त्र = परलोक के अविश्वासी चार्वाकादि के शास्त्र तर्कों के ग्रन्थ ॥

† इसका पूर्वाध याज्ञ० १।७में ऐसा ही है। इनमें पूर्व२ बलवान् है। आत्म सन्तोष पर देखो आगे ४।१६१; ८।९२; १२।३७ ॥

‡ अर्थ काम में डूबे हुए धर्म करेंगे भी, तो दिखलावेका ॥

¶ जिस तरह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हुए भी दो योग (नुसखे) एक रोग को दूर कर सकते हैं। इसीतरह धर्म के दो सखे साधन भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होसकें हैं। पर यह आवश्यक है, कि जह विरोध भासे, वहां बलाबल को देखले। एक योग अनु-

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्यापते तथा ।

सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

सूर्योदय के समय, उदय से पहले (विरले तारों के समय)
वा उषा के समय (लाली पड़ने के समय) किसी भी समय
यज्ञ (अग्निहोत्र) होता है यह वैदिकी श्रुति (तत्ताती) है ॥१५॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेधिकारोऽस्मिन्नेषो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

गर्भाधान से लेकर श्मशान के कर्म (अन्त्येष्टि) पर्यन्त जिस
का मन्त्रों से कर्म बतलाया है, उसका (=द्विजोंका) इस शास्त्र
(के अभ्यास) में अधिकार जानो और किसी का नहीं*॥१६॥

भवी चिकित्सक का है, और दूसरा नीम हकीम का, तो वहां
विरोध में, न केवल विरोध में, अपि । भद में भी, अनुभवीका बर्तना
चाहिये । जहां दोनों एक जैसों के कहें हुए हैं, या एक ही के कहे
हुए हैं, वहां दोनों में से कोई एक लिया जासकता है । यही नियम
धर्म में भी है । आत्म सन्तोष से सदाचार, सदाचार से स्मृति,
स्मृति से श्रुति बलवती है । पर जहां दो श्रुतियों में विरोध भासे,
वहां तुल्य बल होने से विकल्प होता है (दोनों में से कोई एक अनुष्ठेय
होता है) इसीप्रकार दोनों स्मृतियों के विरोध में भी । जैसा कि
गौतम १।१।५ में कहा है “ तुल्यबलविशेषे विकल्पः ” =तुल्य
बल वालों के विरोध में विकल्प होता है ॥

* अभ्यापन पूर्व (१।१०३ में) ब्राह्मण के लिए ही कहा
है । पढ़ने का अधिकार यहां तीनों द्विज वर्णों को दिया है । और
इसमें कहे अपने २ धर्मानुष्ठान का अधिकार सब को है, तथापि
स्त्री शूद्र को—जिनको आगे (२।६६ और १०।१२७) में समन्वक
संस्कारकी आज्ञा नहीं दी, स्मृति के अभ्यास से रोकना, उस समय
के घटते उत्साह का चिन्ह है ॥

संगति-धर्मानुष्ठान के योग्य देशों (जिनमें उस समय वर्त्म प्रधान लोग बसते थे) को कहते हैं ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवानिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तप्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती और दृषद्वती इन दो देवनदियों के जो मध्य में है, उस, देवताओं के रचे देश को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः परम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

उस देश में (वर्णों का और अन्तर्गत्तों का) जो आचार परम्परा क्रम से आया है (न कि अब का है), वह सदाचार (धर्मात्माओं का आचार) कहलाता है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल शूरसेनक, * यह ब्रह्मर्षि देश है, जो ब्रह्मावर्त्त से आगे उसके साथ है ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादप्यजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण के पाम से पृथिवी पर के सभी मनुष्य अपना २ आचार सीखें ॥ २० ॥

* कुरुक्षेत्र यानेवर से दक्षिण कुरुपाण्डवों के युद्ध का प्रसिद्ध स्थल । मत्स्य = धौलपुर के पच्छिम में मत्स्य क्षत्रियों के इलाके । पञ्चाल पञ्चालों के इलाके गंगादाब । शूरसेनक = शूरसेनकों के इलाके मथुरा के निकट ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्भिनशनादापि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य (का देश) जो विन-
शान (जहां मरुत्वती (हिस्सार के इलाके में) छिपी है) से पूर्व
और प्रयाग से पश्चिम है, वह मध्यदेश कहा है ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधा ॥ २२ ॥

पूर्व के समुद्र तक और पश्चिम के समुद्र तक इन दोनों पर्वतों
(हिमालय, विन्ध्याचल) के मध्य (देश) को विद्वान् आर्या-
वर्त्त जानते हैं * ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

काला हरिण, जहां स्वभाव से (नकि पकड़कर लाया हुआ)
विचरता है, वह देश यज्ञ (करने) के योग्य जानना चाहिए, इस
से आगे म्लेच्छ देश है † ॥ २३ ॥

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥

द्विजों को चाहिए, कि प्रयत्न से इन देशों का आश्रय लें, ‡
हां शूद्र जीविका से तंग हुआ जहां कहीं बसे ॥ २४ ॥

* वासि० १।९ बौघा १।२।२०

† वासिष्ठ १। १३-१५; बौघा ० १। २। १२-१५; या० १। २।

‡ इस से भी उस्ताह मन्द हुआ प्रतीत होता है, एक धर्म के

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।

संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह धर्म का मूल तुम्हें संक्षेप से कह दिया है और इस विश्व की उत्पत्ति, अब वर्णों के धर्मों को जानो ॥ २५ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

वैदिक पावित्र कर्मों से द्विजों का गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिए, जो इस लोक और परलोक में पावित्र करनेवाला है *

गर्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।

बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ सम्बंधी † होम, जातकर्म, चूड़ाकर्म, और उपनयन के द्वारा द्विजों का बीज और गर्भ से आनेवाला दोष दूर होता है ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

(प्रतिदिन के) स्वाध्याय से, व्रतों से (ब्रह्मचारी वा स्नातक के लिए कहे व्रतों से) (नैसिक) होमों से, त्रयी विद्या में निपुणता से (दर्शादि) श्रष्टियों से, पुत्रों से (पञ्च) महायज्ञों से और यज्ञों से यह (मानुष) शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २८ ॥

बिश्वास से परिपूरित हृदय जहाँ कहीं जाएगा, अपने धर्मको अटल रखेगा और औरों को धर्मात्मा बनाएगा ॥

* २६-३५ मिलामो गौतम ८।१४-२० वि२७; १-१२; या० १.१०,-१३

† गर्भ सम्बन्धी गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नाङ्क छेदन से पहिले पुरुष का जातकर्म किया जाता है और तब इसे सोना शहद और घी का खिलाना होता है * ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

दशवें वा बारहवें दिन (पिता) इसका नाम कराए, अथवा अच्छे तिथि मुहूर्त वा गुणयुक्त नक्षत्र में † ॥ ३० ॥

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण का (नाम) मंगल सूचक हो, क्षत्रिय का बल से युक्त, वैश्य का धन से युक्त, शूद्र का निन्दावाला ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षामन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेम्णसंयुतम् ॥ ३२ ॥

(नाम का दूसरा भाग) ब्राह्मण का सुखवाला हो, क्षत्रिय का रक्षा से युक्त, वैश्य का पुष्टि से युक्त और शूद्र का दासपन से युक्त हो ‡ ॥ ३२ ॥

स्त्रीणांसुखेद्यमक्रूरं विस्पृष्टार्थं मनोहरम् ।

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तप्राशीर्वाशमिवाभवत् ॥ ३३ ॥

* आश्वलायन गृह्य १।१५।०, पारस्कर १।१६।४

† आश्व० १।१५।४ १० और पार० १।१७।१-६ ॥

‡ ब्राह्मण का अन्त्यपद शर्मा, क्षत्रिय का वर्मा, वैश्य का गुप्त शूद्र का दास वा इन्हीं अर्थों का बोधक कोई और शब्द हो ॥

स्त्रियों का आसानी से बोला जाने वाला अकूर (नर्म), स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मंगलवाची, अन्त में दीर्घ स्वर वाला आशीर्वाद का कहनेवाला हो (जैसे यशोदा देवी) ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ॥ ३४ ॥

चौथे महीने बच्चे का घर से (पहलेपहल) बाहर निकालना, (निष्क्रमण) और छठे महीने अन्नप्राशन (पहिले पहल अन्न खिलाना) करना चाहिए, अथवा कुल में जैसा मङ्गल माना हुआ है * ॥ ३४ ॥

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

श्रुति के उपदेशों से चूड़ाकर्म सभी द्विजों का कुल धर्मानुसार पहले वा तीसरे बरस करना चाहिये† ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

गर्भ से आठवें बरस ब्राह्मण का उपनयन करे, गर्भ से ग्यारहवें क्षत्रिय का, गर्भ से बारहवें वैश्य का ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

ब्रह्मतेज चाहने वाले ब्राह्मण का पांचवें, बल चाहने वाले

* आश्व० १।१६ पारस्कर १।१७।५; १।१९।१—६ ॥

† आश्व० १।१७।१; पार० २।१ ॥

क्षत्रिय का छटे, और धन चाहने वाले वैश्यका आठवें (करे)*३७

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आद्वाविंशात्क्षत्रवन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह बरस तक ब्राह्मण की सावित्री (गायत्री=गायत्री
उपदेश का समय) छेघ, नहीं जाता, बाईस तक क्षत्रिय की,
चौबीस तक वैश्य की ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

इससे आगे यह तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अपने समय
पर (उपनयन) संस्कार रहित हुए, सावित्री से पतित, आर्यों
से निन्दित, ब्राह्मण कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपिहि कर्हिचित् ।

ब्राह्मण्यौनांश्चसंबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

(यदि) यह यथाविधि पाबित्र न हों (मायश्चित्त न
करें) तो इनके साथ कोई ब्राह्मण कभी भी वेद का वा विवाह
का सम्बन्ध न करे ॥ ४० ॥

काष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।

वसीरन्नानुपूव्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचारी (अपनी जाति के) क्रम से काले हिरण, चित-

* ३६, ३७ वासिष्ठ २।३; ११।४९-७३ गौतम १।५-७८-१४
आप १।१।५।८-२१ बौध्वा १।३।७-१२ याज्ञ १।१४
विष्णु २७।१५-१८ ॥

कबरे हिरण और बकरे के चर्म को (दुपट्टे की जगह) पहनें,
और सन, अलसी और ऊन का अधोवस्त्र पहनें * ॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृतसमा श्लक्षणा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण की मेखला (तड़ागी) तीन लड़ी की, एक जैमी, नर्म
बनानी चाहिए, क्षत्रिय की मूर्वा (घास) की (धनुष के) चिछे
(गोशे) जैसी, वैश्य की सन के डोरे की † ॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

यादि मुञ्ज (मूर्वा और सन) न मिले, तो कुशा, अश्मन्तक
और बल्वज घास की (मेखला) अपनी कुल मर्यादा के अनुसार
तीनलड़ों की एक गांठ, वा तीन वा पांचमे युक्त बनानी चाहिए ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण का जनेऊ तीन लड़ का ऊपर को बटाहुआ कपासका
हो, क्षत्रियका सनके सूतका, वैश्यका भेड़के सूत (ऊन) का ‡ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौक्षत्रियो वाटस्वादिशै ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

* मिलाओ वासि० ११। ६१-६७ गौतम १। १६-२१; आप
१। २। ३८-३९, बौधायन १। ३। १४ विष्णु २७। १९-२० ॥

† वासि० ११। ५८-६० गौतम १। १५; आप० १। २। ३३-३७; बौधायन १। ३। १३। विष्णु २७। १८ याज्ञ० १। २९ ॥

‡ वासि० १२। १४; गौतम १। ३६ आप० २। ४। २२;
बौधायन १। ५। ५; विष्णु २७। १९ ॥

ब्राह्मण बिल्व वा ढाक का, क्षत्रिय का बड़ वा खैर का,
और वैश्य पीलु वा गूलर का दण्ड (धारने) योग्य है * ॥४५॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिकोविशः ॥४६॥

ब्राह्मण का दण्ड लम्बाई में (सिर के) वालों तक बनाना
चाहिये ; क्षत्रियका माथे तक, और वैश्यका नाक तक ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणा सत्वचो नामिदूषिताः ॥ ४७ ॥

वह (दण्ड) सब सीधे, बिना दाग, दीखने में सुन्दर हों मनुष्यों
को उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों + बकलेवाले हों, अग्नि से
दूषित हुए न हों ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्योपसितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अभीष्ट दण्ड को लेकर, सूर्य को उपस्थान कर, अग्नि की
प्रदक्षिणा करके यथाविधि भिक्षाचरण करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।

भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

उपनीत ब्राह्मण (भवति भिक्षां देहि, इसप्रकार) पहले भवत्
लगाकर भिक्षाचरण करे, क्षत्रिय भवत् मध्यमें लगाकर (भिक्षां
भवति) देहि वैश्य भवत् अन्त में लगा कर (भिक्षा देहि भवति) ४९

* ४५-४७ वासि० ११। ५२-५७ गौतम १। २२ आप० १।

२। ३८ बौचा० १। ३। १५; विष्णु २७। २२-२४; या० १। २९॥

+ गूलरदरेपन आदि दोषों से मनको अनमित न हों, वा बराबरेन हों ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं याचैनं नावमानयेत् ॥५०॥

माता, बहिन वा माता की सगी बहिन, से पहले भिक्षा मांगे,
जो इसका अपमान न करे ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्वैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरुवेऽश्रियादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

वह भिक्षा अपने खाने योग्य लाकर बिना छल गुरु को
निवेदन कर शुद्ध हो पूर्वाभिमुख हो, आचमन करके खावे ॥५१॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्तेऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥५२॥

पूर्वाभिमुख होकर खाना आयु के लिये हितकर है,
दक्षिण मुख यश के लिये; पश्चिम मुख धन के लिए और उत्तर
मुख सत्य के लिये है ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।

भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगाद्विःखानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

द्विज को सदा (ब्रह्मचर्य में और पीछे भी) आचमन करके
मन को एकाग्र करके अन्न खाना चाहिये । और जल से (शिर के)
इन्द्रियों का स्पर्श करना चाहिये ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

अन्न का सदा आदर करे, और न निन्दता हुआ खावे, देख
कर हर्षित हो, मुख खिल जाए और सदा उसका स्वागत करे ।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि आदर किया हुआ अन्न सदा बल और प्राक्रम देता है, और अनादरसे खाया हुआ वह इन दोनों का नाश करता है ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।

न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ ५६ ॥

जूठ किसी को न दे, और न ही (दिनरात के दो भोजनों के) मध्य में भोजन खाए, न बहुत खाए न जूठ मुँह कहीं जाए ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

बहुत खाना, अरोगता और आयु को हानिकारक है, और स्वर्ग का विरोधी है, पुण्य का विरोधी है, लोक में निन्दित है इस लिये इसे त्यागे ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मण (भ्रात्रिय, और वैश्य) ब्राह्म तीर्थ से वा प्राजापत्य-वा दैव, (तीर्थ) से सदा आचमन करे, पित्र्य से कभी नहीं ॥ ५८ ॥

अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्म तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमंगुलिमूलेऽप्रे दैवं पित्र्यं तयोऽर्धः ॥ ५९ ॥

* ५८-६२। वासि० ३। २६-३४; आप० १। ५। १-१६
बौचा० १। ८। १२-२३; याज्ञ० १। १८-२१ ॥

अंगूठे की जड़ के नीचे ब्राह्म तीर्थ कहते हैं, अंगुलियों की जड़ में प्राजापत्य और अग्र में दैव, उन दोनों (अंगूठा और अंगुलियों के) नीचे पित्र्य ॥ ५९ ॥

त्रिगचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैव स्पृशेदद्भिर्मात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

(आचमन का प्रकार यह है) पहले तीनबार आचमन करे, फिर दो बार (अंगूठे से होंट मिले हुए) मुख को पोंछे, जल से (सिरके) इन्द्रियों का स्पर्शकरे, और हृदय और सिर का भी ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिर्स्तीर्थेन धर्मवित् ।

शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

पवित्रता चाहता हुआ धर्मवेत्ता एकान्त में पूर्व वा उत्तरमुख हुआ गर्म न किये हुए स्नाग रहित जलों से (ब्राह्मादि) तीर्थ द्वारा सदा आचमन करे ॥ ६१ ॥

हृद्भाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।

वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण हृदय तक पहुंचने वाले, क्षत्रिय कण्ठ तक पहुंचने वाले, वैश्य मुंह में ढाले, शूद्र होठों के अन्त में छुए जलों से पवित्र होता है ॥ ६२ ॥

उदधृते दाक्षिणे पाणानुपवीत्युच्यते द्विजः ।

सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

जब दायां हाथ (जनेऊ से) बाहर निकला हो (अर्थात् बाएं कन्धे पर हो, और दाई ओर लटकता हो) तो द्विज “उप-

वीति” कहलाता है, बायां (हाथ बाहर) हो (दाएं कन्धे पर हो और बाईं ओर लटकता हो) तो “ प्राचीनावीति ” और जब (सीधा) कण्ठ में लटकता हो, तो ‘ निवीति ’ कहलाता है ॥६३॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

मेखला, (ओढ़ने का) चर्म, दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु जब खराब (टूट फूट वा रद्दी) होजाएँ, तो जल में फेंककर और मन्त्र के साथ लेवे* ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्याधिके ततः ॥६५॥

केशान्त (बालों का काटना) संस्कार ब्राह्मण का सोलहवें सत्रिय का बाईसवें, वैश्य का उससे दो अधिक (= चौबीसवें), वर्ष किया जाता है † ॥ ६५ ॥

अमान्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

यह (जातकर्मादि) सारी रीति अपने २ समय पर अपने २ क्रम से शरीर के संस्कार के लिये स्त्रियों की भी बिना मन्त्रों के करनी चाहिए ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपारिक्रिया ॥ ६७ ॥

* बौध्वा० १।८।५—१०।१ बाघ्वी० १।६।७। विष्णु २७—२९

† याज्ञ० १।३६; ३ इस संस्कारका नाम गोदान भी है। देखो आश्व० सू० १।१८। पार० २१।३—७ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्र मुदङ्मुखः ।

ब्रह्माञ्जलिंकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥७०॥

(वेद) पढ़ने के लिये तय्यार हो शास्त्रानुसार आचमन कर उत्तरमुख हुए ब्रह्माञ्जलि किये हलके वस्त्र पहने इन्द्रियों को बस में किये (शिष्य) को पढ़ाना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।

संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥७१॥

वेद (के पढ़ने) के आरम्भ में और समाप्ति में गुरु के सदा पैर पकड़े, और दोनों हाथ जोड़कर पढ़े, यह ब्रह्माञ्जलि (वेद के अर्थ अञ्जलि) कही है*॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

हाथों को अदल बदल कर † गुरु के (पैर) पकड़ने चाहिएं, बाएं हाथ से बायां और दाएं से दायां छूना चाहिये ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

पढ़ने को तय्यार हुए (शिष्य) को गुरु सदा आलस्य रहित होकर ' हां पढो ' ऐसा कहे ‡ और ' बस हो ' ऐसा कहकर बस करे ॥

* आप० १।५।१९-२३ बौध्वा० १।३।२८ चिष्णु २८।१४-१६

† बाएं हाथ की कलाई के ऊपर से दायां हाथ निकालले, जिस से कि दाएं हाथ से दायां और बाएं से बायां पैर छुआ जाए ॥

‡ नारायण ने ' अध्येष्यमाणस्तु गुरुम् ' पाठ पढ़कर, पढ़ने

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

सर्वत्यऽनोक्तं पर्व परस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

वेद के (पढ़ने में) आरम्भ और समाप्ति में सदा ओंकार करे, (क्योंकि) जिस के पहले ओम् नहीं किया, वह फिसल जाता है, और पीछे (नहीं किया) तो बिखर जाता है * ॥७४॥

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामै स्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥

जब पूर्व को अग्रवाली कुशाओं पर बैठ गया है, और (दोनों हाथों में पढ़ने कुशा के) पवित्रों द्वारा पवित्र किया गया है और तीन प्राणायामों से पवित्र हुआ है, तब ओंकार के योग्य होता है † ॥७५॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयानि सदृहदभूभुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

ब्रह्मा ने अ, उ, म (जिनसे ओम् बना है) और 'भूः, भुवः, स्वः' यह (तीन महान्याहृतियां) तीन वेद से दोहीं ‡ ॥ ७६ ॥

त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः पादं पादमद्वदुहत् ।

तद्विद्युन्नोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

लगा (शिष्य गुरु) को ' अधीश्वभो ' कहे । यह गौतम १।४९ से मिलता है और तैत्ति० उप० में भृगु ने वरुण को ऐसे ही कहा है ॥

* गौतम १।५८; आप० १।१३।६-७; विष्णु० ३० : ३३

† १-५०, ५२; याज्ञ० १।२३ ॥

‡ विष्णु ५५।१०

परम आकाश में (स्थित) ब्रह्मा ने 'तव' इत्यादि सावित्री ऋचा का पाद पाद तीनों वेदों से दोहा ॥ * ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्योर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इम अक्षर (ओम्) को, और व्याहृतियों पूर्व लगाकर इस (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओं में जपता हुआ वेदवेत्ता ब्राह्मण (आदि) वेद के पुण्य से युक्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।

महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

इस त्रिक (ओम्, व्याहृति, और सावित्री) को (ग्राम से) बाहर (प्रतिदिन) हजार बार जपने से द्विज बड़े भारी पाप से भी इसतरह छूट जाता है, जैसे साँप कैचुली से ‡ ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वयी ।

ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो इस ऋचा के जप, और समय पर अपने कर्म से (जो उनके लिए बतलाए हैं) अलग रहता है, वह भलों में निन्दा को प्राप्त होता है § ॥ ८० ॥

* विष्णु ५५।२। सावित्री जिसका देवता सवितृ है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र ऋग्वेद ३।६२।१० ॥

† विष्णु ५५।१२ बाष्पा० २।२।६ ‡ वासि० २६।४ बाष्पा० ४।६।२९ विष्णु ५५।१३ ॥

§ ८०-८७ मिलाओ विष्णु ५५।१४-२१ ॥

ओंङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयो ऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ओंकार पूर्वक तीन नाश न होनेवाली महाव्याहृतियों और तीन पादवाली सावित्री यह ब्रह्म का मुख (वेद का आरम्भ, वा परमात्मा का प्राप्ति का द्वार) जानना चाहिये*॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्येहन्येतां स्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

जो इन तीनों का सावधानी से प्रतिदिन पाठ करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायु की तरह (यथेष्ट विचरता है) और आकाश शरीरी (=शुद्ध निर्लेप) होता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परन्तपः ।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यंविशिष्यते ॥ ८३ ॥

एक अक्षर (ओम्) परब्रह्म है, प्राणायाम उत्तम तप है, सावित्री से उत्तम कुछ नहीं है, चुप से सच बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

वेद में कहे सब होम यज्ञ कर्म नाशवान् हैं (उनका फल नाश वाला है) पर अक्षर (ओम्) अविनाशी ब्रह्म जानना चाहिए, जोकि प्रजा का पति है ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाजपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

उपांशुःस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसःस्मृतः ॥ ८५ ॥

* आहव० ३।२।३ आप० १।१३।६ ॥

(ओम् व्याहृति और सावित्री के) जप का कर्म विधियज्ञ = ज्योतिष्ठोम आदि) से दसगुना उत्तम होता है, वही फिर त्रैगुना (उत्तम होता है) जब धीमी आवाज़ से किया जाए, और हजार गुणा (उत्तम होता है) जब मन में किया जाए ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

चारों पाकयज्ञ, विधि यज्ञों के समेत, यह सब मिलकर जप यज्ञ की सोलहवीं कला (सोलहवें भाग) के बराबर नहीं होते* ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु सांसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मणउच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि पाता है, इसमें संशय नहीं और कुछ करे चाहे न करे । क्योंकि जो सूर्य तुल्य है, वह सच्चा ब्राह्मण कहलाता है † ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचेरतां विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

* ८५-८६ वासि० २६।९-१०। चार पाकयज्ञ जो आगे (३। ७० में) कहे पांच महायज्ञों में से देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्व और नृयज्ञ हैं । पाकयज्ञ और विधियज्ञ अर्थात् गृह्य और श्रौतयज्ञ ॥

† वासि० २६।११। मैत्रः=मित्र=सूर्य, मैत्रः सूर्य तुल्य । जो सूर्यवत् ब्रह्मवर्चस से चमकता है । ब्रह्मवर्चस सावित्री जप से बढ़ता है । ' तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री ' (सम्पादक) मैत्र-मित्र । जो सब का मित्र है । वह ब्रह्म में लीन होता है ॥ (कुल्लूक)

खींचनेवाले विषयों में विचरते हुए इन्द्रियों के रोकने में विद्वान् यत्न करे, जैसे सारथि घोड़ों के (रोकने में) * ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।

तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

ग्यारह इन्द्रिय जो पहले विद्वानों ने कहे हैं, उनको ठीक उसी तरह अनुक्रम से कहूंगा ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

कान, त्वचा, आंखें, जीभ और पांचवां नाक । और गुदा उपस्थ, हाथ और पाओं और दसवीं बाणी कही है ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रवक्षते ॥ ९१ ॥

इनमें से क्रमवार कान आदि पांच को ज्ञानेन्द्रिय (ज्ञान के इन्द्रिय) और गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय (कर्म करने के इन्द्रिय) कहते हैं ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।

यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

ग्यारहवां मन जानो, जो अपने गुण (संकल्प) से दोनों शक्तियोंवाला (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक) है, जिसके जीते जाने पर यह दोनों पांच के समूह जीते जाते हैं ॥ ९२ ॥

* विषय इन्द्रियों की अपनी ओर खींचते हैं और इन्द्रिय उन की ओर भागते हैं । इसलिये रोकने में सावधान रहे ॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यऽसंशयम् ।

सन्नियस्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

इन्द्रियों के लगाव से पुरुष निःसन्देह दोष को प्राप्त होता है।
हां यही हैं, जिनको फिर वशमें करके सिद्धि को प्राप्त होता है ॥९३॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हवर्षा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

कामना कभी विषयों के उपभोग से शान्त नहीं होती है,
(जलटा) घी से अग्नि की तरह अधिक ही बढ़ती है ॥ ९४ ॥

यश्चेतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चेतान्केवलांस्त्यजेत् ।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो इन सब को पालेवे, और जो इन सब को त्याग देवे, सब
कामनाओं की प्राप्ति से उन का त्याग ही बढ़कर होता है ॥९५॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथाज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

यह (इन्द्रिय) जो विषयों में पूरा प्रेम रखते हैं,
(विषयों के) असेवन से बस में नहीं किये जासक्ते, जैसे कि सदा
(सच्चे) ज्ञान (=विचार) से ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

वेद, दान, यज्ञ नियम और तप यह दोषों से भरी हुई वासना
वाले के कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

जो पुरुष सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर वा सूँघकर न
हर्ष करता है, न ग्लानि करता है, उसको जितेन्द्रिय जानो ॥९८॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।

तेनास्यक्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

पर सारे इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय बह निकलता
है, तो उससे इसकी (इन्द्रियों पर काबू रखने की) समझ बह
जाती है, जैसे (छेद द्वारा) चमड़े के पात्र से पानी ॥ ९९ ॥
वशेकृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।

सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिप्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

इन्द्रियों के गण को बस में करके, तथा मनको बस में करके
शरीरको बिना पीड़ा दिए युक्तिसे सारे कार्योंको साधे ॥१००॥

पूर्वा सन्ध्यां जपं स्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यग्भूषाविभावनात् ॥ १०१ ॥

पहली (=मातः) सन्ध्या में (सावित्री को) जपता हुआ सूर्य
के दर्शन होने तक खड़ा रहे, और पिछली में भली भान्ति तारों
के स्पष्ट दीखने तक बैठकर (जप करे) * ॥ १०१ ॥

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनोव्यपोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्तिदिवाकृतम् ॥१०२॥

* वासि० ७।१६; गौतम २।१०-११; बिष्णु २८।२-३;
याज्ञ० १।२४-२५ ॥

पहली सन्ध्या में खड़ा होकर जप करता हुआ रात्रि के पाप को दूर करता है, और पिछली में बैठा हुआ दिन के किये पाप को नष्ट करता है * ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥१०३॥

जो पहली सन्ध्या में नहीं खड़ा होता है, और जो पिछली सन्ध्या को नहीं उपासता है, उसको शूद्र की तरह द्विजों के सारे कर्त्तव्य से अलग कर देना चाहिये ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीर्यति गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

वह जो नित्य (के स्वाध्याय) की विधि को पूरा करना चाहता है, जंगल में जाकर जल के समीप इन्द्रियों को बस में करके एकाग्र (चित्त) होकर चाहे † गायत्री का ही पाठकरे ॥१०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुसोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेद के उपसाधन (अङ्ग उपाङ्ग) में, और नैत्यक स्वाध्याय और होम के मन्त्रों में अनध्याय की रुकावट नहीं है ॥ १०५ ॥

* वासि० २६। २-३ ; यहां अज्ञात पाप से अभिप्राय है ।
अन्यथा प्रायश्चित्ताध्याय व्यर्थ ठहरता है । (मेधा० गोवि०) ॥

† चाहे=यदि और वेदमन्त्रों का स्वाध्याय करने के असमर्थ है, तो गायत्रीमात्र का ही स्वाध्यायकरे, पर करे अवश्य, इससे ही उसका नैत्यक ब्रह्मचर्य पूरा होजायगा ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

नैत्यक (स्वाध्याय) में अनध्याय नहीं होता, क्योंकि (लगा-
तार चलने से) वह ब्रह्म सत्र माना गया है, जिसमें वेदमन्त्र रूपी आ-
हुति होनी जरूरी है, और अनध्याय ही वषट् किया जा रहा है* ॥ १०६

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

वह जो इन्द्रियों को बस में करके पावित्र्य हो विधि अनुसार
एक वर्ष (भी) स्वाध्याय पढ़ता है, वह (स्वाध्याय) उसके (घर)
दूध, दही, घी, शहद को निस बहाता † है ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः ॥ १०८ ॥

* अनध्याय वह दिन वा काल जिनमें वेद नहीं पढ़ा जाता,
यह आगे चौथे अध्याय में कहेंगे । पर वह अनध्याय नित्य के
स्वाध्याय को नहीं रोक सके, क्योंकि नित्य का स्वाध्याय शतपथ में
ब्रह्मसत्र कहा है । सत्र लम्बा यज्ञ लगातार प्रतिदिन होता है, यदि
उसमें अनध्याय मानें, तो उसकी अखण्डता खण्डित होजाए, इस
लिये उसमें अनध्याय का अनुरोध नहीं होता, सत्र में जो आहुतियां
होती हैं, उसके स्थान यहां ब्रह्मसत्र में मन्त्र ही आहुतियां हैं, और
आहुति देते समय जो 'वौ षट्' कहा जाता है । उसका वह वौषट्
यहां अनध्याय में अध्ययन ही है । पञ्च महावशों को महा सत्र
शत० ब्रा० १।१।१-३ में कहा है ॥

† विष्णु २५।३४-३८, याज्ञ० १।४१-४६ ॥

उपनयन किया द्विज समावर्त्तन (संस्कार) * पर्यन्त, अग्नि में समिधा होम, भीख का मांगना, नीचे सोना, और गुरु की भलाई करता रहे † ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकःशुचिः ।

आप्तःशक्तोऽर्थदःसाधुःस्वोऽप्याप्यादशधर्मतः॥१०९॥

आचार्य का पुत्र, सेवा करनेवाला, (पलटे में) ज्ञान देने वाला, धर्मात्मा, शुद्ध, आप्त (सम्बन्धी वा मित्र), (ग्रहण धारण में) समर्थ, धन देनेवाला, परोपकारी, ज्ञाति यह दस धर्म से (वेद) पढ़ाने योग्य हैं ‡ ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिदब्रूयान्न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपिहि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ११० ॥

अधर्मेण चयः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥

बिना पूछे किसी को (उसके पाठकी अशुद्धि) न कहें, (पर शिष्य को बिना पूछे भी कहे) और न ही आविधि से (श्रद्धादि न रख कर) पूछते हुए को कहे, जानता हुआ भी बुद्धिमान लोक में अनजान सा रहे § ॥ ११० ॥ जो अधर्म से बतलाता

* समावर्त्तन देखो आगे ३।३-४ † वासि० ७।९-१५।

विष्णु २८।४; ७; ९; १२। याज्ञ० १।२५ ॥

‡ याज्ञ० १।२८ धर्म से = इनको अवश्य पढ़ाया जाए, इनका पढ़ाना धर्म है, (मेधा, गोविन्द, नारा०) ॥ § वासि० २।१२

है, और जो अधर्म से पूछता है, उन में से एक मरजाता है, वा विद्वेष को प्राप्त होता है * ॥ १११ ॥

धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।

तत्र विद्या न वसन्त्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

जहां धर्म और अर्थ (=लौकिक लाभ) न हो, वा (जैसी श्रद्धा से चाहिए) वैसी सेवा न हो, वहां (वेद) विद्या नहीं बोनी चाहिए, जैसे अच्छा बीज ऊसर (कालर) में ॥ ११२ ॥

विद्यैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।

आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेद पढ़ानेवाला विद्या को साथ ही लेकर बेशक मर जाए, पर घोर आपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोए ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमाः ॥ ११४ ॥

विद्यार्थब्राह्मण के पास आई और कहा 'मैं तेरी निधि हूँ' मेरी रक्षा कर, असूया (मेरी इकारत) करनेवाले को मुझे मत दे, इस प्रकार (रक्षित हुई) मैं शक्तिवाली हूँगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम् ।

तस्मै मा ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥ ११५ ॥

* यदि बतलाने वाला अधर्म से बतलाता है, तो वह, और यदि पूछनेवाला अधर्म से पूछता है, तो वह मरता है, वा दूसरे के द्वेष का पात्र बनता है, यदि दोनों ही अधर्म पर हैं, तो दोनों ही मरते वा एक दूसरे के विद्वेष के पात्र बनते हैं ।

† विष्णु २८।८ ॥

‡ ११४-११५ वासि० २।८-१० निक० २।४; विष्णु २९।९-१०

हां (तेरे) निधि के रक्षक, प्रमाद से बचे हुए ऐसे ब्राह्मण को
निःसन्देह मेरा उपदेश दे, जिसको तू शुद्ध जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी समझे ।

ब्रह्मयस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

जो (कोई किसी) पढ़ते हुए से उसकी अनुज्ञा के बिना वेद
को छालेवे, वह वेद की चोरी (के पाप) से युक्त हुआ नरक को
प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेवच ।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमाभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

जिससे लौकिक, वैदिक, वा आत्मा का ज्ञान लेवे, उसको
(बहुत मान्यों के मेल में) पहले प्रणाम करे, (तीनों के मेल में
अगला २ वन्दनीय है) ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।

नायान्त्रित स्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

वह ब्राह्मण जो अपने ऊपर पूरा बस रखता है, वह सावित्री
मात्र जानने जपनेवाला भी अच्छा है, न कि तीनों वेदों का जानने
वाला भी, जो अपने ऊपर बस नहीं रखता, सब कुछ खाता है,
और सब कुछ बेचता है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।

शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

अपने से अधिक (विद्यावाला वा गुरु) जिस शय्या और आसन पर बैठे हों, उस पर न बैठे, और (आप) शय्या वा आसन पर बैठा हो, तो उठकर उसे प्रणाम करे ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्व प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनःस्थविर आयाति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यांपुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

क्योंकि जब कोई बड़ा आता है, तो युवा के प्राण ऊपर को उभरते हैं, वह आगे जाकर मिलने और नमस्कार करने से उन (प्राणों) को फिर ठीक करता है ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

जो बड़ों को नमस्कार करने के स्वभाववाला है और प्रतिदिन उनके पास उठने बैठनेवाला है, उसकी चार (वस्तुएं) बढ़ती हैं । आयु, विद्या, यश और बल ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

बड़े को अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण (आदि) अभिवादनसे परे 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' इसप्रकार अपना नाम उच्चारें* ॥ नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।

तान्प्राज्ञोहमितिब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

* वासि० १३।४४; गौतम० ६।५; विष्णु २८ १७ याज्ञ० १।२६। अभिवादन से परे अर्थात् ' अभिवाद्य ' शब्द से परे ॥

जो कोई (बड़े) नाम (उचार कर) के अभिवादन को नहीं समझते हैं, उनको बुद्धिमान् 'मैं' यह कहे, तथा सब स्त्रियों को भी

भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादाने ।

नाम्नांस्वरूपभावोहिभोभाव ऋषिभिःस्मृतः ॥१२४॥

अभिवादन में अपने नाम के अन्त में 'भोः' शब्द उचारे, क्योंकि ऋषियों ने 'भोः' को सारे विशेष नामों का स्वरूप माना है*॥१२४॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यःपूर्वाक्षरःप्लुतः ॥१२५॥

अभिवादन करने पर ब्राह्मणको 'दीर्घ आयुवाला हो हे सौम्य' यह उत्तर में कहे और इसके नाम के अन्त में (व्यञ्जन से) पूर्व "अ" प्लुत कहे (आयुष्मान् भव सौम्य शुभ शर्म इन्) ॥१२४॥

यो न वेच्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथाशूद्रस्तथैव सः ॥१२६॥

जो ब्राह्मण अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देने का पूर्वोक्त प्रकार नहीं जानता है, उसे विद्वान् नमस्कार न करे, जैसा शूद्र है, वैसा वह है (इससे सिद्ध है, कि शूद्र को पूर्वोक्त अभिवादन नहीं किया जाता था) ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रवन्धुमनामयम् ।

वैश्यं क्षेम समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

* बड़ों के नाम की जगह ' भोः ' (Honourable Sir) कहे ' अभिवाद्ये यन्न शर्मो ह भोः ' मिलाओ विष्णु २८ । १७ ॥

ब्राह्मण को मिलकर (उसकी अरोगता के लिये) कुशल पूछे, सत्रियको अनामय वैश्यको क्षेम और शूद्रको आरोग्य ॥१२७॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।

भोभवत्पूर्वकं त्वेनमाभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

सोम (यज्ञ में) जो दीक्षित है, वह चाहे छोटा भी हो उसे नाम लेकर न बुलाए, किन्तु धर्म को जानने वाला, उसे भोः वा 'भवत्' कह कर बुलाए * ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।

तां ब्रयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो स्त्री दूसरे की पत्नी है, और योनि सम्बन्ध (लहू के रिश्ते) वाली नहीं है, उसको 'भवति ! सुभगे वा भगिनि कहना चाहिये ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् ।

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

मामे, चाचे, श्वशुर ऋत्विज और गुरु † (दूसरे माननीय) अपने से छोटे भी हों, तो (आने पर) आगे से उठकर 'मैं अमुक' इसप्रकार कहे ॥ १३० ॥

* सोमयज्ञ के आरम्भ में दीक्षा के लिए दीक्षणीयेष्टि की जाती है (देखो० गौतम० ६।१९) उस शष्टि के आरम्भ से लेकर अवश्रुत स्नान तक यजमान को प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद देने) में वा कोई कार्य बतलाने में उसका नाम न लेवे, किन्तु आयुष्मात् भव भोः दीक्षित, और भवता यजमानेनेदं क्रियताम्, इसप्रकार आदर से कहे

† विष्णु० ३२।७ धृ० वासि० १३।४१ गौत० ६।९ ; आप० १।१४।११ ; विष्णु० ३२।४। मैं अमुक" अर्थात् अपना नाम ही लेवे, अभिवादन न करे ॥ (कुट्टक)

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूथ पितृष्वसा ।

संपूज्याः गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

माता की बहिन, मामी, सास और पिता की बहिन, यह गुरुपत्नी के तुल्य पूजा (अभिवादन) के योग्य होती हैं, क्योंकि यह गुरु पत्नी के तुल्य हैं ॥ १३१ ॥

भ्रातृभार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।

विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥१३२॥

(बड़े) भाई की पत्नी जो अपने वर्ण की है, उसके प्रतिदिन (पांओं) पकड़े, पर ज्ञाति और सम्बन्धियों की स्त्रियों के परदेश से आकर (पाओं) पकड़े * ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।

मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

पिता की और माता की बहिन और अपनी बड़ी बहिन से मातृवव वर्ताव करे, पर माता उनसे बड़कर पूजनीय है ॥१३३॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥१३४॥

एक पुरवासियों की दस वरस (के आपस के अन्तर तक) मित्रता कहलाती है (बराबरी का व्यवहार होता है) कला कौशल वालों की पांच वरस तक, वेदपाठियों की तीन वरस तक, और अपने सपिण्डों में बहुत थोड़े ही अन्तर तक (बराबरी होती है, इस

के पीछे उनमें छोटे बड़े का व्यवहार होजाता है *)॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।

पितापुत्रौ विजानीयात् ब्राह्मणस्तु तयोःपिता॥१३५॥

दस बरस के ब्राह्मण और सौ बरस के क्षत्रिय को पिता पुत्र जाने, ब्राह्मण उनमें से पिता है † ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥१३६॥

धन, बन्धु, आयु, कर्म (—श्रौतस्मार्त) और पाचवीं (वेद—) विद्या, यह मान के स्थान हैं (इनमें से) अगला २ अधिक पूजनीय है ‡

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः॥१३७॥

तीनों वर्णों के अन्दर इन पांचों में से जिसमें अधिक हों वा गुणवाले हों, वह यहां मान के योग्य है, और शूद्र भी दसवीं (अ-वस्था नव्वे बरस से ऊपर) को प्राप्त हुआ (माननीय) § है॥१३७॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणःस्त्रियः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥

* गौतम० ६।१४-१७ आप० १।१४।१३ † आप० १।१४।२५ विष्णु० ३।२।१७

‡ वासि० १३।५६-५७; गौतम ६।२०; विष्णु ३।२।१६; याज्ञ० १।१।१६

§ वासि० ६।१० या० ४।११६ ॥ धन, बन्धु, आयु, कर्म और

वेद विद्यावाले माननीय हैं । इनमें से अगला २ अधिक माननीय है, पर जब एक में पहले गुण दो तीन वा चार हों, और दूसरे में अगले गुण संख्या में घट हों, तो बहुत गुणोंवाला पहला ही दूसरे से अधिक माननीय है, वा एक में वही गुण उत्कृष्ट हों, दूसरे में निकृष्ट हो, तो उत्कृष्ट गुणवाला दूसरे से माननीय होता है ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥

पहियेवाले (—गाड़ी पर सवार), नब्बे बरस से ऊपर आयुवाले, रोगी, भार उठाए हुए, स्त्री, स्नातक, राजा और वर के लिए रस्ता छोड़ देना चाहिए ॥१३८॥ यही जब आपस में मिलें, तो इनमें से स्नातक और राजा मान के योग्य हैं, और राजा और स्नातक में से स्नातक राजा से मान का लेने वाला है * ॥ १३९ ॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं मुपाध्यायः स उच्यते ॥१४१॥

उपनयन करके शिष्य को जो ब्राह्मण कल्प (यज्ञविधि) और उपनिषद् समेत वेद पढ़ाए, उसे आचार्य कहते हैं ॥ १४० ॥ पर जो जीविका के लिये वेद का कोई एक भाग वा वेद के अङ्ग पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है † ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

संभावयति चाग्नेन स विप्रो गुरुच्यते ॥ १४२ ॥

* १३८-१३९ वासि० १३ । ५८-६० । गौत० ६ । २४-२५ ; आप० २ । ११।५-७ । बौध्वा० २ । ६ । ३० । विष्णु ६५ । ५१ याज्ञ० १ । ११७ । स्नातक पर देखो ४ । ३१ ।

† १४०-१४१ वासि० ३ । २१-२३ ; आप० १ । १ । १३ । विष्णु २९ । १-२ ; याज्ञ० १ । ३४-३५ ।

वह ब्राह्मण जो यथाविधि गर्भाधानादि कर्मों को करता है *
और अन्न से बढ़ाता है, वह गुरु कहलाता है † ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः कसोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

जो चुना जाकर जिसके अग्न्याधान, पाकयज्ञ, और (श्रौत)
अग्निष्टोमादि यज्ञोंको पूरा करता है, वह यहां ऋत्विज् कहलाता है ‡ ।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणाबुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न दुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

जो वेद से दोनों कान (स्वरादि की) भूल बिना भरता है,
(शिष्य) उसको माता और पिता जाने, उससे कभी द्रोह न करे § ।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥

आचार्य उपाध्याय से दसगुणा, पिता आचार्य से सौगुणा
और मातापितासे हजार गुणा बढ़कर पूजाके योग्य होती है ¶ ।

उत्पादकब्रह्मदान्नेर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह चशाश्वतम् ॥१४६॥

जन्म देनेवाला और वेद देने वाला, इनमें से वेद देने वाला
पिता अधिक पूजनीय है, क्योंकि वेदका जन्म(उपनयन)ब्राह्मण का

* अभिप्राय पिता से है † याज्ञ० १।३४; ‡ विष्णु २९।३; याज्ञ० १।३५

§ वासि० २।१०; आप० १।१।१४; विष्णु ३०।४७।

¶ वासि० १३।४८; याज्ञ० १।३५

इस(जीवन)में और मरने के पीछे भी नित्य (फलवाला) है*॥१४६॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।

संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१४७॥

माता पिता काम वश होकर जो आपस में इसकी उत्पत्ति का आरम्भ करते हैं, और जो उसका (माता की) योनि से उत्पन्न होना है, यह उसका (पश्वादि के तुल्य)जन्ममात्र है ॥१४७॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।

उत्पादयतिसावित्र्यासासत्यासाऽजराऽमरा ॥१४८॥

पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्री से इसे यथाविधि जन्म देता है । वह सच्चा (जन्म) है, वह अजर अमर है

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।

तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।

बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥

जो जिस का थोड़ा वा बहुत पढ़ाने का उपकार करता है, उसे भी उस पढ़ाने के उपकार के हेतु यहां गुरु जाने ॥ १४९ ॥

यहां जो पिता से आचार्य को, पर पूर्व आचार्य से पिता को अधिक पूजनीय कहा है, इस में विरोध इसलिए नहीं, कि पूर्व उपनयन करके सावित्री मात्रा का उपदेश करनेवाला आचार्य अभिप्रेत है, और यहां समग्र वेद का पढ़ानेवाला (मेधाकुल्लू०) अथवा गौतम २।५०-५१। पूजनीयता में आचार्यों का मत भेद दिखलाया है, माता गौरव में सब से बढ़ कर है, पर कई लोग आचार्य को सब से बढ़ कर मानते हैं” यही मत भेद यहां १४५-१४६ में दिखलाना अभिप्रेत होसका है ॥

ब्राह्मजन्म (वेदद्वारा जन्म) का देनेवाला, और अपने कर्त्तव्य का सिखलाने वाला बालक भी ब्राह्मण वृद्धका धर्म से पिता है ॥१५०॥

अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः ।

पुत्रकाङ्क्षतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

तेतमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

अङ्गिरस के पुत्र (अवस्था में) बच्चे कवि ने पितरों (पितृ तुल्य चाचे आदिकों) को पढ़ाया, और इसप्रकार ज्ञान से उन को शिष्य बनाकर उन्हें छोटे बच्चों कहा ॥ १५१ ॥ उनको क्रोध आया, और उन्होंने देवताओं से जाकर यह बात पूछी, देवताओं ने सब ने मिलकर उन्हें कहा, बच्चे ने तुम्हें न्याय युक्त कहा है ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥

(मन्त्र का) न जाननेवाला, निःसन्देह बालक होता है, और मन्त्र का देनेवाला पिता होता है, क्योंकि (ऋषि) अनजान को बालक, और वेद देनेवालेको सदा पिता कहते आए हैं ॥१५३॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः सनो महान् ॥१५४॥

न वर्षों से, नही श्वेत (बालों) से, न धन से, न (शक्तिवाले बन्धुओं से बढाई आती है, ऋषियों ने यह मर्यादा स्थिर की है कि जो अङ्गों समेत वेदका जाननेवाला है, वह हममें बड़ा है १५४

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥१५५॥

ब्राह्मणों की बड़ाई (वेद के) ज्ञान से होती है, क्षत्रियों की वीर्यता से, वैश्यों की अनाज और धन से, जन्म से केवल शूद्रों की॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पालितं शिरः ।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥१५६॥

इससे कोई पूजनीय नहीं होता है, कि इसका सिर श्वेत होगया है जो युवा भी (वेदका) विद्वान् है, उसको देवता पूजनीय जानते हैं ।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्चविप्रो नधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥१५७॥

जैसे काठ का हाथी, जैसे चमड़े का हिरण, और जो अनपढ़ ब्राह्मण है, वह तीनों नाममात्र धारते हैं * ॥ १५७ ॥

यथाषण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गविचाफला ।

यथाचाज्ञोऽफलं दानं तथाविप्रोऽनृचोऽफलः॥१५८॥

जैसे नपुंसक स्त्रियों में निष्फल होता है, जैसे गौ गौ में निष्फल है, जैसे ज्ञानहीन में दान निष्फल है । वैसे वह ब्राह्मण निष्फल है, जो ऋचाओं (वेद) को नहीं जानता है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

वाक्चैव मधुराश्लक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥

धर्म (पालना) चाहते हुए आचार्य ने शिष्यों को पीड़ा दिये बिनाही भलाई की शिक्षा देनी चाहिए, और बाणी मधुर और सभ्य वर्तनी चाहिए * ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिमके मन और बाणी शुद्ध हैं, और सदा सुरक्षित हैं, वह उस सारे फल को प्राप्त होता है, जो वेदान्त में जाना गया है ॥

नारुन्तुदः स्यदार्तोपि न परद्रोहकर्मधीः ।

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

पीड़ित भी हो, तो भी (दूसरे के) मर्म को पीड़ा देने वाला न हो (मर्म को पीड़ा देने वाला शब्द न बोले) किसी की हानि के लिये न कोई कर्म करे न (मन में) विचार आने दे, इसकी जिस बाणी से (दूसरा) पीड़ित हो, ऐसी स्वर्ग की विरोधनी (बाणी) न कहे ॥ १६१ ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण संमान से सदा इस तरह डरे, कि मानो विष है, और अपमान को अमृत की तरह सदा चाहे ॥ १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।

सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

क्योंकि अपमान सह जाने वाला सुख से सोता है, सुख से जागता है, और सुख से इस लोक में विचरता है, (हां) अपमान करने वाला (उस पाप से) अवश्य नष्ट होता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरौ वसन्सं चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

(गर्भाधान से लेकर उपनयन तक) क्रमशः कहे इस उपाय से संस्कार किया द्विज गुरु के पास रहता हुआ धीरे २ वेद की प्राप्ति कराने वाले तप * का सञ्चय करे । १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदःकृत्स्नोऽधिगन्तव्यःसरहस्योद्विजन्मना ॥१६५॥

अनेक प्रकार के तपों और विधि विहित व्रतों के साथ द्विज को रहस्य समेत सारा वेद जानना चाहिये । १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्दिजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यःस्रग्व्यापिद्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥

ब्राह्मण जो तप तपना चाहता है, वह लगातार वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि वेद का अभ्यास ब्राह्मणका परम तप है † । १६६। वह द्विज (पाओं के) नखों के अग्र तक परम तप तप रहा है, जो माला पहने हुए भी शक्ति भर प्रति दिन वेद पढ़ता है ‡ ।

* तप=भिक्षाचरण आदि, जो वेद की प्राप्ति के लिये कहे हैं, देखो आप १।१२।१-२ ॥

† आप १।१२।१-२ याज्ञ० १।४० शत० ब्रा० ११।५।७-४

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र (दूसरे कार्य वा लौकिक विद्या में) श्रम करता है, वह जल्दी (गिर कर) जीता ही शूद्रता को प्राप्त होता है, और उसके पीछे उसका वंश भी* ॥१६८॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धने ।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥

तत्र यदब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिवन्धनचिन्हितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

वेद के विधान से (किसी आर्य का) पहला जन्म माता से होता है, दूसरा मौञ्जिवन्धन (उपनयन) में, तीसरा (वैदिक) यज्ञ की दीक्षा में ॥१६९॥ इन तीनों जन्मों में से इसका वेद का जन्म जो मौञ्जिवन्धन के चिन्हवाला है, उसमें सावित्री इसकी माता और आचार्य पिता कहलाता है † ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं पारिचक्षते ।

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिवन्धनात् ॥१७१॥

माला पहने हुए भी, इस से वेद पढ़ना ब्रह्मचारी का मुख्य काम और नियम धारने गौण काम जितलाया है। अतएव वेदाभ्यास को ही पूरा तप कहा है। और भी तप साथ हो, तो अच्छा है ॥

* वासि० ३।२। विष्णु० २८। ३६।

† १६९-१७०। वासि० २। ३ याज्ञ० १। ३९ विष्णु २८। ३७-३८

वेद के देने से आचार्य को पिता कहते हैं, क्योंकि उपनयन से पूर्व वह किसी कर्म का अधिकारी नहीं होता है * ॥१.७१॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

(उस से) वेद का उच्चारण न कराए सिवाय पितृ कर्म को पूरा करने के, क्योंकि वह तब तक शूद्र के तुल्य होता है, जब तक वेद में नहीं जन्मता है । १.७२ ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

जब इसका उपनयन हो चुका है, तब इसके लिये क्रम से विधिपूर्वक वेद पढ़ने और (समिधा होम करने आदि) व्रतों के पालने की आज्ञा है † । १.७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।

यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

जिसका जो चर्म, जो सूत्र, (जनेऊ), जो मेखला, जो दण्ड, और जो (निचला) वस्त्र (उपनयन) में बतलाया है, वही उसके व्रतों (केशान्त आदि संस्कारों) में भी (होता है) । १.७४ ॥

सेनेनेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

* १७१-१७२ वासि २।४, ६-७ गौत०। १.१० आप २।१५। १९ बौधा० १।३। ६। विष्णु २८।४० ॥ † १७३-१७४ विष्णु २७ २८ ॥

ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ अपना तप बढ़ाने के लिये इन्द्रियों को बस में रख कर इन नियमों का सेवन करे। १७५।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।

देवताभ्यर्चनं चैव समिधाधानमेव च ॥ १७६ ॥

प्रतिदिन स्नान करे और शुद्ध होकर देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करे । देवताओं को पूजे, और (अग्नि में) समिधा डाले (ब्रह्मचारी की हवन सामग्री समिधा ही है) *१७६

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।

शुक्तानियानिसर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

उसे खागना चाहिये—शहद, मांस, सुगन्ध वाले (चन्दन आदि) माला, (अन्न को रसिक बनाने के लिये) रस, स्त्रियों, वह सब वस्तुएं जो खट्टी होगई हों, और प्राणियों को पीड़ा देना । १७७।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छन्नधारणम् ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

उबटना मलना, आंखों में सुरमा लगाना, जूते और छाते का धारणा, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना । १७८।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

जूआ, झगड़ा, चुगली, झूठ, स्त्रियों का देखना और स्पर्श करना और दूसरे की हानि । १७९ ॥

* १७६-१८२ वासि ७। १५-१७ गौत० २। ८-९, १२-१७ आप १। २। १७, २३-२०; ३। ११-२५; ४। १३-२३; बौध० १। ३। १९, २०; २३-२४ विष्णु २८। ४-५; ११, ४८-५१ याज्ञ० १। ३५, २३ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।

कामाद्धि स्कन्दयन्नेतोहिनस्तिव्रतमात्मनः॥१८०॥

सदा अकेला सोवे, वीर्य कहीं न गिराए, क्योंकि इच्छा से जो वीर्य को गिराता है, वह अपने व्रत को तोड़ता है * १८०।

स्वप्ने सिक्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।

स्नात्वा कर्मचयित्वा त्रिः पुनर्माभित्यृचंजपेत् ॥१८१॥

द्विज ब्रह्मचारी का यदि बिना इच्छा स्वप्न में वीर्य गिरजाए, तो वह स्नान कर, सूर्य का उपस्थान करके, 'पुनर्मां' इस ऋचा का जप करे । १८१ +॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।

आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

जल का घड़ा, फूल, गोबर, मट्टी और कुशा जितनी (गुरु को) आवश्यक हो लावे, और प्रतिदिन भिक्षाचरण करे । १८२।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।

ब्रह्मचार्याहरेद्वैक्षंगृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेद (के ज्ञान) और यज्ञों से जो हीन नहीं हैं, और अपने कर्मों (पेशों) में जो प्रशंसा पाए हुए हैं, उनके घरों से ब्रह्मचारी शुद्ध होकर प्रतिदिन भिक्षा लावे ‡ । १८३ ॥

* व्रत को तोड़ने से अवकीर्णी होता है, उसे आगे ११।११८-१२४ में कहा प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ † विष्णु २८।५१ 'पुनर्मां' ऋचा तैत्ति० आ० १।३० ॥ ‡ गौत० २।३५ आप० १।३। २५ बौध्वा० १।३।१८ विष्णु २८।९ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
 अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥
 सर्ववापिचरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।
 नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

गुरु के घर, ज्ञातियों के घर, और बन्धुओं (के घरों) से)
 भिक्षा न मांगे, पर (इनसे) भिन्न घरों के न मिलने पर पहले
 को सागे (अर्थात् यदि और घर न हों, तब पहले बन्धुओं से
 मांगे वह भी न हों, तो ज्ञातियों से, वह भी न हों, तो गुरु के घर से
 ॥१८४॥ *अथवा पूर्व (१८३ में) कहे घर न हों, तो शुद्ध हो, वाणी
 को रोककर (चुपचाप) सारे ही ग्राम में जाए, पर अभिशस्तों†
 को साग देवे । १८५ ।

दूरादाहत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।

सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरभिमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूर से‡ समिधा लाकर खुले§ आकाश में रखे, और साव-
 धान होकर सायं प्रातः उनसे अग्नि को होमे (होम से प्रदीप्त करे)

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

* गौतम २।३७-३८ † अभिशस्त, जिन पर किसी महापातक,
 पातक वा उपपातक का कलंक लगा हुआ हो ॥

‡ दूरसे = जंगल की शुद्ध भूमि और शुद्ध वायु में पले वृक्षों
 से § खुले वायु में छत पर वा किसी दूसरे ऐसे खुले स्थान पर ॥

भैक्षेणवर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती ।

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

रोगी न हो ताहुआ, लगातार सात दिन यदि (ब्रह्मचारी) भिक्षाचरण न करे, और अग्नि को प्रदीप्त न करे, तो अवकीर्णी प्रायश्चित्त करे*॥१८७॥ (ब्रह्मचर्य के) व्रतवाला, प्रतिदिन भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे, एक का अन्न न खाए, भिक्षा से व्रतवाले की वृत्ति उपवास (के पुण्य) के तुल्य कही गई है † ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवेत्य पित्र्ये कर्मण्यथर्विवत् ।

काममभ्यर्थितोऽश्रीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

देवताओं के लिये किये कर्म में निमन्त्रण किया हुआ (व्रती) व्रत के अनुसार (अर्थात् शहद मांसादि के त्याग पूर्वक) और पितरों के लिये किये कर्म में मुनियों के तुल्य बेशक (एक का अन्न) खाए, इससे इसका व्रत नहीं लुप्त होता है ‡ ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पर यह कर्म निरा ब्राह्मण का ही बुद्धिमानों ने चलाया है, किन्तु क्षत्रिय और वैश्यका यह कर्म नहीं विधान किया है॥१९०॥

चोदितो गुरुणानित्यमप्रचोदितएव वा ।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

* विष्णु० २८ । ५२ याज्ञ० ३ । २८१ अवकीर्णी प्रायश्चित्त आगे देखो ११ । ११९-१२० ; † याज्ञ० १ । ३२ ॥

‡ याज्ञ १ । ३२ § १८९ में कहा एक का भोजन ।

गुरु से प्रेरा हुआ वा बिन प्रेरे भी पढ़ने में और गुरु के हित (कार्यों) में लगातार यत्न करे *। १९१।

शरीरं चैव वार्च च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्भिक्षमाणोगुरोर्मुखम् ॥१९२॥

गुरु के मुख को देखते ही, अपने शरीर, बाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन को बस में रखकर हाथ जोड़ कर खड़ा होजाए ॥१९२॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंवृतः ।

आस्यतामितिचोक्तः सन्नासीताभिमुखंगुरोः ॥१९३॥

सदा (दायाँ) हाथ (वस्त्र से) बाहर निकाल रहे, उत्तम वर्ताव रखे, शरीर को अच्छी तरह ढाँपे रखे, † और जब कहा जाए 'बैठो' तब गुरु की ओर मुख करके बैठे ‡ ॥१९३॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदागुरुसन्निधौ ।

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

गुरु के समीप (गुरु से) सदा घटिया अन्न, वस्त्र और वेष वाला हो, इसके(गुरुके) पहले उठे और पीछे सेवे § १९४

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्नपराङ्मुखः ॥१९५॥

* गौतम० १।५४: २। २९-३० आप० १। ५। २७; ४। २३ विष्णु २८। ६-७ याज्ञ० १। २७ ॥

† मेधा० कुल्लू, और राघव के अनुसार यह पाठ सुसंवृतः है। नारायण के अनुसार समाहितः, अन्यो के अनुसार सुसंयतः है; आप १। ६। १८-२० § गौतम० २। २१ आप १। ४। ६२, २८ बौध्वा० १। ३। २१ विष्णु २८। १३ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तुतिष्ठतः ।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

(गुरु की बात का) उत्तर वा बात चीत लेटा हुआ न करे, न बैठा हुआ, न खाता हुआ, न खड़ा हुआ, और न मुख मोड़ कर * । १९५। (किन्तु गुरु) बैठा हो, तो आप आगे खड़ा होकर, यदि खड़ा हो, तो आगे उसकी ओर बढ़कर, यदि आरहा हो, तो आगे जाकर, यदि (गुरु) दौड़ रहा हो तो पीछे दौड़कर । १९६। संमुख होकर, यदि वह मुख दूसरी ओर किये हो, निकट जाकर, यदि वह दूर खड़ा हो, नीचे झुक कर, यदि वह लेटा हो, वा नीची जगह[†] खड़ा हो । १९७।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरु के समीप इसका बिस्तरा और आसन सदा नीचा हो, और गुरु की दृष्टि के समीप बेपरवाही से न बैठे ‡ । १९८।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

* १९५-१९७ वासि० ७। १२ गौत० २। २५-२८ आप १। ६।
 ५-९ बौधा० १। ३। ३८ विष्णु २८। १८-२२ † निकट खड़ा हो
 (मेधा० गोवि, कुल्लू, राघव) ॥

‡ गौत० २। १४-१५, २१ आप १। २। २१; ६। १३-१७ विष्णु २८। १२-१३ ॥

पीठ पीछे भी इस (गुरु) का निरा (मान सूचक पदवी के बिना) नाम न बोले, और न ही इसकी चाल, बोल वा अन्य किसी चेष्टा की नकल न करे * । १९९ ।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते ।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः । २०० ।

परीवादात्खरोभवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटोभवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

जहां (किसी शिष्य से) गुरु पर दोष लगाया जाता है वा निन्दा प्रवृत्त है, वहां कान ढांप लेने चाहियें, वा वहां से दूसरी जगह चले जाना चाहिये † । २०० । (गुरु पर) जो दोष (तोहमत) लगाता है, वह (अगले जन्म में) गधा बनता है, जो निन्दा करता है, वह कुत्ता बनता है, जो उसकी वस्तुओं को भोगता है, वह कृमि बनता है, जो डाह करता है, (उसकी बड़ाई सुनकर जलता है) वह कीट होता है । २०१ ।

दूरस्थो नार्चयेदेनं नक्रुद्धो नान्तिके स्त्रियः ।

यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

दूर खड़ा रह कर इसको (गुरु को) न पूजे, न जब स्वयं क्रोध युक्त हो, न (जब गुरु, अपनी) स्त्री के निकट (हो), और जब स्वयं यान वा आसन पर बैठा हो, तब पहले उतर खड़ा हो, फिर अभिवादन करे । २०२ ।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।

* गौतं० २।२३ विष्णु २८। २४-२५ ॥ † विष्णु० २८। २६ ॥

असंश्रवे चैवगुरोर्नकिञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

(अपनी ओर से गुरु की ओर जाते) उलटे वायु वा (उनकी ओर से अपनी ओर आते) सीधे वायु में गुरु के साथ न बैठे, और वहां से कुछ न कहे, जहां गुरु को ठीक सुनाई न दे *॥ २०३ ॥

गोऽधोऽष्टगानप्रासादसस्तरेषु कटेषु च ।

आसीत् गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैल घोड़े वा ऊंट की गाड़ी पर, चबूतरे वा छात पर, सत्थर पर, चटाई पर, सिला पर, पटड़े पर वा नौका में (शिष्य) गुरु के साथ बैठ जावे १ ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ।

नचानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।

प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

गुरु का गुरु निकट हो, तो अपने गुरुतुल्य बर्ताव करे, पर (गुरुकुल में रहता हुआ) गुरुकी अनुमति लिये बिना अपने (घर के) पूजनीयों को अभिवादन न करे ‡ ॥ २०५ ॥ जो किसी भी विद्या के गुरु हैं, उन सब में सदा यही बर्ताव (पूर्वोक्त गीति में अभिवादन आदि का) रखे, तथा अपने ज्ञातियों (चाचा आदि) में, अधर्म से रोकने वालों में और भले का उपदेश करने वालों में भी § (यही बर्ताव करे) ॥ २०६ ॥

* आप० १।६।१५† आप० १।१।७, १२-१६ विष्णु २।१२७-२८ ॥

‡ आप० १।७।२९-३०, ८।१९-२०; विष्णु २।१२९-३० § आप० १।८।२८ ॥

श्रेयः सु गुरुवद वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

जितने श्रेष्ठ पुरुष हैं उन सब में जिस गुरु के तुल्य बर्ताव करे, और गुरु के पुत्र जो आर्य हैं, तथा गुरु के अपने जो बन्धु हैं*

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।

अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरु पुत्र चाहे छोटा हो वा बराबर की आयु का हो वा यज्ञ कर्म में (अभी) शिक्षा पा रहा हो, पर जब वह (पिता की जगह) पढ़ा रहा है, तो गुरु के तुल्य मान के योग्य होता है †

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

* आप १।७। २९-३० बौध्वा० १।३। ४४। गुरु के पुत्र जो आर्य हैं ब्राह्मणी क्षत्रिया वा वैश्या से हैं; "आर्य=समान, जाति अर्थात् ब्राह्मणी पुत्र (मेघा० गोवि, कुल्लू) आर्य=श्रेष्ठ (नारा० नन्द) । मेघातिथि 'गुरु पुत्रे तथाचार्ये' इस पाठान्तर को अधिक अच्छा समझता है, जिसके अर्थ होते हैं गुरु का पुत्र जो (अपने पिता के स्थान अब) आचार्य है । राघव ने यही पाठ पढ़ा है ॥

† आप० १।७। ३० विष्णु २८। ३१ इसके अर्थ में टीकाकारों का मतभेद है गुरु का पुत्र जो अपने पिता की जगह पढ़ा रहा है, जब उसका पिता यज्ञ कर्म वा किसी और कर्म में व्यापृत हैं, तो वह चाहे बाल हो वा बराबर का हो वा अभी विद्यार्थी हो, पर गुरु तुल्य मान के योग्य होता है, (नन्द०) गुरु का पुत्र चाहे छोटा हो वा बराबर का हो वा अभी विद्यार्थी हो, पर जब वह वेद पढ़ाने के योग्य होगया है, तो वह गुरु के तुल्य मान के योग्य होता है, जब किसी ब्रह्म में आया हो (कुल्लू०, राघ०) ॥

पर अङ्गों का मलना (उबटना मलना), न्हलाना, उच्छिष्ट खाना, और चरण धोना यह सेवा गुरु पुत्र की न करे * ॥२०९॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुर्योषितः ।

असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥२१०॥

गुरु की स्त्रियों जो उसी वर्ण की हैं, वह गुरु के तुल्य पूजनी चाहियें, पर जो उसी वर्ण की नहीं हैं, वह आगे से खड़ा होजाने और अभिवादन करने से पूजनी चाहियें ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां चप्रसाधनम्॥२११॥

मालिश, न्हलाना, अङ्गों पर उबटना मलना, और बालों का संवारना यह गुरुपत्नीके न करे ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

पूरे बीस बरस का, उचित अनुचितका जाननेवाला (शिष्य) युवति गुरुपत्नी के चरणों पर अभिवादन न करे ॥ २१२ ॥

स्वभावण्य नारीणां नराणामिह दूषणम् ।

अतोर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥ २१३ ॥

यहां पुरुषों का बिगाड़ना, स्त्रियों का स्वभाव है; इस हेतु से बुद्धिमान् स्त्रियों में प्रमादी नहीं होते (सावधान रहते हैं) ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।

* २०९-२१२ गौत० २।३१-३४; आप० १।७।२७ बौचा० १।३।२३-३७ विष्णु २८।३२-३३; ३२।२।५-७ ॥

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधावशानुगम् ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनोभवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

क्योंकि स्त्रियें इस लोक में (देह-धर्म से) काम क्रोध के वशवर्त्ती न केवल मूर्ख को अपितु विद्वान् को भी कुमार्गमें ले जाने के समर्थ होती हैं ॥ २१४ ॥ (अतएव) अपनी माता, बहिन वा कन्या के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि बलवान् इन्द्रिय समूह खींच लेजाता है ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतांधर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

पर हां एक युवा (विद्यार्थी) युवति गुरुपत्नियों को अमुक मैं (अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः) कहता हुआ भूमि पर (न कि चरणों पर) बन्दना बेशक कर सक्ता है * ॥ २१६ ॥ भलों की मर्यादा को स्मरण करता हुआ (शिष्य) परदेश से आकर गुरुपत्नी के चरण पकड़े, और प्रतिदिन उसे नमस्कार करे ॥ २१७ ॥

यथाखनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जैसे कुदाल से खोदता हुआ पुरुष (भूमि के अन्दर छिपे) पानी को पालेता है, इसीप्रकार आज्ञाकारी (विद्यार्थी) अपने गुरु के अन्दर छिपी विद्या को पा लेता है ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वास्यादथवास्याच्छिखाजटः ।
 नैनंग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्योनाभ्युदियात्काचित् ॥२१९॥
 तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
 निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

(ब्रह्मचारी सारे सिर से) मूंडा हुआ वा जटावाला अथवा
 (निरी) चोटी की ही जटावाला (वाकी सिर से मूंडा हुआ) हो,
 सूर्य इसे ग्राम में न कभी अस्त हो, न उदय हो * ॥२१९॥ यदि
 जान बूझकर वा भूल से (ग्राम में) सोए हुए उसे सूर्य उदय हो
 जाए, वा अस्त होजाए, तो (गायत्री का) जप करता हुआ दिन
 भर उपवास करे, (सायंकाल की भूल में दूसरे दिन करे) ॥२२०॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्च यः ।

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्थान्महतैनसा २२१ ॥

क्योंकि जो लेटा रहा है, जब सूर्य अस्त वा उदय हुआ है,
 यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करता है, तो बड़े पाप से युक्त होता है ‡ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभेसन्ध्ये समाहितः ।

शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥२२२॥

पवित्र हो एकाग्र (चित्त) हुआ आचमन करके यथाविधि
 जप करता हुआ नित्य प्राति दोनों सन्ध्याएं उपासे ॥ २२२ ॥

* वासि० ७।२ गौत० १।२७ आप० १।३०।८ विष्णु०
 २८।४१ † वासि० २०।४ गौत० २३।२१ आप० २।१२-१३-१४
 बौध्वा० २।७।१६ विष्णु २८।५३ ॥

‡ वासि० १।१८ आप० २।१२।२२ ॥

यदिस्त्री यद्यवरजःश्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।

तत्सर्वमाचरेद् युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

यदि कोई स्त्री वा कोई छोटी जाति का पुरुष श्रेय (लोक वा परलोक के कल्याण का काम) करे, वह सब सवाधान होकर करे, वा जिसमें इसका मन सन्तुष्ट हो ॥ २२३ ॥

धर्मार्थाबुध्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।

अर्थएवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कई (परलोक और लोक के सुख का हेतु होने से) धर्म और अर्थ को श्रेय कहते हैं, (दूसरे) काम और अर्थ को, कई निरे धर्म को ही, कई निरे अर्थ को श्रेय कहते हैं, पर निश्चय यह है, कि इन तीनों का समुदाय श्रेय है ॥ २२४ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः ।

मातापृथिव्यामूर्तिस्तु भ्रातास्वामूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

आचार्य, पिता, माता, और बड़ा भाई इन से चाहे तंग भी किया गया हो, पर इनका अपमान न करना चाहिये विशेष करके ब्राह्मण ने ‡ ॥ २२५ ॥ आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है, पिता

* गीत २।११ आप १।३०। ऽबौध्वा० २। ७ विष्णु २८। २५ आप २। २२। ११ ॥

‡ इन दो श्लोकों को कुल्लूक ने इसी क्रम से लिखा है, दूसरे टीकाकारों ने इसकी जगह अगले श्लोक को और उसकी जगह इसश्लोक को लिखा है,

प्रजापति (सृष्ट जीवों के मालिक) की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है, और अपना भाई अपनी ही मूर्ति है (इसलिये इन देवताओं का अपमान न करे) । २२६ ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।

न तस्यनिष्कृतिःशक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।

तेष्वेव त्रिषुतुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपउच्यते ।

न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

जो क्लेश माता पिता बच्चों की उत्पत्ति में सहते हैं, उसका पलटा-मैंकड़े बरसों (कई जन्मों) से भी नहीं चुकाया जासکتा है । २२७ । सदा इन दोनों का, और सदा आचार्य का प्रिय करे, जब यह तीनों प्रसन्न हैं, तो सारा तप समाप्त है (तप का सारा फल मिल जाता है) । २२८ । उन तीनों का आज्ञाकारी होना परम तप कहलाता है, उनकी अनुमति बिना कोई और धर्म न करे । २२९ ॥

त एवाहि त्रयो लोकास्तएव त्रयआश्रमाः ।

तएव हि त्रयो वेदास्त एवाक्तास्त्रियोऽग्नयः ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।

गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

यही (तीन) तीनों लोक, यही तीनों आश्रम, यही तीनों

वेद, यही तीनों (यज्ञ की) अग्नियों कहे हैं * । २३० । पिता गार्हपत्य अग्नि के (समान) है, माता दक्षिणाग्नि है, और गुरु आहवनीय अग्नि है, यह तीन अग्नियों (श्रौत अग्नियों से) पूज्यतर हैं † ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींलोकान्विजयेद्गृही ।

दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विविमोदते ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।

गुरुशुश्रूषयात्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

इन तीनों में गृहस्थ (बनने के पीछे भी) प्रमाद न करता हुआ तीनों लोकों को जीत लेता है, और देवता की तरह अपने शरीर से चमकता हुआ द्यौ लोक में आनन्द भोगता है ‡ । २३२ । माता की भक्ति से इस (भू-) लोक को, पिता की भक्ति से मध्यम (अन्तरिक्ष) को और गुरु की आज्ञाकारिता से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है § ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृता ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वोस्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते गतः ॥ २३५ ॥

* विष्णु । ३१ । ७ तीन लोक = पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक; तीन आश्रम = पहले तीन आश्रम (कुल्लू० नारा० नन्द०) अन्तिम तीन आश्रम (मेघा० गोवि) इन तीनों की सेवा से तीनों लोक जीत लिये जाते हैं, तीनों आश्रमों, तीनों वेदों और तीनों अग्नियों का फल प्राप्त होता है । † आप १ । ३ । ४४ विष्णु ३१ । ८ ॥

‡ विष्णु ३१ । ९ § विष्णु ३१ । १० ॥

तेषामनुपरोधेन पास्त्र्यं यद्यदाचरेत् ।
 तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥
 त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
 एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

उसने सारे धर्मों का आदर किया, जिसने इन तीनों का आदर किया, और जिसने इनका अनादर किया, उसके सारे कर्म निष्फल जाते हैं ॥ २३४ ॥ जब तक यह तीनों जीते हैं, तब तक (स्वतन्त्रता से) कोई और (धर्म) न करे, उन्हीं के प्रिय और हित में लगा हुआ सदा उनकी सेवा करो ॥ २३५ ॥ उनकी अनुकूलता से जो (काम) मन वचन कर्म से परलोक के लिये करे, वह २ उन्हें निवेदन करदे ॥ २३६ ॥ इन तीनों (की पूजा) से पुरुष की (श्रौत स्मार्त) सारी कर्तव्यता समाप्त होती है, (सारे फल इन तीनों की सेवा से मिलते हैं) यह साक्षात् परम धर्म है, और (कर्तव्य) उपधर्म कहलाता है ॥ २३७ ॥

श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
 अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरित्त्वं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥
 विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
 अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

श्रद्धा युक्त हुआ शुभ विद्या को शूद्र से भी लेलेवे, चण्डाल से भी श्रेष्ठ धर्म को, और स्त्री रत्न को दुष्कुल से भी लेलेवे ॥ २३८ ॥

* आप २। २८। ११ श्रेष्ठ धर्म=मुक्ति पाने का उपाय (कुल्लू) लौकिक कामों में श्रेष्ठ मर्यादा (मेधा, गोवि, राघ) दुष्कुल=पतित कुल (मिलाओ घासिष्ठ १३। ५१-५३); अपनी अपेक्षा से निकृष्ट कुल (कुल्लू) जिस कुल में वैदिक कर्म छूटे हुए हैं (मेधा०) कुम्भारादि छोटी जातियें (गोवि) ॥

विष से भी अमृत लेलेना चाहिये, बालक से भी अच्छी सलाह,
शत्रु से भी भला आचरण, और अपवित्र (स्थान वा वस्तु) से
भी सोना (लेलेना चाहिये) ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥
अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

स्त्रियें जो रत्न* हैं, विद्या, धर्म (का ज्ञान), अच्छी सलाह
और अनेक प्रकार के शिल्प (हुनर) हर एक से लेलेने चाहियें,
॥ २४० ॥ पर (वेद का) पढ़ना अब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) से
आपत्काल में ही विधान किया है, गुरु के पीछे चलना और
सेवा जब तक पढ़ता है (तब तक करे) † ॥ २४१ ॥

नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्योवासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमां ॥ २४२ ॥

सर्वोत्तम गति (मोक्ष) को चाहता हुआ शिष्य अब्राह्मण
गुरु के पास सदा का वास न करे, और न ऐसे ब्राह्मण के पास
जो सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग नहीं जानता है ‡ ॥ २४२ ॥

* स्त्रियें और रत्न (मेघा० गोवि०) † गौत० ७।१-३ ;
आप० २।४।२५ ; बौधा० १।३।४१-४३ ॥

‡ ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं, उपकुर्वाणक और नैष्ठिक ।
उपकुर्वाणक जो गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करते हैं, और
नैष्ठिक जो सारी आयु गुरु के पास बिताते हैं । यह नैष्ठिक ब्रह्मचर्य
अब्राह्मण गुरु के पास वा विद्या में अधूरे ब्राह्मण के पास न धारे ।
किन्तु पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण गुरु के पास ही धारे ।

यादि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।

युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्ग शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

पर यदि (शिष्य) गुरुकुल में सदा का वास पसन्द करता है, तो उसे सावधान होकर शरीर के छूटने तक इस (गुरु) की सेवा करनी चाहिये * । २४३ । शरीर की समाप्ति तक जो गुरु की सेवा करता है, वह विद्वान् ब्राह्मण सीधा ब्रह्म के अविनाशी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरुवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।

स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरुवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

धर्मज्ञ (शिष्य समावर्तन से) पहले गुरु की कुछ भेंट न करे, पर जब गुरु से आज्ञा पाकर (समावर्तन) स्नान करने लगे, तब क्याशक्ति गुरु के लिये (भेंट) लावे + । २४५ । (अर्थात्) क्षेत्र सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, वस्त्र, अनाज, शाक (जो कुछ भी बने सरे) गुरु की प्रीति के लिये लावे ‡ ॥ २४६ ॥

* वासि० ७।४ गौत० ३।५६ आप २।२१।६ बौध्वा० २।११।११-१३॥

† गौत २।४।८-४९ आप १।७।१९ विष्णु २८।४२ याज्ञ १।५८ ‡ यह दक्षिण का नियम उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी के लिये है, उसी का समावर्तन होता है, नैष्ठिक का नहीं ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
 गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥
 एतेष्वविद्यामानेषु स्नानासनविहारवान् ।
 प्रयुञ्जानोऽग्निं शुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥
 एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
 स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

(नैष्ठिकब्रह्मचारी को) चाहिये, कि जब गुरु मरजाए, तो गुणों वाले गुरु के पुत्र की, वा गुरु की विधवा की, वा गुरुके सपिण्ड * की गुरु तुल्य सेवा करे † । २४७। यह सभी न हों, तो निख स्नान करे (अग्नि के पास) बैठ कर वा खड़ा रह कर (सपिधा आदि से) अग्नि की सेवा करता हुआ अपने शरीर को साधे (तपस्वी बनाए) ‡ । २४८। इस प्रकार जो ब्राह्मण अस्त्रण्डित ब्रह्मचर्य करता है, वह (मरने के पीछे) उत्तम स्थान को जाता है, और फिर यहां आकर नहीं उत्पन्न होता है § २४९

* सपिण्ड के लिये देखो आगे ५।६० † गौतम २।७। विष्णु २८।४४-४५। याज्ञ० १।४९ ‡ वासि० ७।५-६। गौतम ३।८। विष्णु २८।४६। याज्ञ० १।४९ § विष्णु २८।४९ याज्ञ० १।५०। अस्त्रण्डित ब्रह्मचर्य तो प्रशंसनीय है, पर सारी आयु गुरु वा अग्नियोंकी सेवा में ही बितादे, यह वैदिक उत्साही जीवन से गिरा हुआ भाव है ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्थिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ २ ॥

तीनों वेदों के पढ़ने का व्रत * गुरु के अधीन छत्तीस वर्ष तक, वा इस से आधे समय तक वा चौथाई समय तक, वा पूरी तरह सीख लेने तक पूरा करना चाहिये ॥१॥ अखण्डित ब्रह्मचर्य के साथ यथाक्रम तीनों वेदों को, वा दो वेदों को वा एक ही वेद को पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे † ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।

सग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।

उद्धहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

वह जो अपने धर्म (के पालन) से विरुद्धात हुआ है, और पिता से वेद का दाय (विरसा) लेलिया है, माला पहने हुए

* यज्ञ कर्म में तीनों वेदों का उपयोग होने से तीनों के लिये व्रत कहा है † याज्ञ०१०।५२ ॥

‡ 'पिता से', कहने से यह पाया जाता है, कि पिता से वेद का पढ़ना मुख्य है, पिता के अभाव में आचार्यादि से पढ़े, (टीकाकार) पर वस्तुतः यहां वेद में जन्म देनेवाले पितासे अभिप्राय है ॥

क्षय्या के ऊपर बैठा है, उसे पहले गौ से पूजन करे ॥ ३ ॥ गुरु की अनुज्ञा से स्नान करके (समावर्त्तन की) विधि के अनुसार घर वापिस आया द्विज अपने वर्ण की शुभ लक्षणों वाली स्त्री को व्याहे*४

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ताद्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

जो माता की (ओर से) सपिण्डा न हो, और पिता की (ओर से) सगोत्रा न हो, वह द्विजों को पत्नी बनाने और दोनों से किये जाने वाले कार्य (अग्न्यधानादि और सन्तानोत्पादन) में श्रेष्ठ है † ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।

स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।

क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

स्त्री के सम्बन्ध में यह दस कुलें—चाहे गौ, बकरी, भेड़, घन और अनाज से भरपूर भी हों, तभी छोड़ देवे । (अर्थात् वह कुल) जो कर्मों (संस्कारों और वैदिक कर्मों) से हीन हो रही है, जिस में नर सन्तान उत्पन्न नहीं होती है, जिस में वेद का अध्ययन नहीं है, जिस में उत्पन्न होने वालों के शरीर पर बड़े लोम होते हैं, जिस में बवासीर है, जिस में क्षयी रोग (तप-

* वासि० ८।१ गौत० ४।१ ; याज्ञ० १।५२ । शुभ लक्षणों वाली देखो आगे ७।१० और शाङ्खायन गृह्य १।५।१० ॥ † सपिण्ड पर देखो ५।६० मनु के इस वचन के अनुसार माता का गोत्र छोड़ना आवश्यक नहीं, केवल सात पीढ़ी में से न मिलती हो ॥

दिक वा सिल) हो, जिस में मन्दाग्नि रोग (हाजमे की बीमारी) हो, जिसमें मिरगी का रोग हो, जिसमें फुलबहरी (श्वेत कुष्ठ) का रोग हो, जिसमें कुष्ठ का रोग हो * ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम् ॥ ८ ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

कापिला (कैरे वाली वाली) कन्या न विवाहे, न अधिक (फजूल बड़े २) अंगोंवाली, न रोगिणी, न जिसके (शरीर पर) लोम नहीं, न जिसके बड़े २ लोम हैं, न बडबोली, न भूरी आँखोंवाली † ॥ ८ ॥ न नक्षत्र, वृक्ष और नदी के नामवाली, न नीचजाति के नामवाली, न पर्वत के नामवाली, न पक्षी, सर्प और दासी के नामवाली, न डरावने नामवाली ॥ ९ ॥

अव्यंगाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृदङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत्तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

ऐसी कन्यासे विवाह करना चाहिए, जो किसी अंग से व्यंग हो, सौम्य नामवाली हो, हंस और हाथी की चालवाली हो,

* विष्णु २४।२ याज्ञ० १।५४ ॥

† याज्ञ० १।५३ विष्णु २४।१२-१६ ॥

सूक्ष्म लोम बाल और दांतोंवाली हो ॥१०॥ पर जिसका भाई न हो, वा पिता नामालूम हो, उसे बुद्धिमान पुत्रिका और अधर्म की शंका से न विवाहे * ॥ ११ ॥

सवर्णाऽग्रेद्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तुप्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥१२॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्चस्वाचाग्रजन्मनः ॥१३॥

द्विजों को पहले विवाह में अपने वर्ण की (कन्या) श्रेष्ठ है किन्तु काम से प्रवृत्त हुआ के लिये यह (अनुलोम) क्रम से श्रेष्ठ हैं † ॥ १२ ॥ केवल शूद्राही शूद्र की स्त्री होती है, वह और अपने वर्ण की वैश्यकी होती हैं, वह दोनों और अपने वर्ण की क्षत्रिय की, वह तीनों और अपने वर्ण की ब्राह्मण की मानी गई हैं ‡ ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यापि हि तिष्ठतोः ।

* याज्ञ० १।५३ पुत्रिका=पुत्र बनाई हुई । जिस कन्या का भाई न हो, उसको पिता अपनी पुत्रिका जब चाहे बना सकता है और पुत्रिका बनाई हुई का पहला पुत्र नाना लेलेता है, इस डर से तो जिसका भाई नहीं, उसे न विवाहे, और अधर्म के डर से, जिस का पिता ज्ञात नहीं। क्या जाने सगोत्रा ही हो वा कोई और दोष हो, “जिसका भाई न हो, और पिता का पता न हो, उसको पुत्रिकाधर्म (पुत्र की जगह मान लेने की मर्यादा) की शंका से न विवाहे, यदि पिता का पता हो, तो उससे पूछकर निर्णय कर लेवे, कि पुत्रिका तो नहीं बनाएगा, फिर विवाह लेवे ॥ (मेघातिथि)

† बौध्वा १।१६। २-५ विष्णु २४। १-४ ऋक्सि १। २५-२६ याज्ञ० १।५६ ॥

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपादिश्यते ॥१४॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्धहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥१५॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय की किसी भी इतिहास में (पहली) स्त्री शूद्रा नहीं बतलाई है, चाहे वह कितनी आपत्ति में भी हों * ॥ १४ ॥ जो द्विज भूल से (पहले) शूद्रा को विवाह लेते हैं, वह सन्तान समेत अपने कुलों को जल्दी शूद्रभाव में ले जाते हैं † ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अत्रि और उत्थ्य के पुत्र (गौतम) के अनुसार शूद्रा का विवाहने वाला पतित (जातिबाह्य) होजाता है, शौनक के अनुसार पुत्र की उत्पत्ति से, और भृगु के अनुसार उसी सन्तान वाला होने से (पतित होता है) ‡ ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।

जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।

नाश्रन्ति पितृदेवास्तत्र च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

* मासि १।२७ गौत १५। १८ आप १। १८। ३३ † विष्णु २५। ६

‡ इस श्लोक के समय अत्रि और गौतम वंश वालों ने अपने वंशके लिये यह मर्यादा बना ली थी, कि शूद्रा के विवाहने वाले को अपने में से अलग करदेते थे, शौनक वंश वाले यदि उसमें से सन्तान उसके घर में होजाए, तब अलग करदेते थे, और भृगुके वंश वाले यदि निरी उसीकी सन्तान हो, तब करते थे ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

शूद्रा को शय्या पर चढ़ाकर ब्राह्मण नीचगति (नरक) को प्राप्त होता है, उसमें पुत्र को उत्पन्न करके ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है । १७। जिसके देवताओं पितरों और अतिथियों के लिये कर्म शूद्रा (स्त्री) की मुख्य सहायता से होते हैं (न कि आर्या स्त्री की सहायता से) उसके उस (दिये) को पितर और देवता नहीं खाते हैं, और वह (पुरुष) स्वर्ग को नहीं जाता है * । १८। शूद्रा के हाँट की थूक जिसने पी है, और उसके सांस से दूषित हुआ है, और उसमें पुत्र को उत्पन्न किया है, उसका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान् ।

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

अब चारों वर्णों के इन आठ स्त्री विवाहों को जानो (जिन में से कई एक) मरने के पीछे और इस लोक में हितकारी हैं (और कई) आहितकारी हैं ॥ २० ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवां पैशाच जो बहुत निकृष्ट है † ॥ २१ ॥

* वासि० १४। १९ विष्णु २५। ७ ॥

† २१-३४ वासि० १। १७-३५ गौतम० ४। ६-१५ आप० २। ११। १७-२१ बौध्वा० १। २०। १-२१, २३ विष्णु० २४। १८-२८ याज्ञ० १। ५८-६१ ॥

यो यस्यधर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौच यस्य यौ ।

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवेचगुणाऽगुणान् ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्याविप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।

विदूशूद्रयोस्तुतानेव विद्याद्धर्म्यान्ऽराक्षसान् ॥ २३ ॥

(इनमें से) जो विवाह जिस वर्ण के लिये धर्मयुक्त है, और जिस विवाह के जो गुण दोष हैं, और जो आगे (उनकी) संतान से भलाई बुराई (की आशा) है, यह सब तुम्हें बतलाऊंगा ॥ २२ ॥ इनमें से छः अनुक्रम से ब्राह्मण के लिये, अन्त के चार क्षत्रिय के लिये, वही फिर राक्षस के बिना वैश्य और शूद्र के लिये धर्मयुक्त जाने * ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।

राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।

पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यो क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष पहले चारों (ब्राह्मण, दैव, आर्ष, प्राज्यापत्य) को ब्राह्मण के लिये उत्तम कहते हैं, क्षत्रिय को एक राक्षस और शूद्र को आसुर ॥ २४ ॥ इनके मध्य में (अन्त के) पाँचों में से तीन धर्मवाले और दो अधर्मवाले कहे गए हैं, पैशाच और आसुर

* २३से२६ तक विवाहों के विषय में भिन्न २ लैगों की सम्मतियाँ कही प्रतीत होती हैं । जो कि आपसमें एक दूसरे के विरुद्ध हैं । स्मृतिकार की अपनी सम्मति आगे श्लोक ३९ में स्पष्ट है ॥

(विवाह) कभी नहीं करने चाहियें ॥ २५ ॥ पूर्व कहे गान्धर्व और राक्षस यह दो विवाह अलग २ वा मिले हुए * क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त माने गए हैं ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।

अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

(कन्या को बहुमूल्य) वस्त्र पहनाकर और (भूषणों से) पूजा करके * किसी वेद पढ़े सदाचारी वर को जो आप बुलाकर देना है, यह ब्राह्म (ब्राह्मणों की) मर्यादा कही गई है ॥ २७ ॥ प्रवृत्त हुए (ज्योतिष्ठोमादि) यज्ञ में यथाविधि कर्म करते हुए ऋत्विज् को, (वस्त्र भूषणादि से—) सजाकर जो कन्या का देना है, उसे दैव, (देवताओं की) मर्यादा कहते हैं ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

एक वा दो गौ मिथुन (गौ बैल का जोड़ा) वर से धर्मार्थ

* जब एक कन्या का किसी वार पर पहले ही अनुराग है, तो उसका अनुराग जानकर वर जब युद्ध में जीतकर उसे पिता के घर से लावे, तब गान्धर्व और राक्षस दोनों विवाह मिले हुए हैं

* वर को मधुपर्क से पूजकर (नारा०) ॥

* लेकर जो यथाविधि कन्या का देना है, यह आर्ष (ऋषियों की) मर्यादा कही जाती है ॥२९॥ “तुम दोनों मिलकर अपने कर्त्तव्य को पूरा करो” यह बाणी से कहकर (वस्त्र भूषणादि) से पूज कर † जो कन्या का देना है, यह प्राजापत्य (प्राजापतियों की) मर्यादा कही गई है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥३२॥

(कन्या के) ज्ञातियों (पिता आदि) को और कन्या को यथाशक्ति धन देकर अपनी इच्छा से * कन्या का लेना आसुर (असुरों की) मर्यादा कही जाती है ॥ ३१ ॥ कन्या और वर का (दोनों की अपनी) इच्छा से संयोग, जोकि काम से उत्पन्न हुआ मैथुन सम्बन्धी है, वह गान्धर्व (गन्धर्वों की मर्यादा) जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधि रुच्यते ॥ ३३ ॥

(कन्या के रक्षकों को) मार काटकर और (किले को)

* नित्य के अग्निहोत्रादि धर्म कार्यों को पूरा करने के अर्थ कन्या को ही देने के लिए, न कि अपने पास रखने के लिये (देखो आगे ५१-५४) † वर को मधुपर्क से पूजकर, (नारा०, नन्द) ।

* अपनी इच्छा से न कि आर्ष की तरह धर्मार्थ (मेघा०, गो, कुल्लू, नारायण, नन्द) ॥

तोड़कर पुकारती और रोती हुई कन्या को बलात्कार घर से ले जाना राक्षस (राक्षसों की) मर्यादा कही जाती है *॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥३४॥

जब कोई पुरुष एकान्त सोई हुई वा नशा पी हुई वा प्रमत्त हुई (पागल हुई, घबराई हुई, वा और किसी तरह अपना शील बचाने से रहित हुई) के पास जाता है, तो वह विवाहों में से पाप का भरा हुआ अधम पैशाच (पिशाचों का विवाह) है ॥३४॥

अद्विरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।

सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तियतो मम ॥३६॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।

ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्नोचयेदेनसःपितृन् ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।

आर्षोढाजः सुतस्त्रीस्त्रीन्षट्षट् कायोढजःसुतः॥३८॥

* बलात्कार कन्या का हरना इतना ही राक्षस विवाह का लक्षण है, उसके रक्षकों को मारना काटना लक्षण का अङ्ग नहीं यदि वह अपनी निर्बलता देख कर न लड़े,तो फिर मारना काटना नहीं होता है । यह पुकारती रोती कहने से गान्धर्व विवाह से इसका भेद किया है ॥

जल से ही ब्राह्मणों का कन्यादान उत्तम होता है, और दूसरे वर्णों का आपस की इच्छा से होता है (नारियल आदि के भेज देने से भी होता है) ॥ ३५ ॥ इन विवाहों में से जिसका जो गुण मनुने बतलाया है, वह अब हेब्राह्मणो ! सुनो मैं सारा कहता हूँ ॥ ३६ ॥ ब्राह्म मर्यादा से विवाही का पुत्र पुण्यकर्मा होकर अपने वंश के (दस पीढ़ी तक) पूर्व पितरों को और दस (पीढ़ी तक) छोटी को और इक्कीसवें अपने आपको पाप से छुड़ाता * है ॥ ३७ ॥ दैव मर्यादा से विवाही का पुत्र सात २ बड़ों छोटी को (और पन्द्रहवें अपने आपको) आर्ष मर्यादा से विवाही का पुत्र तीन २ को, और प्राजापत्य मर्यादा से विवाही का पुत्र छः छः को (और अपने आपको) पाप से बचाता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥३९॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।

पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥४०॥

क्रम से कहे ब्राह्मादि चार विवाहों में ही ब्रह्मवर्चस (धर्म के तेज) वाले और शिष्टों के प्यारे पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

* ३७-४२ गौत० ४ । २९-३३ आप० २ । १२ । ४ बौध० १ । २१ । १ विष्णु० १४ । २९-३२ याज्ञ० १ । ५८-६०, ९० । इन विवाहों से उत्पन्न हुए पुत्रों का पुण्यकर्मा होना अधिक सम्भावित है । इस लिये (३७में) पुण्यकर्मा होकर कहा है । ऐसा पुण्यात्मा होता है, कि उसके पुण्य के प्रभाव से उसके पूर्व पितर नरक से बचते हैं, और उस के पुत्रादि निष्पाप होते हैं, यह इस का अभिप्राय है ।

सुन्दर रूप से और सत्त्वगुण से * युक्त, धनवाले, यशवाले, बहुत बड़े भोगोंवाले, बड़े धर्मात्मा होते हैं, और सौ वर्ष जीते हैं ॥ इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।

जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

अनन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।

निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

दूसरे कहे चार दुष्ट (आसुरादि) विवाहों में, क्रूर, झूठ बोलने वाले, वेद से और धर्म से द्वेष करनेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥ उत्तम स्त्री विवाहों से मनुष्यों की उत्तम सन्तान और निन्दितों से निन्दित होती है, इसलिये निन्दितों को छोड़ देवे ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।

असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्राहकर्मणि ॥ ४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।

वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

पाणिग्रहण (हाथ पकड़ने) का संस्कार अपने वर्ण की स्त्रियों में बतलाया है, जो अपने वर्ण की नहीं है, उन स्त्रियों के साथ विवाह में यह मर्यादा जानो † ॥ ४३ ॥ ‡ किं ऊंचे वर्णवाले

* सत्त्वगुण पर देखो आगे १२।३१; रूप सत्त्व और दूसरे गुण दया आदि से युक्त (राघव, कुल्लू) ॥

† विष्णु १४।५-८ याज्ञ० १।६२ ‡ क्षत्रिय और वैश्य की कन्या तीर और सांटे का एक सिरा पकड़ती है, और दूसरा सिरा बर पकड़ता है, उन्हीं मन्त्रों को पढ़ता हुआ, जो कि सवर्णा के विवाह में पढ़े जाते हैं (नारा०) ॥

पुरुष के विवाह में सत्रिया को तीर, वैश्य कन्या को सांटा और शूद्रा को वस्त्र का किनारा पकड़ना चाहिये ॥४४॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदार निरतः सदा ।

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥ ४६ ॥

ऋतुकाल में (अपनी स्त्री के पास) जाए, सदा अपनी स्त्री में प्रीतिवाला हो । स्त्रीव्रती हुआ * रति की इच्छा से † पर्व ‡ छोड़कर इसके पास जाए ॥ ४५ ॥ (पहले) चार दिन जो शिष्टों से निन्दित हैं, § उनके समेत सोलह (दिन) रातें (हर एक महीने में) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतु कहा गया है॥

तासामाद्याश्रतस्तु निन्दितैकादशी च या ।

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्मादयुग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवेस्त्रियम् ॥४८॥

* अपनी पत्नी से अतिरिक्त किसी को मन में भी न लाता हुआ † मेधातिथि और कुल्लूक इसका यह आशय लेते हैं, कि बिना भी ऋतुकाल के स्त्री की प्रीति के लिये रति की इच्छा से जावे । ‡ पर्व=अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी, चतुर्दशी (देखो आगे४।१२८) वासि० १२ । २१-२४ गौत० ५ । १-२ आप० २ । १ । १७-१८ बौध्वा० ४ । १७-१९ याज्ञ० १।८०-८१ विष्णु ६९।१ । § पहले चार दिन वर्जित हैं ॥ ॥ याज्ञ० १ । ७९ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः ।

समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥४९॥

इनमें से पहली चार और ग्यारहवीं और तेरहवीं (रातें) निन्दित हैं, शेष दस रातें उत्तम हैं ॥ ४७ ॥ (उन दसों में) जो युग्म हैं, उनमें पुत्र उत्पन्न होते हैं, और अयुग्म रात्रियों में कन्याएं होती हैं, इसलिए पुत्र चाहनेवाला ऋतु समय पर युग्मों में स्त्री के पास जाए * ॥४८॥ पुरुष का बीज अधिक हो, तो पुरुष उत्पन्न होता है, स्त्री का अधिक हो, तो स्त्री होती है, यदि (दोनों) बराबर हों तो नपुसंक (हीजड़ा) अथवा एक लड़का और एक लड़की होते हैं, यदि दोनों का बीज दुर्बल हो, वा अल्प हो, तो व्यर्थ जाता है ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

निन्दित (छः) रात्रियों में और आठ और रात्रियों में स्त्रियों को छोड़ता हुआ चाहे जिस आश्रम में हो ब्रह्मचारी ही है ॥५०॥

* याज्ञ० २ । ७८

† इससे एक ऋतुकाल में एक ही बार जाने वाले की प्रशंसा की है । पहली चार ग्यारहवीं और तेरहवीं यह छह रातें तो सब के लिए निन्दित हैं । इनके सिवाय आठ और त्याग देवे । तब सोलह में से शेष दो रातें एक युग्म एक अयुग्म रही । उनमें से पुत्र चाहनेवाला युग्म में और कन्या चाहनेवाला अयुग्म रात में एक ही ऋतु में एक ही बार जाए, तो वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के तुल्य है । यह प्रशंसा है । गोविन्दराज ने यह आशय लिया है, कि जिसका पुत्र मर गया है, वह यदि किसी और आश्रम में भी हो

नकन्यायाः पिता विद्वान् गृहीयाच्छुल्कमण्वपि ।

गृह्णच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।

नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥५२॥

(मर्यादा का) जाननेवाला कन्या का पिता थोड़ा भी शुल्क (मूल्य) न लेवे, क्योंकि जो लोभ से शुल्क लेता है, वह सन्तान का बेचनेवाला है * ॥ ५१ ॥ जो बान्धव (रिश्तेदार) अज्ञानता से स्त्रियों के निज के धनों को उपभोग करते हैं, उनकी गाड़ियों वा वस्त्र (वा कुछ और), वह पापी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥५२॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।

अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥५३॥

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

कई लोग आर्ष विवाह में गौ के जोड़े को शुल्क बतलाते हैं, पर यह झूठ ही है, इसतरह (शुल्क लेना) चाहे थोड़ा वा बहुत हो, वह (कन्या का) बेचनाही है † ॥ ५३ ॥ हां जिन कन्याओं

तो उसको पुत्र के लिए निरी दो रातों जाने में दोष नहीं है। कुल्लूक यह आशय लेता है, कि वानप्रस्थ में स्त्री साथ भी होसक्ती है, इसलिए स्त्री के संग होने में वानप्रस्थ को इतनी अनुज्ञा दी है, कि यदि वह ऋतुकाल में दो ही रातों में जाय, तो पापी नहीं होता ॥

* वासि० १। ३७-३८ आप० २। १३। ११ बौधा० १। २१। २-३

† वासि० १। ३६ आप० २। १३। १२

का शुल्क उनके बन्धु नहीं लेते, वह बेचना नहीं है, वह कुमारियों की पूजा है और निरी अनुकम्पा है * ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।

पूज्याभूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु तत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

(न केवल विवाहकाल में ही, किन्तु सर्वदा ही) पिता, भाई, पति और देवर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिए, कि स्त्रियों का मान करें, और उन्हें भूषित करें, ॥५५॥ जहां स्त्रियों का मान होता है, वहां देवता आनन्द मनाते हैं, और जहां इनका

* ५३-५४ का तात्पर्य यह है, कि आर्ष विवाह में गौओं का जोड़ा जो वर देता है, वह पिता अपने लिए नहीं लेता, किन्तु वह कन्या को ही देने के लिए लेता है जिस से कि उनके यज्ञादि धर्मकार्य न रुकें । क्योंकि यह स्त्रीधन हो जाता है, उसे कोई ले नहीं सकता, पति भी नहीं । और उस गौ जोड़े से जो आगे सन्तति बढ़ती है, वह भी स्त्रीधन ही होता है, इनको पति तंगी में भी बेच नहीं सकता । अतएव तंगी में भी उनके यज्ञादि कर्म नहीं रुकते । यही कन्या की पूजा है, और उसके घर में दूध दही सदा बना रहे, यह अनुकम्पा भी है । जो इसको शुल्क समझते हैं, वह भ्रान्त हैं । यह शुल्क नहीं । शुल्क चाहे कितना ही थोड़ा हो, वह बेचना ही है ॥

† ५५-६० याज्ञ० १।८२ ॥

मान नहीं होता है वहां सब कर्म निष्फल जाते हैं ॥ ५६ ॥ जहां कुलीन स्त्रियें शोक में रहती हैं, वह कुल जल्दी नष्ट होता है, और जहां यह शोक नहीं करती हैं, वह सदा बढ़ता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।

तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकौर्मैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

अनादर पाई स्त्रियें जिन घरों को शाप देती हैं, वह जादू (इन्द्रजाल) से नष्ट हुए की तरह बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥ इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि पर्वों और त्योहारों में वस्त्र भूषण और भोज्य वस्तुओं से सदा इनका मान करें ॥ ५९ ॥

सन्तुष्टो भायर्या भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

यदिहि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमादयेत् ।

अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ ६१ ॥

जिस कुल * में स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सदा प्रसन्न है, वहां कल्याण अटल है ॥ ६० ॥ क्योंकि यदि स्त्री न चमके, तो वह पति को उत्साह से नहीं भर सकती, और पति के उत्साह पूर्ण न होने से सन्तान नहीं होती है ॥ ६१ ॥

* कुल कहने से न केवल पति पत्नी ही, किन्तु पुत्र पौत्रादि सभी कल्याण भागी होते हैं ।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वे तद्रोचते कुलम् ।

तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

स्त्री के चमकने पर सारा कुल चमकता है, उसके न चमकने पर सारा कुल नहीं चमकता है ॥ ६२ ॥ निन्दित विवाहों से, क्रियाओं (संस्कारों और यज्ञों) के लोप से, वेद के न पढ़ने से, और ब्राह्मणों का अनादर करने से, (ऊँचे) कुल नीचे कुल होजाते हैं ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।

गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्च न नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।

कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानिमन्त्रतः ॥ ६५ ॥

दस्तकारी से, (रुपये के) व्यवहार से, निरा शूद्रा के पुत्रों से, गौ घोड़े और रथों (की तिजारत) से, खेती से, राजा की सेवा से*॥६४॥ यज्ञ कराने के अयोग्यों (ब्राह्मण, पतित आदि) को यज्ञ कराने से, कर्मों की नास्तिकता (कर्मों का परलोक में फल मिलने पर अश्रद्धा) से, कुल जल्दी नष्ट होजाते हैं, और जो मन्त्र से हीन हैं † ॥ ६५ ॥

* बाँधा ० १।१०।२८ † ३।१०।२६ यह विशेषतः ब्राह्मण के लिये है। इससे उस समय की छुटाई बड़ाई का आदर्श ज्ञात होता है, वेद में खेती आदि की प्रशंसा है ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महत्तशः ॥६६॥

पर जो कुल वेद से समृद्ध (वेद के धन से भरपूर) हैं, वह चाहे थोड़े धनवाले भी हों, वह कुलों की गिनती में आजाते हैं, और बड़ा यश खींच लेते हैं * ॥ ६६ ॥

संगति-विवाह प्रकरण समाप्त हुआ । अब गृहस्थ के लिये पांच महायज्ञों का विधान बतलाते हैं :-

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।

पञ्चयज्ञविधानं च पत्तिं चान्वाहिर्कीं गृही ॥६७॥

गृहस्थ अपने गृह्यकर्म और पञ्चयज्ञों का अनुष्ठान, और प्रति दिन का पाक विवाह के (समय स्थापन किये) आग्नमें किया करे†

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥६८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च कृता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

गृहस्थ के लिये पांच सूना (हत्यास्थान) हैं-चूल्हा, चक्री, बुहारी, ऊखल, मूसल, और पानी का घड़ा, जिनको काम में लाने से (पाप के बन्धनों से) बन्धता है ‡ ॥ ६८ ॥ क्रम से इन सब (सूनाओं) का बदला चुकाने के लिये § महर्षियों ने गृहस्थों के लिये पांच महायज्ञ नियत किये हैं ¶ ॥ ६९ ॥

* बौधा० १।१०।२९ गौत० ५।७ बौधा० २।४।२२ विष्णु ५९।१ याज्ञ० १।९७ गृह्यकर्म = वह सारे कर्म जो गृह्यसूत्रों में कहे गये हैं ॥

‡ विष्णु ५९।१९ § इन आवश्यक हत्याओं के बदले जीवों को सुख पहुंचाने के लिये ¶ ५९।२०

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
 होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥७०॥
 पञ्चैतान्योमहायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
 स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥
 देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
 न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥७२॥

पदाना (और पढ़ना) ब्रह्मयज्ञ (ब्रह्म के लिये यज्ञ), (पि-
 तरों को अन्न वा जल से) तर्पण, पितृयज्ञ (पितरों के लिए),
 होम, देवयज्ञ (देवताओं के लिये यज्ञ), (भूतों के लिये)
 बलि, भूतयज्ञ (भूतों=प्राणियों के लिये यज्ञ) और अतिथियों
 का पूजन मनुष्ययज्ञ (मनुष्यों के लिये यज्ञ) है * ॥७०॥ जो इन
 पांच महायज्ञों को यथाशक्ति † त्यागता नहीं है, वह सदा घर में
 रहता हुआ भी सूना के पापों से लिप्त नहीं होता है ॥ ७१ ॥ जो
 देवता, अतिथि अवश्य भरणीय ‡ (वह सब जिनका भरण पोषण
 उस पर आवश्यक है) पितर, और स्वयं आप इन पांच के लिये
 (अपनी कमाई में से) नहीं निकालता है, वह सांस लेता हुआ
 भी नहीं जीता है ॥ ७२ ॥

* गौत० ५।३।९ आप० १।१२।१५ बौध्वा २।५।११;
 २।११।१-६ विष्णु ५९।२१, २५ याज्ञ० १।१०२ † जब तक
 कर सकता है वा जैसा थोड़ा बहुत कर सका है, ‡ अवश्य भर-
 णीय=बुद्ध माता पिता आदि (मेघा०, गो० कुल्लू) अथवा पशु जो
 काम के अयोग्य होगये हैं (मेघा०) भूत (नारा० राघ) नन्द
 भृत्यानां के स्थान भूतानां पाठ पढ़ता है ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
 ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥
 जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
 ब्राह्म्यं हुतं त्रिजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥

इन पांच यज्ञों को अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित भी कहते हैं * ॥ ७३ ॥ अहुत (वेद का) जप है, हुत होम है, प्रहुत भूतों के लिये बलि है, ब्राह्महुत ब्राह्मणों (अतिथियों) की पूजा है, और प्राशित पितृ तर्पण है ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवेचैवेह कर्मणि ।
 दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्त्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥
 अमौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
 आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

(यदि और यज्ञ न कर सके, तौ भी) स्वाध्याय और दैवकर्म (होम) में यहां नित्य श्रुति लगा रहे, क्योंकि दैवकर्म में लगा हुआ, चर अचर दोनों को पालता है ॥ ७५ ॥ अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुंचती है, सूर्य से वृष्टि होता है, वृष्टि से अन्न, उस (अन्न) से सब प्राणधारी होते हैं + ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
 तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥
 यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
 गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

* देखो० पार०यु० १।४।१ शांखा०यु० १।५।१॥ † कासि० १।१३

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥७९॥

जैसे सब प्राणधारी वायु का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ का सहारा लेकर जीते हैं * ॥ ७७ ॥ जिस कारण तीनों आश्रमी (वेद के-) ज्ञान और अन्न (दान) से गृहस्थ से ही धारण किये जाते हैं, इससे गृहस्थ आश्रम सब से बड़ कर है ॥ ७८ ॥ यह आश्रम (=इस आश्रम के कर्त्तव्य) जो दुर्बल इन्द्रियवालों से धारण नहीं किया जासक्ता, इसको वह सावधान होकर धारण करे, जो कोई अक्षय स्वर्ग चाहता है, और यहां सदा का सुख चाहता है ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८०॥

स्वाध्यायेनार्चयेत्तर्पिन्होमैर्देवान्यथाविधि ।

पितृञ्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतान् बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि यह सब गृहस्थ से आश्ना रखते हैं (इसलिये धर्म के) जाननेवाले को इनके लिये करना चाहिये, (जो उसका कर्त्तव्य इनकी ओर है) ॥८०॥

‡ यथाविधि स्वाध्याय से ऋषियों को पूजे, होम से देवताओं को, श्राद्धों से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को, और बलि देने से भूतों को

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

* ७७-७८ ब्रासि० ८ । १४-१६ विष्णु ५९ । २७-२८ ॥

† विष्णु ५८ । २९ ‡ ब्राह्म० १ । १०४ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्किञ्चिद्वैदेश्वरं प्राति द्विजम् ॥ ८३ ॥

(पहले पितृयज्ञ कहते हैं) प्रतिदिन अन्न से वा जल से वा दूध से वा फल मूल से, श्राद्ध करे, इसप्रकार पितरों को प्रसन्न करे * ॥ ८२ ॥ पांच यज्ञों के सम्बन्ध में पितरों के निमित्त एक भी ब्राह्मण को जिमाए, पर इसमें विश्वेदेवों के लिये कोई ब्राह्मण न जिमाए † ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तर्यएव च ॥ ८५ ॥

कुह्वे चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।

सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

(देवयज्ञ-)जब वैश्वदेव के लिये अन्न तय्यार होजाए, तो उसमें से ब्राह्मण प्रतिदिन विधिपूर्वक गृह्य अग्नि में इन देवताओं के लिए होम करे † ॥ ८४ ॥ पहले अग्निके लिये फिर सोम के लिए, फिर एक साथ इन्हीं दोनों के लिए, फिर विश्वेदेवों के लिये, और फिर धन्वन्तरिके लिये ॥ ८५ ॥ कुहू के लिये, अनुमति के लिए, प्रजापति के लिए, एक साथ

* विष्णु ६७-२३-२५ † पार्वण श्राद्ध में जैसा पितरों के लिए वैसा विश्वेदेवों के लिये भी एक ब्राह्मण जिमाया जाता है, देखो आगे १२५ श्लोक । पर इस नित्य श्राद्ध में विश्वेदेवों के लिये कोई नहीं, केवल पितरों के लिए ही एक ब्राह्मण जिमाए यह अभिप्राय है ॥

‡ गौत० ५।१० आप० २।३।१६ विष्णु ६७।३

द्यौ और पृथिवी के लिए, और अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि के लिए *८६

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।

वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोल्लुखले हरेत् ॥ ८८ ॥

उच्छीर्ष के श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।

ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।

दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥९०॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

(वैश्वदेव— इसप्रकार विधिपूर्वक होम करके सारी दिशाओं में (पूर्वसे लेकर) दाएं हाथ के क्रम में, अपने पुरुषों समेत—इन्द्र, यम, वरुण, और सोम के लिए बलि देवे । ॥ ८७ ॥ मरुतों के लिए' कहकर द्वार में, 'जलों के लिए' कहकर जल में फेंके, 'वनस्पतियों के लिए' कह

*हर एक आहुते देवता का नाम चतुर्थी विभक्ति में बोलकर और अन्त में स्वाहा पद कहकर देनी चाहिये । अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, कुह्ये स्वाहा, अनुमत्यै स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा । सोम=चन्द्र, धन्वन्तरि=देव वैद्य, कुह्ये=अमावस्या, अनु-मति=पूर्णमा । स्विष्टकृत्=वह अग्नि जो यज्ञ को उत्तम बनाता है ।

† ८७—९२ गौत० ५।११—१७ आप० २।३। २-१५ विष्णु ६।७।४-२२, २६

कर ऊखल मूसल पर देवे॥८८॥(घर के)सिर अर्थात् उत्तर पूर्वदिशा में 'श्री के लिए' पाओं * अर्थात् दक्षिण पश्चिम दिशा में 'भद्रकाली के लिये' घर के मध्य में ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये बलि देवे ॥ ८९ ॥ विश्वेदेवों के लिए बलि ऊपर आकाश में फेंके, (दिन को) 'दिन में विचरने वाले भूतों के लिए' (रात को) 'रात में विचरनेवाले भूतों के लिये' (बलि देवे) ॥ ९० ॥ दूसरी मनजल वा छत † पर सर्वात्म भूति के लिये बलि देवे। इन बलियों से शेष बचा सारा अन्न दक्षिण दिशा में पितरों के लिए देवे § ॥ ११ ॥

* सिर और पाओं = गृहपात की शय्या के सिर और पाओं के निकट (मेधा०) † घर के पीछे (गो० नारा०) घर से बाहिर (नन्द) ‡ सार्वभूति (नारा० नन्द) सर्वान्भूति (गो०)

§ बलिकर्म में जिसको बलि दी जाती है, उसका नाम चतुर्थी विभाक्ति के साथ कहकर आगे नमः पद दिया जाता है, तदनुसार 'सानुगाय इन्द्राय नमः' इससे पूर्व में, 'सानुगाय यमाय नमः' इससे दक्षिण में 'सानुगाय वरुणाय नमः' इससे पश्चिम दिशा में, 'सानुगाय सोम इन्द्राय नमः' इससे उत्तर दिशा में, 'मरुद्भ्यो नमः' इससे द्वार पर 'अद्भ्यो नमः' इससे जलों में, 'वनस्पतिभ्यो नमः' इससे ऊखल वा मूसल के स्थान पर 'अग्नये नमः' इससे घर के सिर भाग अर्थात् उत्तर पूर्व दिशा में, (कइयों के अनुसार गृहपति की शय्या के सिरहाने के निकट) 'भद्रकाल्ये नमः' इससे घर के पाद अर्थात् दक्षिण पश्चिम दिशा में, (कइयों के अनुसार गृहपति की शय्या के पाओं की ओर) 'ब्रह्मणे नमः' 'वास्तोष्पतये नमः' इन दो से घर के मध्य में दो बलियाँ, 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' इससे घर के आकाश की ओर एक बलि फेंके, और दूसरी बलि दिन हो, तो 'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः' इससे ऊपर फेंके, सांझ हो तो 'नक्तचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः' इससे ऊपर फेंके, 'सर्वात्मभूतये नमः' इससे दूसरी मनजल वा छत पर, (कइयों के अनुसार घर के पिछवाड़े) बलि देवे। यह वैश्वदेव

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
 वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥
 एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
 स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना ॥ ९३ ॥

कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पाप रोगी (पिछले जन्म के पापों के रोगवाले, कुष्ठी आदि) कौए, और कृमियों के लिए धीरे से भूमि पर (अन्न) रखे ॥ ९२ ॥ इसप्रकार जो ब्राह्मण सब भूतों को नित्य पूजता है, वह सीधे मार्ग से सब से ऊँचे तेजोमय धाम (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥

जैसा मनु में लिखा है, वैसा स्पष्ट कर दिया है। आजकल एक पत्तल बना कर उसी को घर कल्पना करके उसी पर अपने २ स्थानों पर बलि रखते जाते हैं। यह बलि वैश्वदेव किस तरह प्रवृत्त हुआ ? प्रतीत होता है कि वनस्पतियों, पशुओं और दीन अनाथों का पालन इससे अभिप्रेत था। 'वनस्पतिभ्योनमः' का अर्थ वनस्पतियों की ओर झुकना = उनके हुकम होना अर्थात् वनस्पतियों को लगाना और उनको उपयुक्त खाद्य से पोषण करना तो मनुष्यों के लिये उपयोगी है। पर ऊँखल वा मूसल पर वा उसके निकट बलि रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतएव प्रवर्तक का यह आशय होसकता है, कि घर खुले हों, उनमें मरुतों के प्रवेश के लिये खुले और आमने सामने द्वार हो, शुद्ध जल पर्याप्त हो, आस पास फुलवाड़ी और वनस्पति हों, उत्तर पूर्व भाग शोभा से भरे हों, दक्षिण पश्चिम स्वास्थ्य के रक्षक हों, मध्य गृह में वेद की स्थापना हो, और वहाँ का मुखिया वा सभी लोग वास्तोष्पति सूक्त से परमात्मा की आराधना करें। घर में सूर्य की किरणों का प्रवेश खुला हो, और जब तुम छत पर बैठो, तो नक्षत्र, और तारों से भरा अनन्त आकाश तुम्हें विश्व के अन्तरात्मा की ओर झुकावे ॥

कृत्वैतदबलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।

भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥९४॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः ।

तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही ॥९५॥

यह बलि कर्म करके, तब वह पहले अतिथि को भोजन खेलाए, और भिक्षु (संन्यासी) और ब्रह्मचारी * को यथाविधि भिक्षा देवे ॥९४॥ गुरु को विधि अनुसार गौ देकर जिस पुण्यफल हो प्राप्त होता है ‡ उस पुण्यफल को भिक्षा देने से प्राप्त होता है भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।

वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपाद्यत् ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।

भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहादत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

विद्यातपः समृद्धेषु हुतं विप्रमुखामिषु ।

निस्तारयाति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

भिक्षा (वा न हो, तो) जलपात्रमात्र ही विधि पूर्वक स्तकार करके उस ब्राह्मण को देवे, जो वेद का सच्च अर्थ समझता है ॥ ९६ ॥ अनजान लोगों ने भूल से जो हव्य कव्य भस्मीभूत (वेद के तेज से शून्य) ब्राह्मणों को दिये हैं, वह उनके निष्फल

* अथवा भिक्षा मांगते हुए ब्रह्मचारी को (भेषा०)

† वासि० ११।५ बौघा० २।५।१५ याज्ञ० १।१०७ विष्णु ५९।१४; ६७।२७

‡ नन्द ' ऽगोर्यथाविधि ' पाठ पढ़ता है, अर्थ जिसके पास भी नहीं है, उसको यथाविधि गौ देकर ॥

जाते हैं * ॥९७॥ ब्राह्मणों के मुख जो विद्या और तप से पूर्ण हैं, वह (मानों यज्ञ की) अग्नियें हैं, उनमें जो कुछ होमा जाता है वह बड़ी कोठनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥

शिलानप्युच्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुहूतः ।

सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनार्चितो वसन्न ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥

(घर में) आप अतिथि को विधिपूर्वक सत्कार करके आसन, जल, और अन्न अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवे † ॥ ९९ ॥ ब्राह्मण बिन पूजे (घर में) रहता है, तो उसके सारे पुण्य को लेजाता है, चाहे वह भिन्ना भी चुनता हो, और पांचों अग्नियों ‡ भी होमता हो ॥ १०० ॥ (अन्न न हो, तो बैठने को) कुशा (रहने को) भूमि, जल और चौथी मीठी वाणी, ये (वस्तुएं) भलों के घरों में कभी दूर नहीं होती ॥ १०१ ॥

एकरात्रं तु निवसन्नातिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

* वासि० ३। ८ हव्य कव्य=देवता और पितरोंके लिए अन्न ।

† ९९-११८ वासि० ८।४।५; ११।१५ गौत० ५।२५-४५ आप० २।४।११, १३-२० बौध० २।५।११-१८; ६।३६-३७ विष्णु० ६७।२८-४६ याज्ञ० १।१०४-१०९, ११२-११३ ‡ पांच अग्नियें—आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण, सभ्य और आवसथ्य ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।

उपस्थितं गृहेविद्याद्वार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥१०३॥

केवल एक रात रहनेवाला ब्राह्मण अतिथि कहा गया है, जिसलिये वह लम्बा नहीं ठहरता, इसलिये अतिथि* कहलाता है, ॥ १०२ ॥ जो उसी ग्राममें रहता है, वा संगति से (किसी काम काज से उस ग्राम में) आया है, उसे ऐसे घर में उपस्थित हुए को भी अतिथि न जाने, जहां स्त्री भी है और अग्नियें भी हैं † ॥१०३॥

उपासते ये गृहस्थाः परंपाकमबुद्धयः ।

तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१०४॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योदो गृहमोधिना ।

कालेप्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहेवसेत् ॥१०५॥

जो मन्द बुद्धि गृहस्थ दूसरे के अन्न पर निर्वाह करते हैं, वह मरकर उस (परान्नभोजन) से अन्नादि देनेवालों के पशु बनते हैं ॥ १०४ ॥ वह अतिथि जो सायं समय सूर्य (के अस्त होने) ने भेजा है, उससे गृहस्थी को इन्कार नहीं करना चाहिए, वह (वैश्व देव के) समय पर आया हो, वा बिन समय (=भोजन कर चुकने के पीछे) पर बिन खाए इसके घर में न रहे ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्रीयादतिथिं यन्नभोजयेत् ।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥१०६॥

आसनावसथौ शय्यामनु व्रज्यामुपासनाम् ।

* अ—तिथि = नहीं तिथि दूसरी जिसकी । † जहां साय स्त्री और अग्नियें हैं, अर्थात् वैश्वदेव काल में उपस्थित हुआ है, तौभी ।

उत्तमेष्टमं कुर्याद्दीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

बह (वस्तु) स्वयं न खाए, जो अतिथि को न खिलाए, अतिथि का पूजन धन, यज्ञ, दीर्घ जीवन और स्वर्ग का देनेवाला है ॥ १०६ ॥ आसन, (ठहरने को) घर, शय्या, पीछे चलना और (ठहरे हुए को) आदरमान उत्तमों (अतिथियों) में उत्तम करे, हीनों में हीन, बराबरों में बराबर * ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।

तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।

भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

जब वैश्वदेव होचुका है, तब यदि और † अतिथि आ-जाए, तो उसको भी अन्न यथाशक्ति देवे, पर (दुबारा वैश्वदेव) बलि न करे ॥ १०८ ॥ भोजन के अर्थ ब्राह्मण अपना कुल और गोत्र न बतलाए, क्योंकि जो भोजन के अर्थ इनको बतलाता है, वह बुद्धिमानों से कै कियाहुआ स्नानेवाला कहाजाता है ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्यउच्यते ।

वैश्यश्चद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

यादित्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।

भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपिभोजयेत् ॥ १११ ॥

* गौत० ५। ३८ आदरमान = उनके साथ बैठना और उनसे बात चीत । यह विधि उस समय वर्तने के लिये है, जब बहुत से अतिथि एक समय इकट्ठे आजायें ॥ और कहने से यह अभिप्राय है, कि वैश्वदेव के पीछे जब अतिथि भोजन भी होचुका है, तब ॥

वैश्यश्चूद्रावपि प्राप्नोति कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण के घर में क्षत्रिय, (आता है, तो वह) अतिथि नहीं कहलाता है, न वैश्य और शूद्र, और न ही मित्र, ज्ञाति के लोग, और गुरु * ॥ ११० ॥ पर यदि अतिथि की मर्यादा से † कोई क्षत्रिय, ब्राह्मण (गृहस्थ) के घर में आता है, तो बेशक ब्राह्मणों के खा चुकने पर उसको भी भोजन कराए ॥ १११ ॥ वैश्य और शूद्र भी जो अतिथिमर्यादा से घर में आए हैं, उनको भी दयाभाव का बर्ताव करता हुआ भरने योग्यों ‡ के साथ खिछाए ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्यागृहमागतान् ।

सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सहर्भायया ॥ ११३ ॥

सुवासिनीःकुमारीश्चरोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।

अतिथिभ्योऽग्रएवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।

समुञ्जानोनजानातिश्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।

भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

* अतिथिपूजा का अधिकारी उत्कृष्ट वा सम होता है, इस लिये ब्राह्मण का क्षत्रियादि, क्षत्रिय का वैश्यादि और वैश्य का शूद्र अतिथि नहीं कहलाता है, मित्र और सम्बन्धी, सम्बन्धी होने से और गुरुस्वतः पूजनीय होने से अतिथि धर्म से प्राप्त हुए भी अतिथि नहीं कहलाते हैं † अतिथि की मर्यादा से = यात्रा में चलता हुआ भोजन का समय होजाने पर आया ‡ भरने योग्य = पुत्रादि; नौकर (कुल्लू)

और भी जो अपने मित्रादि प्रीति से घर में आए हैं, उनको भी अपनी शक्ति अनुसार अन्न तय्यार करके स्त्री के साथ* भोजन कराए ॥ ११३ ॥ नयी व्याही स्त्रियों, छोटी कन्याओं, रोगीजन और गर्भवती स्त्रियों को दिन बिचारे अतिथियों से पहले भोजन दे देवे ॥ ११४ ॥ जो अनजान इनको भोजन दिये बिना पहले आप खाता है, वह खाता हुआ नहीं जानता, कि (मरने के पीछे) वह आप कुत्ते और गीधों से खाया जाएगा ॥ ११५ ॥ जब ब्राह्मण, अपने ज्ञाति के लोग, और पोष्यवर्ग खाचुर्के, तिस के पीछे शेष बचे को स्त्री भर्त्ता खावें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और गृह्य देवताओं^१ को पूज कर पीछे जो बचा है, वह गृहस्थ खाए ॥ ११७ ॥ वह निरा पाप खाता है, जो निरा अपने निमित्त पकाता है, क्योंकि जो यज्ञ से बचा भोजन है, यह भलों का अन्न कहलाता है ॥ ११८ ॥

संगति—अतिथि के सिवाय और जो पूजा विशेष के योग्य हैं उन को बतलाते हैं :-

राजर्त्विक्स्नातकगुरु निप्रयश्चशुरमातुलान् ।

अर्हयेन्मधुपर्केण परिसम्पत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

* स्त्री के साथ = स्त्रा के भोजन का समय वही है, जो गृह पति का है देखो आगे ११६ अर्थात् अपने साथ खिलाए । छन्द की अपेक्षा से 'ऽऽत्मना' न बहकर भार्यया, कहा है ॥

^१ जिनका गृह्यसूत्रों में विधान है, बालि वैश्व के देवता ।

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।

मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥१२०॥

राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु, जामाता *श्वसुर और मामा यह जब फिर बरसके पीछे आवें, तो इनका मधुपर्क से पूजन करो ११९ राजा और वेद का जाननेवाला जब यज्ञ कर्म में आएँ, तो मधुपर्क से पूजा के योग्य हैं, बिनायज्ञ नहीं, यह स्यादा है ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।

वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

सायंकाल तय्यार हुए अन्न में से पत्नी बिना मन्त्र के बाले निकाले, क्योंकि यह वैश्वदेवकर्म सायंप्रातः किया जाता है ॥१२१॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽमिमान् ।

पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मामानुमासिकम् ॥१२२॥

पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।

तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समं ततः ॥ १२३ ॥

जो ब्राह्मण आग्निवाला (आग्नि स्थापन किये हुए हैं) वह पहले अमावस्या में (पिण्ड—) पितृयज्ञ करके फिर पिण्डान्वाहार्यक श्राद्ध † हर महीने किया करे § ॥ १२२ ॥ पितरों

* मित्र (नारा० नन्द०) † ११९-१२० वासि० ११ । १-२ गौत० ५।२७-३० आप० २।८।५९ बौधो० २।६।३६-३७ ब्राह्म० १।११०

‡ औतसूत्रों में पितरों के लिये पिण्ड पितृयज्ञ कहा है, (वेङ्को आश्व० औ० २।६७) उस पिण्ड पितृयज्ञ के पीछे करने से मासिक श्राद्ध का नाम पिण्डान्वाहार्यक वा अन्वाहार्य है § गौत० १५।२ याज्ञ० १।१२७ ॥

का जो मासिक श्राद्ध है, उसे बुद्धिमान अन्वाहार्य जानते हैं, वह उत्तम मांस से पूरी तय्यारी के साथ करे ॥ १२३ ॥

तत्रयेभोजनीयाः स्युर्येच वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।

यावन्तश्चैवयैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

सात्क्रियां देशकालौच शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।

पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

उसमें जैसों और जितने ब्राह्मणों को जैसे अन्नों से भोजन कराना चाहिये, और जिनको न कराना चाहिये, वह सब तुम्हें पूर्णतया बतलाऊंगा ॥ १२४ ॥ दो (ब्राह्मण) दैवकार्य (देव-ताओं के उद्देश्य से) और तीन पितृकर्म में, वा दोनों में एक २ (ब्राह्मण) जिमाए, चाहे बड़ा धनी भी हो, विस्तार में न लगे * ॥ १२५ ॥ विस्तार इन पांचों को हानि पहुंचाता है—(निमन्त्रितों) का सत्कार, (शास्त्रोक्त) स्थान और समय † शुद्धि और अच्छे ब्राह्मण, इसलिये विस्तार को न चाहे ‡ ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।

तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

* वासि० ११।२७ गौत० १५।८।२१ बौध० २।१५।१० विष्णु ७३।३—४ याज्ञ० १।२२८ ॥ वहां दैव आद्य पितृ आद्य का अंग है, स्वतंत्र नहीं, † स्थान दक्षिण को झुकता हुआ और समय दोपहर ढली ‡ वासि० ११।२६ बौध० २।१५।११ ॥

यह पितृकर्म जो अमावस्या के दिन कहा है, यह प्रेतकृत्वा (मरे हुएओं के लिये कर्म) प्रसिद्ध है, उस (पितृकर्म) में युक्त पुरुष को प्रेतकृत्वा प्राप्त होती है * जो स्मृति में[†] कही है॥१२७॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।

अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।

पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञानं बहूनपि ॥ १२९॥

देनेवालों को चाहिए, कि देवों और पितरों के लिए जो अन्न है, वह श्रोत्रिय को ही देवों, जो पूज्यतम ब्राह्मण को दिया है वह बड़े फलवाला होता है ‡ ॥१२८॥ एक२ भी विद्वान् ब्राह्मण को दैव और पित्र्य (श्राद्ध) में जिमाएँ, तो बड़ा फल पाता है, पर वेद के न जाननेवाले बहुतोंको भी जिमाकर नहीं ॥१२९॥

दूरादेवपरीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।

तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।

एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

वेद के पार पहुँचे ब्राह्मण को दूर से ही (न कि साक्षात् उसी से पूछकर) परीक्षा करे, वह दैव पित्र्य अन्नों का पात्र है दान देने में वह अतिथि (के तुल्य बड़ा फल देनेवाला) कहा है

* पितृकर्म में युक्त को प्राप्त होती है, अर्थात् पिण्ड पितृयज्ञ करनेवाला ही इसका अधिकारी है । (गुणवाले पुत्र पोते धन आदि फल के साथ यह करनेवाले को प्राप्त होती है-कुल्लू०)[†] यह प्रेतकृत्वा

* ॥ १३० ॥ वेद न जाननेवाले दस लक्ष भी जिस (श्राद्ध में) खाते हैं, वहाँ वेद के जाननेवाला केवल एक ही धर्म (के उत्पन्न करने) से उन सब की योग्यता रखता है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।
नहि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरैव शुद्ध्यतः ॥१३२॥
यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तश्चलष्ट्ययोगुडान् ॥१३३॥

(वेद के) ज्ञान में बड़े हुए को ही दैव और पित्र्य अन्न देने चाहिये, क्योंकि लहू से लिबड़े हुए हाथ लहू से ही शुद्ध नहीं होते हैं (मूर्ख को जिमाने का दोष मूर्ख से ही नहीं मिटता है) ॥१३२॥ वेद का न जाननेवाला ब्राह्मण दैव और पित्र्य अन्न में से जितने ग्रास खाता है, उतने जलते हुए सूत और नेत्रों के लोहे के गोले (दाता) मरकर खाता है ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठास्तथाऽपरे ।
तपः स्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वव चतुर्ध्वपि ॥१३५॥

कई ब्राह्मण ज्ञान (की दृष्टि) में लगे हुए हैं, दूसरे तप में लगे हुए हैं, कई तप और स्वाध्याय में लगे हुए हैं, दूसरे कर्म (यज्ञादि) में लगे हुए हैं ॥ १३४ ॥ पित्र्य अन्न सावधानी से

ज्ञान में लगे हुआ को देने चाहिएं, पर दैव अन्न (धर्म की)
नीति के अनुसार सभी (पूर्वकहे) चारों को ही (देवे)* ॥१३२॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।

अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पितास्याद्वेदपारगः॥१३६॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियःपिता।

मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

जिसका पिता श्रोत्रिय न हो, और पुत्र वेद के पार पढ़ा हुआ हो, अथवा पुत्र अश्रोत्रिय हो, और पिता वेद के पार पढ़ा हुआ हो † ॥ १३६ ॥ इन दोनों में से उसको बड़ा जाने, जिस का पिता वेद के पार पढ़ा हुआ है, और दूसरा वेद की पूजा के अर्थ आदर का हक रखता है (उसके द्वारा वेद ही पूजा जाता है)

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।

नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेदद्विजम्॥१३८॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।

तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविष्यु च॥१३९॥

* वासि० ११।१७ बोधा० २।१४।३ ॥

† १३६—१३७ अभिप्राय यह है, कि श्रोत्रिय का पुत्र हो, और स्वयं भी श्रोत्रिय हो, तो दूढ़कर भी उसे श्राद्ध में जिमाना चाहिये, न कि श्रोत्रिय के पुत्र को जो स्वयं अश्रोत्रिय ही हो, क्योंकि पूर्व श्लोक १२८ में जो 'श्रोत्रिय को ही' कहा है, उससे विरोध आता है (कुल्लू) (यहां मनुष्य के अपने गुणों की परवाह न करके कुलीनता को अधिक आदर देने का बीज अवश्य बोया हुआ है—अनुवादक) ॥

श्राद्ध में मित्र को न जिमाए, उसकी प्रीति (दूसरी) बहु-
मूल्य वस्तुओं से बनानी चाहिये, श्राद्ध में ऐसे ब्राह्मण को जिमाए
जिसको न अपना शत्रु समझे, न मित्र * ॥ १३८ ॥ जिसके
श्राद्ध और देवान्न प्रधानतया मित्रों के लिए हैं, † उसको मरकर
श्राद्धों का और देवान्नों का कोई फल नहीं होता है ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।

स स्वर्गाच्च्यवतेलोकाच्छ्राद्धमित्रोद्विजाधमः ॥१४०॥

संभोजनीसाऽभिद्विता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।

इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥१४१॥

वह द्विजों में अधम पुरुष, जो भूल से श्राद्ध के द्वारा मैत्री
बनाता है, वह स्वर्ग से गिर जाता है, क्योंकि वह श्राद्ध को मित्रों के
अर्थ करता है ॥ १४० ॥ यह दानक्रिया जो संभोजनी (मित्रों
और सम्बन्धियों की ज़ियाफ़्त) है, वह द्विजों से पैशाची ‡
कही गई है, वह इसी लोक में रहजाती है, जैसे अन्धी गौ एक
ही गोशाला में (ठहरी रहती है) § ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।

तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥१४२॥

दातृन्प्रतिग्रहीतृश्च कुरुते फलभागिनः ।

विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्यचेहच ॥१४३॥

* १३८-१४८ गौत० १५।१२-१४ आप० २।१७।४-६ बौध्वा०
२।१४।६ याज्ञ० १।२२० † मित्रों का देता है, वा मैत्री बनाने के
लिये देता है ॥ ‡ पैशाची = पिशाचों की मर्यादा। मरने के पीछे मित्रों
और सम्बन्धियों को सहभोज देने की पिशाचों में मर्यादा थी
§ २।१७।८-९॥

जैसे ऊसर में बीज बोकर बोनेवाला फल नहीं पाता है,
वैसे अश्रोत्रिय को हव्य देकर दाता फल नहीं पाता है ॥१४२॥
विधि के अनुसार विद्वान् को दान देना, देनेवालों और लेनेवालों
दोनों को परलोक में और यहां भी फल भागी बनाता है ॥१४३॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपित्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥१४४॥
यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्यु छन्दोगन्तु समाप्तिकम् ॥१४५॥
एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छश्वती साप्तपौरुषी ॥१४६॥

(विद्वान् ब्राह्मण न मिले तो) श्राद्ध में (विद्वान्) मित्र
को भले ही पूजे, पर (विद्या आदि से) योग्य भी शत्रु को नहीं,
क्योंकि जो अन्न द्वेषी से खाया गया है, वह परलोक में निष्फल
होता है ॥ १४४ ॥ श्राद्ध में (ऐसे विद्वानों को) यन्न से भोजन
कराए—यदि ऋग्वेदी है, तो वेद के पार पहुंचा हुआ है, यजु-
वेदी है, तो भी अपनी शाखा के अन्त तक पहुंचा हुआ है, सामवेदी
है, तो भी समाप्ति तक पहुंचा हुआ है ॥ १४५ ॥ इन तीनों में से
कोई एक पूरे भान के साथ जिसके (घर में) खाए, उसके पितरों
की सात पुरुषों तक तृप्ति होती है, और बड़े दीर्घकाल तक रहती है

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।

अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिर्नुष्ठितः ॥१४७॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।

दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

हव्य और कव्य के देने में यह (असम्बन्धी श्रोत्रिय को देना) मुख्य नियम है, और यह अगला भलों से सदा अनुष्ठान किया हुआ अनुनियम * जानना चाहिये ॥ १४७ ॥ कि नाना, मामा, भानजा, ससुर, आचार्य, दोहता, जामाता, बन्धु † ऋत्विज्, यजमान ‡ (इनमें से किसी) को जिमाए ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।

पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

ये स्तेनपतितकृत्वा ये च नास्तिकवृत्तयः ।

तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

धर्म का जाननेवाला दैवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करे, पर पित्र्यकर्म जब करने लगे, तो साधवानता से परीक्षा करे ॥ १४९ ॥ मनु ने कहा है, कि जो चोर, पतित, नपुंसक हैं, और जो नास्तिक वृत्ति ब्राह्मण हैं, वह हव्यकव्यमें अयोग्य है ॥

* मुख्य नियम के अभाव में बर्त्ता जानेवाला † बन्धु = सगोत्र भाई बन्धु; सगोत्रादि (सगोत्र और बाहर के रिश्तेदार भी) मेघा० गोविन्द) ‡ भानजे, दोहते, जामाता और ऋत्विज् को जिमाने का प्रचार तो अब भी है, पर इस समय का आचार नाने, मामे, ससुर और बन्धु को श्राद्ध जिमाने के सर्वथा विरुद्ध है, ससुरको जिमाने की विधि से यह भी स्पष्ट है, कि कन्या के घर का जल तक भी अङ्गीकार न करने का आचार इस स्मृति से पीछे का है, इस स्मृति में कन्या देने के बदले कुछ लेने का ही निषेध किया है, परस्पर खाने पीने का नहीं ॥

§ विष्णु ८२।१—२ नास्तिकवृत्ति = स्वयं नास्तिक अथवा नास्तिकों से जीविका पाने वाले ॥ १५०—१८२ वासि० ११।१९ गौ०

जटिलंचानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
 याजयन्ति च येषूगांस्तांश्चश्राद्धे न भोजयेत्॥१५१॥
 चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
 विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याःस्युर्हव्यकव्ययोः॥१५२॥

जो निरा जटावाला वेद न पढ़ा हो (ब्रह्मचारी)*, चमड़े के रोगवाला, जुवारिया और जो ससूहों को यज्ञ कराता है, † इन को श्राद्ध में न जिमाए ॥ १५१ ॥ वैद्य, पुजारी, मांस के बेचने वाले, और दूकानदारी से जीविका करनेवाले, यह हव्य कव्य में वर्जित हैं ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
 प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताभिर्वाधुषिस्तथा ॥१५३॥
 यक्ष्मीच पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
 ब्रह्मद्विदपरिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

ग्राम वा राजा का नौकर, कुरूप नखोंवाला, काले दांतों वाला, गुरु के प्रातिकूल चलनेवाला, जिसने (यज्ञ की) आग्नियों

१५। १६—१९; ३०—३१ आप० २। १७। २१ विष्णु ८२। ३—३० याज्ञ ९। २२२—२२४ ॥

* मेघा० और नन्द० ' दुर्बल ' पढ़कर ' गंजा, वा लाल बालों वाला ' अर्थ लेते हैं, † जीविका के लिए बहुतों को यज्ञ कराता फिरता है, न कि नियत यजमानों को यजमान की ओर अपने सारे कर्तव्यों का ध्यान रखता हुआ (अहीनसत्र में बहुत से इकट्ठे यजमानों को यज्ञ करानेवाला—नारा०) † श्राद्ध में कहने से दैव में निषेध नहीं, जहां दोनों में निषेध अभिप्रेत होता है, वहां हव्य कव्य वा ' दानों में ' कहते हैं [कुल्लू०] ॥

त्यागदी हुई हैं, और व्याज लेनेवाला ॥ १५३ ॥ तपदिकका रोगी (जीविका के लिए) पशुओं का पालनेवाला, परिवेत्ता (छोटा भाई जो बड़े से पहले विवाह और अग्नि स्थापन किये है) (पांच यज्ञों का) त्यागनेवाला, * ब्राह्मणों का द्वेषी, परिविंत्ति (बड़ा भाई जिसने छोटे के पीछे विवाह और अग्नि स्थापन किया है) समुदाय के अन्तर्गत † ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।

पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपत्तिर्गृहे ॥ १५५ ॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।

शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

नट, अवकीर्णी ‡ (जिस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य को तोड़ दिया है), जो निरा शूद्रा का ही पति है, पुनर्भू (दुबारा विवाही) का पुत्र, काना, और जिसके घर में उसकी स्त्री का जार हो ॥ १५५ ॥ वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन लेने वाले से पढ़ाया हुआ, शूद्र का शिष्य, वा शूद्र का गुरु, कठोर बोलनेवाला, § कुण्ड और गोलक ॥ ॥ १५६ ॥

* वेद का त्यागनेवाला (नो०) स्वाध्याय का त्यागी (नारा० मन्द०) † तिजाराबी कम्पनीका हिस्सेदार (सौदागरों का मुखिया नारा०) ॥

‡ कुल्लूक अवकीर्णी का अर्थ स्त्री संपर्क से नष्ट ब्रह्मचर्यवाला ब्रह्मचारी और संन्यासी दोनों लेता है, पर यह भूल है । ऐसा संन्यासी आरूढपतित कहलाता है, नकि अवकीर्णी; § वाग्दुष्ट वाणी से दूषित, जिसपर पातक लगा हो, अभिशस्त । (कई) ॥ कुण्ड और गोलक देखो आगे १७४ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
 ब्राह्मैर्योनैश्चसम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥
 अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
 समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

बिना (पूरे) कारण माता पिता और गुरु का त्यागनेवाला,
 वेद के (पढ़ने पढ़ाने के) वा रिश्तेदारी के सम्बन्धों द्वारा पतितों
 के साथ मिला हुआ ॥ १५७ ॥ घर को आग लगाने वाला, विष
 देनेवाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, सोम का बेचने वाला,
 समुद्र में जानेवाला, स्तुति पढ़नेवाला, तैल निकालने वाला, झूठ
 करने वाला, (झूठा साक्षी वा अनाज घृत आदि में मिलावट
 करके बेचनेवाला) ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
 पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥
 धनुः शराणां कर्ता च यश्चाग्नेदिधिषूपतिः ।
 मित्रधुग्घृतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

पिता के साथ झगड़नेवाला, * कितव + शराबी, पापरोगी,
 (कुछी आदि) जिस पर पातक लगा है, दम्भी, रस बेचने वाला, †
 ॥ १५९ ॥ धनुष और बाणों का बनानेवाला, भाई की विधवा

* पिता को जायदाद बांटने के लिए तंग करनेवाला, (मेघा०)
 मिलाओ गौत० १५।१९; शास्त्रार्थ वा लौकिक वस्तु में व्यर्थ झग-
 डने वाला, (कुल्लू०) † कितव=जुए घर का मालिक (मेघा०)
 अपने लिये दूसरे को जुआ खिलाने वाला, (गोवि० नन्द० कुल्लू०)
 खुशी के लिये जुआ खेलने वाला (नारा०) अथवा धूर्त=शरारती
 [नन्द०] केकरः इस पाठान्तर में तिरछा देखनेवाला ‡ खांड
 आदि बेचनेवाला ।

का पति * मित्र द्रोही, जूए पर जीविका करनेवाला, पुत्र से वेद पढ़नेवाला ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमालीच श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।

उन्मत्तोऽन्धश्च वज्र्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥१६१॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।

पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

मिरगीवाला, गण्डमाला (हंजीरां=गले में गिलटियों) वाला फुलबहरीवाला, चुगलखोर, पागल, अन्धा और वेद का निन्दक, यह सागने योग्य हैं ॥ १६१ ॥ हाथी, बैल, कुत्ते, और जंटों का सिंघानेवाला, नक्षत्रों से जीविका करनेवाला, पक्षियों का पालनेवाला† और युद्ध का आचार्य ‡ ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।

गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।

हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानांचैव याजकः ॥१६४॥

(जल के) प्रवाहों का तोड़नेवाला, (तोड़कर अपनी भूमि में ढालनेवाला) और उनके रोक देने में प्रीतिवाला, मिस्तरी का

* देखो आगे श्लोक १७३ । कई टीकाकारों ने लौगाक्षि के वचन के सहारे १७३ में कहे दिधिषूपति से इस अंग्रे दिधिषूपति को भिन्न मानकर यह अर्थ किया है । कि बड़ी बहिन से पहले जो छोटी बहिन विवाही जाए, वह अंग्रे दिधिषू उसका पति । पर इन दोनों में भेद करने में श्लोक १७३ निरर्थक हो जाता है ॥

† तिजारती पक्षियों तोते, बटेरे, कबूतर बाज आदि का ‡ मित्रों का बचाना सिखावने वाला ॥

काम करनेवाला, दूत, (जीविका के लिये) दृष्टों का लगानेवाला,
॥ १६३ ॥ खिलाड़ी कुत्तों का पालनेवाला, बाज़ों से जीविका
करनेवाला, कुमारी (लड़की) को दूषित करनेवाला, जीवों को
पीड़ा देने में प्रसन्न होनेवाला, शूद्र से जीविका पानेवाला, *
गणों का यज्ञ करनेवाला, † ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।

कृषिजीवी श्लीपदीच सद्भिर्निन्दितएवच ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापातिस्तथा ।

प्रेतानिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्त्यान्दिजाधमान् ।

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

आचार से हीन, नपुंसक (की तरह अपने कर्त्तव्य में नि-
रुत्साही), सदा मांगनेवाला, खेती से जीविका करनेवाला,
फ़ील पाओं रोगवाला, और भलों से निन्दित ॥ १६५ ॥ भेदों
और भैसों (के पालन) से जीविका वाला, दुबारा विवाहीका पाति,
मुरदों को उठाकर लेजाने वाला, (धन के अर्थ, न कि धर्मार्थ) यह
सब प्रयत्न से छोड़ने चाहिएं ॥ १६६ ॥ इन निन्दित आचारवाले

* ' वृषलपुत्रः ' इस पाठान्तर का अर्थ यह है, जिसके पुत्र
केवल शूद्रा स्त्री से ही हों, † यहां उस गण होम से अभिप्राय
प्रतीत होता है, जिसका बौध्दा० ४।८।१ में दूसरों के लिए निवेद्य
है; नारा० और नन्द० बहुतों वा समुदाय को यज्ञ करनेवाले से
अभिप्राय लेते हैं, मेधा० गो० कुल्लू० और राघव विनायकादि गणों
का यज्ञ करनेवाले से अभिप्राय लेते हैं । विनायकयज्ञ याज्ञ० १।
२७०-२९४ में है ॥

(भलों की-) पंक्ति के अयोग्य अधम ब्राह्मणों को विद्वान् उत्तम द्विज दोनों (हव्य कव्य) में छोड़ देवे ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणामिरिव शाम्यति ।

तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्पूर्वं फलोदयः ।

दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।

अपाङ्क्तेर्यैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

(वेद) न पढ़ा ब्राह्मण फूस की आग की तरह बुझ जाता है, * उसको हव्य नहीं देना चाहिये, क्योंकि भस्म में नहीं होमा जाता है ॥ १६८ ॥ पंक्ति के अयोग्यों को देवताओं वा पितरों के उद्देश्य से अन्न दान देने में दाता को मरने के पीछे जो फल होता है, वह तुम्हें पूरा कहूंगा ॥ १६९ ॥ (वेद के) व्रत से रहित † और परिवेत्ता आदि, तथा और भी जो पंक्ति के अयोग्य ब्राह्मण कहे हैं, उन्होंने जो अन्न खाया है, उसको राक्षस खाते हैं ॥ १७० ॥

संगति—अप्रसिद्ध होने से पूर्व कहे परिवेत्ता आदि का लक्षण कहते हैं :—

दासगृहिहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।

परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

* फूस की आग जैसे हवि को जलाने के समर्थ नहीं होती, हवि के डालने पर बुझ जाती है, उसमें होम निष्फल है, इसीतरह ब्रह्मतेज से शून्य ब्राह्मण हव्य कव्य खाकर बुझ जाता है । † ब्रह्मचारी (मेधा०) स्नातकादि व्रतों से हीन (नारा०) ॥

परिविचिः परीवेत्ता च यया च परिविद्यते ।

सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।

धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥१७३॥

बड़े भाई के रहते हुए, जो (छोटा भाई) स्त्री को और अग्नि-
होत्र का सम्बन्ध कर लेता है, उसको परिवेत्ता जानो, और बड़े
को परिविचि* ॥१७१॥ परिविचि, परिवेत्ता, और जिस कन्या
ने उस (छोटे) को पाया है, उस कन्या का देनेवाला, और पांचवां
विवाह करानेवाला, यह सब नरक को प्राप्त होते हैं + ॥१७२॥
मरे भाई की स्त्री चाहे धर्मानुसार नियुक्त भी हो, पर जो कामवश
उससे प्रेम करे + उसे दूषित जानो ॥१७३॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।

पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृतेर्भर्तारि गोलकः ॥१७४॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनां प्रेत्यचेहच ।

दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥१७५॥

कुण्ड और गोलक यह दो प्रकार के पुत्र परस्त्री में उत्पन्न
होते हैं। पति के जीते जो कुण्ड होता है, मरने पर गोलक ॥१७४॥
यह माणी जो परस्त्री में उत्पन्न हुए हैं, यह देनेवालों के हव्य कव्यों
को लोक परलोक दोनों में नष्ट करते हैं (परलोक में फल
नहीं होता और लोक में निन्दा होती है) ॥१७५॥

* प्रायः बड़े भाई से पहले अग्न्याधान लेने वाला पर्याधाता कह-
लाता है, और बड़ा भाई पर्याहित + बोधा २।१।३९॥

अपाङ्क्तयो यावतः पाङ्क्त्यान्मुञ्जानाननुपश्यति ।
 तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥१७६॥
 वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्ठेः श्वित्रो शतस्य तु ।
 पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥१७७॥
 यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।

तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥१७८॥

पंक्ति के अयोग्य (ब्राह्मण, श्राद्ध में) जितनों को भोजन करते देखता है, उतनों का फल वह मूर्ख दाता नहीं पाता है ॥१७६॥
 अन्धा देखकर * दाता के ९० (ब्राह्मणों के भोजन) के फल को नष्ट करता है, काना ६० के, फुलबहरीवाला १०० के, पाप रोगी हजार के ॥ १७७ ॥ शूद्र को यज्ञ करानेवाला भोजन के समय अपने अङ्गों से जितने ब्राह्मणों को छुए + उतनों के दान का श्राद्ध सम्बन्धी फल दाताको नहीं होता है ॥१७८॥

वेदविद्यापिविप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।

विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

ब्राह्मण भी लोभ से इसका दान लेवे, तो वह पानी में कच्चे बर्तन की तरह जल्दी नष्ट होजाता है ॥१७९॥

सोमविक्रयिणे विष्टा भिषजे पूयशोणितम् ।

नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

* अन्धे का देखना असम्भव है, इसलिए अभिप्राय यह है, कि अन्धा जब ऐसी जगह बैठा है, जहां से देखा जासکتा है, (कुल्हू) आसन अलग होनेसे मुख्य स्पर्श नहीं बनसکتा, इसलिए अभिप्राय यह है, जितनों की पंक्ति में बैठा है, उतनों के फल को (कुल्हू)

यत्तुवाणिजके दत्तं नेहनामुत्रतद्भवेत् ।
भस्मनीव द्रुतं हव्यं तथापौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

इतरेषुत्वपाङ्क्तयेषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।

मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यङ्गं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

सोम के बेचनेवाले को दिया (अन्न)विष्टा * होता है, वैद्य को दिया पीब और लहू, पुजारी को दिया नष्ट होता है, व्याज लेनेवाले को दिया प्रतिष्ठा(स्थिति) नहीं पाता है। १८०। व्यापार करने वाले को जो दिया है, वह न इस लोक में (लाभदायक) होता है, न परलोक में, और दुबारा विवाही के पुत्र को जो दिया है वह भस्म में डाली आहुति की तरह (निष्फल) होता है ॥ १८१ ॥ इनके सिवाय जो पंक्ति के अयोग्य असाधु पुरुष बतला आए हैं, उनको दिया अन्न विद्वान् कहते हैं, कि चर्बी, लहू, मांस, हड्डी होता है ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्तयोपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।

तान्निबोधत कात्स्नर्येन द्विजाग्रयान्पङ्क्तिपावनान् ॥

(अब) — पंक्ति के अयोग्यों से दूषित हुई पंक्ति जिन उत्तम ब्राह्मणों से पवित्र की जाती है, उन पंक्ति के पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पूरी तरह जानो ॥ १८३ ॥

अग्र्याःसर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।

श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाःपङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

* ऐसा मैला आहार कि देवता और पितरों के देखने के भी अयोग्य; (मेघा० गो० कुल्लू० और राघव—यह अभिप्राय लेते हैं, कि देनेवाला मरकर विष्टा का कीड़ा बनता है, इसीप्रकार आगे भी)

† १८३—१८६ वासि० ३। १९ गौत० १५। २८, ३१ आप० २। १७। २२ बौध० २। १४। २—३ याज्ञ० १। २१९—२२१ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाभिस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।

ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामगएव च ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।

शतायुश्चैव विज्ञेयाः ब्राह्मणाः षडङ्गिपावनाः ॥ १८६ ॥

यह ब्राह्मण पंक्ति को पवित्र करनेवाले जानने चाहियें, सारे वेदों में और सारे अङ्गों में जो श्रेष्ठ हैं, और जो श्रोत्रियों के वंश में उत्पन्न हुए हैं ॥ १८४ ॥ त्रिणाचिकेत * पांच अग्नियोंवाला † त्रिसुपर्ण ‡ छः अङ्गों का व्याख्याता, ब्राह्मी मर्यादा से विवाही का पुत्र, और ज्येष्ठ साम का गानेवाला ॥ १८५ ॥ वेद के अर्थ का जाननेवाला, और उपदेश करनेवाला, ब्रह्मचारी § जिसने सहस्र (गौ) दान दिया है, और सौ बरस की आयु का, यह ब्राह्मण पंक्ति के पवित्र करनेवाले जानने चाहियें ॥ १८६ ॥

* जिसने तीनबार नाचिकेत अग्नि प्रदीप्त की है अथवा जिसने तैत्तिरीयक कठवल्ली और शतपथ इन तीनों से नाचिकेत अग्नि का विषय जान लिया है । † जिसने गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण, सऽथ आवस्थ्य, इन पांच अग्नियों का स्थापन किया हुआ है (गो० कुल्लू० नन्द० राघव०) पञ्चाग्निविद्या का जाननेवाला, जो छांदोग्य उप० निषद् (४।१०-) में बतलाई है, (मेघा० नारा०) ‡ त्रिसुपर्ण-मेघा० नार० नन्द० के अनुसार तैत्ति० आर० १० । ३८-४० इन तीन ऋचाओं का जाननेवाला, गो० कुल्लू राघव के अनुसार ऋग् १० । ११४ । ३-५ इन तीन त्रिसुपर्ण ऋचाओं का जाननेवाला, आप० धर्मसूत्र० २। १७ । २२ की व्याख्या में हरदत्त लिखता है कि त्रिसुपर्ण से अभिप्राय 'चतुष्कपदी युवतिः सुपेशा' (तैत्ति० ब्राह्म० १ । २। १। २७) इत्यादि तीन मन्त्रों के जानने वाले से है वा 'ब्रह्म मेतुमा' इत्यादि तीन अनुवाकों के जाननेवाले से है यह तीन अनुवाक तैत्ति० आर० १०। ४८-५० हैं । § नन्द ब्रह्मचारी से अभिप्राय श्रद्धात्मा लेता है । (देखो पूर्व० ५०) ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
 निमन्त्रयेतत्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥१८७॥
 निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
 नच छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तदभवेत् ॥१८८॥
 निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्हिजान् ।
 वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

श्राद्ध कर्म के प्राप्त होने पर (श्राद्ध से) पहले दिन, वा उसी दिन पूर्व कहे, घटसे घट तीन ब्राह्मणों को सत्कार करके निमन्त्रण देवे * ॥१८७॥ श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण अपने आपको सदा बस में रक्खे और वेद न पढ़े, और जिसके (घर) वह श्राद्ध हो (वह भी वैसा हो) † ॥१८८॥ क्योंकि पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आजाते हैं, वायु ‡ की तरह उनके साथ चलते हैं, और उन के पास बैठते हैं, जब वह बैठते हैं ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
 कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥
 आमन्त्रितस्तुयःश्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
 दातुर्यद्भुतं किञ्चित्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

* वासि० ११ । १७ आप० २ । १७ । ११-१५ ब्राह्म० १ । २२५

† गौत० १५ । २२ ब्राह्म० १ । २२५ ॥

‡ वायु=प्राण=सांस (मेघा० गो० कुल्लू) मेघा० समझता है कि पितर निमन्त्रित ब्राह्मणों में प्रवेश कर जाते हैं ॥

अक्रोधनाःशौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।

न्यस्तशस्त्रामहाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥१९२॥

हव्य और कव्य में यथाविधि निमन्त्रित ब्राह्मण यदि किसी प्रकार भी उलंघता है, (श्राद्ध नहीं खाता है), तो वह पापी होता है, और (मरकर) सूअर बनता है ॥ १९० ॥ और श्राद्ध में निमन्त्रित हुआ जो ब्राह्मण शूद्रा * स्त्री के साथ आनन्द मनाता है, तो वह देनेवाले का जो २ पाप है उस सारे को प्राप्त होता है + ॥ १९१ ॥ पितर (सृष्टि के) आरम्भ समय के देवता हैं, जो क्रोध से राहित हैं, शौच में सावधान हैं, सदा ब्रह्मचारी हैं, शस्त्रों को त्यागे हुए हैं, बड़े धर्मात्मा हैं (इसलिये उनका श्राद्ध करने और खानेवाले को भी वैसाही होना चाहिये) ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।

ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयःसुताः ।

तेषामृषीणांसर्वेषां पुत्राःपितृगणाःस्मृताः ॥१९४॥

विश्वसुताः सोमसदः साध्यानां पितरःस्मृताः ।

अग्निष्वात्ताश्चदेवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१९५॥

अब इन सब पितरों की जिससे उत्पत्ति है, और जो (पितर) जिन लोगों से जिन नियमों द्वारा सेवनीय हैं, उसको पूर्णतया

*वर्णान्तरविवाहकी रीति विवाही श्राद्धार्थी देनेवाले के सारे पाप उसको भी लगते हैं। यह अभिप्राय नहीं, कि दाता के ही पाप उसे जालगते हैं, और दाता निष्पाप होजाता है, पेसा हो तो वह सारे पापों का बड़ा सुगम प्रायश्चित्त है ॥

जानो ॥ १९३ ॥ हिरण्यगर्भ का पुत्र जो मनु है, उसके पुत्र जो मरीचि आदि * ऋषि हैं उन सब ऋषियों के पुत्र पितृगण कहे हैं ॥ १९४ ॥ सोमसद जो विराट् के पुत्र हैं, वह साधारणों के पितर कहे गये हैं, और अग्निष्वात्त जो मरीचि के पुत्र हैं, वह देवताओं के (पितर) लोक में विख्यात हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।

सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।

वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां सुकालिनः ॥ १९७ ॥

सोमपास्तुकवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।

पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।

अग्निष्वात्तांश्चसौम्यांश्चविप्राणामेवनिर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

बर्हिषद जो अत्रि के पुत्र हैं, वह दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर कहे हैं ॥ १९६ ॥ सोमपा ब्राह्मणों के हैं, हविर्भुज क्षत्रियों के, आज्यपा वैश्यों के और सुकाली शूद्रों के हैं ॥ १९७ ॥ इनमें से सोमपा भृगु के पुत्र हैं, हविर्भुज अङ्गिरः के सुत हैं, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र हैं सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्त, और सौम्य इनको भी केवल ब्राह्मणों के (पितर) जाने ॥

य एतेतु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः ।

तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

* मरीचि आदि देखो पूर्व १ । ३५ ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथोवा राजतान्वितैः ।

वार्यपिश्रद्धया दत्तमक्षया योपकल्पते ॥ २०२ ॥

पर यह जो पितरों के मुख्यगण कहे हैं, इनके भी (आगे) अनगिनत पुत्र पोते जानने चाहिए (वह भी पितर हैं) *॥ २०० ॥ ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए हैं पितरों से देवता और दानव देवताओं से फिर क्रमसे चर अचर सारा जगत् (उत्पन्न) हुआ है ॥ २०१ ॥ चांदी के पात्रों से वा चांदी लगे पात्रों से जल भी इन (पितरों) को दिया हुआ अक्षय + (सुख) के लिये होता है ॥ देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।

दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

तेषामारक्षभृतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।

रक्षांसि हि विबुधं श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

देवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्वेत् ।

पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यतिसान्वयः ॥ २०५ ॥

पितृकार्यं द्विजों के लिए देवकार्य से बढ़कर है, क्योंकि देवकार्य पितृकार्य से पूर्व (उसी का) पूरा करनेवाला कहा है

* पूर्वोक्त, आदि पितरों के क्रम से ही अपने पिता, पितामह प्रपितामह की उत्पत्ति होने से सोमपादि भी पूजित हुए आर्य का फल देने के समर्थ होते हैं, इसलिये पिता आदि के आर्य की स्तुति के लिये यह सोमपाआदि पितृगणों का वर्णन है, (कुबज ०) † (पितरों की) अक्षय-तृप्ति के लिए (मेघ ०) ॥

* ॥ २०३॥ उन (पितरों) की रक्षा के तौर पर पहले देव-
ताओं के उद्देश्य से (ब्राह्मण) को निमन्त्रण दे, क्योंकि राक्षस
उस श्राद्धको नाश कर देते हैं जो ऐसी रक्षा से हीन है ॥ २०४॥
इसलिए उसे श्राद्ध के आदि और अन्त में देवकर्म करना चा-
हिए † क्योंकि जो आदि और अन्त में पितृकर्म करता है, वह
शीघ्र वंशसमेत नष्ट होजाता है ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।

दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।

विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

साफ सुथरे अलग स्थानको गोबरसे लीपे, और सावधानता
से दक्षिण को ढलवान बनावे ‡ ॥ २०६ ॥ खुले स्वभाव शुद्ध
§ स्थानों वा नदियों के किनारों पर वा अलग (एकान्त) स्थानों
में दिष्ट अन्न से पितर सदा प्रसन्न होते हैं ॥ २०७ ॥

आसनेषूपकल्पितेषु बर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक् ।

उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

* हर एक श्राद्ध का आरम्भ वैश्वदेव से होना चाहिये, एक
ब्राह्मण वैश्वदेव के लिए अवश्य हो । † अभिप्राय यह है, कि वैश्व
देव के लिए ब्राह्मण को निमन्त्रण भी पहले दे, और पूजा भी पहले
करे, पीछे पितरों के उद्देश्य से, पर विमर्जन पितृहिष्ट ब्राह्मणों का
पहले करे, पीछे वैश्वदेव वाले ब्राह्मण का । इसप्रकार पितृकार्य के
आदि और अन्त में देवकार्य होजाता है ॥

‡ गौत० १५ । २५ आप० २ । १८ । १४ याज्ञ० १ । २२७ §
चोक्ष=स्वभाव शुद्ध=जङ्गल आदि ; चोक्ष=प्यारे (नन्द, राघ०) ॥

उपवेश्यतुतान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरचेयद्देपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

वहाँ जब कुशा समेत* आसन अलग २ रख दिये जाएं, तो उन पर यथाविधि आचमन कर चुके उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणों को बिठलाए † ॥ २०८ ॥ दोषों से रहित उन ब्राह्मणों को आसनों पर बिठलाकर सुगन्धित गन्ध (केसर धूपादि) मालाओं से विश्वे देवों के ब्राह्मण से आरम्भ करके पूजे ‡ ॥ २०९ ॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अमौकुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥
अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाऽऽप्यायनमादितः ।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात् संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

उनको जल, तिल और पवित्र देकर (उनमें) अनुज्ञा लेकर उन सब ब्राह्मणों के साथ अग्नि में होम करे § ॥ २१० ॥ पहले (श्राद्ध की रक्षा के लिए) यथाविधि हवि देने से अग्नि, सोम और यम को तृप्त करके पीछे पितरों को तृप्त करे ॥ २११ ॥

अग्न्यऽभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

* देव ब्राह्मण के आसन पर दो कुशा उत्तर की ओर अग्रवाली और पितरों के आसनों पर एक २ कुशा दक्षिण की ओर अग्रवाली रखे, (देवल) † याज्ञ० १ । २२६ ‡ याज्ञ० १ । २३१ विष्णु० ७३ । २ ।

§ आप २ । १७ । १७-१९ बौद्धा २ । १४ । ७ याज्ञ० १ । २२९ । विष्णु ८३ । ५ ॥ बौद्धा ० २ । १४ । ७ विष्णु ७३ । १२

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।

लोकस्याप्यायने युक्तान्श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् २१३

(स्थापन किया हुआ) अग्नि न हो*तो किसी ब्राह्मण के हाथ पर ही (यह तीन आहुतियों) देदेवे, क्योंकि वेद के जानने वाले ब्राह्मण कहते हैं (जो अग्नि है) वह ब्राह्मण है † ॥ २१२ ॥ (और) इन उत्तम ब्राह्मणों को श्राद्ध के देवता कहते हैं, जो पुरातन हैं, क्रोध से रहित, आसानी से प्रसन्न होनेवाले लोक की भलाई में लगे हुए हैं ‡ ॥ २१३ ॥

अपसव्यमग्नौकृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।

अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकंभुवि ॥ २१४ ॥

त्रिस्तुतस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।

औदकेनैव विधिना निर्वपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

न्युप्यपिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।

तेषु दर्भेषुतं हस्तं निमृज्यालेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

* अग्नि का न होना इन अवस्थाओं में होता है जबतक उपनयन नहीं हुआ, स्नातक हो कर जबतक विवाह नहीं गया वा जिस की स्त्री मर गई है † अश्व० गृ० ४।८।५-६ ‡ श्लोक का अभिप्राय यह है, कि निमग्नान्त ब्राह्मण पितरों के तुल्य हैं, जो पितर कि श्राद्ध के देवता हैं, इस लिये श्राद्ध में इनके हाथ पर ही आहुति देदेवे । पुरातन का अभिप्राय मेघा० लेता है कल्प के आरम्भ में उत्पन्न हुए, जब कि साध्य उत्पन्न हुए । गो० कुलू और राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, जो प्रवाह से अनादि हैं, नारा० यह लेता है, जो दूसरे सब वर्णों से पहले हुए हैं । पर मेघा० पुरातनाः, पाठ को विशेष मानता है पुराने अर्थ-लोग कहते हैं, इत्यादि । यही नन्द ने माना है ॥

अग्नि में (होम, और) सारी विधि* अपसव्य† करके हाथ
‡ से (पिण्डों के रखने के) स्थान पर जल डाले ॥ २१४ ॥
(होम से) बचे उस अन्न से तीन पिण्ड बनाकर एकाग्र (चिच)
हो दक्षिण की ओर मुख करके जल (देने) की रीति से ही (उन
पिण्डों को कुशा पर) रखे ॥ २१५ ॥ (उक्त) विधि के
अनुसार उन पिण्डों को रखकर उस हाथ को लेपभागी पितरों‡
की तृप्ति के लिये उन कुशाओं पर पोंछ डाले ॥ २१६ ॥

आचम्योदकपरावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।

षड्भुतंश्चनमस्कुर्यात्पितृनेवचमन्त्रवित् ॥ २१७ ॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।

अवजिघ्रेक्षतान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकांमात्रां समादायानुपूर्वशः ।

तेनैवविप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमशयेत् ॥ २१९ ॥

(अब) आचमन करके उत्तर की ओर मुख मो , धीरे २

* सारी विधि=जल का छिड़कना, अग्नि के चारों ओर
कुशा बिछाना आदि † अपसव्य=जनेऊ को पितृसव्य (प्राचीना-
धीति) करके (देखो पूर्व २।६३) (अपसव्य=दक्षिणसंस्थ=ऐसी
रीति से जल छिड़कना आदि करे, कि उसकी समाप्ति दक्षिण में
हो-कुल्लू) ‡ अपसव्य हाथ=पितृसव्य हाथ = पितृतीर्थ (देखो
पूर्व २।५९) (अपसव्य हाथ = दायीं हाथ = कुल्लू) § लेपभागी
पिण्ड बनाकर रखने में जो अन्न हाथके साथ लगा रहजाता है, उसके
हकदार । पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीन के लिये तीन पिण्ड
होते हैं, आगे तीन पीढ़ी अर्थात् प्रपितामह के पिता, पितामह प्रपि-
तामह लेपभागी होते हैं (देखो विष्णु ७३।२२)

तीनबार प्राणों को खींचकर (प्राणायाम कर), मन्त्र का जानने वाला (यजमान) छः ऋतुओं (के देवताओं) को और पितरों को नमस्कारकरे * ॥ २१७ ॥ शेष जल † को क्रम से फिर पिण्डों के पास छोड़े, और एकाग्र (मन) होकर रखने के क्रम से उन पिण्डों को सूंघे ‡ ॥ २१८ ॥ अब क्रमशः पिण्डों से बहुत थोड़ा २ सा अंश लेकर उन्हीं § बैठे हुए ब्राह्मणों को (श्राद्ध भोजन से) पहले यथाविधि खिलाए** ॥ २१९ ॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।

विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

पर यदि यजमान का पिता जीता है, तो (पिता से) पहले तीनों को ही (पिण्ड) देवे, अथवा उस अपने पिता को श्राद्ध में ब्राह्मण की तरह जिमाए †† ॥ २२० ॥

* वसन्तायनमः, इत्यादि से ऋतुओं को, और 'नमो वः पितरो रसाय' इत्यादि से पितरों को, पितरों को नमस्कार करने में फिर दक्षिणमुख होजाना चाहिए † पिण्ड देने के स्थान जो जल छिड़का था, उससे बचा हुआ जो पात्र में रक्खा है, वह जल ‡ विष्णु ७३ । २३ § उन्हीं = जो पितरों के उद्देश्य से बुलाए गए हैं, न कि उस ब्राह्मण को जो वैश्वदेव के लिए बिठलाया गया है ॥ यथाविधि = जो विधि आगे २२३ में कहेंगे, तदनुसार (नन्द) आचमनादि करने के पीछे (नारा०) ** पिता के पिण्ड से लिया अंश पित्रासन पर बैठे ब्राह्मण को खिलाए, इसी तरह पितामह प्रपितामह के ब्राह्मण को (कुल्ल) ॥

†† विष्णु ७५ । १, ४; यह नियम ऐसे अवसर के लिए है, कि जब पिता के जीवनकाल में ही पुत्र ने अग्न्याधान कर लिया है, तो वैसे पर्व के दिन पिण्डपितृयज्ञ और तिस पीछे पार्वण श्राद्ध करना ही चाहिए, अब पिता तो उसका जीता है, और पिण्ड पितृयज्ञ

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।

पितुःसनाम संकीर्त्य कीर्त्तयेत्प्रपितामहम् ॥२२१॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।

कामंवा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥२२२॥

जिसका पिता मर गया हो, और पितामह जीता हो, वह पिता का नाम बोलकर प्रपितामह का बोले * ॥ २२१ ॥ या पितामह उस श्राद्ध को खालेवे, † यह मनु ने कहा है, या उसकी अनुज्ञा लेकर स्वयमेव जैसा चाहता है करे ‡ ॥ २२२ ॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।

तात्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधैषामस्त्वितिब्रुवन् ॥२२३॥

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।

विप्रान्तिके पितृन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥२२४॥

और श्राद्ध उसे करना ही है, सो वह पिता के नाम न पिण्ड देवे, न उसका श्राद्ध करे, किन्तु पिता जिनको पिण्ड देता है, उन तीनोंको—पिता के पिता, पितामह, प्रपितामह को, ही पुत्र भी पिण्ड देवे, और इन्हीं का श्राद्ध करे, अथवा यह करे कि पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए ही पिण्डादि करे, पर ब्राह्मण दो ही बुलाए, एक पितामह को दूसरा प्रपितामह के स्थान, पिता के आसन पर अपने साक्षात् पिताको बिठलाए, और उसीको पिताका पिण्ड और श्राद्ध जिमाए ॥

* २२१-२२२ विष्णु ७५ । ६ † अथवा जैसे जीवित पिता को भोजन बन सकता है, वैसे जीवित पितामह को करा देवे ‡ पिता प्रपितामह का पिण्डादि करे, बीच में से पितामह को छोड़ ही देवे, अथवा तीनों का करे, और पितामह को साक्षात् खिला देवे, अथवा पिता प्रपितामह और ब्रह्म पितामह इन तीनों का करे, बीच में से पितामह को छोड़ देवे ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।

तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

*उन (ब्राह्मणों) के हाथों पर पवित्र सहित तिल और जल देकर 'इनको स्वधा हो' † यह कहता हुआ वह पिण्ड का अंश देवे ॥ २२३ ॥ फिर (परोसने के लिए) अन्न से पूर्ण (पात्र) को स्वयं दोनों हाथों से लेजाकर पितरों का ध्यान करता हुआ ब्राह्मणों के पास धीरे से रखे ॥ २२४ ॥ क्योंकि उस अन्न को दुष्ट बुद्धिवाले असुर झट उड़ा लेजाते हैं, जो दोनों हाथों में पकड़े बिना लेजाया जाता है ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु ।

विन्यसेत्प्रयतःपूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।

हृद्यानि चैवमांसानि पानानिसुरभीणि च ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।

परिवेषयेत्प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

शुद्ध और सावधान होकर गुणवाले दाल साग आदि और दूध, दही, घी, शहद को पहले भूमि पर रखे ॥ २२६ ॥ (तथा) अनेक प्रकार का सख्त (चबाकर खाने योग्य लड्डू आदि) और नर्म (क्षीरादि) भोजन, मूल, फल, स्वादु मांस और सुगन्धित, पान ॥ २२७ ॥ यह सब (ब्राह्मणों के) पास लाकर शुद्ध और

* पूर्व २१९ में जो पिण्ड का अंश लेकर ब्राह्मणों को देना कहा है, वह इसप्रकार देवे, † पित्रेस्वधा ऽस्तु, पितामहाय स्वधा ऽस्तु, प्रपितामहाय स्वधा ऽस्तु, वासि० ११।२५ बौचा० २।१५३ ॥

एकाग्र होकर (यह मीठा है, यह खट्टा है, इसप्रकार) सारे गुणों को बतलाता हुआ धीरे २ परोसे ॥ २२८ ॥

नास्रमापातयेज्जातु नकुप्येन्नानृतं वदेत् ।
नपादेन स्पृशेदन्नं नचैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।

पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायंश्चावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणिचैवाहि ।

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानिच ॥ २३२ ॥

आंसु बिल्कुल न बहाए, न क्रोध करे, न झूठ बोले, न अन्न पैर से छुए, न इसे हिला २ कर (थाल में) फैके ॥ २२९ ॥ आंसु (बहाना अन्न को) प्रेतों को पहुंचाता है, क्रोध शत्रुओं को, झूठ कुत्तों को, पाओं का स्पर्श राक्षसों को, और हिला २ कर फैकना पापियों को (पहुंचाता है) ॥ २३० ॥ ब्राह्मणों को जो २ (अन्न) रुचे, वह २ बिना कंजूसपन के देवे, वैदिक रहस्यों की बात चीत * करे, पितरों को यह अभीष्ट है † ॥ २३१ ॥ श्राद्ध में (यजमान नि-मान्त्रित ब्राह्मणों को) वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान ‡ (Legendary story) इतिहास, पुराण और खिल[§] सुनावे ॥ २३२ ॥

* 'ब्रह्मोद्याः कथाः' जैसा कि आश्वलायन श्रौतसूत्र १०।९।
२ में बतलाई हैं, (मेधा० नन्द०) 'ब्रह्मोद्याः यह यह परिभाषा वैदिक कथाओं के लिए है, जैसे देवासुर संग्राम सरमा पाणियों की कथाएं

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैःशनैः ।

अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपिदौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।

कुतपं चासनेदद्यात्तिलैश्चाविकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

त्रीणिश्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।

त्रीणिचात्रप्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

स्वयं प्रसन्न हुआ ब्राह्मणों को (प्यारी बातों से) प्रसन्नकरे,
और धीरे २ (हरएक भोजन) खिळावे, और बार २ उत्तमअन्न से
और उन के गुणों से इनको प्रेरे, (यह स्वादु है, यह रोचक है, लीजिये)
॥ २३३ ॥ दोहता चाहे ब्रह्मचारी भी हो, तौ भी यत्न से उसे
श्राद्ध में जिमाए । और (हरएक ब्राह्मण के) आसन पर नेपाली
कंबल रक्खे, और (श्राद्ध-) भूमि पर तिल बिखेरे ॥ २३४ ॥
श्राद्ध में तीन पवित्र (पवित्रता के साधन) हैं—दोहता नेपाली कंबल
और तिल । और तीन (बातों) की इसमें प्रशंसा करते हैं—पवि-
तत्रा, क्रोध न करना और जल्दी न करनी * ॥ २३५ ॥

अत्युष्णंसर्वमन्नस्याद्भुञ्जीरंस्तेच वाग्यताः ।

नचद्विजातयोब्रूयुर्दात्रापृष्टाहविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

(मेधा०) परमात्मा की निरूपण करनेवाली कथाएं (गो० कुल्ह०
नारा० राघ०) † याज्ञ० १ । २३९ § आख्यान, सौपर्ण मैत्रा
वरुणादि (मेधा० गो० कु० राघ०) § खिल=परिशिष्ट श्रीसुकावि
† बोधा० २ । १४ । ५ याज्ञ० १ । २३९ विष्णु० ७३ । १६ ॥
* बा० सि० ११ । ३५-३६ ।

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्रन्ति वाग्यताः ।
 पितरस्तावदश्रन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥२३७॥
 यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यदभुङ्क्ते दाक्षिणामुखः ।
 सोपानत्कश्चयदभुङ्क्ते तद्वै रक्षांसिभुञ्जते ॥२३८॥

अन्न सारा गर्म हो, और वह (ब्राह्मण) चुपचाप भोजन करें, और (चाहे) दाता (भी) पूछे, (तौ भी) ब्राह्मण अन्न के गुणों को न कहें (चुप रहें*) ॥ २३६ ॥ क्योंकि जब तक अन्न गर्म है, जब तक चुपचाप खाते हैं, और जब तक हवि के गुण नहीं कहे हैं, तब तक (ही) पितर खाते हैं † ॥२३७॥ (ब्राह्मण) जो अन्न सिर को लपेटे हुए खाता है, जो दाक्षिणमुख होकर खाता है और जो खड़ाओं पहने हुए खाता है, वह राक्षस खाते हैं ‡ ॥ २३८ ॥

चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटःश्चा तथैव च ।

रजस्वलाच षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्रतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।

दैवे कर्मणि पित्र्येवा तद्रच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।

श्वातु दृष्टि निपातेन स्पर्शोनावरवर्णजः ॥२४१॥

चण्डाल, (ग्राम का) सूअर, कुक्कुट, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक यह ब्राह्मणों को न देखें, जब वह भोजन कर रहे हों *

* विष्णु० ८१।२० † वासि० ११ । ३२ विष्णु० ८१ । २०

‡ विष्णु० ८१ । १२—१४ ॥

* गौत० १५ । २४ आप० २ । १७ । २० ॥

॥ २३९ ॥ क्योंकि होम में, (गौआदि) के दान में (ब्राह्मणों को) भोजन देने में, दैवकर्म में, वा पित्र्यकर्म में यदि यह देखते हैं, तो वह कर्म निष्फल जाता है ॥ २४१ ॥ सूअर (देने योग्य वस्तु को) सूँघने से निकम्पी कर देता है, कुक्कुड़ अपने पंखों की पवन से, कुत्ता दृष्टि डालने से, और शूद्र छूने से ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदिवा काणो दातुः प्रेष्योऽपिवा भवेत् ।

हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

ब्राह्मणं भिक्षुकंवापि भोजनार्थमुपस्थितम् ।

ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

लंगड़ा, वा काना, न्यून वा अधिक अङ्गोंवाला हो, वा दाता का दास भी * हो, उसको भी (श्राद्ध के स्थान से) निकाल देवे † ॥ २४२ ॥ (गृहस्थ) ब्राह्मण ‡ वा कोई भिक्षुक भोजन के लिए आया हो, तो ब्राह्मणों से अनुज्ञा लेकर शक्ति अनुसार (उसको भी—भोजनदान वा भिक्षादान से) पूजे § ॥ २४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।

समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुल योषिताम् ।

उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्चयः ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगत मजिह्मस्याशठस्य च ।

दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

* दास शूद्र होता है, अभिप्राय यह है, कि घर का नौकर भी शूद्र वहां न रहे । † विष्णु० ८१ । १५-१६ ‡ अतिथिरूप से आया, ब्राह्मण (मेवा० गो० कुल्लू०) § विष्णु० ८१ । १८ ॥

सब प्रकार के अन्न को इकट्ठा मिलाकर और जल से (उन को) छिड़ककर खाचुके हुआ के आगे भूमि पर (कुशा के ऊपर) बिखेर देवे * ॥ २४४ ॥ (पात्रों में बचा हुआ) उच्छिष्ट और कुशा पर का बिखेर उनका भाग होता है, जिन (बच्चों) का दाह संस्कार नहीं हुआ † वा जिन्होंने (अन्याय से) कुलीन स्त्रियों का त्याग किया है ‡ ॥ २४५ ॥ और उच्छिष्ट जो भूमि पर गिरी है, वह ऐसे दास समुदाय का श्राद्ध में हिस्सा कहते हैं, जो न कुटिल (ईमानदार) और कर्त्तव्यको पूरा करता है § ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।

अदैवंभोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकंतु निर्वपेत् ॥२४७॥

सहापिण्डक्रियायांतु कृतायामस्य धर्मतः ।

अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

सपिण्डीक्रिया * करने तक मरे द्विज का श्राद्ध बिना वैश्य

* विष्णु० ८१-२१ † देखो ५। ६८ ‡ वासि० ११। २३-२४ विष्णु० ८१। २२ 'त्यागिनां कुलयोषिताम्' का अर्थ जो ऊपर दिया है, वही मेघा०कुल्लू० ने दिया है। नारा० ने त्यागी से अभिप्राय शुद्ध आदि के त्यागनेवाले और कुल स्त्रियों से बिन विवाही कुल स्त्रियों लिया है। गोविन्द ने अपने कुल को त्यागकर निकल गई कुल स्त्रियों लिया है। नारा० ने आत्महत्या करने वाले पुरुष और निःसन्तान स्त्रियों लिया है, नन्द ने 'त्यागिनां' का अर्थ संन्यासी लिया है § विष्णु० ८१। २३

* सपिण्डी क्रिया वा सपिण्डी करण = श्राद्ध विशेष, जो मृत-बन्धु के लिए किया जाता है, इसके पीछे वह अपने पितरों में मिल जाता है, तब उनके साथ इसका पिण्ड होता है। यह कर्म मरने के एक वर्ष पीछे किया जाता है, पर आज कल प्रायः १२ दिन पीछे कर लेते हैं। सपिण्डी करण से पहले जो उसके लिए श्राद्ध किया

देव के खिलाए, और एक पिण्ड देवे * ॥ २४७ ॥ पर जब धर्म के अनुसार उसका सपिण्डीकरण होजाए, तब उसके पुत्रोंको इसी विधि से उसका पिण्ड देना चाहिए ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।

समृद्धो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥२४९॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।

तस्याःपुत्रीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

जो श्राद्ध खाकर उच्छिष्ट शूद्र को देता है, वह मूढ़ उलटे सिर कालसूत्र नरक में पड़ता है ॥ २४९ ॥ श्राद्ध का खाने वाला यदि उसी दिन शूद्रा + स्त्री की शय्या पर जाता है, तो उसके पितर वह महीना उस स्त्री के विष्टा में लेटते हैं ॥ २५० ॥

पृष्ठा स्वादितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।

आचान्तांश्रानुजानीयादभितोरम्यतामिति ॥२५१॥

स्वधास्त्वित्येवतंब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।

स्वधाकारः परं ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।

यथा ब्रूयुस्तथाकुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥२५३ ॥

जात है, उसे एकोद्दिष्ट कहते हैं अर्थात् निरा एक के उद्देश्य से किया आ * याज्ञ० १।२५० विष्णु० २१।२—१२, १९ ॥

† वृषली = शूद्रा, यहां स्त्री के अर्थ में है, ' वृषस्यन्ती = पुरुष को चपल करनेवाली ' (नारा०) ॥

पित्र्येस्वदितमित्येवं वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

आपने अच्छी तरह भोजन कर लिया है, यह पूछकर तुम
हुओं को फिर आचमन कराएँ, जब आचमन कर चुकें, तो उन्हें
अनुज्ञा देवे, कि यथेष्ट (यहाँ वा अपने घर) आराम कीजिए*
॥ २५१ ॥ इस (अनुज्ञा) के अनन्तर ब्राह्मण उसको 'स्वधाऽस्तु'
कहें, क्योंकि सारे पितृकर्मों (श्राद्ध तर्पणादि) में स्वधा शब्द
बड़ा उत्तम आशीर्वाद है † ॥ २५२ ॥ तब खाचुके हुए उन ब्राह्मणों
को बचा अन्न निवेदन करे (कि शेष अन्न भी है) और उन
से अनुज्ञा लेकर जैसा वह कहें, वैसा करे ॥ २५३ ॥ पित्र्य (श्राद्ध)
में (ब्राह्मणों को तृप्ति पृष्ठने के लिए) 'स्वदितं', कहना चाहिए,
गोष्ठी श्राद्ध ‡ में 'सुश्रुतं' वृद्धि श्राद्ध § में 'सम्पन्नं' और
दैवश्राद्ध में 'रुचितं' (कहना चाहिये) ॥ २५४ ॥

अपराहस्तथादर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्दिजाश्रय्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥ २५५ ॥
दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ २५६ ॥

* याज्ञ० १।२४२ विष्णु ७३।२६-२७ 'अभितो रम्यतां' के
स्थान 'अभिभोरम्यतां' 'हे आराम कीजिये' (कुल्लू) 'अभितो
रम्यतां' जहाँ अभीष्ट हो जाइये, (राघ०) † याज्ञ० १।२४३ ॥

‡ गोष्ठे=गोमण्डल के लिए गोशाला में ब्राह्मण भोजन (नारा०)
§ वृद्धि श्राद्ध जो किसी उत्सव के अवसर पर किया जाता है,
जैसे विवाह में, इसी को नान्दीमुख कहते हैं ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।

अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥२५७॥

दोपहर ढली का समय, कुशा, स्थान का उत्तम बनाना, तिल, (उदारता में अन्न) देना (अन्न का) स्वच्छता से बनाना, और श्रेष्ठ ब्राह्मण यह श्राद्ध कर्म की सम्पदा हैं ॥ २२५ ॥ कुशा, पवित्र करनेवाले (मन्त्र) * सवेर का समय, वह सब अन्न जो होम के योग्य होते हैं, और वह पवित्रता के साधन जो पूर्व कहे हैं †, यह दैवकर्म की सम्पदा हैं ॥ २५६ ॥ वानप्रस्थों के अन्न, दूध, सोमरस, और मांस जो (मसालों से) बना हुआ नहीं, और लवण जो बनावटी नहीं, यह स्वभावतः हवि कही जाती है ॥२५७॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।

दाक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितृन् ॥२५८॥

“दातारोनोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।

श्रद्धाचनोमाव्यगमद्वबहुदेयंचनोऽस्तिवाति” ॥२५९॥

उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणों को बिदा करके, एकाग्रमन, चुपचाप, शुद्ध हो, दक्षिणादिशा की ओर देखता हुआ पितरों से यह वर मांगे ॥ २५८ ॥ हमारे (कुल में) उदार पुरुष, वेद और सन्तति बढ़े, श्रद्धा हमसे मत दूर हो, और हमारे पास देने को बहुत कुछ हो ‡ ॥ २५९ ॥

* यव जल आदि (नारा०) नन्द ‘दर्भपवित्रं’ पढ़कर ‘कुशा के पवित्रे’ अर्थ करता है । † पवित्र स्थान आदि ॥

‡ याज्ञ० १ । २४५ विष्णु० ७३ । २८ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
 गांविप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वाक्षिपेत् ॥२६०॥
 पिण्डनिर्वपणं केचित् परस्तादेव कुर्वते ।
 वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्राक्षिपन्त्यनलेऽप्सुवा ॥२६१॥
 पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
 मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥२६२॥
 आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
 धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकंधार्मिकंतथा ॥२६३॥

इसप्रकार * पिण्ड देकर पीछे उन पिण्डों को गौ, ब्राह्मण, बकरे वा अग्नि को खिलाए, वा जलों में फेंके ॥ २६० ॥ पिण्ड दान कई (ब्राह्मण भोजन के) पीछे ‡ करते हैं, दूसरे पक्षियों को खिला देते हैं, वा अग्नि वा जल में डाल देते हैं ॥ २६१ ॥ (यजमान की) पतिव्रता, धर्मपत्नी जो पितृपूजन में प्रेमवाली है वह यदि पुत्र की इच्छावाली हो, तो इनमें से मध्यम पिण्ड (पिता-मह के पिण्ड) को यथाविधि खालेवे ॥ २६२ ॥ (इसप्रकार) वह दीर्घायु, यश और मेधा से युक्त, धनवन्त, सन्ततिवाले, सत्त्वगुणी धार्मिकपुत्र को जन्म देती है ॥ २६३ ॥

* पूर्व २५० में कहे प्रकार † याज्ञ० १। २५६ ‡ यह पाठ पुरस्तात्, पाया जाता है, पर मेधा० और कुल्लू० ने जो अर्थ किया है— ' पीछे ' इस अर्थ से ' परस्तात् ' पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि पुरस्तात् का अर्थ सदा ' पहले ' होता है, न कि ' पीछे ' । राघ० की टीका में ' परस्तात् ' स्पष्ट है । नाश० और नन्द ' पुरस्तात् ' पढ़ते हैं, और अर्थ भी ' पहले ' करते हैं, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि पहले पिण्ड देना, जो पूर्व २१८ में कहा है, उससे यहां मतभेद दिखलाया है

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।

ज्ञातिभ्यःसत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥२६४॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।

ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥२६५॥

हाथ धोकर और आचमन करके अपने ज्ञातियों को भोजन कराए, ज्ञातियों को आदर पूर्वक देकर बान्धवों (मातृपक्ष के सम्बन्धियों मामे आदि) को भी देवे ॥ २६४ ॥ पर वह (ब्राह्मणों का) उच्छिष्ट पड़ा रहे, जब तक ब्राह्मणों को बिदा नहीं किया, (पीछे पोंछ देवे) । पीछे (निस का) गृहबलि (वैश्वदेव) करे, यह धर्म की व्यवस्था है ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।

पितृभ्यो विधिवदत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

तिलैर्ब्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।

दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥२६७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान्हारिणेन तु ।

औरभ्रेणाथचतुरः शाकुनेनाथ पञ्चवै ॥ २६८ ॥

अब—पितरों को यथाविधि दिया जो अन्न चिरकाल और जो अनन्त काल की तृप्ति के लिए समर्थ होता है, वह तुम्हें पूरा २ बतलाऊंगा ॥२६६॥ यथाविधि दिये तिल, धान, जौ, माष, जल, मूल, वा फल से मनुष्यों के पितर एक महीना तृप्त रहते हैं * ॥ २६७ ॥ मछली

* २६७—२७२ गौत० १५।१ ५ आप० २।१६-१६-१७, २३ याज्ञ० १।२५७-२५९ विष्णु ८० ॥

के मांस से दो महीने, हरिण के मांस से तीन महीने, भेंडे के मांस से चार महीने और पक्षियों के मांस से पांच महीने ॥ २६८ ॥

षणमासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।

अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥२६९॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।

शशकूर्मयोस्तुमासेन मासानेकादशैवतु ॥ २७० ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।

वार्धीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

मेमने के मांस से छः महीने, चितकबरे हिरण के मांस से सात महीने, काले हिरण के मांस से आठ महीने, और गौरमुख हिरण के मांस से नौ महीने ॥ २६९ ॥ (जङ्गली) सूअर और भैंसे के मांस से दस महीने, शश (खरगोश) और कन्दुए के मांस से ग्यारह महीने तृप्त रहते हैं ॥ २७० ॥ गौ के दूधसे बारह महीने तृप्त रहते हैं। और वार्धीणसके* मांससे बारह बरसकी तृप्ति होती है ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।

आनन्त्यायैवकल्पन्ते मुन्यन्नानिचसर्वशः ॥ २७२ ॥

यत्किञ्चिन्मधुनामिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।

तदप्यक्षयमेवस्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

अपिनःसकुलेजायाद्योनो दद्यात् त्रयोदशीम् ।

पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छायेकुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

* वार्धीणस=कुलंग पक्षी; लम्बे कानोंवाला भवेत् बूढाबकरा(कु०)

काल शाक * महाशल्क † गैंडे और काले बकरे का मांस और शहद और वानप्रस्थियों के सब प्रकार के अन्न अनन्तकाल के लिये समर्थ होते हैं ॥ २७२ ॥ जो कोई (अन्न) शहद से मिला हुआ त्रयोदशी के दिन ‡ वर्षा ऋतु में मघा नक्षत्र में देवे, वह अक्षय (तृप्ति के लिए) होता है § ॥ २७३ ॥ (पितर कहते हैं) ऐसा पुरुष हमारे कुल में उत्पन्न हो, जो हमको त्रयोदशी को शहद और घी से युक्त खीर देवे, जब कि हाथी की छाया पूर्व को हो, (अर्थात् दिन ढला हुआ हो) ॥ २७४ ॥

यद्यद्दाति विधिवत्सम्यक्श्रद्धासमन्वितः ।

तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥२७५॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।

श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैतानतथेतराः ॥२७६॥

युष्मद् कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।

अयुष्मद् पितॄन् च नृजान् प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥२७७॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्नादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

श्रद्धा से पूर्ण पुरुष विधि के अनुसार जो २ वस्तु भली भान्ति देता है, वह परलोक में पितरों के लिए अनन्त और अक्षय

* कालशाक (शाक विशेष) मेघा० इसका दूसरा नाम ' कृष्ण वासुदेव ' और नन्द ' कृष्णनिम्ब ' लिखता है । † महाशल्क = मछली विशेष ‡ भाद्रपदी की त्रयोदशी § याज्ञ० १ । २६० ; विष्णु ७६ । १ ॥ वासि० ११ । ४० विष्णु ७८ । ५१-५२ याज्ञ० १ । २१७ पर मिताक्षरा में भाद्रपदी त्रयोदशी को महालय श्राद्ध कहा है ॥

होती है ॥ २७६ ॥ कृष्णपक्ष में चौदस के सिवाय * दसमी आदि सब तिथियां श्राद्ध में अच्छी हैं, जैसी यह हैं, वैसी और नहीं † ॥ २७६ ॥ युग्म तिथियों और नक्षत्रों में (श्राद्ध) करता हुआ सारी कामनाओं को प्राप्त होता है और अयुग्मों में पितरों को पूजता हुआ पुष्कल सन्तान पाता है ‡ ॥ २७७ ॥ श्राद्ध में जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष बढ़कर होता है। वैसे दिन के पहले हिस्से से पिछला हिस्सा बढ़कर होता है § ॥ २७८ ॥

प्राचीनात्रीतिनासम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।

पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवददर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

रात्रौश्राद्धंनकुर्वीत राक्षसी कीर्तिताहि सा ।

सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

अनेनविधिनाश्राद्धं त्रिरब्धस्येहनिर्वपेत् ।

हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

नपैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौविधीयते ।

नदर्शेनविनाश्राद्धमाहितामोर्द्धिजन्मनः ॥ २८२ ॥

पितृकर्म, यज्ञोपवीत को दाएं कन्धे पर रखकर, हाथ में कुशा लेकर, यथाविधि पितृ तीर्थ से समाप्ति पर्यन्त सावधान होकर

* चौदस को षण्णो छोड़ना, इसमें युक्ति देखो, विष्णु ७८। ५०
† वासि० ११ । १६ गौत० १५। ३ आप० २। १७। ६ याज्ञ० १।
२६३ ‡ मेघा०, गो०, नंद, राघ०, कुल्लू० के अर्थानुसार 'पितृनर्चन'
पाठ असली प्रतीत होता है। 'पितृन् सर्वांन्' पाठ जो छपे पुस्तकों
में हैं, निरर्थक है। युग्म तिथियां द्वितीयादि, युग्म नक्षत्र भरणी आदि
गौत० १५। ४ आप० २। १७। ८-२२ याज्ञ० २। २६७ § विष्णु ७८।
८-४६ ॥ आप० २। १७। ५ ॥

करना चाहिए ॥ २७९ ॥ रात्रि में श्राद्ध न करे क्योंकि वह (रात्रि) राक्षसों सम्बन्धी कही गई है । तथा दोनों सन्ध्याओं में और थोड़ा ही सूर्य चढ़े तक (भी न करे) * ॥ २८० ॥ इस विधि के अनुसार (महीनो महीना न होसके, तो अन्ततः) बरस में तीनवार श्राद्ध देवे, (जाड़े में, गर्मी में और बरसात में) पर पञ्च महायज्ञों के अन्तर्गत (श्राद्ध) को प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥ पितृयज्ञ सम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं किया जाता है, और जिसने अग्नि स्थापन किया हुआ है, उस द्विज को अमावस्या के बिना † श्राद्ध नहीं कहा है ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्याद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥
वसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥

स्नान करके ब्राह्मण निरे जलों से भी जो पितरों को तृप्त करता है, वह उतनेहीसे पितृयज्ञ कर्म का पूरा फल पाता है ॥ २८३ ॥ पितरों को वसु कहते हैं, पितामहों को रुद्र, प्रपितामहों को आदित्य, यह सनातन श्रुति है ॥ २८४ ॥ सदा विघस भोजन करे, वा सदा अमृत भोजन करे, विघस (ब्राह्मणों के) खाने से बचा हुआ (अन्न) है, और अमृत का यज्ञ शेष (कहलाता) है ॥ २८५ ॥

* आप० २। १७। २३ † दशमी आदि तिथियों में (देखो पूर्व २७६) ।

‡ मृतक श्राद्ध और मांस भोजन आर्य समाज के मन्तव्य के विरुद्ध है ॥

एतद्भोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।

द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥

यह तुम्हें पञ्चयज्ञ सम्बन्धी सारी विधि बतलादी है, अब ब्राह्मणों की आजीविका की विधि सुनो ॥ २८६ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

संगति-तीसरे में विवाह और विवाहित द्विजों के धर्मकार्य कह कर अब चौथे में ब्राह्मण की आजीविकाओं और उनके विशेष धर्मों का वर्णन करते हैं:-

चतुथमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

अद्रोहेणैव भृतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।

या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैःकर्मभिरगर्हितैः ।

अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ३ ॥

(मनुष्य की) आयु का पहला चौथा भाग; गुरु के पास रहकर, आयु के दूसरे (चौथे) भाग में पत्नीवाला बनकर घर में रहे ॥ १ ॥ आपत्ति रहित काल में ब्राह्मण ऐसी जीविका से जीवन करे, जो औरों को पीड़ा दिए बिना हो, अथवा फिर छोटी सी पीड़ा देने से हो ॥ २ ॥ (जीवन-) यात्रा मात्र * की सिद्धि के लिए (शास्त्र में) न निन्दे हुए अपने कर्मों से शरीर को तंग न करके धन का सञ्चय करे ॥ ३ ॥

* शरीर को स्वस्थ और बलवान् रखने और धर्म कार्योंको पूरा करने मात्र के लिये धन संचय करे, न कि भोग विलास के लिए ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।

सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥

ऋतमुञ्छाशीलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।

मृतंतुयाचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

ऋत और अमृत से वा मृत और प्रमृत से अथवा सत्यानृत से जीविका करे, पर श्ववृत्ति से कभी नहीं* ॥ ४ ॥ उञ्छ और शिल (अनाज के दानों और अनाज की मञ्जरियों के चुनने) को ऋत जानो, बिन मांगा (मिला) अमृत है, मांगी हुई भिक्षा मृत है और खेती प्रमृत कही गई है ॥५॥ व्यापार सत्यानृत है, उससे भी जीविका कीजाती है, सेवा श्ववृत्ति कही है, इसलिए उसे त्याग देवे ॥ ६ ॥

* ४-६ ऋत=सत्य, वह जीविका जिसमें झूठ वा बनावट (चापलूसी आदि) का नाम नहीं। अमृत=अमृत तुल्य। मृत=मरी हुई जीविका 'मांगन गए सो मर रहे, मर रहे सो मांगन जाए'। प्रमृत=जिसमें बहुतों की हिंसा हो, भूमि जोतने आदि में अनेक जीवों का मारना होता है, और पक्षी अनपक्षी खेतीसे पशुओं पक्षियों को ताड़ना मारना होता है, (पर वेद में खेती की प्रशंसा है, निन्दा नहीं—संगदक) सत्यानृत=सच और झूठ। व्यापार में सच झूठ मिला रहता है। यद्यपि व्यापारमें भी सत्यवादी ही होना चाहिये, पर ऐसा होता कहीं कोई विरलाही है। इसीलिये इसे सत्यानृत कहा है। श्ववृत्ति=कुत्ते की जीविका-सेवा करनेवाला स्वामी को दीनदृष्टि से देखता है, झिड़कें सहता है, इत्यादि श्ववृत्ति से जीविका पाता है ॥

कुशूलधान्यको वास्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।

त्र्यहैहिकोवापिभवेदश्वस्तनिकएव वा ॥ ७ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।

ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते ।

द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

उसके पास या तो कोठी भर अनाज रहे, वा मटकाभर,* वा तीन दिन के लिए जितना पर्याप्त हो अथवा कल के लिए भी न हो ॥ ७ ॥ इन चारों ब्राह्मण गृहस्थों में से परला घरवा श्रेष्ठ जानो, जो अपने पुण्य से लोक को जीतनेवालों में सब से आगे रहता है ॥ ८ ॥ इनमें से एक छः कर्मोंवाला होता है, दूसरा तीन से जीविका करता है, एक दो से चौथा ब्रह्मसत्र से जीविका करता है † ॥ ९ ॥

वर्त्तयंश्च शिलोज्ज्वाभ्यामभिहोत्रपरायणः ।

इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥१०॥

*कुशूल = कोठी; और कुम्भी = मटका, पर इनपर मित्र २ टीकाकारोंकी भिन्न २ टिप्पनियां हैं—कुशूल, अर्थात् जितना अनाज अपने परिवार और नौकरों के तीन बरस के लिए पर्याप्त हो (मेघा०) बारह दिन के लिए पर्याप्त हो (गोवि०) तीन वर्ष वा अधिक के लिए पर्याप्त हो (कुल्लू०) एक वर्ष वा छः महीने वा तीन महीने के लिये पर्याप्त हो, (नारा०) कुम्भी = एक वर्ष के लिए पर्याप्त (कुल्लू० राघ०) बौघा० सू० सू० १।१।५ की टीका में गोवि० १० दिन के लिए पर्याप्त अर्थ लेता है । † छः कर्म पूर्व श्लोक ५-६ में कहे ऋत अमृत भिक्षा केती व्यापार और व्याज।तीन-पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना । दो-पढ़ाना यज्ञ कराना। एक-पढ़ाना ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
 अजिह्यामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥
 सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
 सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

सिला और उज्ज से जीविका करता हुआ, सदा अग्निहोत्र में तत्पर हो, और केवल पर्व और अयन के अन्त की * इष्टियें ही सदा करे ॥ १० ॥ जीविका के लिए लोकचाल (ज़मानासाज़ी) न वर्त्ते, किन्तु कुटिलतासे और बहाने से रहित, शुद्ध, ब्राह्मण जीवन से जिये † ॥ ११ ॥ सुख चाहनेवाला पूरे सन्तोष का आश्रय लेकर संयमी रहे, क्योंकि सुख का मूल सन्तोष है, और दुःख का मूल असन्तोष है ‡ ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
 स्वर्गायुष्य यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥
 वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
 ताद्विकुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥
 नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
 न विद्यमानेष्वर्थेषु नात्यमपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

इनमें से किसी एक जीविका से निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज स्वर्ग दीर्घायु और यश के देनेवाले इन व्रतों को धारे ॥ १३ ॥

* पर्वेष्टि अमावस्या और पूर्णिमा के यज्ञ और अयन के अन्त की इष्टि आग्रयणेष्टि † बाब० १ । १२३ ‡ १२-१७ बाब० १ । ११९ ।

वेद में कहा अपना कर्म अनथक होकर प्रतिदिन करे, क्योंकि उस को यथाशक्ति करता हुआ परमगति को पाता है ॥ १४ ॥ निरे कौतुकवाले*कर्म(पेशे)से धन न चाहे, नानिषिद्ध कर्म(पेशे)से, न धन के विद्यमान होतेहुए, तंगी मेंभी जहां कहीं से (पापियों से) नहीं ॥ १५ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।

यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।

वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

इन्द्रियों के सब विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) में (भोग की) इच्छा से न फंसे, इनमें अति लगाव को मन से हटाए रखे ॥ १६ ॥ धन कमाने के वह सारे काम त्याग देवे, जो वेदाभ्यास के विरोधी हों, जैसे तैसे पढ़ाने का काम करे, क्योंकि वह इसकी कृतकृत्यता है ॥ १७ ॥ अपनी अवस्था, कर्म (पेशा) धन, शास्त्र और कुलके योग्य अपना वेष वाणी और बुद्धि रखे ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याश्च धन्यानि च हितानि च ।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समाधिगच्छति ।

तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

* निरे कौतुकवाले=निरे शगलवाले बजाना, नाचना आदि ॥

† विष्णु० ७१।४ ऋचा० १।१२३ विष्णु० ७१।५-६ ॥

बुद्धि के जज्दी२ बढ़ानेवाले, धन के साधक, और हित के साधक शास्त्रों को * और वेदार्थ के खोलनेवाले निगमों को † तिदिन देखे ‡ ॥ १९ ॥ क्योंकि ज्यों१ पुरुष शास्त्र को विचारता है, त्यों२ उसे समझता है, और इसका विज्ञान चमकता है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृत्यज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

एतान्के महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।

अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।

वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।

ज्ञानमृत्वां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ को यथाशक्ति कभी न त्यागे ॥ २१ ॥ यज्ञशास्त्र के जाननेवाले कई इन महायज्ञों को बाहर न करते हुए लगातार इन्द्रियों में ही होमते हैं § ॥ २२ ॥ कई बाणी और प्राण में यज्ञ की अक्षयसिद्धि

* बुद्धि बढ़ानेवाले इतिहासादि । धनके साधक अर्थ शास्त्रादि, हित (धन के सिवाय और लौकिक हित) के साधक चिकित्सादि । निगम जैसे निरुक्त का निगमकाण्ड † याज्ञ० १। १९ विष्णु० ७१। ८

§ २२-२४ इन तीनों श्लोकों में ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थों के यज्ञों की विधियों बतलाई हैं । इन्द्रियों में होमते हैं, इन्द्रियों द्वारा शब्दादि को ग्रहणकर ज्ञान का सम्पादन कर उससे लोकोपकार करना होम

देखते हुए वाणी में प्राण को और प्राण में वाणी को सदा होमते हैं * ॥ २३ ॥ दूसरे ब्राह्मण जो ज्ञान के नेत्र से इन (यज्ञों) का मूल ज्ञानको देखते हैं, वह ज्ञानद्वारा ही इन यज्ञोंको पूरा करते हैं† ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।

दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्विजे द्विजोऽध्वरैः ।

पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकेर्मखैः ॥ २६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुनाचामिमान्द्विजः ।

नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चामयः ।

प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २८ ॥

दिन और रात के आदि और अन्त में नित्य अग्निहोत्र करे, और पक्ष (अर्धमास) के अन्त में अमावस्या और पूर्णमासी का यज्ञ करे ॥ २५ ॥ खेती के पकने पर नए अन्न की इष्टि करे, और (तीनों) ऋतुओं (सर्दी, गर्मी और बरसात) के अन्त में (चातुर्मास्य) यज्ञ करे, अयन (दक्षिणायन और उत्तरायन) के आदि में पशुयज्ञ ‡ करे, बरस के अन्त में सोमवाले यज्ञ करे ॥ २६ ॥ दीर्घ जीवन चाहता हुआ आहिताग्नि ब्राह्मण नए अन्न से और पशु से यज्ञ किए बिना नया अन्न वा मांस न खाए ॥ २७ ॥ क्योंकि नए अन्न से और पशु की हवि से न पूजा हुई

मानते हैं * वेदका उपदेश और वेदाभ्यास, प्राण का वाणी में होम मानते हैं और मौन वाणीका प्राणमें होम है (देखो कौषीताकिउप० २।५)
† ज्ञान में ही तत्पर रहना ज्ञान द्वारा यज्ञ करना है ‡ पशुयज्ञ आर्य समाज का अन्तर्गत् नहीं ॥

अग्नियों नए अन्न और मांस की इच्छावाले के प्राणों को ही खाना चाहती हैं ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्विर्मूलफेलन वा ।

नास्यकश्चिद्वसेदगेहेशक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥

पाखण्डिनोविकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।

हेतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापिनार्चयेत् ॥ ३० ॥

इसके घर में कोई अतिथि भी शक्ति अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल, मूल, फल से पूजे बिना न रहे ॥ २९ ॥ पर पाखण्डी, निषिद्ध कर्मों में स्थित, बिल्ले की वृत्तिवाले, धूर्त, कुतर्की और बगुले की वृत्तिवालों * को वाणीमात्र से भी न पूजे † ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।

पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।

संविभागश्चभूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

वेद की विद्या वा (वेद के) व्रत में जो स्नान किये हैं, उन (स्नातकों को) को, और वेद के जाननेवाले गृहस्थों को हव्य कव्य से पूजे, इनसे उलटे (जनों) को त्याग देवे ॥ ३१ ॥ गृहस्थ को चाहिये, कि जो आप अपने लिये नहीं पकाते हैं, उन (ब्रह्मचारी और संन्यासियों) को शक्ति के अनुसार कुछ देवे, और

* बिल्ले की वृत्तिवाले और बगुले की वृत्तिवाले देखो आगे १९५-१९६ † याज्ञ० १ । १३० ।

अपने आप को तंग न करके (=अपनी हानि किये बिना) दूसरे प्राणियों को भी अन्न का भाग देवे * ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।

याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधाशक्तः कथञ्चन ।

न जीर्णमलवद्भासा भवेच्च विभवे साति ॥ ३४ ॥

भूख से तंग आया स्नातक राजा से, अथवा यजमान और क्षिप्यसे धनकी इच्छा करे, और किसी से नहीं, यह मर्यादा है ॥ ३२ ॥ (आहार के पाने में) समर्थ स्नातक ब्राह्मण भूख से कभी तंग न हो, और धन के होते हुए फटे मैले वस्त्रों वाला न हो ॥ ३४ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।

स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।

यज्ञोपवीतिं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

नख कटवाए, और बाल दाढ़ी मुंडाए रखे, तपस्वी, श्वेत वस्त्रों वाला (अन्दर बाहर से) युद्ध हो, स्वाध्याय में और अपने हित के कामों में सदा सावधान हो ॥ ३५ ॥ बांस की छड़ी, जल

* गौत० ५।२२ आप० २।४।१४ बौघा० २।५।२० ॥

† राजासे यहां क्षत्रिय राजा अभिप्रेत है। देखो आगे ८४ वासि० १२।२ गौत० ९।६३—६४ याज्ञ० १।१३० वासि० १२।१ गौत० ९।३ आप० १।३०।१३ विष्णु० ७१।२ ॥

‡ गौत० ९।४, ७ आप० १।३०।१०-१२ बौघा० १।५।

याज्ञ० १।१३१

से पूर्ण कमण्डलु, यज्ञोपवीत, कुशा की मुट्ठी और चमकते हुए सोने के कुण्डल धारे * ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।

नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम् ॥ ३७ ॥

न लंघयेद्वेत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।

न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।

प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

उदय होते हुए वा अस्त होते हुए सूर्य पर कभी दृष्टि न डाले, न ग्रसे हुए (ग्रहण लगे हुए), न जल में प्रतिबिम्बित, न आकाश के मध्य में प्राप्त हुए पर दृष्टि डाले ॥ ३७ ॥ बछड़े की रस्सी को (जिससे वह बन्धा है) न उलांछे, बरसते मेंह में न दौड़े, और जल में अपना रूप न देखे, यह मर्यादा है ॥ ३८ ॥ मिट्टी (का टीला) गौ, दैवत § ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध वनस्पति इनको दाएं हाथ रखता हुआ लेंगे ॥ ३९ ॥

* वासि० १२।१४—१७ बौचा १।५।३-५; ६।१-५; २।६।७ विष्णु०

७१।१३-१६ याज्ञ० १।१३३ ॥

† वासि० १२।१० आप० १।३१।२० बौचा० २।६।१०

याज्ञ० १।१३५ विष्णु० ७१।१७-२१ ‡ वासि० १२।९ आप० १।३१।१५ बौचा० २।६।१५ विष्णु० ७१।२३; ६३।४१-४३ § प्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष की मूर्ति; (कई इससे यज्ञशाला अर्थ लेते हैं) ॥ गौत ११।६६ याज्ञ० १।१३३ विष्णु० ६३।२६-२८

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तं वदर्शने ।
 समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४० ॥
 रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
 प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥
 तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।

प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥
 चाहे (काम से) पागल भी हो रहा हो, तथापि जब तक
 ऋतुदर्शन है, तब तक स्त्री के पास न जाए, अपितु उसके साथ
 एक शय्या पर भी न लेटे * ॥ ४० ॥ रजस्वला नारी के पास
 जाने वाले नर की प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु नष्ट होती है
 ॥ ४१ ॥ पर यदि वह उसे अलग रखता है, जब वह रजस्वला है
 तो उसकी प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु बढ़ते हैं ॥ ४२ ॥

नाश्रीयाद्धार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्रतीम् ।
 क्षुवर्तीजृम्भमाणां वा नचासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥
 नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तमनावृताम् ।
 न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

तेज चाहनेवाला ब्राह्मण पत्नी के साथ (एक पात्र में) न
 खाए, न उसे खाती हुई देखे, तथा छींकती हुई, जंभाई लेती हुई
 वा आराम से बैठी हुई अपने नेत्रों में अञ्जन लगाती हुई, उबटन

* ४०-४२ वासि० १२ । ७ गौत० ९ । २९-३० विष्णु० ६९-११

† वासि० १२ । ३१ गौत० ९ । ३२ याज्ञ० १ । १३१ विष्णु ६८-४६

मलती हुई, अनदकी और (बच्चा) जनती हुई को न देखे *॥४४॥

नान्नमद्यादेकवासा न नम्रः स्नानमाचरेत् ।

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मानि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।

न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।

न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

निरा एक वस्त्र पहने भोजन न खाए, न नंगा स्नान करे, न मार्ग में मूत्र करे, न भस्म पर, न गोशाला में † ॥४५॥ न जुते हुए (बाढ़े हुए) खेत में, न जल में, न चयन पर, (अग्नि चयन के लिये किये ईंटों के ढेर पर) न पर्वत पर ‡ न मन्दिरके खण्डर पर, न कभी बामी पर § ॥ ४६ ॥ न जीवोंवाले बिलों में, न चलता हुआ, न खड़ा होकर, न नदी के किनारे को पाकर, न पर्वतकी

* गौत० ९ । ३२ ॥

† वासि० १२ । ११ गौत० ९ । ४०, ४५ आप० १ । ३० । १८ बौध्वा० २ । ६ । २४, ३९ याज्ञ० १ । १३१, १३४ विष्णु० ६८ । १४; ६४।५; ६०।११, १६, १९ गोव्रज=गोशाला, गौओंकी चरागाह(मेघा०)‡ यहाँ पर्वत टीले के अर्थ में है । सारे पर्वत पर निषेध हो ही नहीं सकता, और यहाँ पर्वत पर निषेध करके आगे४७में पर्वतकी चोटीपर निषेध व्यर्थ ठहरता है § गौत० ९ । ४० आप० १ । ३० । १८ वि० ६० । ४; २१ । १०

चोटी पर* ॥४७॥ वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, और गौओं की ओर देखता हुआ कभी मल मूत्र का त्याग न करे ॥४८॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।

नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥५०॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।

यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणवाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

प्रत्यभिं प्रति सूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।

प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥५२॥

(भूमि को) काठ, ढेले, पत्ते, तिनके आदि से ढककर बाणी को रोककर (अपने आप) शुद्ध रहकर, † शरीर पर कपड़े पहने हुए, सिर को लपेटे हुए, शौच करे ‡ ॥ ४९ ॥ दिन में मल मूत्र का त्याग उत्तर मुख होकर करे, रात में दक्षिण मुख होकर, और दोनों सन्ध्याओं में दिन की तरह करे § ॥५०॥ छाया में वा अन्धेरे में चाहे रात हो वा दिन ¶ हो, जिधर इच्छा

* विष्णु ६० । ९ गौत० २ । १२ आप० १ । ३० । २० बाह० १ । १३४ विष्णु ६० । २२ वायु का देखना नहीं होसका, इसलिये वायु से उठाए तृण काष्ठादि को देखने से अभिप्राय है ॥ (मेघा० कुल्लू०) ॥

† अपना बचाव करके ‡ वासि १२ । १३ गौत० ९ । ३७-३८; ४१-४३ आप० १ । ३० । १४-१५ विष्णु० ६० । २-३, २३ § आप० १ । ३१ । १ विष्णु ६० । २-३ ¶ दिन में अंधेरा कुहर का होता है ।

मुख करे, तथा (चोर चीते आदि से) प्राणों की बाधा के
 यों में (यथेच्छ मुख करके बैठे) ॥ ५५ ॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल,
 आकाश, गौ, वायुके सम्मुख मूततेहुए की प्रज्ञा नष्ट होती है* ॥ ५६ ॥

नाभिमुखेनोपधमेन्नमां नेक्षेत च स्त्रियम् ।

नामेध्यं प्राक्षेपेदमौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।

नचैनं पादतः कुर्यान्नप्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नि को मुंह से न फूँके, नग्न स्त्री को न देखे, अपवित्र
 स्तुको अग्नि में न डाले, और न इसमें पाओं तपाए † ॥ ५३ ॥
 (खाट आदि के) नीचे रखे, न इसे फलांगे, न इसे (सोते
 मय शय्या के) पाँओं की ओर करे, न प्राणों को पीड़ा देने
 वाला काम करे ‡ ॥ ५४ ॥

नाश्रीयात्सन्धिवेलायां नगच्छेन्नापिसंविशेत् ।

नचैवप्रलिखेदभूर्मिनात्मनोपहरेत्सजम् ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा धीवनं वा समुत्सृजेत् ।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

* पूर्व ४८ में इनको देखते हुए मल मूत्र के त्याग का निषेध किया
 है । यहाँ इनकी ओर मुख करके, चाहे दीखतेहों, वा न । ब्राह्मणादि
 के आदर से उनके दिखते हुए वा उनकी ओर मुख करके निषेध
 किया है । (पर वस्तुतः छोटे २ बंधनों की भरमार निमा नहीं करती)

† वासि० १२। २७ गौत० ९। ३२ आप० १। १५। २०-२१
 ऋषि १। १३७ विष्णु ७१, ३२-३४; ३७ श्रौत० ९। ७३ याज० १। १३५,
 ३७ विष्णु ७१। ३६ ॥

सन्ध्या समय में न खाए, न चले, न सोवे, न भूमि को खुरचे, न आप माला उतारे, (किसी से उतरवाए) * ॥ ५५ ॥ जलों में मल, मूत्र, थूक, अपवित्र (=मल मूत्र) से लिबड़ा (कपड़ा आदि) वा और कोई (अपवित्र वस्तु), लहू, और विषैली वस्तु न ढाले ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।

नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्नचाऽवृतः ॥ ५७ ॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

नवारयेद्ग्रां धयन्तीं नचाचक्षीत कस्याचित् ।

नदिर्वान्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्याचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

उजाड़ घरमें अंकेलान सोवे, अपने से बड़े (किसी सोए हुए) को न जगावे, रजस्वला के साथ बात चीत न करे, यज्ञ में न जाए, जब कि वह (ऋत्विक् के तौर पर) चुना न गया हो † ॥ ५७ ॥ अग्नि मन्दिर में, गौशाला में, ब्राह्मणों के समीप, स्वाध्याय में, और भोजन में दायां हाथ (वस्त्र से बाहर) निकाले रखे, ‡ ॥ ५८ ॥ (अपने बछड़े को थन) पिलाती गौ को न हटाए, और न किसी को कहे । बुद्धिमान् पुरुष आकाश में इन्द्रधनुष को देखकर किसी को न दिखलाए § ॥ ५९ ॥

* विष्णु ६३।८; ६८।१२; ७१।४१, ५५† आप० १।३०।

१९ विष्णु० ७१।३५ याज्ञ० १।१३० ॥

† वाशि० १२।४२ गौत० ९।५४-५५ याज्ञ० १।१३८ विष्णु ६३।२१; ७०।१३; ७१।५८ ‡ बौध्वा० २।६।३८ विष्णु ७१।

६० § वाशि० १२।३३ गौत० ९।२३ आप० १।३१।१०-१८ बौध्वा० २।६।११, १७ विष्णु० ६३।२; ७१।६२ ॥

नाधार्मिके वसेद ग्रामे नव्याधिबहुले भृशम् ।

नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।

न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

उस गाओं में नहीं रहे, जहां धर्म का पालन नहीं होता,
जहां बहुत बीमारी हो वहां रहे, अकेला यात्रा में न पड़े, न
व्रत में, चिरकाल रहे * ॥ ६० ॥ उस देश में न रहे, जहां का
राजा शूद्र है, न उसमें, जो (चारों ओर से) अधर्मियों से
घेरा है, न उसमें जो पाषण्डीगणों (वेद विरोधियों) के दबाव
है, न जहां नीच लोग उपद्रव मचाते रहते हैं ॥ ६१ ॥

न भुञ्जीतोदधृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।

नातिप्रगे नाति सायं नसायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

नकुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।

नोत्सङ्गेभक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।

अस्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

जिसका तेल निकाल लिया है, उस वस्तु को न खाए, न
ते तृप्ति करे, न बड़ी प्रभात के समय, न सांझ को बड़ी देर
को (खाए) । और सांझ को (खाए ही) नहीं, यदि (सवेरे)

* ६०-६१ गौत० ९।६५ आप० १।१५।२२; ३२।१८ बौ०
६।२१, ३१ बिष्णु० ७१।६४-६८ ॥

पेट भरकर खा लिया हो*॥६२॥ वृथा कोई काम न करे, अञ्जलि से पानी न पिए, गोद में रखकर भक्ष्य (लड्डू वा भुने दाने आदि) न खाए, न कभी (तमाशे आदि का) कुतूहली हो † ॥६३॥ न नाचे, न गाए, न बाजे वजाए, न भुजा ठोंके, ‡ न (उङ्गलियों के) कड़ाके निकाले § न लहर में आया हुआ (गधे आदि की) बोलियां बोले ¶

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।

नभिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिद्वषिते ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।

उपवीतमलङ्कारं सजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्ब्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्रयाधिपीडितैः ।

नभिन्नशृंगाक्षिखुरैर्न बालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु ब्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।

वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

कांसी के बर्तन में पांओं कभी न धोए, न फूटे बर्तन में, न भाव से दूषित** बर्तन में खाए, ॥ ६५ ॥ जूता, कपड़ा, यज्ञो-

* विष्णु० ६८। २७, ४८ (देखो पूर्व २। ५६-५७) † गौत० ९। ९। ५०, ५६ बौध्वा० २। ६। ५ विष्णु० ७१। ६९; ‡ न अंगुलियों के कड़ाके निकाले (नंद) § न दांत पीसे, (कुल्लू०) ¶ न होर के सदृश घाड़े (नारा०) न अंगुलियों को दांतों से काटे (नंद) ॥ आप० २। २०। १३ विष्णु० ७१। ७०-७१ ॥

** जिस में जी न चाहे; अथवा जिसका स्वरूप विकृत हो विष्णु० ६८। २०; ७१। ६९

पवीत, भूषण, (फूलों की) माला और कमण्डलु दूधरों से पहने हुए न पहने * ॥ ६६ ॥ न अनसिधाए, न भूखे और रोग से पीड़ित, न फटे (ज़खमी) सींग आंख और खुरोंवाले, न कुरूप (बिगड़ी हुई बदसूरत) पूंछवाले धुर्यौं (=घोड़े बैलों) से यात्रा करे † ॥ ६७ ॥ अच्छे सिधे हुए, तेज़ चलनेवाले, अच्छे लक्षणों वाले, अच्छे रंग और अच्छी आकृतिवाले, (घोड़े बैलों) से उनको चाबुक से बहुत पीड़ा न देता हुआ यात्रा करे ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ।

नच्छिन्द्यान्नखलोमानिदन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

न मृलोष्ठं च मृद्रीयान्नच्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।

न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।

स विनाशं व्रजत्याशु सूचकौऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

सवेर की घूप, ‡ (जलते) मुरदे का धुआं, और फटे हुए आसन त्याग्य हैं, नखों और रोमों को न काटे, § और दान्तों से नखों को न उखाड़े ¶ ॥ ६९ ॥ मृद्री के ढेलों को न मलता रहे, अंगुलियों से तिनके न तोड़ता रहे, न निष्फल कर्म करे, न भविष्यत् में दुःख फलवाला करे ॥ ७० ॥ ढेले मलनेवाला, तिनके

* विष्णु० ७१ । ४७१ ६७-६८ विष्णु० ६३ । १३-१८ ॥

‡ असूज की घूप (कई) § आप न काटे, नाई से कटवाए, मेघा० गो०) बड़े होने से पहले (कुल्लू०) काटने के लिए जो ठीक समय है, उसके सिवाय न काटे (नन्द) ॥ याज्ञ० १ । १३९ विष्णु० ७१ । ४४, ४६ ॥ गौत० ९ । ५१ आप० १ । ३२ । १८ विष्णु० ७१ । ४२-४३ ॥

तोड़नेवाला, चुगुलखोर, और (बाहर भीतर से) अपवित्र पुरुष
जल्दी नाश को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

न विगृह्य कथा कुर्याद्वह्निर्माल्यं न धारयेत् ।

गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा वृतम् ।

रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।

शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

झगड़कर * बात न करे, (बालों से) बाहर माला न पहने,
गौ बैल की पीठ पर सवारी सर्वथाही निन्दित है † ॥ ७२ ॥ (कोट
वा दीवार से) घिरे ग्राम वा मन्दिरमें बिना दरवाजे के न प्रवेश
करे, रात को वृक्षों के मूल को दूर से त्यागे ‡ ॥ ७३ ॥ पांसों से
कभी न खेले, न आप अपना जूता (हाथों से) छे चले, बिस्तरे
पर छेदेहुए भोजन न करे, न हाथपर रखकर § न आसन पर ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।

न च नमः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥

* छपे पुस्तकोंमें जो 'विगर्ह्य' पाठ है, उसके स्थान 'विगृह्य'
आहिए, विगृह्य ही सार्थक बन सकता है, और जो अर्थ टीकाकारों
ने लिया है, वह भी 'विगृह्य' का बनता है, न कि 'विगर्ह्य' का
† गौत० ९।३२ आप० १।३२।१८ बौध्वा० २।६९। ‡ गौत०
८।३२ आप० १।३१।२३ बौध्वा० २।६।१३ याज्ञ० १।१४०
§ बाँप हाथ में भोजन वा भोजनका पात्र रखकर न काए ॥ वासि०
१२।३६ गौत० ९।३२ बौध्वा० २।६।६ याज्ञ० १।१३८ विष्णु
६८।२३; ७१।४५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
 आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥
 अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।
 न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥
 अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
 नकार्पासास्थिनतुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

सूर्य अस्त हुए पीछे तिलोंवाली कोई (वस्तु) न स्नाप,
 कभी नंगा न सोवे, न जूठे मुँह (भोजन के पीछे कुछा किए
 बिना) कहीं जाए * ॥ ७५ ॥ पांओं धोकर भोजन करे, पर गीले
 पाओं न सोवे, पाओं धोकर भोजन करता हुआ दीर्घ आयु को
 प्राप्त होता है † ॥ ७६ ॥ जहाँ दृष्टि काम नहीं करती, ऐसे दुर्गम
 स्थान में कभी प्रवेश न करे, न मल मूत्र को देखे, न भुजाओं
 से नदी को पार करे ‡ ॥ ७७ ॥ यदि दीर्घ आयु जीना चाहता
 है, तो न बालों पर पांओं रखे, न भस्म हड्डी और ठीकरियों पर,
 न बिनौलों पर, न तुषों पर § ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुकसैः ।
 न मूर्खैर्न वालिषैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥
 न शूद्राय मर्ति दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

* गौत० ९।६० विष्णु० ६८।२८; ७१।३ (देखो पूर्व २।
 ५६ † विष्णु ६८।३४; ७०।१ ‡ वासि० १२।४५ गौत० ९।३२;
 आप० १।३२।३६ बौध० २।६।२६ विष्णु० ६३।४६ § गौत०
 ९।१५ आप० २।२०।११ बौध० २।६।१६ याज्ञ० १।१३९ ॥

नचास्योपादिशेद्धर्मनचास्यव्रतमादेशेत् ॥ ८० ॥
 यो ह्यस्यधर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
 सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

पातितों के साथ न रहे, न चण्डालों के, न पुक्कसों के, न मूर्खों के, न गर्ववालों के, न नीच जातियों (धोबी आदि) के, न अन्त्यावसायियों के, * ॥ ७९ ॥ न शूद्र को मति देवे, न जूठ, न हाविशेष, न इसे धर्म का उपदेश करे, न इसे व्रत (प्रायश्चित्त) बतलाए † ॥ ८० ॥ क्योंकि जो इसे धर्म बतलाता है वा इसे व्रत (प्रायश्चित्त) बतलाता है वह उसके (शूद्र के) साथ ही असंवृत नाम नरक में डूबता है ‡ ॥ ८१ ॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
 नस्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥
 केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
 शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपिस्पृशेत् ॥ ८३ ॥

इकट्ठे दोनों हाथों से अपना सिर न खुजावे, और जूठे हाथों इसे छुए नहीं, और न इसके बिना स्नान करे ** ॥ ८२ ॥ (क्रोध में अपने वा दूमरे के) बालों को पकड़ना, वा सिर पर प्रहार करना त्याग देवे, जब (डुबकी लगाकर) सिर से स्नान कर

* पुक्कस = निषाद से शूद्रा में से उत्पन्न हुआ (देखो १०। १८ अन्त्यावसायी = चण्डालसे निषाद की कन्या में उत्पन्न हुआ (देखो १०। ३९) † वासि० १८। १४ आप० १। ३१। २४ विष्णु० ७१। ४८ - १२ ऋ० वासि० १८। १५ ॥ ** विष्णु० ७१। ५३

चुका है, तो तेल से किसी अङ्ग का स्पर्श न करे * ॥ ८३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृहीयादराजन्यप्रसूतितः ।

सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैवचजीवताम् ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।

दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

दशसूना सहस्राणि यो वाहयतिसौनिकः ।

तेन तुल्यः स्मृतो राजा धोरस्तस्यप्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णातिलुब्धस्योच्छास्त्रवार्त्तिनः ।

स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

क्षत्रिय जाति से न उत्पन्न हुए राजा से दान न लेवे, न कसाई, तेली, और शराब बेचने वालों से, न चकले से जीविका करने वालों से ॥ ८४ ॥ दस सूना (कसाई घर) के बराबर (दोषवाला) कोल्हू होता है । दस कोल्हूओं के बराबर शराबघर होता है, दस शराबघरों के बराबर एक चकला होता है, दस चकलों के बराबर राजा होता है ॥ ८५ ॥ जो कसाई दस हजार कसाई घर चलाता है, उसके तुल्य राजा माना गया है, उसका दान बड़ा भयानक (पाप) है ॥ ८६ ॥ जो शास्त्र को उलंघ कर

* गोता लगाने के पीछे तेल न लगाए, कुल्लू० राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, कि सिर पर तेल लगाकर फिर किसी अङ्ग का स्पर्श न करे, बिष्णु० ६४।१२ ॥ याज्ञ० १।१४० ॥ याज्ञ० १।१४१

बर्तने वाले लोभी * राजा से दान लेता है, वह क्रम से इन
२१ नरकों को प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।

नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।

संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥ ८९ ॥

लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।

असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

एताद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्यश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्रनरक, और
महानरक, ॥ ८८ ॥ संजीवन, महावीचि, तपन, संप्रतापन, संहात,
सकाकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्त्तिक ॥ ८९ ॥ लोहशंकु, ऋजीष, पन्था,
शाल्मली, नदी, असिपत्रवन और लोहदारक ॥ ९० ॥ ऐसा
जाननेवाले, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मण, जो मरने के पीछे अपना
भला चाहते हैं, वह राजा से दान नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

* अनार्य राजा शास्त्र मर्यादा में न चलकरें लोभ से प्रजा
को तंग रखते थे, इसलिये उन से दान का निषेध किया है ॥

† ८८-९० विष्णु० ४३। २-२२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वादीर्घमायुरवाप्नुवन् ।

प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ब्राह्म मुहूर्त्त * में जागे, (उस दिन के अनुष्ठान के लिए) धर्म और अर्थ (=लौकिक कमाई) का विचार करे + उन (धर्म अर्थ से होनेवाले शरीर के क्लेशों को ‡ और वेद के तत्त्व अर्थ को भी विचारे § ॥ ९२ ॥ उठकर आवश्यक (मल मूत्र का त्याग) करे, फिर शौच करके एकाग्र हो पहली सन्ध्या में (गायत्री) जपता हुआ ठहरे, और अपने समय पर दूसरी सन्ध्या में भी (गायत्री का जप करे) ¶ ॥ ९३ ॥ ऋषि लोग लम्बी सन्ध्या करने से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति, और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त हुए हैं ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।

युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धं पञ्चमान् ॥९५॥

पुण्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।

* ब्राह्ममुहूर्त्त=उषाकाल=प्रभात। ऐसी रीति पर कि धर्म और कर्माईका परस्पर विरोध न आए‡शरीर के क्लेशों को पहले विचार लेने के दो फल हैं, एक तो उन क्लेशों के आने से घबराएगा नहीं, दूसरा यदि क्लेश अधिक हों, और फल उसके तुल्य न हो, तो उसे छोड़ दे, § क्योंकि उस समय बुद्धि प्रकाशती है वासि० १२। ४७ विष्णु० ६०। १ ¶ विष्णु० ७१। ७७ ॥ छपे पुस्तकों में 'अवाप्नुयुः' पाठ है॥ परं गो० और नन्द के अनुसार 'अवाप्नुवन्' है। अर्थ इसी पाठ में ठीक बैठता है, इसलिये ऐसा पाठ कर दिया है ॥

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।

विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।

वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

सावन की पूर्णिमा वा भादों की पूर्णिमा को (गृह्यसूत्र में)
कही विधि के अनुसार ब्राह्मण उपाकर्म (वेदों का आरम्भसंस्कार)
करके सावधान हो साढ़े चार महीने वेदों को पढ़े * ॥ ९६ ॥
(साढ़े चार महीने के पीछे) (पौषमास के) पुष्य नक्षत्र में अथवा
जब माघ शुक्ल का पहला दिन आए, तब सवेर के समय ब्राह्मण
वेदों का उत्सर्जन (कर्म) करे ॥ ९६ ॥ शास्त्र के अनुसार (ग्राम)
के बाहर वेदों का उत्सर्ग करके, उस दिन रात को और अगले दिन
पढ़ना बन्द रखे, अथवा वही एक दिन रात बन्द रखे † ॥ ९७ ॥
इसके पीछे शुक्ल पक्षों में नियम से वेद पढ़े, और वेदांग सारे
कृष्णपक्षों में पढ़े ॥ ९८ ॥

* ९५-९७ वासि० १३ । १-५७ गौत० १६—२४० आप० १ ।
९ । १-३ ; १०-२ बौध० १ । १२-१६ याज्ञ० १ । १४२-१४४ विष्णु०
३० । १-२, २४-२५ उपाकर्म वा उपाकरण वेदों के आरम्भ का
संस्कार है जिसे श्रावणी वा सलोनो भी कहते हैं । वही दिन राखी
बांधने का है, (राखी बांधना पुराणों में लिखा है, गृह्यसूत्रों में नहीं)
उपावकर्म के साढ़े चार महीने पीछे उत्सर्जन वा उत्सर्गकर्म होता है
देखो शाङ्ख० गृह्य० ४ । ५-६ † देखो आगे ११९ § ९८-१२९ वा०
१३ । ६-४० ; १८ । १३ गौ० १ । ५८-६० ; १६ । ५-४९ आप० १ ।
९-४-११, ३८ ; ३२ । १२—१५ ॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
 ननिशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥१९॥
 यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
 ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥१००॥
 इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
 अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥
 कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
 एतौवर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

(वेद को) अ-वि स्पष्ट न पढ़े, न शूद्रोंकी समीपता में, न
 पिछली रात (उठकर) वेद पढ़ता हुआ थककर सोवे ॥१९॥ पूर्वोक्त
 विधि के अनुसार नित्य (गायत्री आदि) छन्दोबद्ध (मन्त्रों) को
 पढ़े, विना आपात्ति काल में द्विज सावधान हो ब्राह्मण को और
 छन्दोबद्ध (मन्त्रों) को (नियम से) पढ़ा करे ॥१००॥ (वेद को) पढ़ता
 हुआ वा शिष्यों को विधि पूर्वक पढ़ाता हुआ इन अनध्यायों में
 (पढ़ना, पढ़ाना छोड़ देवे) ॥ १०१ ॥ पढ़ने (के नियमों) को
 जानने वाले पुरुष वर्षाकाल में यह दो अनध्याय बतलाते हैं, रात
 को जब वायु (का शब्द) कानों से सुनाई दे, और दिन को जब
 घूल उड़ती हो ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे ।
 आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥
 एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृतमिषु ।

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥
 निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
 एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥
 प्रादुष्कृतैश्वमिषु तु विद्युत्स्तनितनिः स्वने ।
 सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

मनु ने बतलाया है, कि जब बिजली, गर्ज, और वर्षा (इकट्ठी) हों, और जब बहुत सी उल्का इकट्ठी गिरें (तारे टूटें), तो आकालिक (दूसरे दिन उसी समय तक) अनध्याय होता है ॥ १०३ ॥ (पर वर्षा ऋतु में) तब अनध्याय जाने, जब यह (तीनों) इकट्ठे उस समय प्रकट हों, जब कि (होम करने के लिए) अग्नियों प्रकट की गई हैं, और (वर्षा) ऋतु के बिना तो (होम करने के समय) निरा मेघ देखने में भी (अनध्याय) होता है ॥ १०४ ॥ अन्तरिक्ष से उत्पात ध्वनि में *भूचाल में, दिव्य ज्योतियों (सूर्य, चन्द्र, तारों) के गिर्द चमकीले घेरे में अनध्याय आकालिक जाने, चाहे यह (वर्षा) ऋतु में भी हों ॥ १०५ ॥ (होम के लिए) अग्नियों के प्रकट किये जाने पर जब बिजली और गर्जन की ध्वनि इकट्ठी हो, (वर्षा साथ न हो), तो जब तक प्रकाश है, तब तक अनध्याय होता है और शेष (अर्थात् वर्षा) रात को हो, तो दिन की तरह अनध्याय होता है ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।
 धर्मनैपुण्यकामानां प्रतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥
 अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
 अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

* अन्तरिक्ष से बिना मेघ के गड़गड़ाट सुनाई देना ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।

उच्छिष्टःश्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥

पूरी मर्यादा चाहनेवालों के लिए ग्राम वा नगर के अन्दर और दुर्गन्धिवाले स्थान में सदा अनध्याय होता है ॥१०७॥ जब गाओं के अन्दर मुर्दा हो तब, अधर्मी के पास, रोते हुए के पास, और मनुष्यों की भीड़ में (वेद का) अनध्याय होता है ॥१०८॥ जल के मध्य में, रात के मध्य भाग में, मल मूत्र के त्याग के समय, जूटा हुआ, और श्राद्ध खाया हुआ मन से भी (वेद का) चिन्तन न करे ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।

अहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्चसूतके ॥ ११० ॥

यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्मनकीर्त्तयेत् ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।

नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेवच ॥ ११२ ॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट का निमन्त्रण मानकर तीन दिन वेद न उचारे, तथा राजा वा राहु के सूतक में * ॥ ११० ॥ जब तक एकोद्दिष्ट का गन्ध और लेप विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहता है, तब तक वेद न उचारे ॥ १११ ॥ (शय्या पर) लेटा हुआ, पाओं (बैच पर) ऊंचे किए हुए, गोड़े कपड़े से बांधकर बैठा हुआ, मांस वा सूतक का अन्न खाकर (वेद) न पढ़े ॥ ११२ ॥

* राजा का सूतक जन्म मरण में, राहु का सूतक सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण में ॥

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।

एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावापि ॥ १०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिः स्वने ।

सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

मनु ने बतलाया है, कि जब बिजली, गर्ज, और वर्षा (इकट्ठी) हों, और जब बहुत सी उल्का इकट्ठी गिरें (तारे टूटें), तो आकालिक (दूसरे दिन उसी समय तक) अनध्याय होता है ॥ १०३ ॥ (पर वर्षा ऋतु में) तब अनध्याय जाने, जब यह (तीनों) इकट्ठे उस समय प्रकट हों, जब कि (होम करने के लिए) अग्नियों प्रकट की गई हैं, और (वर्षा) ऋतु के बिना तो (होम करने के समय) निरा मेघ देखने में भी (अनध्याय) होता है ॥ १०४ ॥ अन्तरिक्ष से उत्पात ध्वनि में *भूचाल में, दिव्य ज्योतियों (सूर्य, चन्द्र, तारों) के गिर्द चमकीले घेरे में अनध्याय आकालिक जाने, चाहे यह (वर्षा) ऋतु में भी हों ॥ १०५ ॥ (होम के लिए) अग्नियों के प्रकट किये जाने पर जब बिजली और गर्जन की ध्वनि इकट्ठी हो, (वर्षा साथ न हो), तो जब तक प्रकाश है, तब तक अनध्याय होता है और शेष (अर्थात् वर्षा) रात को हो, तो दिन की तरह अनध्याय होता है ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।

धर्मनैपुण्यकामानां प्रतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।

अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

* अन्तरिक्ष से बिना मेघ के गड़गड़ाट सुनाई देना ॥

उदके मध्यरात्रे च विणसूत्रस्य विसर्जने ।

उच्छिष्टःश्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥

पूरी मर्यादा चाहनेवालों के लिए ग्राम वा नगर के अन्दर और दुर्गन्धिवाले स्थान में सदा अनध्याय होता है ॥१०७॥ जब गाओं के अन्दर मुर्दा हो तब, अधर्मी के पास, रोते हुए के पास, और मनुष्यों की भीड़ में (वेद का) अनध्याय होता है ॥१०८॥ जल के मध्य में, रात के मध्य भाग में, मल मूत्र के त्याग के समय, जूटा हुआ, और श्राद्ध खाया हुआ मन से भी (वेद का) चिन्तन न करे ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।

अयं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्चसूतके ॥ ११० ॥

यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्मनकीर्त्तयेत् ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।

नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेवच ॥ ११२ ॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट का निमन्त्रण मानकर तीन दिन वेद न उचारे, तथा राजा वा राहु के सूतक में * ॥ ११० ॥ जब तक एकोद्दिष्ट का गन्ध और लेप विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहता है, तब तक वेद न उचारे ॥ १११ ॥ (शय्या पर) लेटा हुआ, पाओं (बैच पर) ऊंचे किए हुए, गोड़े कपड़े से बांधकर बैठा हुआ, मांस वा सूतक का अन्न खाकर (वेद) न पढ़े ॥ ११२ ॥

* राजा का सूतक जन्म मरण में, राहु का सूतक सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण में ॥

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
 अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥११३॥
 अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
 ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥११४॥
 पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
 श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥११५॥

कुहर में, बाणों के शब्द में, दोनों सन्ध्याओं में, अमावस्या, चतुर्दशी, पौर्णमासी और अष्टमी में, (न पढ़े) ॥११३॥ अमावस्या गुरु को नष्ट करती है, चतुर्दशी शिष्य को, अष्टमी और पौर्णमासी वेद को, इसलिए इनको छोड़ देवे ॥ ११४॥ घूल बरसने में आकाश के चारों ओर असाधारण लाली पड़ जाने में, गदिड़ों के शोर में, कुत्ते, गधे, और ऊंट के बोलते हुए, और पंक्ति में * (बैठा हुआ) न पढ़े ॥ ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
 वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्यच ॥११६॥
 प्राणि वा यदिवाऽप्राणियत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
 तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्योहिद्विजः स्मृतः ॥११७॥
 चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाम्रिकारिते ।
 आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥११८॥
 उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।

* कुत्त आदि की पंक्ति में (कुल्लू०) पंक्ति के अयोग्यों की पंक्ति में (कई) ॥

अष्टकासु त्वहोरात्र मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥

श्मशान के निकट, ग्राम के निकट वा गोशाला में, (न पड़े)
मैथुन का वस्त्र पहनकर और श्राद्ध की वस्तु स्वीकार करके (न
पड़े) ॥ ११६ ॥ प्राणि चाहे अप्राणि जो कुछ भी श्राद्ध की वस्तु
है, उसे स्वीकारकर अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण का हाथ
मुख ही है * ॥ ११७ ॥ गाओं में डाकुओं के हमले के समय, आग
(लगने) से उत्पन्न की हुई घबराहट में, और सब आश्चर्य बातों
में दूसरे दिन उस समय तक अनध्याय होता है ॥ ११८ ॥ (वेदों के)
उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन दिन † अनध्याय कहा है, अष्टकाओं‡
में और ऋतुओं के अन्त के दिनों में दिनरात (अनध्याय होता है) ॥

नाधीयीताश्चमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।

न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥१२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे ।

न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके ॥१२१॥

अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।

रुधिरे च सुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षेते ॥ १२२ ॥

* पूर्व श्राद्धान्न के भोजन में अनध्याय कहा है, यहां श्राद्ध का कोई भी दान लेने में वैसा ही मानना कहा है, क्योंकि ब्राह्मण के हाथ को ब्राह्मण का मुख कहते हैं, जो दान उसके हाथ में दिया है, वह भी उसके मुंह में डालने के तुल्य है, † पूर्व ९० में एक रात दो दिन कहा है, यहां तीन दिन अधिक धर्म चाहने वालों के लिए है । ‡ आग्रहायणी के पीछे कृष्णपक्ष की अष्टमियों में तीन वा चार अष्टका श्राद्ध होते हैं ॥

घोड़े पर चढ़ा हुआ न पड़े, न वृक्ष पर, न हाथी पर, न नौका में, न गधे पर, न ऊंट पर, न कालरी भूमि में स्थित होकर न गाड़ी से यात्रा करता हुआ ॥ १२० ॥ न झगड़े में, न लड़ाई में, न सेना में, न युद्ध में, न जब कि अभी खाकर उठा है, न अनपच में, न कै करके, न खट्टे ढकार आने में (पढ़े) ॥ १२१ ॥ आतिथि से, (यदि घर में ठहरा हुआ हो तो) अनुज्ञा लिए बिना, वायु के जोर से बहते हुए, शरीर से लहू के बहते हुए, वा बास्त्र से चोट आने पर (न पढ़े) ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।

वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तुमानुषः ।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याऽशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।

क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

साम की ध्वनि होते हुए ऋग्वेद और यजुर्वेद को कभी न पढ़े वेद को समाप्त कर वा आरण्यक को पढ़कर भी (और वेद न पढ़े, ॥ १२३ ॥ ऋग्वेद देवताओं के सम्बन्ध में है, यजुर्वेद मनुष्यों के, सामवेद पितरों के, इसलिए उस (साम) की ध्वनि (मानों) अपवित्र है, *

* सामवेद गान में ऋचा यजु का पाठ बन्द रहना तो ठीक है, पर साम की ध्वनि को अपवित्र कहना ठीक नहीं है । मेधा० अपवित्र तुल्य कहकर यह अभिप्राय लेता है, कि जैसे अपवित्र वस्तु वा पुरुष के सामने वेद नहीं पढ़ा जाता, वैसे साम की ध्वनि में और वेद न पढ़े (देखो पूर्व २ । ७६-७७) ॥

॥ १२४ ॥ ऐमा जाननेवाले विद्वान् प्रतिदिन वेद के सार (ओम्, व्याहृति और गायत्री) को क्रम से पहले पढ़कर पीछे वेद को पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ पशु, मेंढक, बिल्ला, कुत्ता, सर्प, नेउला, चूहा यह (पढ़ते समय गुरु शिष्य के) बीच में से निकल जावें, तो एक दिन रात अनध्याय जाने ॥ १२६ ॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।

ब्रह्मचारीभवेन्नित्यमप्यृतौस्नातकोद्विजः ॥ १२८ ॥

नस्नानमाचरेदभुक्तवानातुरो न महानिशि ।

नवासोभिः सहाजसं नाऽविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।

नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्यच ॥ १३० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।

सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

दो ही अनध्याय सदा प्रयत्न से लागे, एक तो स्वाध्याय का स्थान अशुद्ध हो तब, दूसरा स्वयं अपवित्र हो तब, (किन्तु शुद्ध होकर शुद्ध स्थान में ही वेद पढ़ें) (अनध्याय प्रकरण समाप्त हुआ) ॥ १२७ ॥ स्नातक द्विज अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी, चतुर्दशी के दिन ऋतुकाल में भी सदा ब्रह्मचारी रहे ॥ १२८ ॥ भोजन

करके स्नान न करे *, न रोगी, न आधीरात के समय, न सारे वस्त्रों के साथ देर तक, न पूरी तरह न जाने हुए जलाशय में †
॥ १२९ ॥ देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कापिल ‡ और दीक्षित की छाया जान बूझकर न उलांघे ॥ १३० ॥ मध्य दिन वा मध्य रात्रिके समय, और श्राद्ध में मांस खाकर और दोनों सन्ध्याओं में, चौरस्ते पर देर तक न ठहरे ॥ १३१ ॥

उद्धर्तनमपस्नानं विष्मृत्रे रक्तमेव च ।

श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्ता॒नि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥१३२॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।

अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥१३३॥

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।

नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥१३५॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्देहेदवमानितम् ।

तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥१३६॥

(शरीर पर) मल उबटन, स्नान (में बर्ता गया) जल, मल,

* नित्य स्नान तो भोजन से पहले ही होता है । किन्तु चण्डालादि के स्पर्श में † जिसकी गहराई वा बीच में मगरादि के होने न होने का पता नहीं । आप० १ । ३२ । ८ बौध्दा० २ । ६ । २५ विष्णु० ६४।३-४, ६ ‡ कापिल स्पष्टार्थ नहीं, कापिलागौ सम्भव है । § याज्ञ० १।१५२; विष्णु० ६३ । ४० ॥

मूत्र, लहू, थूक, कै कीहुई वस्तु इन पर जान बूझकर पाओं न रखे, * ॥ १३२ ॥ वैरी, वैरी के साथी, अधर्मी, चोर, और परस्त्री का सेवन न करे ॥ १३३ ॥ क्योंकि इस लोक में आयु को घटानेवाला और कोई ऐसा कर्म नहीं है, जैसा कि पुरुष को परस्त्री का सेवन है ॥ १३४ ॥ अपनी वृद्धि चाहनेवाला पुरुष क्षत्रिय, सर्प, और बड़े विद्वान् ब्राह्मण का कभी अपमान न करे चाहे ये दुर्बल भी हों ॥ १३५ ॥ क्योंकि यह तीनों अपमान किये हुए (अपमान करनेवाले) पुरुष को भस्म कर देते हैं इसलिए बुद्धिमान इन तीनों का कभी अपमान न करे ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।

आमृत्योःश्रियमन्विच्छेन्नैनामन्येतदुर्लभम् ॥ १३७ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।

शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते ।

नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

पड़ली असफलताओं से अपना अपमान न करे। मृत्युतक लक्ष्मी को ढूँढे इसे दुर्लभ न समझे ॥ १३७ ॥ सच बोले प्रिय बोले

* याज्ञ० १। १५२ विष्णु ६३। ४१ + १३५—१३६ याज्ञ० १। १५३।

‡ धन के उद्यम करने पर सफलता न हो, तो अपने आप को मन्द भाग्य न मान बैठे, § याज्ञ० १। १५३ विष्णु० ७१। ७६

आप्रिय सच न बोले, और प्रिय झूठ न बोले, यह सनातन धर्म है
 *॥१३८॥ शुभ को शुभ कहे, वा शुभ ही कहे १० सूखा बैर और
 झगड़ा किसी के साथ न करे § ॥ १३९ ॥ न बड़ी प्रभात, न बड़ी
 सांझ को, न ठीक दोपहर के समय, न अज्ञात (नावाकिफ) के
 साथ, न अकेला, न अधर्मियों के साथ यात्रा करे ॥ १४० ॥

हीनागानतिरिक्तागान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।

रूपद्रव्यविहीनांश्चजातिहीनांश्चनाक्षिपेत् ॥१४१॥

नस्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टोविप्रो गोब्राह्मणानलान् ।

नचापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥१४२॥

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।

गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेनतु ॥१४३॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।

रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

हीन अङ्गवाले; अधिक अङ्गवाले; विद्या से हीन; अवस्था
 में बड़े, रूप से हीन, धन से हीन वा जाति से हीनोंको न अनादरे*
 ॥ १४१ ॥ अपवित्र हुआ † ब्राह्मण गौ ब्राह्मण और अग्नि को

*गौत० ९। ६८ याज्ञ० १। १३२ विष्णु० ७१। ७३—७४ † चाहे
 अशुभ भी हो, तौ भी शुभ शब्दोंमें ही कहे, जैसे मरे को स्वर्गवास हुआ
 ‡ गौत० ९। १९—२० आप० १। ३२। ११—१४ याज्ञ० १। १३२ विष्णु० ७३।
 ५७; § बौध्वा० २। ६। २२—२३ विष्णु० ६३। ४, ६—७, ९ ॥

** काने को काना, और धन हीन को कंगला इत्यादि न कहे,
 विष्णु० ७१। २† भोजन करके कुल्ला आचमन किए बिना और मल
 मूत्र का त्याग करके शौच आचमन किये बिना

(हाथ से) न छुए; और न ही अपवित्र हुआ आकाश में ज्योति-
र्गण (सूर्य चन्द्र ग्रहों) को देखे; जबकि पूरा स्वस्थ है * ॥१४२॥
यदि वह अपवित्र हुआ इनको छूले तो हाथ से सारे इन्द्रियों
(नेत्र आदि) पर, सारे अङ्गों (कन्धे, गोड़े, पाओं) पर, और
नाभि पर जल छिड़के † ॥१४३॥ रोगी न हो, तो अपने इन्द्रियों
को बिना निमित्त न छुए, और गुप्त स्थानों के रोमों को छोड़
देवे, (स्पर्श न करे) ॥१४४॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।

जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमाग्निमतन्द्रितः ॥१४५॥

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥१४६॥

मङ्गलमय आचरण से युक्त * शुद्ध अन्तःकरण वाला हो,
इन्द्रियों को बस में रखे, आलस्य रहित होकर नित्यप्रति स्वा-
ध्याय करे और अग्नि में होम करे ॥१४५॥ जो मङ्गलमय आच-
रण से युक्त हैं, और सदा शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, स्वाध्याय
करनेवाले और होम करनेवाले हैं, उनकी कभी गिरावट नहीं
होती है † ॥१४६॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥१४७॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

* याज्ञ० १ । १५५ गी० यह प्रायश्चित्त है । विष्णु० ७१ । ७२ ॥

† गोरोचन आदि का धारण करना मंगल है, और गुरु सेवा
आदि आचार है, इन दोनों से युक्त हो (कुल्ल०) § वासि० २६।१४

(हाथ से) न छुए; और न ही अपवित्र हुआ आकाश में ज्योति-
र्गण (सूर्य चन्द्र ग्रहों) को देखे; जबकि पूरा स्वस्थ है * ॥१४२॥
यदि वह अपवित्र हुआ इनको छूले तो हाथ से सारे इन्द्रियों
(नेत्र आदि) पर, सारे अङ्गों (कन्धे, गोड़े, पाओं) पर, और
नाभि पर जल छिड़के † ॥१४३॥ रोगी न हो, तो अपने इन्द्रियों
को बिना निमित्त न छुए, और गुप्त स्थानों के रोमों को छोड़
देवे, (स्पर्श न करे) ॥१४४॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।

जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमाग्निमतन्द्रितः ॥१४५॥

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥१४६॥

मङ्गलमय आचरण से युक्त * शुद्ध अन्तःकरण वाला हो,
इन्द्रियों को बस में रखे, आलस्य रहित होकर नित्यप्रति स्वा-
ध्याय करे और अग्नि में होम करे ॥१४५॥ जो मङ्गलमय आच-
रण से युक्त हैं, और सदा शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, स्वाध्याय
करनेवाले और होम करनेवाले हैं, उनकी कभी गिरावट नहीं
होती है † ॥१४६॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥१४७॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

* याज्ञ० १ । १५५ गं यह प्रायश्चित्त है । विष्णु० ७१ । ७९ ॥

† गोरोचन आदि का धारण करना मंगल है, और गुरु सेवा
आदि आचार हैं, इन दोनों से युक्त हो (कुल्लू०) § वासि० २६।१४

अद्रोहेण च भूतानां जार्ति स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥
पौर्विकीं संस्मरज्जार्तिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।

ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः ।

पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासुच ॥१५०॥

आलस्य रहित होकर नित्य प्रति ठीक समय पर वेद का अभ्यास अवश्य करे, क्योंकि यह उस का सब से ऊँचा धर्म कहते हैं, और उपधर्म कहलाता है* । १४७ । नित्य प्रति वेद के अभ्यास से, तप से, और जीवों के साथ अद्रोह से पूर्व जन्मको स्मरण करता है । १४८ । पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ फिर वेदका ही अभ्यास करता है, और वेद के लगातार अभ्यास से अनन्त सुखका लाभ करता है । १४९ । पर्व (- पौर्णमासी और अमावस्या) दिनों में सदा सावित्र होम † और (अनिष्ट निवृत्ति के लिये) शान्ति होम करे; और अष्टकाओं और अन्वष्टकाओं ‡ में सदा पितरों को पूजे § ॥१५०॥

दूरादावसथान्मृत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।

उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन मञ्जनम् ।

* गौत० ०९।७२। सावित्र होम जिनका सविता देवता है, उन मन्त्रों से होम; नन्द० 'सावित्र्या' पाठ पढ़ कर 'सावित्री से शान्ति होम करे' अर्थ लेता है † आग्रहायणी के पीछे कृष्णपक्षों की तीन अष्टमियों अष्टका और उनके साथ की तीनों नवमियों अन्वष्टका कहलाती हैं § विष्णु ७।१।८६

पूर्वाह्न एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

देवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।

ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।

कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

घर* से दूर मूत्र करे, दूर पाओं की धोन फैंके, अन्न की जूठ, और नहाने का पानी † दूर फैंके ‡ ॥ १५१ ॥ मलका त्याग § शरीर की सजावट; स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवताओं का पूजन (होम) यह सबेर को ही करे । १५२ । पर्व के दिनों में देवत, धर्मात्मा ब्राह्मण, और रक्षा के लिये हाकिम और अपने बड़ों के पास जावे ¶ ॥ १५३ ॥ (घर में आए) वृद्धों (वयोवृद्ध; विद्या वृद्ध; तपो वृद्धों) को नमस्कार करे, और अपना आसन देवे; हाथ जोड़ कर उनके पास खड़ा हो, और जब वह जाएं; तो पीछे चले ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।

धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

आचारालभतेह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

* घर=अग्नि घर, (कुल्लू०) † वीर्यदान (कुल्लू०) गोवि० और नारा० निषेक का अर्थ त्याग लेते हैं ‡ गौत ८ । ३८ याज्ञ १।१५३ आप १ । ३१ । २-३ § मेघा० कहता है मैत्रका अर्थ कई ' मित्रता से सेवा ' वा ' मित्रकी पूजा ' भी लेते हैं ¶ आप १ । ३१ । २१—२२। मेघा० की टीका में १५३-१५८ श्लोक नहीं हैं ॥ बौधा० २।६।३५

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽप्यायुरेव च ॥ १५७ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।

श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

वह सदाचार जो अपने कर्मों (धर्मों) के साथ सम्बन्ध रखता है; जो कि श्रुति और स्मृति में ठीक ठीक बतलाया गया है; वह धर्म का मूल है; उसका अनर्थक हो कर सेवन करे* । १५५। आचार से दीर्घ आयु को पाता है; आचार से भली सन्तान को आचार से अनखुद्वधन (को पाता है) आचार कुलक्षण (के असर) को नष्ट कर देता है । ॥ १५६ ॥ दुराचारी पुरुष लोक में निन्दित; सदा दुःख भागी, रोगी और थोड़ी आयु वाला होता है † । १५७। जो पुरुष सदाचारी है; श्रद्धा से भरा हुआ है; अमूया रहित है; वह सौ वर्ष जीता है; चाहे सारे ही शुभ लक्षणों से शून्य भी हो । १५८।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।

यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः ।

तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

* वासि ७१।८० याज्ञ १।१५४ † वासि ६।७ विष्णु ७१।
८१ * वासि ६।६ ‡ वासि ६।८ विष्णु ७१।८२

जो २ कर्म पराधीन है; उस २ को प्रयत्न से छोड़े; और जो २ अपने अधीन है उस २ को यत्न से सेवन करे॥१५९॥ क्योंकि पराधीन षड् (हरण कर्म) दुःख है, और अपने अधीन सब सुख है, यह संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जाने ॥ १६० ॥ जिस कर्म के करने से इसके अन्तरात्मा को सन्तोष हो उसे प्रयत्न से करे, और उलटे (असन्तोष जनक) को छोड़ देवे * ॥१६१॥

आचार्य च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।

न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वाश्चैव तपस्विनः ॥ १६२

नास्तिक्यं वेदानिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।

द्वेषं स्तम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।

अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तौ ॥ १६४ ॥

उपनयन करनेवाले, वेद का अर्थ बतलाने वाले, पिता माता वा किसी और गुरु (बड़े) को, तथा गौ, ब्राह्मण, और जो तपस्या करनेवाले हैं, उनको क्लेश न दे * ॥ १६२ ॥ नास्तिकता, वेद की निन्दा, देवताओं की निन्दा, द्वेष, नम्रता का अभाव, शत्रु अभि-

* यह नियम वहाँ के लिए है, जहाँ शास्त्र का साक्षात् विधि निषेध नहीं, वा वैकल्पिक विषय है (देखो पूर्व २।१२) ॥

† याज्ञ० १।१५७-१५८ 'न हिंस्यात्' क्लेश न दे=प्रतिकूल न चले (मेधा०, कुल्लू०, नारा०, नन्द) चाहे आततायी (मारनेवाले देखो ८।३५०) बनकर भी आएँ, तौ भी इनको न मारे (गोवि०) ‡ छपे पुस्तकों में 'दम्भं' पाठ है। अर्थ, दम्भं=धोखा। पर जो अर्थ टीकाकारों ने लिये हैं, वह 'स्तम्भं' पाठ के बन सकते हैं, न कि 'दम्भं' के, इसीलिए 'स्तम्भं' पाठ रक्खा है। स्तम्भ=नम्रता का अभाव (मेधा०, गोवि०, नारा०) धर्म में उत्साह का अभाव (कुल्लू०)

मान, क्रोध और तेजी को सागे* ॥१६३॥ क्रोध में आकर दूसरे के लिए डण्डा न उठाए, न उम पर फेंके, किन्तु शिष्य और पुत्र के मित्राए, इन दोनों को शासन के लिए (नियम के अन्दर) ताड़ना कर सकता है ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्येव द्विजातिर्वधकाभ्यया ।

शतं वर्षाणि तामिमे नरके पश्चिर्वर्तते ॥१६५॥

ताडयित्वा तृणेनापि संस्मान्मतिपूर्वकम् ।

एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥

अयुष्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगतः ।

दुःखं भुमददाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।

तावतोऽद्धानमुत्रान्यःशोणितोत्पादकोऽद्यते ॥१६८॥

न कदाचिद द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदापि ।

न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्वावेदसृक् ॥१६९॥

भारत की इच्छा से ब्राह्मण को निराधमकाकर भी (डंडा वा मुक्का उठाकर ही) द्विज भी बरस तामिस्र नरक में घूमता है § ॥ १६५ ॥ और क्रोध में जान बूझकर तिनके से भी ताड़ना कर तो इन्हीं जन्म पापयोनियों में उत्पन्न होता है ॥१६६॥ और वह पुरुष जो आगे से न लड़ते हुए ब्राह्मण के शरीर से रुधिर

* ब्राह्मि० ८ । ४१ आप० १ । ३० । २५ विष्णु० ७१ । ८३ ॥ नियम के लिए देखा जाये ८ । २९९-३०० ॥ ७१ । ८१ । ८२ ॥

§ १६५—१६७ गौत० ११ । २०-२२ याज्ञ० १ । १५५ ॥

उत्पन्न करता है वह अपनी इस सूर्यता से परलोक में बहुत बड़े दुःख को प्राप्त होता है ॥ १६७ ॥ (भूमि पर गिरा ब्राह्मण का) लहू जितने धूल के कणों को पृथिवीतल से लपेटता है, लहू उत्पन्न करनेवाला उतने बरस पर लोक में दूसरों (पशुओं) से खाया जाता है ॥ १६८ ॥ इसलिये बुद्धिमान् कभी ब्राह्मण को धमकाए भी नहीं, तिनकेसे भी न ताड़े, न शरीरसे लहू बहाए ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
 हिंसारतश्च यो नित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥१७०॥
 न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
 अधार्मिकाणां पापानामाशुपश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥
 नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
 शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥
 यदि नात्मानि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
 नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवाति निष्फलः ॥१७३॥
 अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
 ततः तपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥

जो पुरुष अधर्म पर चलने वाला है, और जिसकी कमाई पाप की है, और जो सदा हिंसा में रत है, वह यहां सुख से नहीं बढ़ता है ॥ १७० ॥ धर्म से पीड़ित होकर भी मन को अधर्म में न लगाए, जबकि देखता है, कि अधर्म पर चलनेवाले

पापियों का शीघ्र उलट पलट होजाता है * ॥ १७१ ॥ अधर्म किया हुआ इस लोक में गौ † की तरह जल्दी अपना फल नहीं देता; पर धीरे २ बढ़ता हुआ करनेवालों की जड़ों को काट देता है ॥ १७२ ॥ यदि अपने में नहीं; तो पुत्रों में; यदि पुत्रों में भी नहीं; तो पोतों में (जाकर फलता है ‡) पर किया हुआ अधर्म करनेवाले का कभी निष्फल नहीं होता है ॥ १७३ ॥ अधर्म से पहले बढ़ता है, फिर भद्र (वरकर्म) देखता है, फिर शत्रुओं को जीतता है, अन्ततः जड़ समेत नष्ट होता है ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवामेत्सदा ।

शिष्यांश्चाशिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥१७५॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवार्जितौ ।

धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविकृष्टमेव च ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो ऽनृजुः ।

न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥१७७॥

* लोक में देखा जाता है, कि पाप की कमाई से बढ़नेवालों के दिन जल्दी उलटे होजाते हैं । † गौ, गाए का नाम भी है, और पृथिवी का नाम भी है, यहां दोनों अर्थ घट सकते हैं, पृथिवी अर्थ में, जैसे पृथिवी में बोया बीज उसी समय नहीं फलता, कालान्तर में जाकर फलता है, इसी तरह अधर्म भी उसी समय नहीं फलता है, गाए अर्थ में, जैसे गौ दूहने से उसी समय दूध देती है, वैसे अधर्म तत्क्षण नहीं फलता, किन्तु कालान्तर में फलता है । ‡ पाप की कमाई खाली नहीं जाती, ऐसा पुरुष यदि आप न भी बिगड़ा, तो सन्तान वा सन्तान की सन्तान उस की कमाई को उजाड़ेगी, और कलंक भी लाएगी । पापका पैसा एक न एक दिन रंग दिखलाएगा पचेंगा नहीं ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।

तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥१७८॥

सचाई, धर्म, आर्यों के योग्य आचार और शौच में सदा प्रीतिवाला हो, शिष्यों को धर्म के अनुसार शिक्षा देवे, बाणी, भुजा और उदर(पेट) को संयम*में रखे †॥१७८॥ जो अर्थ और काम धर्म के विरोधी हों ‡ उन्हें त्याग दे, और धर्म भी जो भविष्यत् में दुःख का हेतु हो, वा लोक से निन्दित हो § ॥१७८॥ हाथ पाओं और बाणी की चंचलता को त्यागे ॥ कुटिल न हो दूसरे की हानिका काम न करे, बल्कि ऐसा विचारभी मन में न लाए ॥१७९॥ धर्मात्माओं के उस मार्गसे चले, जिससे इसके पितर चले हैं और जिससे इसके पितामह चले हैं, उससे चलता हुआ हानि नहीं उठाता है ॥ १७८ ॥

* बाणी का संयम—सत्य बोलना, भुजा का संयम—भुजा से किसी को पीड़ा न देना । उदर का संयम—धर्म की कमाई खाना न कि पाप की कमाई कमाकर खाना, और न मुफ्त, तथा पुष्टिके लिये पुष्टिकारक परिहित खाना, न कि स्वाद के लिए निरा स्वादु अपरिमित † गौत० ९ । ५०, ६८—६९ ‡ धर्म का विरोधी अर्थ=पाप की कमाई, धर्म का विरोधी काम—गर्भ स्थिति में पत्नी के पास जाना आदि § भविष्यत् में दुःख का हेतु धर्म जैसे पुत्रादि के पालन पोषण का भार सिर पर रहते हुए सर्वस्वदान, लोक निन्दित धर्म, वह लोकमर्यादा जो किसी समय मानी जाती थी, अब हटा दी गई है, गौत० ९ । ४०, ७३ याज्ञ० १ । १५६ विष्णु० ७१ । ८४-८५ ॥ हाथ की चंचलता हाथ को यों ही कहीं फेरते रहना, वा निष्प्रयोजन किसी वस्तु का उठाना आदि । पाओं की चंचलता, बैठे २ पाओं को हिलाते रहना, वा निष्प्रयोजन फिरना, नेत्रों की चंचलता, परस्त्री को देखना आदि, बाणी की चंचलता—निष्प्रयोजन किसी बात में दखल देना, निष्प्रयोजन झगड़ना आदि ॥

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथि संश्रितेः ।

बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिवान्धवैः ॥१७९॥

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्सन्त्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

एभिर्जितैश्च जयति सर्वलोकानिमान्मृही ॥ १८१॥

ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि और अपने आश्रितजन, बालक, बूढ़, रोगी विद्यावाले * ज्ञाति (पितृ पक्ष के लोग चाचा आदि) सम्बन्धि (अपने रिश्तेदार जामाता, साला आदि) और बान्धव (मातृपक्ष के लोग नाना वा ममेरा भाई आदि) † ॥ १७९ ॥ माता, पिता, जामी (स्त्रियों रिश्तेदार, बहिन, स्तुषा आदि) भाई, पुत्र, पत्नी, कन्या और दास वर्ग के साथ झगड़ा न करे ॥ १८० ॥ जो इन के साथ झगड़ा छोड़ देता है, वह सब पापों से बच जाता है, और इन (झगड़ों) के जीतने से मृहस्थ इन सारे लोकों को जीत लेता है ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।

अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।

सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुरः ।

भ्राताज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

* अथवा चिकित्सक † १७९-१८४ याज्ञ० १।१७७-१९८ ॥

छायास्वोदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।

तस्मादेतेरधिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी * है, पिता प्रजापति के लोक में प्रभु है, अतिथि इन्द्रलोक का स्वामी है, ऋत्विज् देवलोक के (स्वामी हैं) ॥ १८२॥ जामी, (बहिन, स्तुषा, आदि) अप्सराओं के लोक में (प्रभु हैं) बान्धव विश्वेदेवों के लोक के, सम्बन्धी जलों के लोक के और माता और मामा पृथिवी लोक में (प्रभु हैं) ॥ १८३ ॥ बाल, वृद्ध, गरीब (आश्रित); रोगी यह आकाश के स्वामी हैं, बड़ा भाई पिता के तुल्य है, पत्नी और पुत्र अपना शरीर है ॥ १८४॥ दासवर्ग छाया है कन्या कृपापात्र है, इसलिये इनसे झिड़का हुआ सदा बिना सन्तप्त होने के सह लेवे ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजःप्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

नद्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।

प्राज्ञःप्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्वृतम् ।

प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भर्गोश्चाप्योषतस्तनुम् ।

अश्वश्चक्षुस्त्वचंवासोघृतंतेजस्तिलाःप्रजाः ॥ १८९ ॥

दान लेने में, (अपनी विद्या और तप के प्रभाव से) समर्थ

* आचार्य के साथ विवाद छोड़ने से ब्रह्मलोक की जीतिता है, इसीप्रकार आगे भी जानो ॥

भी हो, तो भी उसमें लगाव (बार २ लेने) को त्याग देवे, क्योंकि (बार २) दान लेने से इसका ब्राह्मतेज जल्दी बुझजाता है * ॥ १८६ ॥ वस्तुओं के दान लेने में जो धर्मानुसार विधान है, उसको पूरा जाने बिना बुद्धिमान कभी दान न लेवे, चाहे भुज्ज से पीड़ित भी हो † ॥ १८७ ॥ यदि कोई विन जाने सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल, घृत का दान लेलेता है, तो वह लकड़ी की तरह भस्म होजाता है, ‡ ॥ १८८ ॥ सोना और अन्न आयु को, भूमि और गौ क्षीर को घोड़ा नेत्र (की दृष्टि) को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को और तिल सन्तान को घटाते हैं ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।

अम्भस्यश्मप्लेयेनैव सहतेनैवमज्जति ॥ १९० ॥

तग्मादविद्वान्विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रातिग्रहात् ।

अव्यक्तेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

जो ब्राह्मण न तपस्वी है, न वेद का अभ्यास करता है, पर दान में योगवाला है, वह जल में पत्थर की नौका के समान जल (दाता) के साथ ही डूबता है ॥ १९० ॥ इसलिए अविद्वान् को जिस तिम (= हरण) प्रतिग्रह से डरना चाहिये, क्योंकि बहुत थोड़े (प्रतिग्रह) से भी अविद्वान् की चङ्ग में गौ की तरह फँसता है § न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडाल प्रातिके द्विजे ।

न वक्रप्रतिके विप्रे न विद्विदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतपु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।

दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुसेव च ॥ १९३ ॥

* विष्णु० ६२। ६-७ † विष्णु, ६२। ८ मीमांसा० १। २०१ ॥
‡ भाष० १। २०२ ॥

यथा पुत्रेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१९४॥

धर्म का जाननेवाला पुरुष ऐसे ब्राह्मण को पानी भी न दे,
जो बिल्ले के व्रतवाला है, जो बगले के व्रतवाला है, वा जो वेद
नहीं जानता है ॥ १९२ ॥ क्योंकि विधि से कमाया भी धन
यदि इन तीनों में दिया गया है, तो वह परलोक में देनेवाले और
लेनेवाले दोनों के ही अनर्थ के लिए होता है ॥ १९३ ॥ जैसे पत्थर
की नौका से पानी में तैरता हुआ नीचे डूबता है, वैसे मूर्ख देनेवाला
और लेनेवाला दोनों नीचे डूबते हैं ॥ १९४ ॥

संगति-प्रतिग्रहीता को अलग उपदेश देकर दाता को अलग
उपदेश देते हैं :-

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छात्रिको लोकदम्भकः ।

वेडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१९५॥

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।

शठो मिथ्याविनीतश्च वक्रव्रतचरो द्विजः ॥१९६॥

ये वक्रव्रतिनो विप्रा ये च मार्जार लिङ्गनः ।

ते पतन्त्यन्धतामिसे तेन पापेन कर्मणा ॥१९७॥

धर्म का झण्डा दिखलानेवाला * सदा लालची, बहाने (बना-
बद) बनानेवाला; लोगों को धोखा देनेवाला हिंसा (दूसरे की
हानि) के स्वभाववाला और सब को बदनाम करनेवाला पुरुष बिल्ले

* दिखलावे का धर्म करनेवाला=जो बहुत लोगों के सामने धर्म
करे, और आप स्वयं और दूसरों के द्वारा लोगों में उसे फैलाए ।

के व्रतवाला जानना चाहिए॥१९५॥ (अपनी नम्रता और लज्जा दिखाने के लिए) नीचे हाँटि रखनेवाला, (बहुत बढ़कर) बदला लेनेवाला=(कीनाबर), (दुमरे का काम बिगाड़कर) स्वार्थ साधन में तत्पर, कुटिल, मिथ्या विनीत (झूठी नम्रतावाला) ब्राह्मण बगले के व्रतवाला होता है (जिमतरह बगला मछलियाँ पकड़ने के लिए ध्याननिष्ठ भक्त बनकर खड़ा रहता है) ॥१९६॥ जो ब्राह्मण बगले के व्रतवाले हैं, और जो बिल्ले के व्रतवाले हैं, वह अपने उस पापकर्म से अन्धतामिस्र नरक में गिरते हैं ॥ १९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।

व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गृह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।

छद्मनाचारितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवाति ।

स लिङ्गिनां हस्त्येनस्तिर्षग्योनौ च जायते ॥२००॥

पापकरके व्रत से पाप को ढाँपकर स्त्री और शूद्रों को भोखा देता हुआ धर्म के बहाने से व्रत न करे । ॥ १९८ ॥ ऐसे ब्राह्मण मरने के पीछे और इस (जीवन) में भी वेदवादियों से निन्दे

*बिल्ली दीकने में नम्र (मिसकीन), और करने में हिंसारुचि होती है

† आन्द्रायणादि कई एक व्रत ऐसे हैं, जिनका विधान पापियों के लिए प्रायश्चित्त के तौर पर भी है और निष्पाप पुरुषों के लिए धर्म प्राप्ति के लिए भी है (देखो० बौध् ३।८।२७-३१) सो जब कोई पाप करके प्रायश्चित्त के तौर पर इन व्रतों को करे, तो अनजान लोगों को भोखा न दे, कि मैं यह व्रत अनुष्ठान कर रहा हूँ ॥

जाते हैं, और बहाने से जो व्रत किया है, वह राक्षसों को पहुँचता है (निष्फल जाता है) ॥ १९९ ॥ जो ब्रह्मचारी न होकर ब्रह्म-चारियों के वेष से जीविका करता है, वह ब्रह्मचारियों के पाप को (अपने ऊपर) लेता है और पशुयोनिमें उत्पन्न होता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।

निपानकर्तुःस्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।

अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च ।

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रसवणेषु च ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।

यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन ॥ २०४ ॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।

स्त्रिया क्लीबेन च द्रुते भुञ्जीतब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी द्रविः ।

प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

बेगाने जलाशयों (बावड़ी तालाब आदि) में कभी स्नान न करे, यदि उसमें स्नान करे तो जलाशय बनाने वाले के पाप के अंश से लिप्त होता है ॥ २०१ ॥ इस (दूसरे) के यान (गाड़ी) शय्या, आसन, कुण्ड, बगीचे, और घर को बिन दिए भोगता हुआ (उसके) पाप के चौथे हिस्से का भागी होता है ॥ २०२ ॥

नदियों में, देवताओं से खोदे हुए (कुदरती) तालाबों में, झीलों में, नालों और झरनों में सदा स्नान करे ॥ २०२ ॥ बुद्धिमान को चाहिये, कि लगातार यमों का सेवन करे, सदा नियमों का ही नहीं, क्योंकि जो यमों का सेवन नहीं करता, निरे नियमों का सेवन करता है, वह पातित होजाता है * ॥ २०४ ॥ ब्राह्मण उस यज्ञ में भोजन न खाए, जो अश्रोत्रिय (वेद के न जानने वाले) से, वा बहुतों को यज्ञ करानेवाले से किया गया है, वा जिसमें स्त्री या, नपुंसक ने होम किया है ॥ २०५ ॥ यह भले लोगों को शोभावाला काम नहीं, जहां यह हवि डालते हैं, देवताओं के भी यह प्रतिकूल है इसलिये इसे त्यागे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।

केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥२०७॥

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।

पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥२०८॥

* यम=अन्तरंग धर्म, नियम बहिरंग धर्म । अथर्व० ३ । ३१३-३१४ में यह यम नियम कहे हैं :-“ ब्रह्मचर्यं दयाक्षान्तिर्ध्यानं सत्यम कल्मषता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपसेवेज्या स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः । नियमो गुरुशुश्रूषा शौचा क्रोधा प्रमादता ॥ ब्रह्मचर्यं, दया, क्षमा, ध्यान, सत्यता, निष्कपटता, हिंसा का त्याग, चोरी का त्याग, मधुरता और शत्रुओं को बस में रखना यह यम हैं । स्नान, मौन रखना, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थ का निग्रह, गुरु सेवा, शौच, अक्रोध, अप्रमाद यह नियम हैं । योग दर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता के बिना अपने पास जमा न करना) यम । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और शत्रुओं का निग्रह नियम हैं ।

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।

गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥२०९॥

स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।

दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगलेन च ॥२१०॥

मदमत्त का, क्रोधी का, और रोगी का, बाळों वा कीड़ों से दूषित, और जान बूझकर पाओं से छुआ हुआ (अन्न) ॥२०७॥ गर्भ हत्यारे का देखा हुआ, रजस्वला से छुआ हुआ, पक्षी से चोंच मारा हुआ, और कुत्ते से छुआ हुआ ॥ २०८ ॥ गौ से सूंघा हुआ अन्न, और विशेषता से (कोई खाने वाला है, ऐसा) पुकार कर दिया अन्न, संघ का अन्न, * वेदया का अन्न, और विद्वानों से निन्दित (अन्न) ॥२०९॥ चोर, गवैये, बद्ध, व्याज से जीविका करनेवाले, (सोम यज्ञ पूरा करने के लिए) दीक्षित, कंजूस, बेदियों से बन्धे हुए † का अन्न (न खाए) ॥ २१० ॥

अभिशास्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।

शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।

उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमानिर्दशम् ॥२१२॥

अनार्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।

द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवधुतम् ॥ २१३ ॥

* मठ में रहनेवाले ब्राह्मणों का संघ (गोवि० कुवल्०) † छपे पुस्तकों में ' निगडस्य ' पाठ के स्थान नन्द० ने ' निगलेन ' पाठ शुद्ध किया है, दक्षिणी हस्त लिखित पुस्तकों में मिलता भी यही है। अर्थ इसी में छेक बैठवा है इसलिये ऐसा कर दिया है ॥

अभिषेकस्त (जिस पर पातक की डाढ़ा है,) नपुंसक, व्यभि-
चारिणी स्त्री और दम्भी का (अन्न), खट्टी हुई वस्तु (जो स्वभावतः
मीठी हो), बासी, शूद्र का अन्न और जूठा * (किसी का)
न खाए ॥२११॥ वैद्य, शिकारी, क्रूर (सख्त), (दूसरों का) बचा
हुआ खानेवाले, उग्र † और सूतकवाली का अन्न न खाए, न जिस पर
आचमन हो चुका है ‡ न दस (दिन) निकले बिना ॥२१२॥ अना-
दर से दिया अन्न, वृथा मांस † अवीरास्त्री का अन्न, शत्रु का अन्न,
नगरी का अन्न, * * पतित का अन्न, वा जिस पर छींक दिया
गया है, वह अन्न (न खाए) ॥ २१३ ॥

पिशुनाऽनृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।

शैल्यषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च ।

सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।

रज्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

* शूद्र के खाने से बचा जाहे बटलोही में भी हो (गोवि०)

† उग्र=भयानक कर्मोवाला (दुष्ट) शूद्रा में से क्षत्रिय से उत्पन्न
हुआ (मेघा०, गोवि०, नारा०, नन्द, राघ०) राजा (मञ्जरी में, मेघा०
गोवि०) † एक पंक्ति में बैठों में से जब किसी एक ने भी आचमन
कर लिया है § सूतक, का अन्न दस दिन से पहले † वृथा मांस
इस स्मृति के अनुसार देवता और पितरों के उद्देश से बिना (देखो
५।३४) अवीरा जिसका वीर कोई नहीं=पति पुत्र से हान * *
सारी नगरी से साक्षात् करके दिया गया अन्न ; नगर के मालिक से
दिया अन्न (मेघा०, नारा०, राघ०) ॥

मृष्यन्ति ये चोपपत्तिं स्त्रीजिताना च सर्वशः ।

अनिर्देशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

चुगलखोर, झूठ बोलने के स्वभाववाले, यज्ञ (का फल) बेचनेवाले, नट, दरजी, कृतघ्न, का अन्न न खाए ॥ २१४ ॥ लोहार, निषाद, खेद दिखलानेवाले, मुनार, बांस (की वस्तुएं) बनानेवाले, शस्त्रों के बेचनेवाले का (अन्न) ॥ २१५ ॥ (शिकारी) कुत्तों के पालनेवाले, शराब बेचने वाले, वस्त्र धोनेवाले, (वस्त्र) रङ्गनेवाले, निर्दय * वा जिसके घर में (उसकी पत्नी का) जार है, उसका (अन्न न खाए) ॥ २१६ ॥ जो (जान बूझकर) अपनी पत्नी के जार को सहारते हैं, जो हर एक काम में स्त्रियों के अधीन हैं, उनका अन्न, दस दिन निकले बिना मरे (के घर) का अन्न, और अप्रसन्नता देनेवाला अन्न (न खाए) ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।

आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिक्रन्तति ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।

विष्टा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

राजा का अन्न तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मवर्चस को, मुनार का अन्न दीर्घ आयु को, चमार का यश को लेजाता है ॥ २१८ ॥ कारीगर का अन्न सन्तान का नाश करता है, भोबी का अन्न बल का,

* अथवा मनुष्यों की श्रुति कालेवाले (मेध • माय • राय •) ॥

समूह का और वेश्या का अन्न (छूँचे छोकों से काट देता है)
॥ २१९ ॥ वैद्य का अन्न पीप* (के तुल्य) होता है, व्यभिचारिणी का अन्न वीर्य (तुल्य), व्याजदियें का विष्टा, और शस्त्र बेचनेवाले का मल (थूक आदि) (के तुल्य) होता है ॥ २२० ॥

यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाः क्रमशः पारिकीर्त्तिताः ।
तेषां त्वगास्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥
भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नं ममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतोविष्मृत्रमेव च ॥ २२२ ॥
नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानऽश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥
तान्प्रजापतिराहृत्य माकृध्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूर्तं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

और यह जो दूसरे न खाने योग्य अन्नों वाले क्रमशः कहे हैं, उनके अन्नों को बुद्धिमान लवा, हड्डी और छोम (के तुल्य) बतलाते हैं ॥ २२१ ॥ इनमें से किसी एक के अन्न को बिना जाने

* अर्थात् वैद्य का अन्न खानेवाला, पीप का कीड़ा बनकर पीप खाता है, इत्यादि (नोबि •) ॥

खाए, तो तीन दिन उपवास करे, जान बूझकर खाए, तो कृच्छ्रव्रत करे, ऐसे ही वीर्य, विष्टा और मूत्र के भक्षण में भी ॥ २२२ ॥
 विद्वान् ब्राह्मण श्रद्धा न करनेवाले शूद्र का पका अन्न न खाए, किन्तु जीविका न होने में एक रात के निर्वाह के लिए कच्चा ही इस से लेलेवे ॥ २२३ ॥ वेदपाठी तो कंजूस हो और व्याज से जीविका वाला बड़ा उदार हो इन दोनों के अन्न को देवताओं ने विचारकर एक बराबर मान लिया ॥ २२४ ॥ प्रजापति ने आकर उनको बतलाया, कि विषम को सम न बनाओ, क्योंकि उदार का अन्न तो श्रद्धा से पवित्र होगया है, और दूसरा अश्रद्धा से नष्ट होगया है ॥ २२५ ॥ श्रद्धा से सदा आलस्य रहित होकर इष्ट और पूर्त करे, क्योंकि न्याय से कमाए धन द्वारा श्रद्धा से किए यह दोनों असंय होते हैं ॥ २२६ ॥

दानधर्म निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।

परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्यशक्तितः ॥ २२७ ॥

यत्किंचिदापि दातव्यं याचितेनानस्मृयया ।

उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयाति सर्वतः ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः ।

तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।

गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

पात्र को पाकर इष्ट और पूर्त सम्बन्धी दान, धर्म, शक्ति अनुसार सदा प्रसन्न हृदय से सेवन करे ॥ २२७ ॥ जब उस से मांगा जाए, तो बिना असूया जो कुछ भी बने, देवे, क्योंकि स्यात् कोई

ऐसा पात्र मिल जाए, जो कि सब (पिकटों में) बचा सकता है ॥२२८॥
जल के देनेवाला, (भूमि, खेतों की) धूमि को प्राप्त होता है, अन्न
के देनेवाला, अन्न के देनेवाला, अन्न के देनेवाला, योध्य मन्तान
को, और दीप के देनेवाला उत्तम नेत्र को (प्राप्त होता है) ॥२२९॥
भूमि के देनेवाला भूमि को, मोने के देनेवाला मोने को, घर के देने
वाला उत्तम घरों और चांदी के देनेवाला उत्तम रूप को प्राप्त होता है

वामोदश्चन्द्रमालोक्यमाश्रितालोक्यमश्वदः ।

अनदुहः श्रियं पुष्टं गोदो ब्रध्नस्यविष्टपम् ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामश्वर्यमभयप्रदः ।

धान्यदः शाश्वतं सौम्यं ब्रह्मदो ब्रह्ममार्ष्टिताम् ॥२३२॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाशनसर्पिषाम् ॥२३३॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।

तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपुजितः ॥ २३४ ॥

बल्ल के देनेवाला चन्द्र के लोक को, चंद्र के देनेवाला अश्वियों
के लोक को, बैल के देनेवाला बहुत बड़ी लक्ष्मी को, और गौ के
देनेवाला सूर्य के लोक को प्राप्त होता है ॥ २३१ ॥ यान और
शय्या का देनेवाला पत्नी को, अभय देनेवाला ऐश्वर्य को, अनाज
देनेवाला स्थिर रहनेवाले सुख को, वेद का देनेवाला ब्रह्मा की
तुल्यता को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥ जल, अन्न, गौ, धूमि, वस्त्र,
तिल, सोना, धी इन सभी दानों में से वेद का दान बढ़कर है ॥२३३॥

जिस २ भावना से * जो २ दान देता है, उस उसी भावना से वह आदरमान के साथ उस २ को (जन्मान्तर में) प्राप्त होता है ॥२३४॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।

तावुभौ गच्छतःस्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्टा च नानृतम् ।

नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

यज्ञोनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।

आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

जो आदर से लेता है, और जो आदर से देता है, वह दोनों स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, उल्टा करने में नरक को ॥ २३५ ॥ तप करके आश्चर्य न करे (कि कैसा दुष्कर काम मैंने किया है) यज्ञ करके झूठ न बोले, पीड़ित हुआ भी ब्राह्मणों की निन्दा न करे, और दान देकर बतलाए नहीं ॥२३६॥ झूठ से यज्ञ, आश्चर्य से तप, ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और बतलाने से दान बहजाता है ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्दल्मीकमिव पुत्तिकाः ।

परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।

न पुत्र दारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।

एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

* भावना=भ्रष्टा (मेधा०) भावना=अभिप्राय=कामना (कुल्श०)

किसी भी जीव को पीडा न देता हुआ, परलोक की सहायता के लिए धीरे २ धर्म का संचय करे, जैसे दीमक (धीरे २) टीळा (बनाती है) ॥ २३८ ॥ क्योंकि परलोक में सहायता के लिए न माता पिता, न पुत्र स्त्री, खड़े होते हैं, अकेला धर्म खड़ा होता है । (इसलिए माता आदि से भी बढ़कर उपकारक धर्म को माने) ॥ २३९ ॥ अकेला जीव उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला पुण्य को और अकेला ही पाप को भोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।

विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।

धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।

परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

मरे शरीर को लकड़ी और ढेले के तुल्य भूमि पर फैककर बान्धव मुख मोड़कर चले जाते हैं, धर्म उसके पीछे जाता है ॥ २४१ ॥ इसलिए धर्म को साथी बनाने के लिए धीरे २ नित्य संचय करे क्योंकि धर्मरूप साथी से दुस्तर अन्धकारसे पार होता है ॥ २४२ ॥ जो पुरुष धर्मपरायण है, और तप से दूर हुए पापोंवाला है, उसको (मरने के पीछे धर्मरूप साथी) आकाश के शरीरवाला दीप्तिमान बनाकर जल्दी दूसरे लोक (स्वर्ग वा ब्रह्मलोक) में लेजाता है

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्यजेत् ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्चर्वजयन् ।

ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।

अर्हिस्त्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

वह जो अपने कुल को ऊंचा लेजाना चाहता है, उसे चाहिए कि हर एक प्रकार के सम्बन्ध (विद्या, आचार और वंश आदि से) उत्तमों २ के साथ करे और अधमों २ को त्याग देवे ॥२४४॥ ब्राह्मण जो उत्तमों २ के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, और हीनों २ को त्यागता है, वह श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, उलटा करने से शूद्रता को ॥२४५॥ दृढकारी (साबित कदम), कोमल, सहारनेवाला, क्रूर आचारवालों के साथ न रहनेवाला, (जीवोंको) पीड़ा न देनेवाला, ऐसे व्रतोंवाला इन्द्रियों के संयम और दान से स्वर्ग को जीत लेता है ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयान् मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥२४७॥

आहूताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

नाश्रन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।

नच हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९॥

बिन मांगे मिले लकड़ी, जल, मूल, फूल, अन्न, शहद और अभय दक्षिणा हर एक से स्वीकार करे * ॥ २४७ ॥ प्रजापति

* शास्त्रि० १४।१२ गौत० १७।५ ; आप० १।१८।१ ; विष्णु३।२।११

का मत है, कि पहले न कहीं * सामने ला रखी भिक्षा पापात्मा पुरुष से भी स्वीकार कर लेनी चाहिए † ॥ २४८ ॥ जो उसका अपमान करता है, पन्द्रह वर्ष तक उसके पितर (उसका दिया पिण्ड श्राद्ध) नहीं खाते और न अग्नि उसकी हवि (देवताओं को) पहुंचाता है ‡ ॥ २४९ ॥

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दाधि ।
धाना मत्स्यान् पयोमांसं शाकंचैव ननिर्नुदेत् ॥२५०॥

गुरुन्मृत्यांश्चोजिहीर्षन्नार्चिष्यन्देवताऽतिथीन् ।
सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्नतुतृप्येत्स्वयंततः ॥२५१॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनोवृत्तिप्रान्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतःसदा ॥ २५२ ॥

शय्या, घर, कुशा, गन्धवाली वस्तुएं (कपूर आदि) वा जल, पुष्प, मणि दही, दाने, मछलियों, दूध, मांस और शाक से इनकार न करे (यदि श्रद्धा से दिए जाएं) § ॥ २५० ॥ गुरुओं और आश्रितों का उद्धारकरना चाहता हुआ, देवता और अतिथियों को पूजना चाहता हुआ, सब से (साधु असाधु से) ले लेवे, पर आप उससे तृप्त न हो ॥ २५१ ॥ पर जब गुरु मर चुके हैं, वा उनसे अलग घर में रहता है, तब अपनी जीविका चाहता हुआ सदा भले पुरुषों से लेवे (ऐसे वैसे नहीं) ॥ २५२ ॥

* विन मांगी, और दाता ने पहले न कहीं † वासि० १४ । १६; आप० १ । १० । १२—१४; याज्ञ० १ । २२५; विष्णु० ६२ । ११ ‡ वासि० १४ । १८; आप० १ । १९ । १४ विष्णु० ६२ । १२ ॥ § विन ३ । १२ गौत० १७ । ५ याज्ञ० १ । २१४ विष्णु० ६२ । ११ वासि० १४ । १ गौत० १७ । ४ आप० १ । ७ । २० याज्ञ० १ । २१६ विष्णु० ६२ । १३ ॥ विष्णु० ६२ । १५ ॥

आर्धिकःकुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
 एतेशूदेष्वभोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥
 यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
 यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥
 योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
 स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥
 वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
 तां तु यःस्तेनयेद्वाचं ससर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

आधी (सीरी), कुल का मित्र, अपना ग्वाला, अपना दास, अपना नाई, शूद्रों में से इनका अन्न खालेवे, और जो अपने आप को अर्पण करदे *—॥ २५३ ॥ (इसप्रकार, कि) जैसे इसका स्वरूप हो, (अर्थात् अपना कुल, देश, शील) और जैसा इसको कर्म करना अभीष्ट हो (खेती वा घर का काम) और जिसप्रकार से (रोटी कपड़ा आदि लेकर, वा निरा मासिक लेकर) वह इसकी सेवा कर सक्ता है, इसप्रकार वह (अजनबी दास) आप अपने आप को समर्पण करे ॥ २५४ ॥ जो कुछ और होकर

* गौत०१७।५-६ आप०१।१८।१४ विष्णु०६।१।६ इस श्लोक और अगले तीन श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह शूद्र विजित जाति के वा अजनबी हैं, वह आर्यों के साथ विश्वास भङ्ग करते थे, अतएव आर्य उनका पका भोजन खाने से डरते थे, अतएव जिनपर विश्वास है,सीरी आदि पर,उनका अन्न भोग्य कह दिया है। और जो विश्वास दिलाता है,उस पर भरोसा किया गया है हां उसे भी सावधान किया गया है,कि विश्वास देकर धोखा देना बड़ा पाप है। इस से आर्य-जाति की सरलता प्रतीत होती है। किन्तु शूद्र का पका न खाने का मूल कोई वहम नहीं, केवल हानि पहुंचने का डर है। यदि जातिमूलक वा बहम से यह निषेध होता, तो सीरी आदि का पका खाने में भी रोक ही होती ॥

अपने आप को कुछ और प्रकट करता है, वह लोक में सब से बड़ कर पाप करने वाला, चोर है, जो आत्मा का चुरानेवाला है, (दूमेरे धन चुराते हैं, वह आत्मा को चुराता है) ॥ २५५ ॥ सब व्यवहार बाणी से सम्बन्ध रखते हैं, बाणी उनका मूल है, बाणी से उत्पन्न हुए हैं, सो जो उस बाणी को चुराता है, वह मनुष्य हर एक वस्तु को चुरानेवाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।

पुत्रे सर्वे समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।

एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।

स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।

व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

यथाविधि (स्वाध्याय से, महर्षियों का, (शुद्ध सन्तानो-त्पादन से) पितरों का, और (यज्ञों से) देवताओं का ऋण * चुकाकर सब कुछ (घर का काम काज) पुत्र पर डालकर ममता छोड़कर (घर में) रहे + ॥ २५७ ॥ अकेला एकान्त में निख अपने आत्मा का हित चिन्तन करे, क्योंकि अकेला चिन्तन करता हुआ, परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ २५८ ॥ यह ब्राह्मण गृहस्थ की मुख्य जीविका कही है, और स्नातक के व्रतों का प्रकार (कहा है) जो आत्मबल का बढ़ानेवाला, बड़ा उत्तम है ॥ २५९ ॥ इस आचार पर चलता हुआ वेद शास्त्र का जानने वाला ब्राह्मण निष्पाप हुआ सदा ब्रह्मलोक में पूजा जाता है ‡ ॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ

* तीन ऋणों पर देखो वासि० ११।४८ + २५७।२५८ ‡
वासि० ८।१७ ऋषि० ९।७४ बौध्या० २।३।१ ॥

पंचमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्माज्ञानकस्य यथोदितान् ।

इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।

कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षिन्मानवो भृगुः ।

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

स्नातक के इन यथोक्त धर्मों को सुनकर ऋषि लोग अग्नि से उत्पन्न हुए * महात्मा भृगु से यह बोले ॥ १ ॥ कैसे हे प्रभो ! मृत्यु उन ब्राह्मणों को (पूर्ण आयु से पूर्व ही दबाने के) समर्थ होता है, जो इसप्रकार तुझसे कहे धर्म का अनुष्ठान करते हैं और वेद शास्त्र को समझते हैं ॥ २ ॥ तब वह मनु का पुत्र धर्मात्मा भृगु उन महर्षियों से बोला, सुनिये, जिस दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारना चाहता है ॥ ३ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

* पूर्व १ । ३५ में भृगु की उत्पत्ति मनु से कही है और यहां ही आगे ३ में भृगु को मानव कहेंगे । किन्तु यह अग्नि से उत्पत्ति ब्राह्मण और भारत के अनुसार है । मेधातिथि अग्नि से उत्पत्ति का यह भी अभिप्राय लेता है, कि तेजस्वी होने से अग्नि के पुत्र तुल्य है ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
 अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि ॥ ५ ॥
 लोहितान्वृक्षानिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
 शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥
 वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
 अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

वेदों के अनभ्यास से (न पढ़ने से वा पढ़े हुआओं के आग से)
 आचार के छोड़ देने से, आलस्य से और अन्न के दोष से (दुष्ट अन्न
 के सेवन से) मृत्यु ब्राह्मणों को मारना चाहता है * ॥ ४ ॥ लह-
 सन, गाजर, प्याज़, कुकरमुत्ता (छत्री), और अमेध्य में उत्पन्न
 हुई वस्तुएं द्विजों के लिये अभक्ष्य हैं † ॥ ५ ॥ वृक्षों के गोंद जो
 लाल हैं, वा छेद करने में जो निकले हैं,—लसोडा, और गोकी,
 पेवसी, (बहुली = नई ब्याई हुई का गाढ़ा दूध) ॥ ६ ॥ कृसर,
 (तिल सहित भात), सीरा, खीर, मालपूआ, यह वृथा हैं और मांस
 जो उपाकरण रहित § हो, अन्न और इवियें जो देवताओं के हैं
 (उन के अर्पण हो चुके हैं, इन सब को छोड़ देवे) ॥ ७ ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

* वेदाभ्यास और आचार का वर्णन चौथे में आचुका, दुष्ट
 अन्नों की गणना यहां करते हैं, † ५—१५ वासि० १४। ३३-४८
 गौत० १७। २२-३६ आप० १। १७। १८-३९ बौध्वा० १। १२। १-१५
 बाह्म० १। १६९-१७८ विष्णु० ५१। ३-६, २१-४२ श्रुति ब्रूया=देवता,
 पितर वा अतिथियों के उद्देश से बिना निरे अपने लिए बनाए §
 उपाकरण=यज्ञ में मन्त्रों से कुशा के स्पर्श करने का संस्कार ॥

आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥८॥
 आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
 स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥
 दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम् ।
 यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

दस दिन निकले बिना गौ का दूध, ऊंटनी का, एक खुर वाली (घोड़ी आदि) का, और भेड़ का दूध, गर्भवती का * दूध, और मरे बछड़ेवाली का दूध ॥ ८ ॥ सब जंगली पशुओं का दूध बिनाय भैंस के, स्त्री का दूध, और (देर पड़ी रहने से) खट्टी हुई सब वस्तुएं छोड़नी चाहिएं ॥ ९ ॥ खट्टी वस्तुओं में दही और दही से बनी सब वस्तुएं (लस्सी, भल्ले, पकौड़ी, आदि) और जो उत्तम फूट फूट और मूत्र से मिलाई जाकर खट्टी कीजाती हैं, यह सब भक्ष्य हैं ॥ १० ॥

क्रव्यादाञ्जकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासनः ।
 अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिदृमं चविवर्जयेत् ॥ ११ ॥
 कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्रांगं ग्रामकुक्कुटम् ।
 सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥
 प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
 निमज्जतश्चमत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेवच ॥ १३ ॥

* ऋतुमती (कुल्लू०, नारा०, राघव) जो एक दिन में एक ही बार दूध दे, (मेघा०, गोवि०) ॥

कच्चा मांस खानेवाले सब पक्षी (गिद्ध आदि) तथा ग्राम में रहनेवाले, (चिड़ा, कबूतर आदि) और एक खुरवाले वह पशु जिन (के खाने) की स्पष्ट आज्ञा नहीं, और टिट्टी को त्याग देवे ॥११॥ चिड़ा (चाहे बनवासी भी हो), जल कुकड़, हंस, चकवा, ग्राम का कुकड़, सारस, रज्जुदाल*, द्रोण काक (Allinul) तोता और मैना ॥१२॥ (चञ्चु से) फोड़ (कर कीड़ों को खा) ने वाले (कटफोड़ा आदि) झिल्लीवाले पैरोंवाले, कोयष्टि^(Lapwing), नखाँसे बिखेर (कर खा) ने वाले, डुबकी लगाकर मछलियाँ खानेवाले, बंध स्थान का मांस और सूखा मांस (न खावे) ॥ १३ ॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।

मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेवचसर्वशः ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति सतन्मांसाद् उच्यते ।

मत्स्यादःसर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।

राजीवान्सिहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैवसर्वशः ॥ १६ ॥

नभक्षयेदेकचरानज्ञातांश्चमृगद्विजान् ।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥

बगल्ला, बलाका (कुलिंग), पहाड़ी कौआ, ममोला, मछलियाँ खाने वाले (मगर आदि) गायों के सूअर और सब प्रकार की मछलियाँ (त्यागे) ॥१४॥ जो जिसका मांस खाता है, वह निरा उसका मांस

* छपे पुस्तकों में रज्जुवाल हैं, पर टीकाकारों के अनुसार रज्जुदाल हैं। रज्जुदाल=जङ्गली चिड़िया (विज्ञानेश्वर) दरयार्ह पक्षी (नारा०)

खानेवाला कहलाता है, पर मछली का खानेवाला सब मांसों का खाने वाला है इसलिये मछलियों को त्यागे ॥ १५ ॥ हां पाठा और रोहू यह दो मछलियाँ देवकर्म और पितृकर्म में बर्ती हुई खाने योग्य होती हैं, तथा राजीव, सिंहतुण्ड और सब प्रकारके सशलक (मोटी खालवाली मछलियाँ) ॥ १६ ॥ एकचरों * को न खाए, और अज्ञात पशु, पक्षियों को न खाए, चाहे वह खाने योग्यों में लिये गये हों, और पांच नखोंवाले (वानर आदि) सभी को ॥ १७ ॥

श्राविधं शत्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।

भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वहुरनुष्टुंश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहंच लशुनं ग्रामकुक्कटम् ।

पलाण्डुं गृञ्जनंचैव मत्या जग्ध्वापतेदद्विजः ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।

यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

पंच नखवालों में इनको भक्ष्य कहते हैं, सेह, साही (मोटे रोमोंवाली सेह) गोह, गेंडा, कलुआ और ससा । और ऊंट के सिवाय एक ओर दान्तोंवाले (पशु भक्ष्य हैं) ॥ १८ ॥ कुक्करमुत्ता (छत्री) गाओं का सूअर, लहसन, गाओं का कुक्कड़, प्याज़ और गाजर,

* एकचर=अकेले फिरनेवाले सर्प आदि (मेघा०, कुल्लू०, राघ० नन्द) एकचर=जो इकट्ठे मिलकर रहनेवाले हैं, उनमें से यदि कोई अकेला फिर रहा हो (नारा०) ॥

इनको जान बूझकर खाने से द्विज पतित होता है ॥१९॥ विन जाने इन छः को खाकर कुछ सांतपन वा यति चान्द्रायण करे* शेष (अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण) में एक दिन उपवास करे ॥२०॥ द्विज वरस में एक कुछ † करे, जिस से कि अज्ञात खाए (अभक्ष्य) की शुद्धि होजाए, और ज्ञात के लिए तो विशेषता से (जो उम का प्रायश्चित्त है वह करे) ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।

भृत्यानां चैव वृत्यर्थं मगस्त्योह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।

पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविः शेषं च यद्ववेत् ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

पशु और पक्षी जो अच्छे कहे हैं, वह यज्ञ के लिए, वा अवश्य पालने योग्यों (माता, पिता आदि) के पालने के लिए ब्राह्मणों से मारे जा सकते हैं, क्योंकि अगस्त्य ने पहले ऐसा किया है ॥ २२ ॥ क्योंकि पुराने समय के ऋषि यज्ञों में, तथा ब्राह्मण और क्षत्रियों के यज्ञों में भक्षणीय पशु पक्षियों के पुरोडाश होते रहे हैं ॥ २३ ॥ जो कुछ सख्त वा नर्म खाने की वस्तु स्नेह से

* कुछ सांतपन और यति चान्द्रायण देखो आगे ११।२१३; २१९

† कुछ देखो ११।२१२ ॥

संयुक्त हो, वह बासी भी खाई जा सकती है, और जो हवि से बची हो, वह भी ॥ २४ ॥ चिरकाल की भी, स्नेह से न मिली हुई भी जौ और गेहूं की बनी हुई हर एक वस्तु (मिठाई आदि) और दूध का विकार (दही, मठा आदि) द्विजों को खालेना चाहिये ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २५ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

यह द्विजों के लिये भक्ष्य अभक्ष्य सारा कहा है, इस से आगे मांस के भक्षण और त्याग की विधि कहेंगे ॥ २५ ॥ मनुष्य मांस को खा सकता है, जब कि प्रोक्षित है (यज्ञ में मन्त्रों से जिस पर जल छिड़का गया है) वा, जब ब्राह्मणों की इच्छा हो, वा जिसको विधि के अनुसार आज्ञा मिली है, वा जब प्राण खतरे में हो * ॥ २७ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिर कल्पयत् ।

स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।

अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।

धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽतार एव च ॥ ३० ॥

† प्रजापति ने इस सब को प्राण का अन्न बनाया है । स्थावर और

* २७-५६ वासि० ४।५-८ याज्ञ० १।१७८-१८१ विष्णु० १।५९-७८

† 'प्राण खतरे में हो' का अर्थवाद कहते हैं ।

जङ्गम सब प्राण का भोजन है ॥ २८ ॥ चलनेवालों (हरिणादि) के न चलनेवाले (घास आदि) अन्न हैं, दाढ़ वालों (चीते आदि) के न दाढ़वाले (हरिण आदि), हाथ वालों (मनुष्यादि) के न हाथ वाले (मछली आदि), और शूरो के डरपोक (अन्न हैं) ॥ २९ ॥ खानेवाला खाने योग्य प्राणियों को प्रतिदिन खाता हुआ भी पापी नहीं होता, क्योंकि रचनेहार ने ही खाए जाने वाले और खानेवाले प्राणी रचे हैं ॥ ३० ॥

यज्ञाय जाग्धिर्मांसस्येत्येषदैवो विधिः स्मृतः ।

अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तुराक्षसोविधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयंपाप्युत्पाद्यपरोपकृतमेववा ।

देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

* यज्ञ के लिये मांस का खाना देवताओं की विधि कही है, इससे भिन्न प्रकार से (मांस भक्षण में) प्रवृत्ति राक्षसों की विधि कहलाती है ॥ ३१ ॥ खरीद कर, वा आप (शिकारादि) से उत्पन्न करके वा दूसरे से भेंट किया हुआ हो तो देवता और पितरों को पूजकर मांस खाता हुआ पापी नहीं होता है ॥ ३२ ॥

नाद्यादिविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।

जग्ध्वाह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

नतादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।

यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

विधि का जाननेवाला द्विज आपत्ति रहित काल में बिना विधि के मांस न खाए क्योंकि जो बिना विधि के मांस खाता है,

* प्रोक्षित मांस के भक्षण का अर्थवाद कहते हैं ।

है, वह मरने के पीछे बेबस उनसे खाया जाता है * ॥ ३३ ॥ धन (जीविका) के लिये मृगों के मारनेवालेको वैसा पाप नहीं होता है, जैसा कि वृथा मांस खानेवाले को मरने के पीछे होता है (क्योंकि वह निर्वाह के लिए मारता है, यह भोग के बस खाता है) ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।

सप्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैः नाद्याद्विप्रः कदाचन ।

मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

कुर्याद घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।

नत्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरेमाणि तावत्कृत्वोहमारणम् ।

वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

(विधि के अनुसार आज्ञा मिलनेका अर्थवाद कहते हैं) (मधुपर्क वा श्राद्ध में) यथाविधि आज्ञा दिया हुआ जो पुरुष मांस नहीं खाता है, वह मरकर इक्कीस जन्म पशु बनता है † ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से संस्कार न किए पशुओं (के मांस) को ब्राह्मण कभी न खाए किन्तु सनातन विधि के सहारे पर मन्त्रों से संस्कार कियों को खासक्ता है ॥ ३६ ॥ (मांस के लिए) उत्कट इच्छा हो ॥ तो घी

* उसको भांति २ की पीड़ा सहनी पड़ती है, इतने मात्र में तात्पर्य है, इतरथा प्रायः लोग बकरे आदि का मांस खाते हैं, और बकरे आदि मांसाहारी नहीं (मेघा०) ॥

† ब सि० ११।३४ ॥ जब शिष्टाचार से प्रासिद्ध कर्म में पशु बलि का प्रसङ्ग हो, (मेघा०) जब भूत आदि को बलि देनी हो, (मोवि०) उत्सव आदि के निमित्त कोई इकट्ठ हो तो (नन्द०) ॥

का वा आटे का पशु बनाले, पर वृथा पशु हनन की कभी इच्छा न करे ॥ ३७ ॥ जितने (मारे जाने वाले) पशु के रोम होते हैं, उतनीबार वृथा पशु मारनेवाला मरकर जन्म २ में मारा जाता है ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

यज्ञोऽस्यभृत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवधः ॥ ३९ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पाक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत कर्मणि ।

अत्रैव पशवो हिंस्यानान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

ब्रह्मा ने आपदीयज्ञ के लिए पशु रचे हैं, यज्ञ इस सब (जगत्) की वृद्धि के लिए है, इससे यज्ञ के निमित्त (पशु की) हिंसा हिंसा नहीं है ॥ ३९ ॥ (क्योंकि) ओषधियाँ, वृक्ष, पशु, पक्षी और दूसरे जन्तु यज्ञ के लिए नाश को प्राप्त हुए फिर ऊँचे जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और दैवतकर्म इन्हीं में पशुओं को मारे, और किसी कर्म में नहीं, यह मनु ने कहा है

एष्वर्थेषु पशून्निहसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।

आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।

नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।

अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ ॥ ४४ ॥

वेद के तत्त्व अर्थ का ज. ननेब ला द्विज इन पूर्वोक्त प्रयोजनों के निमित्त पशुओं को मारता हुआ अपने आपको और पशु को उत्तमगति को प्राप्त कराता है ॥ ४२ ॥ घर में, वा गुरु के पास, वा वन में निवास करता हुआ शुद्धात्मा द्विज आपत्ति में भी ऐसी हिंसा न करे, जो वेद विहित नहीं है ॥ ४३ ॥ जो वेद विहित हिंसा इस चर अचर में (विशेष २ अवसर के लिए) नियत की गई है, उसे अहिंसा ही जाने, क्योंकि वेद से ही धर्म प्रकाशित हुआ है ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।

स जीवश्चमृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।

स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

यदध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।

तदवाप्तोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जो अहिंसक जीवों को अपने सुख की लालसा से मारता है, वह जीता हुआ वा मरकर कहीं सुख से नहीं बढ़ता है ॥ ४५ ॥ जो प्राणियों को उन के बान्धने और मारने के क्लेशों को नहीं देना चाहता है, वह सब का हित चाहनेवाला अत्यन्त सुख पाता है ॥ ४६ ॥ वह जो सोचता है, जो करता है, और जिसमें मन को दृढ़ लगाता है, उसको बिना यत्र प्राप्त होता है, जो किसी (प्राणी) की हिंसा नहीं करता है ॥ ४७ ॥ (प्राणियों) की हिंसा किये

बिना कहीं मांस उत्पन्न नहीं होता, और प्राणियों का मारना स्वर्ग के लिए अच्छा नहीं, इसलिए मांस को त्यागे ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।

स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीडयते ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता च निहन्ता क्रयविक्रयी ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।

अनभ्यर्च्यपितन्देवांस्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

मांस की (घिनौने लहू आदि से) उत्पत्ति, और प्राणधारियों के बांधने और मारने को देखकर हर एक प्रकार के मांस भक्षण से हटा रहे ॥ ४९ ॥ जो विधि को त्याग करके पिशाचों की तरह मांस भक्षण नहीं करता, वह सब का प्यारा दंता है, और रोगों से पीड़ित नहीं होता ॥ ५० ॥ (मारने में) अनुमति देनेवाला, काटनेवाला, मारनेवाला, (मांस का) खरीदनेवाला, बेचनेवाला पकानेवाला, परोसनेवाला, और खानेवाला (यह सब पशु के) मारनेवाले (माने गए) हैं ॥ ५१ ॥ देवता और पितरों की पूजा के बिना जो दूसरे के मांस से अपने (शरीर के) मांस को बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर पाप करनेवाला नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।

मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

एक वह पुरुष जो बरस२ पीछे सौ बरस तक अश्वमेध यज्ञ करे,
और दूसरा वह जो मांस कभी न खाए, उन दोनों को पुण्यफल
समान होता है (अर्थात् प्राणियों पर दयाभाव से बरस भर
मांस न खाने का फल एक अश्वमेध के तुल्य होता है) ॥५३॥

फलमृलाशनैर्मैर्धैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।

न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्रम्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

(सदा) पवित्र फल मूल खाने से और मुनियों के अन्नों
(जंगली सिमाक आदि) के खाने से उस फल को नहीं प्राप्त
होता है, जो (प्राणियों पर दयाभाव से) मांस के छोड़ने से ॥५४॥
मुझे वह (= मांस :) परलोक में खाएगा, जिसका मांस मैं यहां
खाता हूं, बुद्धिमान यह मांस का सच्चा अर्थ बतलाते हैं ॥ ५५ ॥
न मांस भक्षण में, न मद्य (पीने) में, न मैथुन में, दोष है, * यह
भूतों का स्वाभाविक काम है । हां इस से हटना महाफल है ॥५६॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तैथवच ।

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनु पूर्वशः ॥ ५७ ॥

* जब यह धर्म विरुद्ध न हों, तो इ. में दोष नहीं, जैसे मांस
भक्षण प्राण के खतरे आदि में, मद्यपान क्षत्रियों को (सौत्रामणि
में,) वा ऐसा मक्कर द्रव्य जिसका विधि निषेध नहीं, जैसे पान
आदि । मैथुन बिना ऋतु अपनी स्त्री के पास जाना । इन में दोष नहीं
है, (यह टीकाकारों ने आशय लिया है) ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
 अशुद्धा बांधवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥५८॥
 दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
 अर्वाक्संचयनादस्थनां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥
 सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
 समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

(नया प्रकरण आरम्भ करते हैं) अब मैं चारों ही वर्णों के प्रेतों की (मरों की=मरे हुए के बान्धवों) की शुद्धि, और द्रव्यों की शुद्धि क्रमशः ठीक २ कहूंगा ॥ ५७ ॥ जिस के सभी दान्त निकल आए हैं, वा निकलने से पहले जिसका मुण्डन हो चुका है * उसके मरने पर सब बान्धव (सपिण्ड भी और समानोदक भी) अशुद्ध होते हैं सूतक में भी ऐसा ही कहा गया है † ॥ ५८ ॥ सपिण्डों में पुरुष का आशौच दस दिन बतलाया है, (वा) अस्थियों के चुननेतक ‡ वा तीन दिन वा एक दिन

* ' अनुजाते ' और ' कृत चूडे ' का इकट्ठा अर्थ करने से अर्थ युक्तियुक्त बन जाता है । जैसा कि ऊपर किया है । परन्तु मेधा० गोवि० नारा० ' अनुजाते ' को स्वतन्त्र रखते हैं, जिसके दान्त निकल आए हैं, उससे छोटा बालक । कुल्लू० दान्त निकलने के पीछे, अर्थ लेता है, राघ० दान्त गिरकर बुबारा उत्पन्न हुए दान्तोंवाला लेता है, नन्द० फिर जन्मा=उपनीत, अर्थ लेता है । गोवि०, कुल्लू०, नारा० राघ० दूसरे ' च ' से ' उपनीत ' से अभिप्राय लेते हैं ।

† ५८-१०४ वासि० ४।१६-३७ गौत० १४ आप० १।१५।१८; २।१।१२-११ बौध० १।११।१-८: १७-२३, २७-३२ याज्ञ० ३।१-३० विष्णु० २२

‡ अस्थियें चौथे दिन चुनी जाती हैं । देखो विष्णु० १९। १०

*५९॥सपिण्ड सम्बन्ध सातवें पुरुष में छूट जाता है † और समानोदक सम्बन्ध जन्म और नाम के न मालूम रहने में (छूटता है) ॥६०॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

* दस, चार, तीन वा एक दिन की व्यवस्था टीकाकारों ने दूसरी स्मृतियों के अनुसार यह की है कि जो श्रौत अग्नियों को स्थापन किए हुए है और अपनी सारी वेदशाखा को पढ़ा हुआ है, उसे एक दिन। जो इन दोनों में से एक से रहित है उसे तीन दिन, जो दोनों से रहित है, पर स्मार्त अग्निवाला है, उसे चार दिन, जो सब से रहित है, उसे दस दिन। मेधा० ने एक व्यवस्था इसप्रकार भी दिखाई है कि पूर्व ४।९ में कही जीशिका भेद से यह भेद है. छः कर्मोंवाले को दस दिन, तीनवाले को ४ दिन, २ वाले को तीन दिन, १ वाले को एक दिन † पिता, पितामह, और प्रपितामह इन तीनों को पिण्ड दिया जाता है. और उससे ऊपर के तीन, अर्थात् प्रपितामह के पिता पितामह, प्रपितामह, यह पिण्डकेलेप भागी हैं, इन छःके लिए पिण्ड दिया जाने से, छटी पीढी तक सपिण्डता रहती है, उससे आगे सपिण्डता नहीं होती, किन्तु समानोदकता रहती है, अर्थात् जलांजलि इससे ऊपरलें के लिए भी दाजाती है। यह उदक सम्बन्ध वहांतक बना रहता है जहां तक यह ज्ञात है, कि इसका जन्म अमुक मूल पुरुष से है, जो हमारा भी मूल पुरुष है, वा हमारे मूल पुरुष के ही वंश में है, इस प्रकार समान वंश और एक मूल पुरुष का पता जब तक ज्ञात है, तब तक उदक सम्बन्ध बना रहता है, इस उदक सम्बन्ध वाले सब आपस में समानोदक कहलाते हैं। इस जन्म नामके भूल जाने पर उदक सम्बन्ध न रहने से समानोदकता निवृत्त होजाती है ॥

निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।
वैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

जैसे यह मृतक का आशौच सपिण्डों में विधान किया है, इसीप्रकार जन्म में भी होता है, जोकि पूरी शुद्धि चाहते हैं * ॥ ६१ ॥ (पर इतना भेद है कि) मरण का आशौच तो सब को होता है किन्तु मृतक (जन्म का आशौच) माता पिता को ही होता है, (उसमें भी) पूरा सूतक माता को ही होता है, पिता स्नान करके शुद्ध होजाता है ॥ ६२ ॥ वीर्य को निकाल कर पुरुष निरे स्नान से शुद्ध होता है । पुनर्विवाहिता ७ में पुत्र उत्पन्न होने से तीन दिन आशौच रहता है ॥ ६३ ॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥
गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥

* ६१—६२ मेंधा० और गोविन्द इन दो श्लोकों के स्थान एक ही श्लोक इसप्रकार मानते हैं :—‘जननेऽप्येवमेवस्यान्माता पित्रोस्तु सूतकम् । सूतकं मातु रेवस्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥’ जनने में भी ऐसे ही (आशौच) होता है, पर यह आशौच माता पिता को होता है, (सारे सपिण्डों को नहीं) उसमें भी (सूतक) निरा माता को ही होता है, पिता स्नान करके शुद्ध होजाता है ” प्रतीत तो यही पाठ ठीक होता है, क्योंकि दोनों श्लोकों का तात्पर्य इसप्रकार एक में सारा आजाता है, और यही दो टीकाकार सब से पुराने हैं, नन्दन ने भी ऐसा ही पाठ माना है, पर जैसा कि अब सभी पुस्तकों में दो श्लोक मिलते हैं, ठीक वैसे ही रहने दिए हैं। यह अर्थ गोवि० कुल्लू० और राघ० के अनुसार है। मेंधा० और नारा० थोड़ा सा भेद करते हैं ॥

मृतक को स्पर्श करनेवाले एक दिन रात और तीन गुने तीन (दिन) रात (अर्थात् दस दिन) से शुद्ध होते हैं, और जल देनेवाले तीन दिन से* ॥६४॥ जब कोई शिष्य मरे गुरु का पितृमेध (अन्त्येष्टि) करता है, तो वह मृतक को उठाकर (श्मशान भूमि में) लेजाने वालों के साथ दस दिन से शुद्ध होता है ॥६५॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति ।

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।

निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदिध्युर्बान्धवा बहिः ।

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽभिसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।

अरण्ये काष्ठवत्त्यत्तवा क्षपेयुस्त्यहमेव च ॥ ६९ ॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।

जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥७०॥

* गोवि० नारा० के अनुसार यह दस दिन का आशौच उनके लिए है, जो न सपिण्ड हों, न समानोदक हों, और न ही धर्मार्थ मृतक को उठाकर लेजाएँ, किन्तु मूल्य लेकर। पर कुल्लू० राघ० के अनुसार यह उन सपिण्डों के लिए है, जिनको पूर्व [५९ में] गुणों की अपेक्षा से चार, तीन वा एक दिन कहा है, वही यदि मृतक को उठाएँ, तो साधारण सपिण्डों की तरह उन्हें भी दस दिन ही होता है। मेधा०के अनुसार उन सब के लिए है, जो शव को स्पर्श करें, चाहे वह सपिण्ड हों वा मूल्य से लेकर शव को उठा ले जाएँ। जो धर्मार्थ उठा लेजाएँ, उनकी शुद्धि केवल स्नान से होजाती है

गर्भ गिरने में स्त्री (गर्भ के) महीनों के बराबर दिनों से शुद्ध होती है*, और रजस्वला पतिव्रता स्त्री रज के बन्द होने पर स्नान से (शुद्ध होती है) ॥ ६६ ॥ जिनका चूड़ाकरण नहीं हुआ है, उन बच्चों (के मरने में सापिण्डों की) एक (दिन और) रात से शुद्धि कही गई है, और जिनका चूड़ाकरण हो चुका है, (पर अभी उपनयन नहीं हुआ) उन (के मरने पर सापिण्डों) की शुद्धि तीन रात से होती है ॥ ६७ ॥ पूरे दो वर्ष का होने से पहले जो मरा है, उसको बान्धवजन (पुष्प माला आदि से) भूषित करके ग्राम से बाहर शुद्ध भूमि में गाड़ देवें, बिना अस्थि संचयन के (अस्थि संचयन न करें) ॥ ६८ ॥ ऐसे (बालक) का न अग्नि संस्कार करें न उदक क्रिया (जलाञ्जलि देवें) जंगल में लकड़ी (के टुकड़े) की तरह त्यागकर तीन दिन आशौच करें ॥ ६९ ॥ बान्धव उसकी उदक क्रिया न करें, जो तीन वर्ष का नहीं है, यदि दांत उत्पन्न हो चुके हैं, वा नामकरण हो चुका है, तो उसकी उदक क्रिया कर सकते हैं ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।

जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।

यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

*कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार छः महीने तक यह नियम है, और 'रात्रिभिः' बहुवचन देने से तीन रात से न्यून आशौच पहले और दूसरे महीने भी नहीं होता, और यह चारों वर्णों के लिए एक जैसा है। इसके पीछे अपने २ वर्णों के अनुसार पूरा आशौच होता है ॥

अक्षारलवणान्नाः स्यान्निर्मज्जेयुश्च तेऽन्वहम् ।
 मांसाशनं च नाश्रयिषुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥
 विगतं तु विदेशस्थं भृणुयाद् यो ह्यनिर्दशम् ।
 यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥७४॥
 सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।
 असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिवान्धवैः ॥७५॥
 अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
 संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥७६॥

सहाध्यायी के मरने पर एक दिन आशौच कहा है, और जन्म में * समानोदकों की तीन (दिन) रातों से शुद्धि मानी है ॥ ७१ ॥ (वाग्दान दीहुई) अनविवाही स्त्रियों के (मरने में) बान्धव (वर आदि) तीन दिन से शुद्ध होते हैं, और इसीप्रकार ७ से पितृपक्ष के लोग शुद्ध होते हैं ॥ ७२ ॥ (जब तक आशौच है, तब तक वह) भोजन बनावटी लवण के बिना खाएं, प्रतिदिन स्नान करें, मांसाहार न खाएं और अकेले २ भूमि पर (संस्थर पर) सोवें ॥ ७३ ॥ (मृत के) निकट होने में (मरने के दिन का पता लग जाने से) मृतक के आशौच की यह विधि कही है, निकट न होने में सम्बन्धि और बान्धवों (समानोदक और सपिण्डों) को यह विधि जाननी चाहिये ॥ ७४ ॥ विदेश में स्थित मरे को यदि दस दिन से पहले सुनें, तो जो दस (दिन) रात में से

* पूर्व ६४ में मरनेमें कही है ७ पूर्व ६७ में कहे प्रकार संमिषा०, गोवि०, नन्द०] इसीप्रकार बान्धवों की तरह तीन दिनसे [कुल्लू० नारा०, राघ०] ‡ 'अन्वहम्' पाठ, नन्द० के अनुसार लिखा है ।

वचता है उतनी देर ही वह अशुचि होता है * ॥७५॥ यदि दस दिन बीत चुके हों तो तीन (दिन) रात अशुचि होता है † और यदि वरम बीत चुका हो, तो निरे स्नान से शुद्ध होता है ॥७६॥

[निदर्शं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।

सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥७७॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।

सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुद्ध्यति ॥७८॥

(आशौच) के दस दिन निकल जाने पर ज्ञाति का मरना वा पुत्र का जन्म सुनकर वस्त्रों सहित जल में स्नान कर मनुष्य शुद्ध होता है ॥ ७७ ॥ दूर देश में स्थित बालक (जिम के दांत उत्पन्न नहीं हुए) (वीं युवा वा वृद्ध भी) असपिण्ड (समानोदक) मरे, तो (सुनकर) वस्त्र समेत स्नान करके तत्काल ही शुद्ध होता है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।

तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।

तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥८०॥

* दस दिन उपलक्षण है अर्थात् जिसका जितने दिन आशौच शेष है, उन्से उतने दिन होता है [देखो आगे ८३]

† यह नियम चारों वर्णों के लिए है। पूर्व ६४में ३ दिन से शुद्धि कही है, उसके साथ विरोध हटाने के लिए मंत्रा० ने ज्ञाति से अभिप्राय असपिण्ड [समानोदक] से लिया है, कुल्लू० ने पूर्वला आशौच कर्म में अयोग्यता का और यह स्पर्श में अयोग्यता का लिखा है ।

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।

अश्रोत्रिये त्वहःकृत्स्नमनूचाने तथाऽगुरौ ॥ ८२ ॥

(आशौच के) दस दिन के अन्दर यदि फिर * जन्म वा मरण हो, तो उतनी देर ही ब्राह्मण अशुचि होगा, जब तक (पहले आशौच के) दस (दिन) नहीं निकलते ॥ ७९ ॥ आचार्य के मरने पर शिष्य को तीन (दिन) रात आशौच कहते हैं, और उसके पुत्र और पत्नी के मरने पर एक दिन रात, यह मर्यादा है ॥ ८० ॥ निकटवर्ती † श्रोत्रिय (के मरने) पर तीन दिन अशुचि होता है, मामा, शिष्य, ऋत्विज और बान्धवों (मातृपक्ष के सम्बन्धियों के मरने) पर पूर्वले और परले दिन समेत एक रात ॥ ८१ ॥ जिसके देश में रहता हो, उस राजा के मरने पर ज्योतिषकः, वेद न जाननेवाले (निकटवर्ती), तथा वेद वेदांग के जाननेवाले गुरु भिक्षु § के मरने पर पूरा दिन (आशौच होता है) ॥ ८२ ॥

* फिर कहने से यह अभिप्राय निकलता है, कि दोनों बार एकही जाति का आशौच हो, अर्थात् यदि पहले जन्म हो, तो फिर भी जन्म ही हो, वा पहले मरण हो, तो दुबारा भी मरण ही हो, तब यह नियम है। जन्म के पीछे मरण वा मरण के पीछे जन्म हो, तो जो पिछला हो, उससे आशौच निकलता है † निकटवर्ती से अभिप्राय मेधा० अपना संगी, नारा० पड़ोसी, कुल्लू० अपने घर में रहने वाला, लेता है § दिन को मरे तो जब तक सूर्य है, रात को मरे तो जब तक तारे हैं, § 'अनूचाने तथा गुरौ' हमने नन्द० के अनुसार 'अगुरौ' पदच्छेद करके यह अर्थ सीधा कर दिया है। गोवि०, कुल्लू०, और राघ० 'गुरौ' पदच्छेद करके यह अर्थ लेते हैं, कि वेद वेदांग के जाननेवाले गुरु के मरने पर, गुरु से अभिप्राय यहां ऐसे गुरु से लेते हैं, जो पूर्व २। १४९ में कहा है, कि जिसने थोड़ा बहुत भी उपकार किया है ॥

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।

न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण दस दिन से, क्षत्रिय बारह दिन से, वैश्य पन्द्रह दिन से और शूद्र महीने से शूद्र होता है ॥ ८३ ॥ आशौच के दिन बढ़ाए नहीं, (श्रौत) अग्नियों में जो कर्म (अग्निहोत्र वा इष्टिये) हैं, उनमें नागा न करे, क्योंकि इस कर्म को करता हुआ अशुचि नहीं होता चाहे सपिण्ड ही हो ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्चशक्तितः ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।

आचम्यैव तु निःस्नेहं गाम्नालभ्यार्कमीक्ष्यवा ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।

समाप्तेतूदकंकृत्वा त्रिरात्रेणैवशुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु चतिष्ठताम् ।

आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

चण्डाल, पतित, रजस्वला, सूतकवाली स्त्री, मुरदे और उसके छूने वाले को छूकर स्नानसे शुद्ध होता है ॥ ८५ ॥ आचमन

करके शुद्ध हुआ * अपवित्र (वस्तुवा पुरुष) के देखने पर सदा सूर्य सम्बन्धी मन्त्र और पावनी ऋचाएं † यथाशक्ति उत्साह के अनुसार जपे । ८६ । मनुष्य की हड्डी जो चर्बीवाली हो उसको छूकर ब्राह्मण स्नान करके शुद्ध होता है, और जो चर्बीवाली न हो उसके स्पर्श से निरा आचमन करके, वा गौ को स्पर्श करके, वा सूर्य को देखकर (शुद्ध होता है) । ८७ । ब्रह्मचर्य व्रत को करता हुआ, व्रत के समाप्त होने तक जला-अलि न दे, व्रत के समाप्त होने पर जलाजअलि देकर निरे तीन दिन से शुद्ध होता है ‡ ॥ ८८ ॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।

गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।

निहत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।

पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

वृथा उत्पन्न हुए, § संकर से उत्पन्न हुए, ¶ संन्यास ॥ में

* देवता वा पितरों की पूजा करने के लिये आचमनादि से शुद्ध हुआ चण्डालादि को देखे, तो [मेधा० कुल्ल नारा, राघु] † सौरमन्त्र ऋचा० १।५० । पावनी ऋचाएं मण्ड ९ में हैं ‡ जब तक ब्रह्मचर्य में है, तब तक सिवाय माता पिता गुरु के (देखो ९१) किसी के लिये कुछ न करे, व्रत को समाप्त करके सबको एक ही साथ जलाअलि देकर तीन दिन के पीछे शुद्ध हो जाता है ।

§ वृथा उत्पन्न हुए = अपने धर्म को त्यागे हुए (गोवि० कुल्लू० नन्द० राघ०) बरस भर जो किसी आश्रम में न रहें (मेधा०) नपुंसक (नारा०) ¶ ऊँचे वर्ण की स्त्री से निचले वर्ण के पुरुष से उत्पन्न हुए ॥ वेदवादा मेधा० रक्तपटादि संन्यासी (कुल्लू०)

वर्तमान हुए और (फांसी आदि से) अपना त्याग करने वालों की उदक क्रिया (जलाञ्जलि का कर्म) नहीं होती । ८९ । स्त्रियें जो पाषण्ड (वेदविरुद्ध मंत्र्यासादि) के आश्रित हैं*, इच्छा से (अनेकों के साथ) रहने वाली, गर्भ वा भर्ता से द्रोह करने वाली,† और शराब पीने वाली हैं (उनकी उदक क्रिया नहीं होती) । ९० । ब्रह्मचारी अपने मरे आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, वा गुरुकुल को (श्मशान भूमि में) उठाले जाकर अपने व्रत से अलग नहीं होता है । ९१ । मरे शूद्र को पुर के दक्षिणद्वार से निकाले, और द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण) को यथायोग्य पश्चिम, उत्तर और पूर्व (द्वार से) । ९२ ।

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।

ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभृता हि ते सदा ॥९३॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।

प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्यचेच्छति पार्थिवः ॥९५॥

राजाओं को आशौच का दोष नहीं होता है, न उनको जो व्रत (ब्रह्मचर्य वा चान्द्रायणादि) पूरा कर रहे हैं, वा सत्र (लंबा यज्ञ, गवामयमन आदि) पूरा कर रहे हैं, क्योंकि

* मेधा० (पाषण्डमाश्रितानां) को पुरुषों के विषय में लगा कर, का पालिक और क्लृपटादियों से अभिप्राय लेता है । और नारा, बौद्धादिसे † गर्भ से द्रोह, गर्भ न होने के लिये औषधि करना वा गर्भ मिराना, भर्ता से द्रोह भर्ता को विष आदि देना ‡ गुरु यहां २ । १४९ में कहा अभिप्राय है ।

वह इन्द्र के स्थान * पर सदा ब्रह्मतुल्य (पवित्र) हैं । ९३ ।
 राजा जिस लिये महान् आत्मा वाले के स्थान पर स्थित है,
 इस लिये उसी समय शुद्धि कही है, इस में कारण यह है, कि
 वह (उसस्थान पर) अपनी प्रजा की रक्षा के अर्थ स्थित
 है । ९४ । जो दंगे बलवे वा युद्ध में मारे गए हैं, तथा बिजली
 और राजा से मारे गए हैं, गौ वा ब्राह्मण के (बचाव) के
 लिये (मारे गए हैं, इनके बान्धवों को भी सद्यः शौच होता है)
 और जिस को (किसी आवश्यकता के लिये) राजा चाहे (वह
 भी उसी समय शुद्ध है) । ९५ ।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।

अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।

शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥

राजा आठ लोकपालों का अवतार होता है, अर्थात् चन्द्र,
 अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, धन और जल के अधिपति (=कुबेर
 और वरुण) और यमका । ९६ । राजा इन लोकपालों से भरा
 हुआ है, अतएव इसको आशौच का विधान नहीं है, क्योंकि
 मनुष्यों का शौच आशौच इन लोकपालों से उत्पन्न और
 नाश होता है । ९७ ।

* प्रजा पालन के पवित्र अधिकार वा पवित्र व्रतों में स्थिति
 इन्द्र के स्थान पर स्थिति है ।

१० लोक पाल = जगत् के रक्षक देवता ३ अक्षरार्थ-शरीर
 धारता है देखो आगे ७।४ § मेधा० 'लोकेश प्रभवाप्ययो' पाठ
 पढ़कर उत्तरार्ध का यह अर्थ करता है, कि शौच और आशौच

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।

सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥९८॥

विप्रः शुद्धच्युतपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।

वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

संग्राम में उठाए हुए शास्त्रों से जो क्षत्रियों के धर्म से मर्रा है (पीठ न देकर), उसका उसी समय यज्ञ*पूर्ण होता है, और वैसे ही आशौच (उसी समय पूरा होजाता है) यह मर्यादा है । ९८ । (आशौच की समाप्ति पर) ब्राह्मण आवश्यक कर्म करने के पीछे जल को, † क्षत्रिय घोड़े और शस्त्र को, वैश्य आंकुस वा (बैलों की नासा की) रस्सी को, और शूद्र अपनी छड़ी को स्पर्श करके शुद्ध होता है । ९९ ।

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।

असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

मनुष्यों को होते हैं, और शौचाशौच की प्रवृत्ति और निवृत्ति लोक पालों से होती है, नारा० नन्द० 'लोकेशप्रभवो ह्ययम्' पढ़ कर यह अर्थ करते हैं, क्योंकि राजा लोक पालों से उत्पन्न हुआ है, नारा० 'लोके शप्रभवेऽप्ययः' भी पाठान्तर देकर यह अर्थ करता है, लोक पालों से उत्पन्न हुए (राजा) में [शौच आशौच का] अभाव है ॥

* क्षत्रिय का युद्ध में सम्मुख लड़कर मरना अश्वमेध यज्ञ के तुल्य है, यह अभिप्राय है (सम्पादक) यज्ञ = श्रौतयज्ञ [मेघा० कुल्लू० राघ०] पितृ यज्ञ = उसका सारा पितृ कर्म उसी समय समाप्त कर देना चाहिये [नारा०] † कर्म यहां स्नान है, क्योंकि और कोई कहा नहीं [मेघा०] भस्मादि कर्म [कुल्लू०] दाढ़ी का मुंडवाना आदि (राम०) ‡ जल को स्पर्श करना स्नान करना है [नारा०] दायें हाथ से जल को छूना मात्र [कुल्लू०]

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
 विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुरासांश्च बान्धवान्॥१०१॥
 यद्यन्नमस्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
 अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥
 अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
 स्नात्वा सचैलःस्पृष्ट्वामिं घृतंप्राश्यविशुध्यति॥१०३॥
 न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
 अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

हे द्विजों में श्रेष्ठो ! यह शौच (मरे) सपिण्डों के विषय में तुम्हें कहा है, अब जो सपिण्ड नहीं हैं, उन सब के विषय में प्रेत शुद्धि को जानो । १०० । ब्राह्मण मरे असपिण्ड ब्राह्मण को बन्धु की तरह बाहर लेजाकर, और माता के निकट के बन्धुओं को बाहर लेजाकर तीन दिन से शुद्ध होता है । १०१ । पर यदि उनका (मरे के सपिण्डों का) अन्न खाता है, तो दस दिन से ही शुद्ध होता है, यदि, अन्न नहीं खाता है, और न उस घर में रहता है, तो एक ही दिन से (शुद्ध होता है) * । १०२ । ज्ञाति वा अज्ञाति के मुर्दे के पीछे अपनी इच्छा से जाए, तो वस्त्रों समेत स्नान करके, अग्नि को स्पर्श करके, फिर घी को खाकर शुद्ध होता है । १०३ । अपनों (सजातियों) के होते हुए मृत ब्राह्मण को शूद्र से न निकलवाए, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित वह आहुति (शरीराहुति,) मृतक को स्वर्ग के लिये अच्छी नहीं † । १०४ ।

* इस से सिद्ध होता है, कि पूर्व १०१ में कही तीन दिन से शुद्धि उसके लिये है, जो उनका अन्न तो नहीं खाता है, पर उस घर में रहता है † नारा० के अनुसार यह नियम केवल ब्राह्मण के लिये है, मेधा० कुल्लूक के अनुसार सब द्विजों के लिये है ॥

ज्ञानं तपोऽभिराहारो मृन्मनो वार्यु पाञ्जनम् ।
 वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥१०५॥
 सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
 योऽर्थेशुचिर्हि स शुचिर्नमृदारिशुचिःशुचिः ॥१०६॥
 क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वासो दानेनाकार्यकारिणः ।
 प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदावित्तमाः ॥ १०७ ॥
 मृत्तैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ।
 रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥१०८॥
 अद्विर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
 विद्यातपोभ्या भूतात्मा बुद्धिज्ञानेन शुद्ध्यति ॥१०९॥

ज्ञान, तप, अभि, आहार, मट्टी, मन, जल, लेपन, वायु,
 कर्म, सूर्य और काल यह लोगों की शुद्धि करने वाले हैं *
 ॥१०५॥ सारी शुद्धियों में से धन की शुद्धि † सब से उत्तम कही
 गई है, जो धन में शुद्ध है, वह शुद्ध है, (धन में अशुद्ध रह कर)

* बौघा० १।८।५२ याज्ञ० ३।३१।विष्णु० २२।८८। यहां
 जो शुद्धिकारक कहे हैं इनमें से ज्ञान और तप के लिये देखो आगे १०९,
 अग्नि के लिए १२२, आहार = पवित्र फल मूलदि शरीर के शोधक
 होते हैं। मट्टी जल के लिए देखो १८८-१११ मन के लिए देखो ६४६
 और ११। २२९-२३२। लेपन के लिए देखो १२२ वायु और सूर्य
 अपवित्रता के शोधक प्रसिद्ध हैं, कर्म के लिये देखो ११२४५ काल का
 उद्धरण सारा शौच प्रकरण है † नेक कर्मों से बनाया धन

मट्टी और जल से शुद्ध शुद्ध नहीं * ॥ १०६ ॥ विद्वान् क्षमा से शुद्ध होते हैं, निषिद्ध कार्य करने वाले दान से, गुप्तपापों वाले जप से, वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ पुरुष तपसे (शुद्ध होते हैं)† ॥ १०७ ॥ (मैल आदि से लिबड़ी) शोधने योग्य वस्तु मट्टी जल से शुद्ध होती है‡, नदी वेग से शुद्ध होती है, जिस के मन में दोष उत्पन्न हुआ है वह स्त्री ऋतु (आने) से, और ब्राह्मण संन्यास से शुद्ध होता है § ॥ १०८ ॥ जल से अंग शुद्ध होते हैं, मन सचाई से शुद्ध होता है, विद्या और तप से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ॥ ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।

नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥११०॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।

भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥१११॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्विरेव विशुद्धयति ।

अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥११२॥

अपामग्रेष्व संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्वभौ ।

तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णैको गुणवत्तरः ॥११३॥

ताम्रायःकांस्यैरैत्यानां त्रपुणःसीसकस्य च ।

शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥११४॥

* याज्ञ० ३।३२ विष्णु० २२।८१ † याज्ञ० ३।३३ विष्णु० २२।९०

‡ नदी में पड़ा मैला, वा बिगड़ा पानी, बाढ़ से शुद्ध होता है § वासि०

३।५८ याज्ञ० ३।३२ विष्णु० २२।९१ ॥ वासि० ३।६० याज्ञ०

३।३३-३४ विष्णु० २२।९२ ॥

यद् तुम्हें शरीर सम्बन्धी शुद्धि का निश्चय कहा, अब अनेक प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं) की शुद्धि का निश्चय सुनो *॥११०॥ धात के बने (पात्रों) मणियों और पत्थर से बने (पात्रों) की शुद्धि बुद्धिमानों ने भस्म मिट्टी और जल से न की है ॥१११॥ सोने का बर्तन जो (घी आदि से) लिप्त नहीं, वह निरे जल से शुद्ध होता है, तथा जल में उत्पन्न होने वाले (शंख सीपी आदि), पत्थर के बने बर्तन और चांदी का बना बर्तन जो चित्राहुआन हो ॥ ११३ ॥ जल और आग के संयोग से सोने और चांदी के बर्तन चमके हैं, इसलिये इन दोनों की शुद्धि अपने (चमकाने वाले) कारण से ही अधिक गुणवाली है ॥११३॥ तांबा लोहा कांसी पीतल कर्कश और सीमे (के बर्तनों) की शुद्धि यथायोग्य (जो जहां योग्य हो) खार, खट्टे पानी और पानी से करनी चाहिये द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पन्नं स्मृतम् ।
 प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥११५॥
 मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्माणि ।
 चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥
 चरूणां सुक्षुत्वाणां च शुद्धिरुष्णेनवारिणा ।
 स्पर्शशुष्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

* विष्णु २२।१३ १ (अशुद्धवस्तु से) लिप्त न हों, तो निरे धोने से, लिप्त हों, तो मट्टी वा भस्म से मांजकर धोने से ॥१११-११६ वासि ३।४१-१७, १९, ६१-६३ गौत १।२९-३४ आप १।१७। ८-१३; ५।३।९ बौवा० १।८।३२-१३७९। १-३, ७-१२, १०। १-२, १३। ११-१४, १९ याज्ञ १।१८२-१९० विष्णु २३।२-४६, ५६

बहने वाले (घी, तैलादि) सब पदार्थों की शुद्धि * उत्पवन से कही है, संहतों (शय्या आमनादि) की जल छिड़कने से, और लकड़ी की वस्तुओं की छीछने से ॥ ११५ ॥ यज्ञ कर्म में (सोम के पात्र) जो चमस और ग्रह हैं उनकी और दूसरे यज्ञपात्रों की शुद्धि हाथ से मलने, और (फिर जल से) धोने से होती है ॥ ११६ ॥ चरु, सुरू, सुव, स्फय, छाज, छकड़ा, मूसल और ओखली की शुद्धि गर्भ पानी से होती है ॥ ११७ ॥

अद्विस्तु प्रेक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।

प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्विः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

चैलवर्चमणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।

शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूपैः कुतपानामरिष्टकैः ।

श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।

शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

अनाज और कपड़े बहुत हों, तो उनकी जल छिड़कने से, और थोड़े हों, तो जल के साथ धोने से शुद्धि विधान की है ॥ ११८ ॥ चमड़े और बैत की बनी (वस्तुओं) की शुद्धि कपड़ों की नाई होती है, और शाक, मूल और फलों की अनाज की तरह शुद्धि मानी है ॥ ११९ ॥ रेसमी और ऊनी (वस्त्रों) की सुनहरी मट्टी (मट्टी की खार) से, नेपाली कंबलों की रीठों

* उत्पवन = दो कुशाओं से निकालकर बाहर छिड़कना; कपड़े से छानलेना (नारा०)

से, महीन साड़ियों की बिछों से और अलसी के कपड़ों की श्वेत सरसों से (शुद्धि होती है) ॥ १२० ॥ शंख, सींग, और हड्डी और दांत की वस्तुओं की शुद्धि अलसी के वस्त्रों की तरह गोमूत्र वा जल से करनी चाहिये* ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।

मार्जनोपाञ्जनैर्वैश्वं पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥१२२॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा धीवनैः पूयशोणितैः ।

संस्पृष्टं नैव शुद्धेयत पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥१२३॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।

गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥

पक्षिजग्धं गवा ग्रामवधूतमवक्षुतम् ।

दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥१२५॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।

तावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

घास, लकड़ी, और डंठल (जल) छिड़कने से, तथा शोधने और लीपने से घर, मट्टी का बर्तन फिर (आग में) पकाने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥ पर मद्य, मूत्र, विष्टा, पीप और रुधिर से लिप्त हुआ मट्टी का बर्तन फिर पकाने से शुद्ध नहीं होता है ॥ १२३ ॥ भूमि इन पांच से शुद्ध होती है शोधने; लीपने; छिड़कने छीलने और गौओं के लगातार निवास से (अशुद्धि की न्यूनाधिकता देखकर यह अलग २ वा ऋकट्टे वर्ते जाते हैं) ॥ १२४ ॥ (पका

* अर्थात् श्वेत सरसों का चूर्ण गोमूत्र वा पानी से युक्त हो ।

अन्न जो पक्षियों से खाया गया, गौ से सूँघा गया, पैर से कंपाया गया, जिस पर छींका गया है, बालों से वा कीड़ों से दूषित हुआ है, मट्टी पर फैंकने से शुद्ध होता है * ॥१२५॥ सभी द्रव्य-शुद्धियों में मट्टी और जल तब तक लगाते जाना चाहिए, जब तक अपवित्र से लिबड़ी वस्तु से उस (लिबड़ी वस्तु का) गन्ध और लेप दूर न होजाए ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणनामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णितं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥
आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

देवताओं ने तीन वस्तुएं ब्राह्मणों के लिए पवित्र कही हैं, अदृष्ट * जल से शुद्ध किया हुआ, और जो (ब्राह्मणों की) बाणी से (पवित्र है, ऐसे) प्रशंसा किया गया है † ॥१२७॥ भूमि पर के (न कि घड़े आदि के) जल जिनमें एक गौ की प्यास बुझ सकती है, शुद्ध होते हैं, पर यदि अपने (असली) गन्ध, रङ्ग और रस से युक्त हों, और अपवित्र वस्तु से युक्त न हों ‡ ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥१२९॥
नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिःफलपातने ।

* उस के ऊपर मट्टी फैंकने से (कुल्लू०)

* जिसका अपवित्र होना किसीने देखा नहीं, उसे निरी सम्भवना से अपवित्र न समझलें, † वासि० १४। २४; बौध० १। ९। ९ याज्ञ० १। १९१; विष्णु० २३। ४७ ‡ वासि० २। ३५-३६, ४०; बौध० १। ९। १०, याज्ञ० १। १९२। विष्णु० २३। ४३;

प्रसवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥१३०॥
श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।

क्रव्याद्विश्रहतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्चदस्युभिः ॥१३१॥

ऊर्ध्वनाभिर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥१३२॥

कारीगर का हाथ सदा शुद्ध है, और मण्डी में जो (बेचने के लिये कच्ची) वस्तु फैलाई गई है, और ब्रह्मचारी के पास जो भिक्षा है वह सदा पवित्र है, यह मर्यादा है * ॥१२९॥ स्त्रियों का मुख सदा शुद्ध है, पक्षी (कुतरकर) फल गिराने में शुद्ध है बछड़ा दूध बहाने (गौकेपसमाने) में शुद्ध है, कुत्ता हरिण के पकड़ने में शुद्ध है † ॥१३०॥ कुत्तों से मारे हुए, तथा कच्चा मांस खानेवाले (पशु पक्षियों) से मारे हुए और चण्डाल आदि नीच जातियों से मारे हुए (पशु) का जो मांस है, वह मनु ने शुद्ध बतलाया है ‡ ॥१३१॥ नाभि से ऊपर जो इन्द्रिय हैं, वह सब पवित्र है (उनके स्पर्श में हाथ अशुद्ध नहीं होता) पर जो (नाभि से) निचले हैं, वह अपवित्र है, और देह से बाहर आए मल (देखो आगे १३५) अशुद्ध § हैं ॥१३२॥

माक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वःसूर्यरश्मयः ।

रजोभूर्वायुरमिश्र स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥१३३॥

विण्मृत्रोत्सर्गं शुद्धवर्थं मृद्धार्यादेयमर्थवत् ।

* बौध्वा० १।८।१ विष्णु० २३।४२ † बौध्वा० १।९।२ याज्ञ० १।१९३
विष्णु० २३।४९ ‡ वासि० ३।४५ याज्ञ० १।१९२ विष्णु० २३।५०
§ याज्ञ० १।१९४ विष्णु० २३।५१

दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥१३४॥
 वसाशुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविद्वान्नागकर्णविट् ।
 श्लेष्माशुद्रूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥१३५॥
 एका लिंगे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
 उभयोः सप्तदातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥
 एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
 त्रिगुणं स्याद्धनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥१३७॥
 कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
 वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्रंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मक्षियों, बूंदें, * छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरणें, धूल, भूमि, वायु, अग्नि, यह छूने में पावित्र्य माने ॥ १३३ ॥ विष्टा, और मूत्र के त्यागने वाले (अंगों) की शुद्धि के लिए प्रयोजन के अनुसार मट्टी जल लेना चाहिए ऋ तथा शरीर के (बारह) गिरे मैलों की बारह शुद्धियों में भी ॥१३४॥ चरबी, कीर्य लहू, मज्जा (हड्डी के अन्दर की चर्बी) मूत्र, विष्टा, नासा की मैल, कान की मैल, थूक, आंसु, गिद्ध, (आंख की मैल) और पमीना यह बारह शरीर के मल हैं ॥ १३५ ॥ शुद्धि चाहनेवालेको चाहिए

* बूंदें मुंह से निकलीं, (कुल्हू०, राघ०, नारा०) बूंदें, पानी की, जो दीखती नहीं, स्पर्श से प्रतीत होरही हैं, (मेघा०, गोवि०)
 † याज्ञ० १।१९३ विष्णु २३।५१ ऋ जितने से गन्ध लेप का क्षय हो ॥ अगले श्लोक में, जो बारह मल गिने हैं, उनमें से पहले छः में मट्टी जल दोनों, अगले छः में निरा जल बर्तना चाहिए, वासि० ६।१४ गौत० १।४३ आप० १।१६।१५ वाक्य० १।१७

कि (मल के त्यागने में) मट्टी एक बार लिंग पर, तीन बार गुदा पर, तथा एक हाथ (बाएं हाथ) पर दस बार, फिर दोनों हाथों पर सात बार लगावे* ॥१३६॥ यह शौच गृहस्थों का है, इस से दुगुना ब्रह्मचारियों का, तिगुना वानप्रस्थियों का, और संन्यासियों का चौगुना होता है † ॥१३७॥ मल वा मूत्र (का त्याग) करके आचमन कर इन्द्रियों का स्पर्श करे, तथा वेद पढ़ने लगा और अन्न खाने लगा भी सदा (इन्द्रियों का स्पर्श करे) ‡ ॥१३८॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततोमुखम् ।

शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रस्तुसकृत्सकृत् ॥१३९॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।

वैश्यवच्छौ च कल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥१४०॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः ।

न श्मश्रूणिगतान्यास्यन्नदन्तान्तरधिष्ठितम् ॥१४१॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।

भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥१४२॥

शारीरिक शुद्धि चाहता हुआ पहले तीन बार जलों का आचमन करे, फिर दो बार मुख पोंछे, पर स्त्री और शूद्र (यह

* वासि० ६।१८ विष्णु ६०।२१ यह साधारण लोगों के लिए नियत कर दिया है, समझवालों के लिए गन्ध लेप के क्षय तक लगाने का नियम ही वास्तविक है † वासि० ६।१२ विष्णु ६०।२६ ‡ गौत० १।३६ बौध्दा० १।८। २६ विष्णु० ७२।८ इन्द्रिय केवल सिर के (गोवि०) नाभि, हृदय और सिर के (कुम्भ० नारा०) ॥

सर्व) एक २ बार करें * ॥ १३९ ॥ मर्यादा पर चलनेवाले † शूद्रों को महीने २ मुण्डन कराना चाहिए ‡ । उनके शौच का प्रकार वैश्य के तुल्य हो, और भोजन द्विजों का उच्छिष्ट हो § ॥ १४० ॥ (बोलते समय) मुख से निकली बूंदें जो शरीर पर पड़ती हैं ॥ वह झूठा नहीं करती, न मुँह में पड़े दाढ़ी के बाल, न द्रान्तों में धसी वस्तु ॥ ॥ १४१ ॥ दूसरों को आचमन कराते हुए के पाओं को जो बूंदें स्पर्श करती हैं, वह भूमि पर स्थित (जल) के तुल्य होती हैं, उनमें अशुद्ध नहीं होता है * * ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।

अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।

आचामादेव भुक्त्वा न्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तवानृतानि च ।

पीत्वा पोऽभ्येष्ट्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥

* वासि० ३। २७—२८ गौत० १। ३६ आप० १। १६। ३—८
बौध० १। ८। २०—२२ याज्ञ० १। २० विष्णु ६२। ६—८ † मर्यादा पर
चलनेवाले=द्विजों की सेवा करनेवाले, [मिधा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०]
‡ 'मासिकं वपनं कार्यम्' प्रतिमास श्राद्ध करना चाहिए (नन्द)
§ आप० २। ३। ४—६ ॥ मिधा०, गोवि० नारा०, नन्दन 'अंगं न यन्ति या,'
पाठ पढ़कर यह अभिप्राय लेते हैं (बून्दें) जो शरीर पर न पड़ें,
अर्थात् किसी बाह्य वस्तु पर पड़ें, तो वह वस्तु अशुद्ध नहीं होती
शरीर पर पड़ें तो नहाना चाहिए ॥ वासि० ३। ३७, ४०—४१ गौत०
१। ३८। ४१ आप० १। १६। १३ बौध० १। ८। २३—२५ याज्ञ०
१। १९५ विष्णु २३। ५३ * * वासि० ३। ४२ विष्णु २३। ५३

जो कोई वस्तु हाथ(वाकिसी अंग)पर रखकर ले जा रहा है; यदि वह किसी झूठे पुरुष वा वस्तु से किसी तरह हुआ गया है, तो उस वस्तु को नीचे रखके बिना ही आचमन करके शुद्धि को प्राप्त होता है * ॥ १४३ ॥ कै किये हो, वा दस्त हुए हों, तो स्नान करके घी भक्षण करे, पर खाने के पीछे (कै वा दस्त हुए हों) तो निरा आचमन ही करे, और मैथुनवाले को स्नान कहा है ॥१४४॥ सोकर छींककर, खाकर, थूककर, झूठ बोलकर, पानी पीकर और पढ़ने लगा आचमनकरे चाहे पहले शुद्ध भी हो † ॥

एषशौचाविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैवच ।

उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥१४६॥

बालया वा युवत्यावा वृद्धया वापियोषिता ।

नस्वान्तन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यगृहेष्वपि ॥१४७॥

बाल्योपितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥१४८॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।

एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

यह तुम्हें (मनुष्य सम्बन्धी) शौच की सारी विधि और वस्तुओं की शुद्धि कहदी है, अब स्त्रियों के धर्म जानो ॥१४६॥

* वासि । १।१३ गौत० १।२८ बौध० १।८।२७—२९ विष्णु २३।
५५ † गौत० १। ३७ आप० १।६।१४ ब्राह्म० १।१९६ विष्णु० २२। ७५

स्त्री वाला हो वा युवति वा वृद्धा हो, उसे स्वतन्त्रता से (पिता आदि की अनुमति बिना) कोई काम नहीं करना चाहिए, चाहे अपने घर में ही हो * ॥ १४७ ॥ बालकपन में पिता के, यौवन में पति के, पति के मरने पर पुत्रों के अधीन रहे, स्त्री कभी स्वतन्त्र न होवे ॥ १४८ ॥ वह पिता, पति पुत्रों से अपना वियोग (जुदाई) न चाहे, क्योंकि इनके वियोग से स्त्री (पिता की और पति की) दोनों कुलों को निन्दा के योग्य बना देती है ॥ १४९ ॥ उसे सदा प्रसन्न, घर के कामों (के प्रबन्ध) में चतुर रहना चाहिए, रसोई के बर्तन सुथरे और सजे हुए रखना चाहिए, और खर्च में हाथ खुला नहीं रखना चाहिये † ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।
 तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥१५१॥
 मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
 प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥१५२॥
 अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्करकृत्पातिः ।
 सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥१५३॥
 विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
 उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत्पातिः ॥१५४॥
 नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युयोषितम् ।
 पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

* १४७-१४९ देखो भागे ९ । २-३ याज्ञ० १ । ८५-८६ बिष्णु०
 २६ । १२-१३ १ । याज्ञ० १ । ८३ बिष्णु० २६ । ४-६ ॥

जिसे इसका पिता देवे, वा पिता की अनुमति में भाई देवे, वह जब तक जीता है, उसकी सेवा करे, और मरे को उलाघे नहीं ॥ १५१ ॥ स्वस्तिवाचन, और विवाह में प्रजापति का यज्ञ ॥ इनके मंगल के लिये है, किन्तु दान (वाग्दान) ही (पति के स्त्री पर) स्वामीपन का कारण है ॥ १५२ ॥ पति जो कि मन्त्रों से संस्कार करनेवाला है, वह स्त्री का सदा सुखदाता है, ऋतुकाल में भी और बिना ऋतु के भी, इस लोक में भी और परलोक में भी ॥ १५३ ॥ खोटे स्वभाववाला हो, कामी हो, वा गुणों से रहित हो, तथापि भली स्त्री को पति सदा देवता की नाई सेवन करना चाहिए ॥ १५४ ॥ न यज्ञ, न व्रत, न उपवास स्त्रियों का (अपने पति से) अलग होकर है, यदि वह पति की सेवा करती है, तो उसी से स्वर्ग में महिमा पाती है ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।

पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरोत्किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।

नतुनामापि गृहीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।

योधर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।

दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १५९ ॥

* याज्ञ० १।६३ विष्णु २६।१४ † विवाह प्रजापति-सन्तान उत्पादन के लिए है, इसलिये उसका देवता प्रजापति होने से विवाह यज्ञ प्रजापति का यज्ञ है ‡ याज्ञ० १।७७ विष्णु० २६।१५ § १५५-१५६ वेदों आगे २, ६४, ६८ याज्ञ० १।७५-८७ ॥

मृते भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

भली स्त्री जो (मरने के पीछे) पति लोक (पति के साथ वास) को चाहती है, वह अपना हाथ पकड़नेवाले (पति) का कोई अप्रिय कार्य न करे, चाहे वह जीता है, वा मर गया है * ॥ १५६ ॥ बेशक † शुभ फूल फल मूल (पर निर्बाह) से अपने शरीर को दुबला करदे, पर पति के मर जाने पर दूसरे पुरुष का नाम भी न ले (तू मेरा पति हो, यह मुंह से भी न निकाले) ॥ १५७ ॥ जो धर्म एक पति वालियों का है, उस अत्युत्तम धर्म को (पालना) चाहती हुई मरण तक (साख्तियें) सहारती हुई अपने आप पर बस रखती हुई ब्रह्मचारिणी रहे ॥ १५८ ॥ अनेक सहस्र ब्राह्मण जो युवा होकर भी ब्रह्मचारी रहे हैं ‡ वह अपने कुल को जारी रखने के बिना भी स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं ॥ १५९ ॥ पति के मरने पर जो भली स्त्री ब्रह्मचर्य में स्थिर रहती है, वह बिना पुत्र भी स्वर्ग को जाती है जैसे वह ब्रह्मचारी § ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।

सेहानिन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्चहीयते ॥ १६१ ॥

नान्योत्पन्नाप्रजास्तीह नचाप्यन्यपरिश्रहे ।

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥१६२॥

* १५६-१६६ देखो आगे १६४-६८ याज्ञ १।७।१-८७ ।† बेशक कहने का यह अभिप्राय है, कि शरीर को दुबला बनाना भी उचित नहीं, पर पर पुरुष का संयोग और भी अनुचिततर है (मेधा०) ‡ सनक और बालकिल्य ब्रह्मि (गोवि० कुल्लू०) § विष्णु० २६।१७

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वभुत्कृष्टं या निषेवते।

निन्द्यैवसाभवेलोके परपूर्वेतिचोच्यते ॥ १६३ ॥

सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति को उलांघती है, वह इस लोक में निन्दा को प्राप्त होती है, और पति लोक से हीन होती है ॥ १६१ ॥ क्योंकि (पति से) दूसरे से उत्पन्न हुई वह सन्तान (शास्त्रीय) नहीं होती है, और न ही दूसरे की स्त्री में (उत्पन्न की हुई सन्तान उत्पादक की होती है) और न ही भली स्त्रियों का दूसरा पति कहीं कहा है ॥ १६२ ॥ जो अपने निचले (वर्ण वा दर्जे के) पति को छोड़कर ऊंचे का सेवन करती है, वह लोक में निन्दा योग्य ही होती है, और परपूर्वा कहलाती है ॥ १६३ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुःस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।

शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।

साभर्तृलोकमाप्नोति साद्धिःसाध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।

इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

पति से फिर जाने से स्त्री लोक में निन्दा को प्राप्त होती है (परलोक में) गीदड़ की योनि को प्राप्त होती है, और (कुष्टादि) पाप रोगों से पीड़ित होती है ॥ १६४ ॥ मन, वाणी वा देह से जो पति से फिर नहीं आती, वह पतिलोक को प्राप्त होती है, और सत्पुरुषों से साध्वी (भली) कही जाती है ॥ १६५ ॥ इस आचार से

* यह उस सन्तान के विषय में है, जो नियोग से उत्पन्न नहीं हुई (कृष्ण ०) ॥ मेधा० ने १६५-१६६ श्लोक नहीं लिखे ।

स्त्री मन, बाणी और देह को वश में रखनी हुई यदांश्रेष्ठ कीर्ति को प्राप्त होती है, और परलोक में पतिलोक को ॥ १६६ ॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेवच ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।

द्वितीयामायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

ऐसे आचार वाली सवर्णा स्त्री (पति से) पूर्व मरे, तो धर्मज्ञ

द्विज उसे अग्निहोत्र के और यज्ञ के पात्रों के साथ दाह करे *

॥ १६७ ॥ पहले मरनेवाली स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नियें देकर

फिर विवाह करे, और फिर आधान करे ॥ १६८ ॥ इस विधि

से वर्तता हुआ पञ्चयज्ञों को कभी न त्यागे, आयु का दूसरा भाग

विवाह करके घर में रहे ॥ १६९ ॥

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

संगति—ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का निरूपण कर छूटे में वानप्रस्थ और संन्यास का निरूपण करते हैं :—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।

वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

* १६७-१६८ याज्ञ० १। १८८

गृहस्थस्तु यदा पश्येदलीपलितमात्मनः ।
 अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
 संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
 पुत्रेषुभार्यानिक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
 अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
 ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
 मुन्यन्नैर्विविधैर्मध्येः शाकमूलफलेन वा ।
 एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार धर्मानुसर स्नातक द्विज गृहाश्रम में रह कर पीछे दृढ़ नियम धारकर * इन्द्रियों को यथावत् जीतकर वन में बने ॥ १ ॥ गृहस्थ जब अपनी त्वचा ढीली, बाल श्वेत और सन्तान की मन्तान † देख ले, तब वन का आश्रय ले ॥ २ ॥ ग्राम का सब आहार (गेहूं, चावल, आदि) और सारा सामान (गौ, बौड़ा बाय्यादि) खागकर, स्त्री को पुत्रों के पाम छोड़ वा साथ (जाना चाहे तो साथ) ही (लेकर) वन को

* नियत दृढ़ निश्चय वाट्या (गोवि०, कुल्लू०) तपस्वाध्याय आदि नियमों से युक्त (नारा०) † १-३२ वासि० ६। १९-२०, ९ गौत० ३। २६-३१ आप० २। २१। १८-२३; २ बौधाय० २। ११। १४-१५ ३, १८। ४-२२ याज्ञ० ३। ४५-५१ ‡ मेधा० कहता है, कि सन्तान की सन्तान से अभिप्राय पुत्रका पुत्र है, न कि कन्याका पुत्र यह मत शिष्टसम्मत है। मेधा० कुल्लू० के अनुसार तीनों लक्षण जब मिल जाएं, तब वानप्रस्थ ले, पर नारायण के अनुसार इनमें से कोई भी लक्षण उत्पन्न हो तो वानप्रस्थ लेले § स्त्री की इच्छा साथ जाने की हो, तो साथ लेजाए, न हो तो घर छोड़ जाए। कई कहते हैं कि बुद्ध

जाए ॥ ३ ॥ (श्रौत) अग्नि और गृह्य (अग्नि) और अग्नि का सामान (सूक सूव आदि) लेकर ग्राम से निकलकर जंगल में इन्द्रियों को बस में करके बसे ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के, पवित्र, मुनियों के अन्न (सिमाक आदि) वा (जंगली) शाक मूल फल से इन्हीं पांच महायज्ञों को यथाविधि किया करे ॥ ५ ॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा ।

जटाश्च विभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

यद्वक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः ।

अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

चमड़ा (मृगछाला) वा चीर * पहने, सांझ सवेरे स्नान करे, जटा, दाढ़ी (शरीर पर के) रोम और नख सदा धारण करे, (कटाए नहीं) ॥ ६ ॥ जो उसका भक्ष्य (खुराक) हो, उसमें यथाशक्ति बलि और भिक्षा देवे, और जो कोई अपने आश्रम में आवे, उनको जल मूल फलों की भिक्षा से पूजे ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

स्वाध्याय में सदा सावधान हो, अपने आपको बस में रखे, (सब में) मित्रता के बर्ताववाला हो, एकाग्र मन हो, सदा देना चाहे, लेना कभी न चाहे, सब जीवों पर दया करनेवाला हो ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।

दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

हो तो साथ लेजाए, युवति हो तो घर छोड़ जाए । मेधा० * चीर = वस्त्र खण्ड (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) कुशा आदि का बना वस्त्र (गोवि०, नाश० राज०) ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
 तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥
 वासन्तशारदैर्मैर्धैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
 पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥
 देवताभ्यस्तु तदधुत्वा दन्यं मेध्यतरं हविः ।
 शेषमात्मानि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥
 स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
 मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥
 वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
 भूस्तृणं शिशुकं चैव श्लेष्मातकफलानि ॥ १४ ॥

तीन अग्नियोंमें शास्त्र के अनुसार अग्निहोत्र करे, और अपने समय पर *अमावस्या और पौर्णमासी के पर्व को न त्यागे ॥९॥ नक्षत्रेष्टि† नष्ट अन्न की इष्टि, चातुर्मास्य, तुरायण और दाक्षायण यज्ञ ण्ठ करे ॥ १० ॥ पवित्र अन्न जो मुनियों के (योग्य) हैं, जो वसन्त, और शरद ऋतु में उत्पन्न होते हैं, और जो स्वयं इकठ्ठे किए हैं, उनसे विधि के अनुसार पुरोडाश और चरु अलग २ बनाए ॥ ११ ॥ यह जंगली पवित्रतर हवि देवताओं

* योगतः=अपने समय पर (कुल्लू०, राघ०) विधि से [मेधा गोधि०] उद्योग से [नारा०] † मेधा० ऋक्षेष्टि के स्थान दर्शेष्टि पड़ता है, ण्ठ तुरायण और दाक्षायण दोनों औतसृज हैं तुरायण देखो मांसा० औतसृज ४।११ दाक्षायण देखो आश्व० औतसृज २।१४

के लिए होम करे, शेष आप बर्ते, और आप तय्यार किये *लवण को बर्ते ॥ १२ ॥ स्थल वा जल में उपजनेवाले शाकों, (जंगली) याज्ञिय वृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्प मूल फलों को और फलों से उत्पन्न तैलों को खाए ॥ १३ ॥ शहद, मांस और भूमि में उत्पन्न हुई छत्रियें (कुकरमुत्ते) सोहांजना † और लसूड़े के फल सागदेवे त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।

जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमश्रीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।

न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

मुनियों का अन्न जो पहले का सञ्चय किया हुआ हो, तथा पुराने वस्त्र और शाक मूल फल, यह सब असूज मास में साग देवे ॥ १५ ॥ फाले से कर्षित भूमि की उपज न खाए, चाहे किसी ने छोड़ भी दी हो, और न ग्राम में उत्पन्न होने वाले फल मूल खाए, चाहे (भुख से) पीड़ित भी हो ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनोवास्यात्कालपक्वभुगेव वा ।

अश्मकुट्टोभवेद्वापि दन्तोल्लुखालिकोऽपिवा ॥ १७ ॥

सद्यःप्रक्षालकोवा स्यान्माससंचयिकोऽपिवा ।

षण्मासनिचयोवास्यात्समानिचयएववा ॥ १८ ॥

* कालरी भूमि से निकाला लवण [कुल्लू०] वृक्ष आदि की खार से निकाला [नारा०] † मेघा० के अनुसार भूस्त्वण और शिशुक पंजाब में दो प्रसिद्ध शाक हैं [पर अब तो इन नामों से प्रसिद्ध कोई शाक नहीं है—कल्याणक]

अग्नि से पका हुआ (जंगली अन्न) खाए, वा काल से पके (फल आदि) खाए, (काटने पीसने के स्थान) चाहे पत्थरों से कूट लेवे, चाहे अपने दांतों को ही ऊखली बनाले ॥ १७ ॥

तत्क्षण धो देनेवाला, * वा महीना भर के लिए संचयवाला हो वा छः मास के लिए हो, वा बरस के लिए संचयवाला हो ॥ १८ ॥

नक्तंवान्नं समश्रीयाद्दिवा वाऽऽहृत्यशक्तितः ।

चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।

पक्षान्तयोर्वाप्यश्रीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।

कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।

स्थानासनाभ्यां विहेस्तसवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

उपस्पृशं स्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अपनी शक्ति अनुसार अन्न लाकर (निरा) रात को वा (निरा)

दिन को खाए, वा (भोजन के) चौथे बेले वा आठवें बेले खाए

* खाकर वर्तनों को प्रतिदिन धोकर रखदे, वर्तनों में कुछ संचय न रखे, । इसी को बौध्दा ०, ३।२।११ में सप्पमज्झनीवृत्ति कहा है

॥ १९ ॥ वा चान्द्रायण के विधानों (तरीकों) से * शुक्ल और कृष्णपक्षों में बर्ते, वा पक्ष के अन्त में उबाली हुई यवागू (बाड़ी) एकबार खावे ॥ २० ॥ वा पुष्प मूल फल जो अपने समय पर पके और अपने आप गिरे हों उन पर निर्वाह करे, वैखानसमत में स्थित हो ॥ २१ ॥ भूमि पर चक्र लगाता रहे, वा दिनभर पैरों के अग्र पर खड़ा रहे, वा (बारी २ कभी) खड़ा होने और (कभी) बैठने से समय काटे, सत्रनों में (प्रातः मध्यान्ह और सायं) जलों के पास जाए (स्नान करे) ॥ २२ ॥ गर्मी में पांच तषों वाला हो (खुले मैदान में चारों ओर जलाई चारों अग्नियों के ताप से और ऊपर से सूर्य के ताप से तपा करे) बरसात में खुले आकाश के नीचे रहे, जाड़े में गीले कपड़े रखे, इसतरह धीरे धीरे अपना तप बढ़ाए ॥ २३ ॥ तीन सत्रनों में स्नान कर पितरों और देवताओं का तर्पण करे, तीव्र तप † करता हुआ अपने शरीर को सुखाए ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।

अनभिरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।

शरणेष्वममञ्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।

* शुक्लपक्ष में एक २ ग्रास घटाते जाना और कृष्णपक्ष में बढ़ाते जाना,
† वैखानस मुनि प्रणीत सूत्र वैखानस, जिनमें बानप्रस्थियों के धर्म सविस्तर निरूपण किये हैं, (टीकाकार) [वैखानस शास्त्र का मुझे कोई पता नहीं मिला-सम्पादक] ‡ वैखानस शास्त्र में कहे मासोप-वासोपवास (मेधा०) ।

गृहेमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥
 ग्रामादाहृत्य वाश्रीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् ।
 प्रातिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥
 एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
 विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥
 ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
 विद्यातपो विवृद्धचर्यं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥
 अपराजितां वा स्थाय ब्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
 आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥
 आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम् ।
 वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

* श्रौत अग्नियों को विधि अनुसार + अपने आप में आरोप
 करके बिना अग्नि के और बिना घर के मुनि होकर रहे, निरे
 मूल फल खाए ॥ २५ ॥ जो पदार्थ सुख देनेवाले हैं, उन (की
 प्राप्ति) के लिये प्रयत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, धरती पर सोए,
 (दृष्टि आदि से) बचानेवालों (वृक्ष गुफा आदिकों) में ममता
 से रहित हो वृक्ष के नीचे वास करे ॥ २६ ॥ तपस्वी (वानप्रस्थ)

* कुछ काल साधनों से जब आत्मा उच्च होजाए, तो इसी
 आश्रम में उसके उच्च धर्म दिखलाते हैं, † आत्मा में समर्पण की
 विधि भ्रामणक सूत्रों से जाननी चाहिए [मेधा०] याते अग्ने
 यज्ञिया, [तैत्ति० सं० २।५।८।८] इस मन्त्र से आत्मा में समा-
 रोप कर [नारा०]

ब्राह्मणों से निर्वाह के लिये भिक्षा लेवे, वा दूमरे गृहस्थ द्विजों से जोकि बनों में रहते हैं ॥ २७ ॥ (इनसे न मिलने में) अथवा वन में रहता हुआ, ग्राम से आठ ग्रास होने में हाथ पर वा (मट्टी की थाली के) टुकड़े में लाकर खावे ॥ २८ ॥ वन में रहता हुआ ब्राह्मण यह भी और अन्य भी (वैखानस शास्त्र में कही) दीक्षाएं सेवन करे, और आत्मा की सिद्धि के लिये * उपनिषद् की विविध श्रुतियों का सेवन करे ॥ २९ ॥ जोकि पूर्व ऋषियों से और गृहस्थ ब्राह्मणों से विद्या और तप की वृद्धि के लिए और शरीर की शुद्धि के लिए सेवन की गई हैं ॥ ३० ॥ अथवा मन को स्थिर करके, निरा जल वायु भक्षण करता हुआ शरीर के गिरने तक सीधा चलता हुआ पूर्वोत्तर दिशा में जाए ॥ ३१ ॥ यह जो महर्षियों के आचरण हैं, इन में से किसी एक से शरीर को त्याग कर भय शोक से अलग हुआ ब्रह्मलोक में पूजा जाता है ॥ ३२ ॥

वनेषु च विदृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।

भिक्षावालिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

* आत्मा को पूर्ण बनाने के लिए ।

(अब संन्यासी के धर्म कहते हैं) इसप्रकार (मनुष्य की) आयु का तीसरा भाग वनों में बिता कर आयु के चौथे भाग में (दुनियावी सारे) लगाव त्यागकर परिव्राजक (संन्यासी) के तौर पर फिरे * ॥ ३३॥ आश्रम से आश्रम में जाकर सारे होम कर चुका हुआ, और इन्द्रियों को जीत चुका हुआ, भिक्षा और दान से थका हुआ, परिव्राजक होकर मरने के पीछे वृद्धि (मोक्ष की बरकत) पाता है ॥ ३४॥ तीनों ऋणों को चुकाकर मन को मोक्ष में लगाए, ऋणों को चुकाए बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नीचे जाता है † ॥ ३५॥ इसलिये विधि अनुसार वेदों को पढ़कर, धर्म मर्यादानुसार पुत्र उत्पन्न करके, और शक्ति अनुसार यज्ञ करके मन को मोक्ष में लगावे ॥ ३६॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।

अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदाक्षिणाम् ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥३८॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।

* ३३-८५ वासि० ६।१९-२० ; १० गौत० ३।११-२५ आप० २। २१ । २-१७ बौध्वा० २।११। १६-२६ ; १७। १-१८ ; २७ याज्ञ० ३।५६। ६५ । संन्यास का क्रम प्रायः यह है, कि ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास में जावे । क्योंकि संन्यास में न जाने से पतित नहीं होता, पर उाकर फिर गृहस्थ में मुड़ने से वा दुनियावी वस्तुओं का लगाव न त्यागने से पतित होता है । हां यदि कोई गृहस्थ से अलग होते ही अपने सारे लगाव छोड़ सका है, तो वह गृहस्थ से संन्यास लेसका है, जैसा कि आगे श्लोक ३८ में कहा है ॥

तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।

तस्य देहादिमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

वह द्विज जो वेदों को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना, यज्ञों से यजन किए बिना मोक्ष चाहता है, वह नीचे जाता है ॥३९॥ प्रजापति के लिए इष्टि (यज्ञ) करके जिसकी दक्षिणा (वह अपना) सर्वस्व (देदेता) है, अग्नियों को अपने में आरोप करके ब्राह्मण अपने घर से परिव्राजक बनकर निकले ॥ ३८ ॥ जो सब भूतों को अभय देकर घर से परिव्राजक होकर निकलता है, उस ब्रह्मवादी के तेजोमय लोक होते हैं ॥३९॥ जिस द्विज से प्राणधारियों को तनिक भी भय नहीं होता है, उसको कहीं से भय नहीं होता है, जब वह इस देह को छोड़ता है ॥ ४० ॥

आगारादाभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।

समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

एकएव चरोन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।

सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अनभिरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।

उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।

समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

घर से निकला हुआ, पवित्रों से युक्त * मुनि † अपने आप सामने लाए गए विषयों में भी बेपरवाह हुआ ‡ चला जाए ॥ ४१ ॥ अकेले की सिद्धि होती है, यह जानता हुआ मोक्ष के लिये सदा अकेला बिना साथ के विचरे, (यादि अकेला विचरता है, तो) न वह किसी को सागता है, न किसी से सागा जाता है ॥ ४२ ॥ बिना अग्नि के हो, बिना घर के हो, अन्न के लिए ग्राम में जावे (अन्यदा ग्राम से बाहर रहे) बेपरवाह हो, (अपने उद्देश्यमें) न ढोले § मनन शील हो, (चित्तको (ब्रह्म में) लगाए रहे ॥ ४३ ॥ (भिक्षा के लिए) ठीकरा (रहने के लिए) वृक्षों के तल (पहनने के लिए) फटे पुराने चीथड़े, कोई साथी न रखना और सब में ही (शत्रु में भी) समता (मैत्री) यह युक्त (बन्धनों से छूटे हुए, पूरे आज़ाद) के लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचेत् ॥ ४६ ॥

*पवित्रता के साधन दण्ड कमण्डलु आदि (गोवि०कुल्लू०नन्द) मन्त्र जप, अथवा दण्ड कमण्डलु मृगान आदि, अथवा कृच्छ्र व्रत (मेधा०) पवित्रो पबितः = पवित्र तपजप आदि जो गृहस्थकाल में किए हैं उन से उत्तमताको प्राप्त हुआ (नारा०) ज्ञान वा उपनिषद् (राघ०) †मुनि = चुप चाप अपने विचार में मग्न । मुनि से यह आभि प्राय नहीं होता, कि किसी से भी न बोलने का व्रत धारण करे जैसे आज कल मौनी होते हैं, क्योंकि यहां ही आगे ४६ में कहेंगे 'सत्य पूतां वदेद्वाचम्' ‡ समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः, = घर में संवर्धित भोगों में भी इच्छा शून्य (नन्द०) § असंकुशुकः, के स्थान असंवायिकः, (प्राणवायु के लिए भी धन का संवचन न करने वाला)

आतिवादांस्तातिक्षेत् नावमन्येत कश्चन ।

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

क्रुद्धयन्तं न प्रतिकुद्रेयदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

इच्छा न मरनेकी रखे, न जीने की, काल की ही प्रतीक्षा करे*, जैसे भूख भूति (मज्जदूरी) की ॥ ४५ ॥ दृष्टि से पवित्र हुआ पांओं रखे, (जीवं जंतुओं को देखकर चले†) वस्त्र से पवित्र (छाना) हुआ जलपिये, सचाई में पवित्र हुई बाणी बोले, मन से पवित्र हुआ आचरण करे । ४६। सख्त शब्दों को सहारे, किसी का अपमान न करे, इस (नश्वर) देह के लिए किसी से वैर न करे । ४७। (अपने ऊपर) क्रोध करते हुए पर प्रतिक्रोध (पलटे में क्रोध) न करे, किसी ने झिड़क दिया है, तो उस के लिए कुशल कहे (वरकतमंगे) सात द्वारों ‡ में बड़ी हुई बाणी को झूठा न बोले ४८

पाठ पढ़ता है । *काल भी उसके लिए डरावना नहीं; बल्कि उस की कमाई का फल देने वाला हो जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द । कब मरि हों कब पाइ हों पूर्ण परमानन्द, है तो यही, पर कब मरि हों कब पाए हों, यह इच्छा न रखे, अपने आप होने दे, इतना इलोक में अधिक बतझाया है (मेधा० नन्द) के अनुसार निर्वेश, पाठ है । छरे पुस्तकों में निदेश मिलता है । इस पाठ में यह अर्थ होगा, जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है, इस तरह काल की प्रतीक्षा करे अर्थात् तय्यार रहे † मिलाओ आगे ६८ ‡ सात द्वार = पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि । इन से जाने हुए हर एक विषय को बाणी प्रकट करती है । टीकाकारों ने भी यह अर्थ मुख्य लिया है, किन्तु बुद्धि के स्थान अहंकार नारा० ने लिया है अथवा छः सिर के छेद, सातवीं बुद्धि । अथवा धर्म, अर्थ, काम, धर्म अर्थ, अर्थ काम, धर्म काम, धर्म अर्थ काम । अथवा सातों लोक भी लिए हैं ।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
 आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरोदिह ॥ ४९ ॥
 न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग विद्यया ।
 नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥
 न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
 आकीर्णभिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंभ्रजेत् ॥ ५१ ॥
 क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
 विचरोन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥
 अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
 तेषामाद्विःस्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥
 अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
 एतानि यतिपात्राणि मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

आत्म सम्बन्धी बातों में प्रेमवाला (योग के आसनों में)
 बैठ ने वाला, बेपरवाह, विषय भोगों से रहित, निरा अपने
 आप को साथी बनाकर इस लोक में विचरे । ४९ । न दैव
 अपद्रव (भूचाल आदि) और समुन (बताने) से, न नक्षत्र
 विद्या और अंगविद्या (सामुद्रिक) से, न उपदेश देने से, न (शास्त्र
 के विषयों पर) वाद करने से कभी भिक्षा लेना चाहिए । ५० ।
 तपस्वियों से ब्राह्मणों से पक्षियों कुत्तों से वा दूसरे भिक्षुओं से घिरे
 घर में न नर । ५१ । नख, बाल, दाढ़ी मूँछ मुँडाएरहे, कमण्डलु
 दंड और रस्मे कपड़े रखे, अपने आप पर वश रखता हुआ कभी

किसी भी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ विचरे । ५२ । उस के पात्र बिनधात के हों और बिना छेद के हों, उन की जल से पवित्रता कही है, जैसे यज्ञ में चमसों की होती है । ५३ । दूँबी, लकड़ी का पात्र, मट्टी का वा बाँस का बना पात्र यह स्वायम्भुव मनु ने यति के पात्र कहे हैं । ५४ ।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।

भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥

विधूमे सन्नमुसले व्यंगारे मुक्तवज्जने ।

वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्धिनिर्गतः ॥५७॥

अभिपूजितलाभास्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥५८॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।

द्वियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निर्वर्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।

आर्हिसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

(दिन में) एक बार भिक्षा करे, (एक बार भी) बहुत भिक्षा में मन न दे, क्योंकि भिक्षा में फंसा यति विषयों में भी फंस जाता है । ५५ । जब (रसोई से) धुआँ दूर हो चुका हो मूसल बन्द हो, अंगारे ठंडे हो गए हों, (घरके सब) लोग स्ना

चुके हों, थालियें उठा दी गई हों, ऐसे समय पर यति सदा भिक्षा करे। ५६। न मिलने पर उदास न हो, मिलने पर हर्षित न हो निरा जीवन यात्रा के लिए लेवे, उपभोग्य वस्तुओं (दण्ड कमण्डलु कंबल आदि) के लगाव से बचा रहे । ५७ । पूजावाले (पुरतकुल्फ) लाभों का कभी आदर न करे, क्योंकि पूजित लाभों से यति मुक्त हुआ भी बन्ध जाता है । ५८ । इन्द्रिय विषयों से खिंचते हों तो थोड़ा अन्न खाने, और एकान्त रहने बैठने से उन को रोके ॥ ५९ ॥ क्योंकि इन्द्रियों के रोकने से, राग द्वेष के नाश से, और प्राणियों की अहिंसा से मोक्ष के योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।

निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।

जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

कर्मों के दोषों से होनेवाली मनुष्य की गतियों (भिन्न २ योनियों में प्राप्ति), नरक में गिरने और यम के लोक में तीव्र पीड़ाओं (के सहने) का चिन्तन करे ॥ ६१ ॥ तथा प्यारों (पुत्रादि) के साथ वियोग, द्वेषियों के साथ संयोग, बुढ़ापे से दबाया जाने, और रोगों से पीड़ा जाने का भी (चिन्तन करे) ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।

धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत् योगेन परमात्मनः ।

देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि चरद्धर्मं यत्र तत्राश्रमं स्तः ।

समः सर्वेषु भूतेषु न हि धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

इस देह से निकलना, फिर (दूसरे) गर्भ में उत्पत्ति, और सहस्रों कोटि योनियों में इस जीवात्मा की गति का (चिन्तन करे) ॥६३॥ शरीर धारियों को जो दुःख का योग है, उस का कारण अधर्म को और जो अविनाशी सुख का संयोग है, उस का कारण धर्म और परम प्रयोजन (मोक्ष) को (चिन्तन करे) ॥६४॥ योग के द्वारा शुद्ध आत्मा की सूक्ष्मता को, और उत्तम अधम देहों में उत्पत्ति को देखे*॥६५॥ जिस तिस आश्रम में रहता हुआ दूषित हुआ † भी सब भूतों में समष्टि होकर धर्म का आचरण करे, चिन्ह धर्म का कारण नहीं होता है ॥६६॥ निर्मली वृक्ष का फल यद्यपि जल को निर्मल करनेवाला है, तथापि उसका नाम लेने मात्र से जल निर्मल नहीं होता है ॥६७॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।

शरीरस्यात्यये च । समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

* नन्द ने इस श्लोक को छोड़ दिया है † दूषित हुआ, = आश्रम के चिन्हों से रहित हुआ, यहां दोष से अभिप्राय चिन्ह त्याग से ही है, जैसा कि अन्त में कहा है, चिन्ह धर्म का कारण नहीं है † खाली चिन्ह, नाम मात्र लेने की तरह है, कर्त्तव्य का पालन, निर्मली को पीसकर डालने की तरह है ॥

अद्वा रात्र्या च याञ्जन्तुन्हिनस्त्यज्ञानतो यातिः ।
 तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥६९॥
 प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
 व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥
 दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
 तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥
 प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
 प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानाश्विरान्गुणान् ॥७२॥

जीवों की रक्षा के लिए दिन हो वा रात सदा भूमि को देखकर चले, चाहे शरीर को तंगी भी हो ॥ ६८ ॥ यति दिन वा रात में जिन जन्तुओं को अज्ञानता से मारता है, उनकी शुद्धि के लिए स्नान करके छः प्राणायाम करे * ॥ ६९ ॥ व्याहृतियों और ओंकार से युक्त प्राणायाम तीन भी विधि अनुसार किए हुए ब्राह्मण का परमतप जानना चाहिए ॥ ७० ॥ (अग्नि में) धौंकने से जैसे धातों के मैल जल जाते हैं, इसतरह प्राण के रोकने से इंद्रियों के मैल जल जाते हैं † ॥ ७१ ॥ प्राणायामों से (राग द्वेषादि) दोषों को जलाए, धारणा से (मनको परमेश्वर में लगाने से) पाप को, प्रत्याहार (इन्द्रियों को विषयों से खींचने) से विषयों के लगाव को और ध्यान (ब्रह्म में एकाग्र वृत्ति) से अनीश्वर गुणों (जो गुण ईश्वर में नहीं है, काम, क्रोध, लोभ असूया आदि) को ॥

* प्राणायाम मन्त्र देखो वासि० २१ । १३ ॥ वासि० २५ । ६
 बीजा० ४ । १ । २४ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
 ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥
 सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
 दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥
 अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
 तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

इस अन्तर्गात्मा की उत्तम अवयव जीवों में गति को ध्यान योग से देखे जो अजितेन्द्रिय पुरुषों से नहीं जानी जा सकती, ॥ ७३ ॥ (परमात्मा के) यथार्थ दर्शन से युक्त पुरुष कर्मों में नहीं बन्धता है, किन्तु साक्षात् दर्शन से हीन पुरुष संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥ किसी जीव को न सनाने से, इन्द्रियों के (विषयों में) न लगाव से, वैदिक कर्मों से * उग्र तपों के करने से इस लोक में (ही) उस पद † को साध लेते हैं ॥ ७५ ॥

आस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
 चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
 जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
 रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥
 नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
 तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ब्राह्मादिमुच्यते ॥ ७८ ॥

* निस्वकर्म (मेधा०, गोवि०, कुच्छू०) निस्व नैमित्तिक (नारा)
 गृहस्थधर्म (नन्द०) † उस पद = ब्रह्म में लीन होना (गोवि० कुच्छू०
 राय०) ब्रह्मलोक (मेधा०,) नारा०, और नन्द 'तत्परं' पाठ पढ़ते
 हैं, उस पदब्रह्म को ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।

विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

हाडियें जिनमें खंभे हैं, नाडियों में युक्त हैं, (नाडियें जिनमें रस्सों के स्थान हैं) पाँच और लहू गच्च के स्थान हैं, जो चाड़े से मढ़ा हुआ है, मूत्र और विष्टा में भरा हुआ है, अतएव दुर्गन्धि है* ॥ ७६ ॥ बुढ़ापे और शोक से युक्त है, रोगों का घर है, पीड़ा से युक्त है, धूँलवाला है, और विनश्वर है, ऐसे पाँच भूतों से बने इस घर (शरीर) को त्यागे (त्याज्य घर की तरह त्याग दे) ॥ ७७ ॥ वृक्ष जैसे नदी के किनारे को (पराधीन होकर) वा पक्षी जैसे वृक्ष को (स्वतन्त्रता से तजता है) इसप्रकार इस देह को छोड़ता हुआ दुःख रूपी मगर से छूटना है ॥ ७८ ॥ अपने प्यारों पर शुभ कर्म, और द्वेष करनेवालों पर मन्द कर्म, छोड़कर ध्यान योग से अनादि ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।

तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगान् शनैःशनैः ।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदाभिशाब्दितम् ।

नह्यनध्यात्मावित्काश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

जब अपनी (हृदय की) भावना से सब विषयों में बेपरवाह

* ७६-७७ में ब्रा० उप० ३।४ में उसके प्रेमी पुण्य कमाते हैं, और द्वेषी पाप ॥

होजाता है, तब दोनों जगह सुख पाता है, इस लोक में भी * और मरने के पीछे भी ॥ ८० ॥ इसप्रकार धीरे २ सारे लगाव त्यागकर सारे द्वन्द्वों (मान अपमान आदि) से छूटा हुआ केवल ब्रह्म में टिकजाता है ॥ ८१ ॥ यह जो ऊपर (लगाव का त्याग और द्वन्द्वों का छुटकारा) कहा है † ध्यान का फल है, क्योंकि आत्मा को न जाननेवाला कोई भी क्रिया फल को नहीं पाता है॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।

आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

इदं शरणमज्ञानाभिदमेव विजानताम् ।

इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।

स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

यज्ञ विषयक, देवता विषयक, आत्म विषयक वेद का तथा वेदांत में जो कहा है, उसका सदा स्वाध्याय करे ॥ ८३ ॥ यह न जाननेवालों का भी शरण है, जाननेवालों का भी (शरण) है, यह स्वर्ग द्वंद्वते हुआ का शरण है और अनंत (सुख) द्वंद्वते हुआ का शरण है ॥ ८४ ॥ इस क्रम पर चलने से जो द्विज परिव्रजक बनता है, वह यहां पाप को झाड़कर परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

* जीवन्मुक्त होकर (नारा०) † गोवि० नारा० नंद० 'ऊपर कहे' से अभिप्राय लेते हैं, पिछले सारे अध्यायों में चारों आश्रमों के लिए जो कुछ कहा है, और तात्पर्य यह कहते हैं, कि पूरा फल सारी क्रियाओं का तभी होता है, जब आत्मज्ञान भी साथ होता है॥

एषधर्मोऽनुशिष्टो वा यतीनां नियतात्मनाम् ।
 वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥
 ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
 एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥
 सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
 यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥
 सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः ।
 गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि ॥ ८९ ॥
 यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
 तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

यह अपने आप पर बस रखनेवाले यतियों का धर्म तुम्हें
 बतलाया है । अब वेद संन्यासियों * का कर्त्तव्य सुनो ॥ ८६ ॥
 ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और याति, यह चार अलग २ आश्रम
 गृहस्थ से उत्पन्न होते हैं † ॥ ८७ ॥ यह सारे भी जब क्रमशः

* वेद संन्यासी = घर में रहते हुए लौकिक काम काज और
 उनकी वासनाएं भी त्यागकर केवल ईश्वर पराधन हुए । वह द्रव्य
 यज्ञों को त्यागकर ध्यानयज्ञ करते हैं देखो पूर्व ४। २२-२४ ।
 लौकिक व्यवहार सारा पुत्र पर डालकर उसके ऐश्वर्य से अपनी
 जीवनायात्रा करते हैं । देखो पूर्व ४। २५७ और आगे ९४। ९५

† ८७-९३ वासि० ८। १४-१६ ; १०। ३० गौत० ३। ३६ आप० २। २३-२४
 बौध्वा० २। १। १२-३४ विष्णु० ५९। २७-२९ संन्यास के प्रसंग में चारों
 आश्रमों के वर्णन का और गृहस्थकी विशेष प्रशंसा का अभिप्राय यह
 है, कि यथाशास्त्र पालन किया हर एक आश्रम परमगति को प्राप्त
 करता है, गृहस्थम उपकार की दृष्टि से बड़ा उच्च आश्रम है ।

शास्त्रानुसार सेवन किए जाएं, तो कहे अनुसार करनेवाले ब्राह्मण को यह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कराते हैं * ॥८८॥ और इन सब में से भी वेद और स्मृति की मर्यादानुसार गृहस्थ श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि वह इन तीनों का भरण पोषण करता है ॥८९॥ जैसे सब नदी नद समुद्र में आराम का स्थान पाते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में आराम का स्थान पाते हैं ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।

दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।

अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

इन चारों ही आश्रमवाले द्विजों (ब्रह्मचारी, गृही, वानस्थ, संन्यासी) को दस स्वरूप वाला धर्म प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥ ९१ ॥ धीरज, क्षमा, अपने (मन) परवश † चोरी का त्याग (कोई वस्तु न लेना, जिस पर अपना स्वत्व नहीं) पवित्रता (के नियमों का पालन) इन्द्रियों का रोकना, धी, ‡ (आत्म-) विद्या, सचाई

* आश्रम बाहर के चिन्ह हैं, आत्मा का धर्म वह है, जो आगे ९२ में कहा है, वह जिस किसी आश्रम में रहकर पाले, मुक्ति उसको हथेली पर आ बैठती है ।

† विपद्, दुःख, संकट में धीरज, क्षमा = दूसरे का अपराध भूल जाना, दम = मन पर काबू (उजड़पन, विद्यामद, धनमद, आदि का न होना, मेधा०, नन्द) तप क्लेश सहना, (गोवि० नारा०) धी धी = सुदृढ़ वा भूल से रहित ज्ञान (मेधा०, गोवि०) शास्त्रादि तत्त्वार्थ का ज्ञान (कुब्लू०, राख०) नारा० नन्द के अनुसार धी के स्थान 'ही' पाठ

क्रोध से बचना, यह दहाका धर्म का स्वरूप है ॥ ९२ ॥ जो ब्राह्मण धर्म के इन दस लक्षणों को पढ़ते हैं, और पढ़ने के पीछे उन पर चलते हैं, वह परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ।

वेदान्तं विधिवच्छत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

जोद्विज दस स्वरूप वाले धर्मका अनुष्ठान करता है, मन को एकाग्र किए हुए है, तीनों ऋण चुका चुका है, वह विधि अनुसार वेदान्त श्रवणकर संन्यासी (त्यागी) बने ॥ ९४ ॥ (गृहस्थसे अनुष्ठेय) सारे कर्मों को त्यागकर, कर्मों के दोषों (फल की कामनाओं) को परे फेंककर, अपने आपको बस में रखकर, वेद का अभ्यास करता हुआ, पुत्र के ऐश्वर्य में सुख से रहे ॥ ९५ ॥ इसप्रकार कर्मों को त्यागकर, अपने कर्त्तव्य (परमात्मा के साक्षात्कारादि) परायण हुआ, सारी इच्छाओं से रहित हुआ, संन्यास से पाप को नाशकर परमगति को प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥ यह ब्राह्मण का चार प्रकार का धर्म तुम्हें कहा है, जो पवित्र है और मरने के पीछे अक्षय फलवाला है, अब राजाओं का धर्म जानो ॥ ९७ ॥

हे, ह्री = गैरत, लज्जा * वासि० १०। २६ * सब से पुराने टीकाकार यहां ब्राह्मण कहने का आशय ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार लेते हैं। उनके आशय से बीच में जो ३७, ४० में द्विज पद है, वह भी ब्राह्मण के आशय से है, (पर यह होसक है कि ब्राह्मण प्रायिकशब्द से हो, अर्थात् प्रायः ब्राह्मण संन्यास लेते थे)

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
 सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
 ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
 सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥
 अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विदुने भयात् ।
 रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
 इन्द्रानिलयमार्काणाममेश्वरुणस्य च ।
 चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
 यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
 तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥
 तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूंषि च मनांसि च ।
 न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥
 सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
 स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥
 बालोऽपि नावावाव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
 महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

अब मैं राजा के धर्म कहूंगा, कि राजा को कैसे बर्चना चाहिए,
 कैसे उसकी सृष्टि हुई, और किसतरह उसको परम सिद्धि (पूरी

कामयात्री) होती है ॥ १ ॥ यथाविधि वैदिक (अभिषेक) संस्कार * को प्राप्त हुए क्षत्रिय को इन सब (चर अचर) की न्यायानुसार रक्षा करनी चाहिए ॥ २ ॥ क्योंकि जब बिना राजा के यह दुनिया (प्रबल पुरुषों के) भय से सब ओर से डोल गई; तब इस सब की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा को उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के सनातन अंशों को लेकर ॥ ३, ४ ॥ जिस लिए इन देवपतियों के अंशों से राजा बनाया गया है, इसलिए तेज † से सब लोगों को मात करता है ॥ ५ ॥ सूर्य की तरह इनके नेत्रों और हृदयों को तपाता है, और कोई भी जगत् में (आंख उठाकर) इसकी ओर देख नहीं सकता ॥ ६ ॥ वह अपने प्रभाव (बढ़ी हुई शक्ति) से अग्नि है और वायु है, वह सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है, और महेन्द्र है ॥ ७ ॥ राजा बाल भी हो, तो भी उसका अपमान न करे यह मानकर कि (हमारी तरह) मनुष्य है, क्योंकि मनुष्य के रूप से यह एक भारी देवता स्थित है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यभिर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।

कुलं दहति राजाभिः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।

कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।

* (उपनयन) संस्कार (मेघा०, गोवि०, नारा०, कुल्लू) (उपनयनादि) संस्कार (राघ०) † तेज का अर्थ टीकाकारों ने वीर्य लिया है, पर यहां तेज का प्रसिद्ध अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है जैसे कि अगले श्लोकमें प्रकट किया है, 'उसकी ओर कोई देख नहीं सकता,

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि ॥ ११ ॥
 तं यस्तु द्वाष्टिं संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
 तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥
 तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
 अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥
 तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
 ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥
 तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
 भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥
 तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
 यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

आग्नि उस एक ही पुरुष को जलाती है, जो असावधानी से उसके पास आता है, पर राजा की अग्नि (क्रोध) सारे कुल को जला देती है, समेत पशुओं के और धन के ढेर के ॥ ९ ॥ प्रयोजन शक्ति देश और काल को पूरे नौर पर जानकर कार्य की सिद्धि के लिये वह बार २ अनेकरूप बनाता है (कभी मित्र, कभी शत्रु कभी उदासीन) ॥ १० ॥ जिसके प्रसाद में बड़ी लक्ष्मी *बसती है, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु बसता है, क्योंकि वह सब के तेज से बना है ॥ ११ ॥ जो कोई भूल से उसके साथ

* पद्मा=जिसके हाथ में कमल है, (नारा० नन्द०) कमल में रहनेवाली (राघ०) पद्मा और श्री दोनों पर्यायवाचक शब्द एकट्ठे कहने से बड़ी लक्ष्मी अर्थ अभिप्रेत है (मंथा०, गोवि०, कुल्लू)

द्वेष करता है, वह निःसन्देह नष्ट होता है, क्योंकि उसके नाश के लिये राजा जल्दी मन को लगाता है ॥ १२ ॥ इसलिए राजा जो धर्म (व्यवस्था=मर्यादा) इष्टों के विषय में और जो अनिष्ट (धर्म) अनिष्टों के विषय में बांधे, उस धर्म को न हिलाए * ॥ १३ ॥ उस (राजा) के निमित्त ईश्वर ने दण्ड को रचा, जो उसका पुत्र है, धर्म स्वरूप है, सब भूतों का रक्षक है, ब्रह्म के तेज से बना है † ॥ १४ ॥ उसके भय से सब स्थावर जंगम भूत भोग के लिए समर्थ होते हैं ‡ और अपने धर्म (मर्यादा) से नहीं हिलते हैं ॥ १५ ॥ (अपराध का) देश और काल, और (अपराधी की) शक्ति और जानकारी को पूरा २ देखकर, अन्याय से बर्तनेवाले मनुष्यों पर प्रथायोग्य दण्ड चलाए § ॥ १६ ॥

सराजापुरुषो दण्डः स नेता शासिता चसः ।

चतुर्णामाश्रमाणांच धर्मस्य प्रातिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डेवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

* यह मर्यादा लौकिक विषयों में जाननी चाहिए, मेले उत्सवों के मनाने रोकने आदि के विषय में राजा जो आज्ञा दे उसे पालना चाहिए

† याज्ञ० १।३।१३ ‡ भोग के लिए समर्थ होते हैं, दण्ड न हो, तो जिसकी लाठी तिसकी भंग होजाए, बलवाले दुबैलों के धन स्त्री आदि छीन लें, उनसे आगे अधिक बलवाले छीन लें । स्थावर भी जो फल पुष्ट शाली हैं, उनको ऊलाने के लिए भी काट डालें, वा अपने खाने के लिए भी तोड़ डालें, § स्थावर भी समय पर फल फूल देते हैं, मनुष्य भी अपने स्वत्व पर रहते हैं, ॥ वासि० १९।९ गौत० १२।१। यजु० १।३६७ विष्णु० ३।९१।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
 असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥
 यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
 शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥
 अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
 स्वाम्यश्च न स्यात् कस्मिंश्चित्प्रवर्त्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

दण्ड (वास्तव) राजा है, (उसके होते ही राजशक्ति है) वह पुरुष है, (उसके सामने सब स्त्रियोंकी तरह दुर्बल हैं), वह (कारोबार का) चलानेवाला है, वह शासन करनेवाला है, और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (ज़ामिन) माना गया है ॥ १७ ॥ दण्ड सारी प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड रक्षा करता है, दण्ड सोए हुएों में जागता है, दण्ड को बुद्धिमान धर्म जानते हैं, ॥ १८ ॥ ठीक २ विचार करके धारण किया दण्ड सारी प्रजाओं को प्रसन्न करता है, बिन सोचे चलाया हुआ सब ओर नाश करता है * ॥ १९ ॥ यदि राजा अप्रमत्त होकर दण्ड के योग्यों पर दण्ड न चलाए, तो अधिक बलवाले दुर्बलों को शूल पर मछलियों की तरह पकाखावें ॥ २० ॥ पुरोडाश को कौआ खाजाए, हवि को कुत्ता खाजाए † (किसी की) किसी पर मलकीयत न हो सब ऊपर तले होजाए ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
 दण्डस्य हिमयात्सर्वं जगद्भोगायकल्पते ॥ २२ ॥

* याद० १। ३५५ † सब का वीं कुत्ता जाय=निष्फल जाय ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतंगोरगाः ।

तेऽपि भोगायकल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥२४॥

सारा लोक दण्ड से जीता हुआ है, (स्वभाव से) शुचि पुरुष दुर्लभ है, दण्ड के भय से सारा जगत् भोग के लिये समर्थ होता है ॥ २२ ॥ देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी नाग यह भी दण्ड से पीड़ित हुए भोग के लिए समर्थ होते हैं ॥ २३ ॥ दण्ड की भूल से (न देने से वा उलट पलट देने से) सब वर्ण बिगड़ जाएं सारी मर्यादाएं टूट जाएं, और सब लोगों में बेचैनी हो जाए ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहृत् ।

प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्याति ॥२५॥

तस्याद्भुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।

समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।

कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्वरश्चाऽकृतात्मभिः ।

धर्माद्विचलितं हान्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

जहां काला, लाल नेत्रोंवाला दण्ड (चुन २) पापियों को ताड़ता हुआ बिचरता है, वहां प्रजाएं व्याकुल नहीं होतीं, यदि (दण्ड

का) चलानेवाला ठीक देखता है * ॥ २५ ॥ उसका चलानेवाला राजा को कहते हैं, जो सत्यवादी है, ठीक समझकर काम करता है, बुद्धिमान है, धर्म, काम और अर्थ का तत्त्व जानता है ॥ २६ ॥ जो राजा उस (दण्ड) को अच्छे प्रकार चलाता है, वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) से बढ़ता है, और जो लालची, विषम * क्षुद्रात्मा है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ २७ ॥ दण्ड बड़ा भारी तेज है, जो अजितोन्द्रिय से धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु धर्म से फिसले राजा को ही उसके बान्धवों समेत नष्ट कर देता है ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तारिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।

प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।

सुहृत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

उस के पीछे दुर्ग (किला) देश, चर, अचर सहित लोक और अन्तारिक्ष में होनेवाले मुनि और देवताओं को पीड़ा देता है ॥ २९ ॥ वह (राजा) दण्ड को न्याय से नहीं चला सकता, (निर्णय करने में) जिसके सहायक

* विष्णु० ३। ८६ + गौत० ११। २ धृ० विषम = एक दृष्टि से न देखनेवाला, अर्थात् विषम दण्ड देनेवाला; क्रोधी (गोवि० कुल्लू० राघ०)

कोई नहीं, वा जो अनजान है, वा लोभी है, वा बुद्धि को मांझे हुए नहीं है, वा विषयों में फंसा है * ॥ ३० ॥ किन्तु दण्ड को वह चला सकता है, जो शुद्ध † है. अपने वचन का पालन करता है ‡ शास्त्र के अनुसार चलता है, अच्छे साथियों वाला है, बुद्धिमान है ॥ ३१ ॥ अपने राज्य में न्याय से वर्तनेवाला, शत्रुओं पर तीक्ष्ण दण्डवाला हो, मित्रों में सरल हो और ब्राह्मणों में क्षमा युक्त हो, उनके तीव्र शब्दों को सहारे § ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोज्छेनापि जीवतः ।

विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।

संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

जो राजा इसप्रकार वर्तता है, वह चाहे शिल और उज्छ से भी जीविका करता हो, (कुछ भी कोश उसके पास न हो) तौ भी इनका यश लोक में इसतरह फैलता है, जैसे पानी पर तैल की बूंद ¶ ॥ ३३ ॥ इससे उलटा चलनेवाले अजितेन्द्रिय राजा का यश लोक में सिमटता है, जैसे घी की बूंद पानी में ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥

तेन यद्यत्समृत्त्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः ।

तत्तद्दोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

* ३०—३१ गीत० १।४ याज्ञ० १।३०८—३०९, ३५४ † शुद्ध = ईमानदार, लोभ में न आनेवाला ‡ सत्यसन्ध निरा सचाई का तर्कदार (मेघा०) § याज्ञ० १।१३३ विष्णु० ३।९६ ¶ विष्णु० ३।९७

अपने२ पद के अनुसार अपने२ धर्म में लगे हुए सारे वर्णों
और आश्रमों का राजा रक्षक के तौर पर रचा गया है ॥३५॥
प्रजा की रक्षा करने के हेतु उसको और उसके नौकरों को जो२
कुछ करना चाहिए, वह २ मैं तुम्हें क्रमशः ठीक २ कहूंगा ॥३६॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।

त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदाविदः शुचीन् ।

वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्दिनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥३९॥

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।

वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।

सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेवच ॥ ४१ ॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेवच ।

कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यंचैवगाधिजः ॥ ४२ ॥

राजा (प्रतिदिन) प्रातःकाल उठकर वेद विद्या में बड़े हुए
(नीति शास्त्र के) जानने वाले ब्राह्मणों को पूजे और उनके
शासन में ठहरे * ॥३३७॥ वृद्ध ब्राह्मण जो वेदवेत्ता और शुद्ध
(छल, कपट, बहानों से शून्य) हैं उनका सदा सेवन करे; क्योंकि

वृद्धों का सेवन करनेवाला राक्षसों से भी पूजा जाता है॥३८॥ विनीत (सुसभ्य, सुशील) होकर भी उनसे विनय सीखे, क्योंकि विनीत स्वभाव वाला राजा कभी नष्ट नहीं होता है॥३९॥ (हाथी, घोड़े, कोश आदि) बड़े सामानवाले भी अनेक राजे विनय के न होने से नष्ट हुए हैं, और वन में रहने वाले (राज्य का कोई सामान न रखने वाले) भी विनय से राज्यों को प्राप्त हुए हैं॥ ४० ॥ विनय के न होने से वेन नष्ट हुआ है, तथा राजा नहुष, राजा पित्रवन का पुत्र सुदाम्, सुमुख और निमि † ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनय से राज्य को प्राप्त हुए हैं, कुबेर धन के ऐश्वर्य को, और गाधि का पुत्र (विश्वामित्र) ब्राह्मणपन को (प्राप्त हुआ है) ॥४२॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तास्मार्चवलोकतः॥४३॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्वानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥४४॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुस्सन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

वेद के जाननेवालों से वेद विद्या को, तथा सनातन दण्ड नीति (ईशान करने की विद्या = (Science of Government), तर्क विद्या, और आत्म-विद्या को (इन २ के जाननेवालों से) और वृत्ति के (रोगजार, खेती, पशुपालन, व्यापार, कला आदि

* विनीत = विनयवाला विनय = काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, हर्ष = खुशी को सम्भाल न सकना, इन छः शत्रुओं के पराधीन न होना
† वेन मान मद से, नहुष मद क्रोध से, सुदाम् मद क्रोध से, सुमुख लोभ से, निमि हर्ष से (नारा० इनकी कथाएं महाभारत से जानो) मेधा०

का निर्माण इत्यादि) कामों को (योग्यता प्राप्त=तज्ज्वाकार) लोगों से सीखे * ॥ ४३ ॥ इन्द्रियों के जय में दिन रात यत्न करे, क्योंकि (केवल) जितेन्द्रिय (पुरुष) प्रजाओं को वश में रख सकता है ॥ ४४ ॥ दस काम से उत्पन्न होने वाले और आठ क्रोध से उत्पन्न होने वाले (इन १८) व्यसनों को यत्न से त्यागे जिनका अन्त दुःख है, (चाहे आरम्भ में सुख भी दें) † ॥ ४५ ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥
मृगयाऽश्लोदिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यात्रिकं वृथाव्याच कामजोदशको गणः ॥ ४७ ॥
पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

क्योंकि काम से उत्पन्न होनेवाले व्यसनों में फंसा हुआ राजा अर्थ और धर्म से हीन होजाता है, और क्रोध से उत्पन्न हुआ फंसा हुआ अपने आप से ही हीन होजाता है (अपना जीवन खो बैठता है) ॥ ४६ ॥ शिकार, जुआ, दिन को सोना, परनिन्दा, स्त्रियों, मद, राग रंग, वृथा घूमना, यह दस काम (सुख की इच्छा) से उत्पन्न होनेवाला गण है ॥ ४७ ॥ चुगली, साहस (भयों को भी बांधना आदि) द्रोह (बहाने से मरवा डालना आदि) ईर्ष्या, (दूसरों के गुणों को न सहारना) असूया (दूसरों के गुणों में दोष लगाना) अर्थ का दूषण (अन्याय से किसी की मञ्जकीयत जबर कर लेना वा देने योग्य धन का न देना) बाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता, यह आठ क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसन हैं ॥

* गीत० ११ । ३ याज्ञ० १ । ३१० † ४५-४८ विष्णु० ३ । ५०-५१ ।

द्वयोऽप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
 तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेताबुभौ गणौ ॥ ४९ ॥
 पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
 एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥
 दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
 क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥
 सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
 पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्वयसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

इन दोनों का भी—सब विद्वान् जिसको मूल बतलाते हैं, उस
 लोभको यत्न से छोड़े, यह दोनों समुदाय उससे उत्पन्न होते हैं ॥ ४९ ॥
 (मद्य-) पान, जुआ स्त्रियें और शिकार यथाक्रम इस चौके को
 कामजगण में भी बड़ा हानिकारक जाने ॥ ५० ॥ कड़ा दण्ड देना, बाणी
 की कठोरता और अर्थदूषण (धन का छीन लेना वा देने योग्य
 न देना) यह त्रिक क्रोधज गण में भी हानिकारक है ॥ ५१ ॥
 यह सात का समुदाय जो सब जगह प्रबल होता है, इस में से भी
 आत्मवान् राजा पहले २ को बहुत भारी समझे ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
 व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्गात्यव्यसनीमृतः ॥ ५३ ॥
 मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांलब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
 सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीति परीक्षितान् ॥ ५४ ॥
 अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
 विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥

व्यसन और मृत्यु में से व्यसन अधिक हानि कारक है, व्यसनी नीचे २ जाता है, और बिना व्यसन मरा स्वर्ग को जाता है ॥५३॥ मन्त्री सातवा आठ बनाए, जो मूल से आए हों (अपने बड़ों से राजकीय नौकर हों) शास्त्र के जानने वाले हों, शूरवीर हों, जिनके विचार कई बार सफल हो चुके हैं, अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हैं, और परीक्षित हैं (कि कोई धोखा नहीं देते हैं, पूरे ईमानदार वफादार हैं) ॥५४॥ चाहे काम आसान भी हो, वह भी अकेले से कठिन होजाता है, क्या फिर राज्य विशेष साथी के बिना जो कि बड़े फल वाला है (अतएव बहुत बड़ा काम है) ॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।

स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

तेषां स्व स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।

समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥

उनके साथ प्रतिदिन सोचे मामूली सन्धि विग्रह (मेल और लड़ाई) स्थान*, समुदय*, (अपनी और राज्य की) रक्षा, और हाथ आए में शांति फैलाना ॥५६॥ पहले उन सबके अलग २ अभिप्राय को और फिर मिले हुआँ के (मंझ कर निश्चित हुए सब के एक) अभिप्राय को जान कर अपनी भलाई करे ॥ ५७ ॥

सवषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।

मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्युण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

* स्थान चार हैं, सेना, कोश, पुर, राष्ट्र (गोवि० कुल्लुनारा० राघ) अथवा स्थान अपने देश से न किसलना (मेधा०) आसन= ठहरना (नन्द०) गुण्यमुदय=धन का आगम और वृद्धि (Revenue)

नित्यं तस्मिन्समाश्रितः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ।
 तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्मसमारभेत ॥ ५९ ॥
 अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
 सम्यगर्थं समाहर्तुं न मात्यन्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥
 निर्वर्तेतास्य यावाद्भिरिति कर्तव्यता नृभिः ।
 तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

पर उन में से जो सब से उत्तम, विद्वान् ब्राह्मण है उसके साथ राजा छः गुण से सम्बन्ध रखने वाला उत्तम मन्त्र विचारे* ॥ ५८ ॥ सदा उस पर भरोसा करके सारे काम सौंपदे, उसके साथ निश्चय करके हर एक काम आरम्भ करे ॥ ५९ ॥ (मन्त्र के सहायक कह दिये, अब काम करने के सहायक बतलाते हैं) और भी अधिकारी बनावे, जो शुद्ध बुद्धिमान्, पक्के †, भली भान्ति धन के इकट्ठा करने वाले और अच्छी तरह परीक्षा किये गए हैं ॥ ६० ॥ इसके काम की आवश्यकता जितनों से पूरी हो सके, उतने अधिकारी बनावे, जो आलस्य रहित, उत्साह वाले, और काम करने में निपुण हों ॥

तेषामर्थं नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्भूतान् ।
 शुचीनां करकर्मन्ते भीरून्तन्निवेशने ॥ ६२ ॥
 दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
 हंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

उन में से जो चतुर, कुलीन, शुचि, पर साथ ही शूरवीर हैं, उन को धन (इकट्ठा) करने में लगए (अर्थात्) खानों में और कार-

* याज्ञ० १।३।१ † नारा० अवस्थितान्, के स्थान 'कुलोद्भूतान्' पाठान्तर भी बतलाता है ।

खानों में, पर जो भीरु हैं, उनको घरके भीतरी काम में लगाएँ ॥६२॥
और दूत का उसको अधिकार दे, जो सारे शास्त्रों में निपुण हो, इंगित
(इशारा) आकार (चेहरे की शकल) और चेष्टा (शरीर की हर-
कत) का जानने वाला हो, शुचि उत्साही और कुलीन हो ॥६३॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।

वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥

दूतएव हि संधसे भिनत्येव च संहतान् ।

दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा नवा ॥६६॥

साविद्यादस्य कृत्येषु निगूढेऽङ्गितचेष्टितैः ।

आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥

राजा का दूत वह अच्छा होता है, जो अनुरक्त + हो, शुचि, निपुण,
अच्छी स्मृति वाला, (जो काम उस के हाथ में है, उसके) देश
और काल को जानने वाला, सुन्दर शरीर, निर्भय और अच्छा बोलने
वाला हो ॥६४॥ सेना अमात्य (जो सेना के काम में नियुक्त है उस
अमात्य) के अधीन होती है, (और प्रजा का) बस में रखना सेना
के अधीन होता है, कोष और राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं,
सन्धि और उलट (युद्ध) दूत के अधीन होते हैं ॥६५॥ क्योंकि
दूत ही राजाओं को मिलाता है, और मिले हुएों को फोड़ता है,
दूत वह कर्म करता है, जिस से (राजे आपस में) फूट जाते हैं वा

* विष्णु ३।१८, २१। अनुरक्त = अनुराग वाला (Loyal) (मेधा-गोवि०

नहीं * (मिल जाते हैं) ॥६६॥ वह (दूत) इस (परराज) के जो कारोबार हैं, उनके विषय में उसके आकार, इंगित और चेष्टा को जाने, और उसके विश्वासियों के इंगित और चेष्टाओं से जो कुछ वह भृत्यों के विषय में करना चाहता है, उसे जाने ॥६७॥
 बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

परराज जो करना चाहता है, वह सब (दूत द्वारा) ठीक २ जान कर ऐसा प्रयत्न करे, जैसे वह अपनेको पीड़ा न दे सके ॥६८॥

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।

रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गवार्क्षमेव वा ।

गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।

एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।

राघ०) लोनों का प्यारा (कुल्लू०) ‡ 'भिद्यन्ते येन वा नवा' के स्थान नन्द० 'भिद्यन्ते येन मानवा' और गोवि० 'भिद्यन्ते येन बान्धवा' पढ़ता है, इसके अन वा बान्धव उससे फट जाते हैं। निगूढ़े गित चेष्टिते का अर्थ नारा० और गोवि० 'अपने इंगित और चेष्टाओं को छिपा कर उसके आकारादि को जाने' नन्द० के अनुसार 'ऐसे पुरुषों द्वारा जाने जिनके इंगित और चेष्टित गुप्त रहे' ॥ भृत्य = अपने नौकर बनाकर जो किसी बात से श्रुब्ध हैं, वा लोभी हैं, वा अपमानित हैं । राघ० गोवि० और नन्द० यह अभिप्राय लेते हैं, कि वह दूत ऐसा काम करे, जिससे अपने ऊपर वा अपने राजा के ऊपर कोई हानि न पड़े ।

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवंगमनरामराः ॥ ७२ ॥
 यथादुर्गाश्रितानेताभोपहिसन्ति शत्रवः ।
 तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥
 एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
 शतं दश सहस्राणि तस्मादुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

ऐसे देश में वात हरे जो जांगल* है, जहां अनाज बहुत है, जहां आर्य बहुत हैं, जो गंदा नहीं (जहां रोगादि नहीं होते) सुहावना है, जहां चारों ओर के अश्वीन सरदार आज्ञाकारी हैं, जहां (अपनी और प्रजा की) जीविका अच्छी हो सकती है ॥६९॥ पहाड़ों का दुर्ग, वा जल का दुर्ग वा वृक्षों का दुर्ग वा मनुष्यों का दुर्ग वा पहाड़ों के दुर्ग का आश्रय लेकर पुर में बने ॥७०॥ सारे प्रयत्न से पहाड़ के दुर्ग का आश्रय ले, क्योंकि बहुत गुणों वाला होने से पहाड़ का दुर्ग इन सब में बढ़िया है ॥७१॥ इन (छः प्रकार के दुर्गों) में से पहले तीनों का आश्रय मृग, विलों में रहने वाले (चूहे आदि) और जलचर लेते हैं, अगले तीनों का आश्रय क्रम से वानर मनुष्य और देवता लेते हैं ॥ ७२ ॥ जैसे यह जब अपने दुर्ग के आश्रित हों, तो शत्रु इनको केश नहीं दे सकते हैं, तैसे (इन) दुर्गों का आश्रय लिये राजा को शत्रु नहीं मार सकते हैं ॥७३॥ कोट (पनाह, फवील) पर खड़ा एक धनुर्धारी सौ के साथ युद्ध कर सकता है, और सौ दस हजार के साथ इसलिये दुर्ग बनाया जाता है ॥ ७४ ॥

तत्स्यादातुरान्यन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
 ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

* जांगल का पूरा लक्षण—जहां जल घास थोड़ा हो, वायु बहुत हो धूप बहुत हो, बहुत अनाज आदि से युक्त हो (गोविं० राघ० कुल्लू०)
 † याज्ञ १।३२० विष्णु ३।४५ षष्ठि ३।६ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
 गुप्तं सर्वतुर्कं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥
 तदध्यास्योदहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
 कुले महाति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥
 पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चत्विजम् ।
 तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतातिकाणि च ॥ ७८ ॥
 यजेत राजा ऋतुभिर्विविधैराप्तदाक्षिणैः ।
 धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

वह (दुर्ग) शस्त्रों से, धन से, बोझ दोने वाले पशुओं से, ब्राह्मणों से, कारीगरों से, यन्त्रों (कलों) से चारे और जल पूर्ण हो ॥ ७६ ॥ उसके मध्य में बहुत खुला अपना घर बनाए जो सब ओर से रक्षित हो, सब ऋतुओं (में रहने) के योग्य हो * शुभ हो, जल और वृक्षों से युक्त हो † ॥ ७६ ॥ उस में रहता हुआ स्त्री विवाहे, जो अपने वर्ण की हो, अच्छे लक्षणों वाली हो, बड़ी कुल में उत्पन्न हुई हो, मनोहर हो, सुरुपा हो, गुणों वाली हो ॥ ७७ ॥ पुरोहित बनावे और ऋत्विजों को चुने, और वह इस के गृह और श्रौत कर्म करें ॥ ७८ ॥ राजा पूरी दक्षिणा वाले अनेक प्रकार के यज्ञ करे, और धर्म के अर्थ ब्राह्मणों को भोग (भोग्यवस्तुएं) और धन देवे § ॥ ७९ ॥

* सब ऋतुओं के फल फूल आदि से युक्त (मेघा० गोवि० कुल्लू० राघ०)
 † आप० २। २५। २-३ वासि० १९। ३-६ गौत० ११। १२-१८
 बौध० १। १८। ७-८ याज्ञ० १। ३१२-३१३ विष्णु० ३। ७०
 § आप० २। २६। १ याज्ञ० १। ३१४ विष्णु ३। ८१, ८४ ॥

सांवत्सरिकमासैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् ।
 स्याच्चात्मायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥
 अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
 तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥
 आवृत्तानां गुरुकुलादिप्राणां पूजको भवेत् ।
 नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥
 न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
 तस्माद्ब्राह्म निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयोनिधिः ॥ ८३ ॥
 न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यतिकर्हिचित् ।
 वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

वार्षिक कर (Revenue) राज्य से विश्वासी पुरुषों द्वारा उगाहे; लोक में शास्त्र पर चले * और प्रजाजनों में पिता तुल्य वर्ते ॥ ८० ॥ अनेक प्रकार के अध्यक्ष (Supervisors) बनाए जो उसर (काम की अपनी २ शाखा) में निपुण हों, वह इस के कार्य कर्त्ता पुरुषों के सारे कार्यों को देखें ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण जो गुरु कुल से वापिस आए हैं, उनकी पूजा करे, क्योंकि ब्राह्मण में रखी (निधि) राजाओं की अनखुट्ट निधि कही है † ॥ ८२ ॥ न उसको चोर वा शत्रु हरते हैं, और न नष्ट होती है, इसलिये राजा को एक अनखुट्ट निधि ब्राह्मणों में रखनी चाहिये ॥ ८३ ॥ हाँ जो ब्राह्मण के मुख में होमी है, वह न कपी वह जाती है, न बिगड़ती है § न कभी नष्ट होती है, अतएव दूसरे अभिहोत्रों से बढ़कर है

* अर्थात् शास्त्र में कहे से अधिक कर वा अधिक काम न ले
 † याज्ञ १।३११ ‡ याज्ञ १।३१४ § न सुख जाती है (कुल्लू)
 बुःख नहीं उत्पन्न करती है (राघ० यही अर्थ वासि० ३।७ पर

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।

प्राधीते शतसाहस्र मनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धान्ततयैव च ।

अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

दान जो अब्राह्मण को (दिया) है, वह बराबर होता है * नाम मात्र के ब्राह्मण को दिया दुगुना फल देता है, अच्छे षट् को दिया स्र गुणा देता है, वेद के पार पहुंचे को दिया अनन्त फल देता है ॥ ८५ ॥ पात्र के गुणों के अनुसार और (दाता की) श्रद्धा के अनुसार दान का फल थोड़ा वा बहुत परलोकमें होता है

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।

न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसतो महीक्षितः ।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥

प्रजा का पालन करते राजा को बराबर का बढ़कर वा दुर्बल (कोई शत्रु युद्ध का) आह्वान दे, तो क्षात्र धर्म को

कृष्ण पण्डित ने लिया है) * मेधा० न ल्यबते=नहीं गिरती है, पाठ पढ़ता है, नारा० इस पाठ को मुख्यता देता है † उस वस्तु के देने का जितना फल शास्त्र बतलाता है, उतना (गोवि० कुल्लू० राघ०) दया के बग़र (नारा०) ‡ मेधा० नारा० प्राचीने के स्थान आचार्य पढ़त है * * गौत० ५ । २० ॥

स्मरण करता हुआ युद्ध से न हटे * ॥८७॥ संग्राम से न लौटना, प्रजाका पालन और ब्राह्मणों की सेवा, यह राजा के लिये कल्याण के सर्वोत्तम साधन हैं ॥ ८८॥ वह राजे, जो संग्राम में परस्पर एक दूसरे को मारना चाहते हुए पराङ्मुख न होकर पूरी शक्ति के साथ लड़ते हैं, वह स्वर्ग का प्राप्त हाते हैं ॥ ८९ ॥

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निं ज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥ ९१ ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नम्रं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षितम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थं मुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

रण में जब लड़ रहा है, तो धोखे के शस्त्रों से * शत्रुओं को न मारे, न नोकदार (फलों वाले) † न विष लिबड़ों, न अग्नि से जलते फाले वालों से § ॥ ९० ॥ (रण में) स्थल पर चढ़े ¶

* गौत० १० । १६ आप २ । २६ । २ बौधाय० १ । १८ । ९ याज्ञ १ । ३२२—३२३ विष्णु ३ । ४३—४५ ॥

† लकड़ी आदि के अन्दर छिपे हुए, वा घम आदि ‡ जिनका निकालना अन्दर से दूसरे मांस को भी खीरता आप § बौधाय० १।१८। १० ¶ लड़ाई छोड़कर अलग ऊँचे स्थल पर जा खड़ा है, (नाराज) आप रथ पर हो, तो भूमि पर खड़े को न मारे, (मेघा०, कु०, राघ०)

को न मारे, न नपुंसक को, न जिसने हाथ जोड़ दिये हैं न जिस के बाल बिखर गए हैं, न जो बैठ गया है, न उसको जो 'मैं तेरा हूँ' कह रहा है (शरणागत) है, * ॥ ९१ ॥ न सोए हुए को, न जिसका कवच टूट गया है, न नंगे १ को, न शस्त्र हीन को, न उसको जो आप न लड़ता हुआ केवल देख रहा है, न दूसरे के साथ जुटे को ॥ ९२ ॥ न जिसके शस्त्र टूट गए हैं, न जो (पुत्रादि के मरने से) पीड़ित है, न जो बहुत परितप्त (ज़खमी) हुआ है, न डरे हुए को, न लौटे हुए को (मारे), उत्तमों के धर्म को स्मरण करता हुआ (अर्थात् सच्चे योद्धा इनको नहीं मारते हैं) ॥ ९३ ॥ जो (क्षत्रिय) संग्राम में डरकर भागता हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह अपने स्वामी के सारे पाप को प्राप्त होता है, जो कुछ उसका है, † ॥ ९४ ॥ और इस लौटकर मारे गए का जो कुछ परलोक के लिये कमाया पुण्य है, उस सारे को स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् मित्रियः ।

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्विजितम् ॥९७॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।

अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो व्रन्रणे रिपून् ॥९८॥

* ९१-९३ गौत० १० । १८ आप० २ । १०-११ बौध० १ । १८ । ११ याज्ञ० १ । ३२५ १ नंगे से तात्पर्य लड़ाई में जिसकी टोपी आवि उतर गई है, वा 'भग्न' पाठ है, तो मन से भाँज खा गया है, मैं नहीं लड़ता हूँ, कह रहा है, (मेधा०) † ९४-९५ याज्ञ० १ । ३।२४ ।

रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन अनाज, पशु, स्त्रियों (स्नाने पीने के) सब पदार्थ (गुड़ लवण आदि) और चाँदी सोने से भिन्न धातें इनमें से जो जिसको जीतना है, वह उसकी है * ॥ ९६ ॥ (सिपाही अपनी) लूटका उत्तम भाग राजा को देवे, यह वैदिक श्रुति[†] है, और राजा ने भी जो अन्न (अकेले आप) नहीं जीता है, वह सब योधों को बाँट देना चाहिए ॥ ९७ ॥ यह योधाओं का निर्दोष सनातन धर्म बतलाया है, इस धर्म से सत्रिय को गिरना नहीं चाहिए, जब वह रण में शत्रुओं को मारता है ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्रयत्नतः ।

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थं प्रयोजनम् ।

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेद्वेक्षया ।

रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

जो अभी नहीं पाया है, उसके पाने की इच्छा करे, जो पालिया है, उसकी यत्न से रक्षा करे, सुरक्षित को बढ़ाए और बढ़े हुए को योग्यों में बाँट देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकार का पुरुषार्थ का साधन समझे, सावधान होकर इसको सदा अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥ जो अभी नहीं पाया है, उसको अपनी दण्डशक्ति (सेनाबल) से पाने की इच्छा करे, और जो पालिया है, उसको पूरे ध्यान से रक्षा करे सुरक्षित को वृद्धि के साधनों (जल, स्थल व्यापार, नहरों आदि) से बढ़ाए और बढ़े हुए को योग्यों पर बाँट दे।

* ९६-९७ गीत० १०। २०-२३ † देखो ऐतरेय ब्राह्मण ३। २१

:: चामि० २३। ६ याज्ञ० १। ३१६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
 नित्यं संवृत-सर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरे ॥ १०२ ॥
 नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्दिजते जगत् ।
 तस्मात्सर्वाणिभूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥
 अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया ।
 बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥
 नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
 गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥
 बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
 वृकवच्चावलुम्पेत् शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

उसका दण्ड * सदा तय्यार रहे, पुरुषार्थ सदा प्रकट हो,
 मन्त्र सारे सदा गुप्त रहें, और सदा शत्रु के छिद्रों का खोजी हो
 ॥ १०२ ॥ जिसका दण्ड सदा तय्यार है, सारा जगत् उस से डरता
 है, इसलिए सब जीवों को दण्ड से ही अधीन करे ॥ १०३ ॥ माया
 (छद्म कपट) के बिना ही वर्ते, माया से कभी न वर्ते, अपने आप
 को सदा ढाँपे रखकर † शत्रु से चलाई माया को जाने (अपने
 पक्ष की पूरी रक्षा करता हुआ शत्रुओं की माया को गुप्तचरों
 द्वारा जानता रहे, जिससे कि वह इसके अपने अधिकारियों वा
 भियन्ननों में फूट न उतरान कर सकें) ॥ १०४ ॥ इस के छिद्र को
 शत्रु न जाने, पर आप शत्रु के छिद्र को जाने, कछुए की तरह

* दुष्टोंको डाँटने के लिए, (नारा० नन्द०) दण्ड = सेना (मेधा०
 गोवि० कुल्लू०) † मेधा० 'स्वसंवृतः' के स्थान 'अतन्द्रितः'

(राज्य के) अंगों (मन्त्री आदि) को ढांपे रखे, और अपने छिद्र का बचाव करे ॥ १०५ ॥ बगले की तरह अपने प्रयोजनों में ध्यान रखे * शेर की तरह पराक्रम दिखलाए † भेड़िये की तरह झपटलेजाए ‡ और ससे (खरगोश) की तरह निकलजाए §॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।

तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।

दण्डेनैव प्रसह्येतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।

सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।

तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।

सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥

इसप्रकार विजय में लगे हुए राजा के जो विरोधी हों, उन सब को साम आदि (चार) उपायों से बस में लाए ॥ १०७ ॥

सावधान रहकर पढ़ता है, * इस देश को लेना है इस शत्रु को नीचा दिखाना है, इत्यादि † उसे शेर मत्त हाथी पर बेघड़क जा कूटता है, और मार डालता है, इसतरह निडर हो झपट कर प्रबल शत्रुओं को भी नीचे गिराए ‡ भेड़िया जैसे रखवालों के होते हुए भी जरा भी प्रमाद होने पर झपटकर पशु को लेजाता है, इसतरह अवसर पाते ही झपटकर छीन ले, § जैसे ससा अनेक शिकारियों को व्यामोह देकर निकलजाता है, इसतरह आवश्यकता के समय निकल जाए ॥

यदि वह पहले तीन उपायों से न ठहरें, तो केवल दण्ड (शक्ति) से दबाकर धीरे-२ उनको बल में लाए ॥ १०८ ॥ साम आदि चार उपायों में से पण्डितजन सदा साम और दण्ड को ही राज्य की वृद्धि के लिये सराहते हैं (साम में अपना कुछ क्षय नहीं होता और दण्ड में अपनी हानि तो होती है, पर कार्यसिद्धि अधिक होती है) ॥ १०९ ॥ जैसे चोना * घास को निकाल फेंकता है, और अनाज को रख लेता है, वैसे राजा राष्ट्र की रक्षा करे, और विरोधियों (चोर आदि) को मारे ॥ ११० ॥ जो राजा भूल से उतावली के साथ अपनी प्रजा को सताता है, वह जल्दी बान्धवों समेत राज्य से और जीवन से फिसल पड़ता है ॥ १११ ॥

शरीरकर्मणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्मणात् ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।

सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पांथेवः सुखमेवने ॥ ११३ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

जैसे शरीर को सताने से प्राणधारियों के प्राण नष्ट होते हैं, वैसे प्रजा के सताने से राजाओं के भी प्राण नष्ट होते हैं, (प्रजा की रक्षा अपने शरीर के तुल्य करनी चाहिये) ॥ ११२ ॥ राष्ट्र के शासन में सदा यह (अगला) नियम बने, क्योंकि जो राजा अपने राष्ट्र पर अच्छा शासन करता है, वह आसानी से बढ़ता है ॥ ११३ ॥ दो, तीन, पांच वा बहुत से गाओं * के मध्य में किसी (विश्वासी

* श्लोक में दृष्टे उगे अनाज और घास में से घास को चुन-२ कंद बाहर निकालने वाला * ग्राम शतानाम् = सौ गाओं के मध्य में । यहाँ शत = सौ बहुतों के अभिप्राय में है, पूरे सौ से नियम नहीं अर्थात् जितने गाओं में एक थाना रखने से काम ठीक चले । पर प्रायः दंडकाकारों ने स. गाओं ही अर्थ किया है । नारा० शतानाम् बहु-वचन से सौ वा दो सौ चार सौ आदि भी लेता है ॥

अधिकारी) के अधिकार में राष्ट्र के शासन (चोरादि से रक्षा और कर आदि के उगाहने) के लिए एक स्थानक (थाना) बनाए ॥

ग्रामस्थाधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।

विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।

शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।

शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।

अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पंच कुलानि च ।

ग्रामं ग्राम शताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

एक गाओं का अधिपति बनाए, ऐसे ही (उन दसों पर) दस ग्राम का अधिपति, बीस का अधिपति, सौ का अधिपति और सहस्र का अधिपति * ॥ ११५ ॥ ग्राम का अधिपति अपने ग्राम में उत्पन्न हुए दोषों का स्वयं क्रमवार दस ग्राम के अधिपति को पता दे, † दस का अधिपति बीस के अधिपति को ॥ ११६ ॥ बीस का अधिपति वह सब सौ के अधिपति को निवेदन करे, सौ का अधिपति सहस्र पति को स्वयं निवेदन करे ॥ ११७ ॥ ग्राम वासियों ने जो अन्न पान लकड़ी आदि

* ११५-१२४ आप० २। २६। ४-१ याज्ञ० १। ३३७ विष्णु० ३। ७-१५ † जो आप सुलझा लिए हैं, उनका भी, और जो अभी नहीं सुलझे, वा उससे सुलझने कठिन हैं, उनका भी

* प्रतादेन राजा को देने होते हैं, उनको ग्राम का अधिपति (वृत्ति के लिए) लेवे ॥ ११८॥ दस का अधिपति कुल १० को भोगे, बीस का अधिपति पांच कुलों को, सौ ग्राम का अध्यक्ष एक ग्राम को, सहस्र का अधिपति पुर को (भोगे) ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैवाहि ।

राज्ञोऽन्यःसचिवः स्निग्धस्तानिपश्येदतन्द्रितः॥१२०

नगरेनगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।

उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।

तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्ग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

राज्ञोहि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।

भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्योरक्षेदिमाः प्रजाः॥१२३॥

ये कार्थिभ्योर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।

तेषांसर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

इन (अधिकारियों) के जो ग्रामसम्बन्धी कार्य हैं, और उनके अलग कार्य ‡ हैं, उनको राजा का एक और मन्त्री देखे, (जो राजा प्रजा दोनों का) हितैषी हो और (अपने काम में) आलस्य से रहित हो ॥ १२० ॥ और नगर २ में एक ऐसा ऊँचे दर्जे का पुरुष जो उग्ररूप (रोब दाबवाला) नक्षत्रों में ग्रह

*न कि वार्षिक कर आदि † कुल पारिवारिक शब्द है ग्राम का एक भाग जोकि किन्हीं ग्रान्तोंमें घट्ट और किन्हीं में उष्ट्र प्रसिद्ध है, (मेघा० जितनी भूमि चारह बैलों से जोती जासकती है, (गोवि०, कुल्लू०, नारा०, राघ०) जितनी एक किसान का भाग है, (नन्द) ॥

‡ उनके आपस के झगड़े (नारा०) § ग्रह=प्रधान ग्रह शुक्रादि (कुल्लू०, राघ०) मंगल (मेघा०) खम्ब (नन्द०) सूर्य (गोवि०)

की तरफ (तेजस्वी) हो उसको सारे कार्यों का निरीक्षक नियुक्त करे ॥ १२१ ॥ वह स्वयं सदा उन सब (अधिपतियों) का बारी से दौरा करे, और उन पर छोड़े गुप्तचरों से अपने २ प्राक्तों में उनके बर्ताव की पूरी जांच करे ॥ १२२ ॥ क्योंकि राजा के नौकर जो (लोगों की) रक्षा के लिए नियत किये गए हैं, वह प्रायः दूसरों का धन लेने वाले ठग बन जाते हैं, उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १२३ ॥ उनका सारा धन लेकर राजा उनको देश से बाहर निकाल दे, जो पापी हृदय वाले कार्यवाजों से (रिश्वत के तौर पर) धन लेंगे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।

प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

पणो दयोऽवकृष्टस्य षड्वकृष्टस्य वेतनम् ।

षाण्मासिकस्तथाच्छादोधान्यद्रोणस्तुमासिकः ॥ १२६ ॥

(राजकीय) सेवा में युक्त स्त्रियों (दासियों) और नौकरों चाकरों की उनके दर्जे और काम के योग्य प्रतिदिन की जीविका निश्चित करे ॥ १२५ ॥ निचले (संमार्जन=झाड़ने आदि के काम में नियुक्त) दास को एक पण* और छः महीने पीछे पोशाक और हर महीने अनाज का एक द्रोण † देना चाहिए । और ऊंचे भृत्य को छः पण ‡ देवे ॥ १२६ ॥

* पण देखो आगे ८ । १३६ † द्रोण=छः आदक=०२४ मुट्ठी
‡ छः षण्मास प्रतिदिन, इसी प्रकार छः पोशाक छः महीने पीछे और छः द्रोण प्रतिमास अनाज । इसी रीति पर मध्यम को निकृष्ट से सब कुछ तिगुना ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
 योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥
 यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
 तथाऽप्रेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥
 यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
 तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्धिकःकरः ॥१२९॥

खरीद और विक्री (का भाव), मार्ग (की दूरी), खुराक
 (का खर्च), छोटे २ खर्च, और योगक्षेम * देखकर व्यापारियों
 पर कर लगाए ॥ १२७ ॥ राजा यह सोचकर सदा देश में कर
 नियत करे, कि जिससे राजा और उन कर्मों के कर्त्ता दोनों फल
 से युक्त हो ॥ १२८ ॥ जैसे जोक, बछड़ा और भौरा थोड़ी २
 खुराक खाते हैं, वैसे राजाको थोड़ा २ वार्षिक कर लेना चाहिए ॥

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
 धान्यानामष्टमो भागः पष्ठो द्वादशएवच ॥१३०॥
 आददीताथ षड्भागं दुमांसमधुसर्पिषाम् ।
 गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥
 पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
 मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्मस्य च ॥१३२॥

पशु और मोने का पचासवां भाग (लाभ से) राजा को
 लेना चाहिए, अनाज का आठवां छठा वा बारहवां भाग †

* मार्ग वा स्थान पर चोर डाकुओं से रखवाली और और
 दूटने फूटने से रखवाली के खर्च ।

† वासि० २९ । २६-२७ गौत० १० । २४-२७ आप० २ । २६

॥१.३०॥ वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, ओषधि, रस (लवणआदि) पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, घास, चमड़ा बैत की बनी वस्तु, मट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी हरएक वस्तुका छटा भाग लवे ॥

प्रियमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।

न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१.३३॥

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।

तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १.३४ ॥

(भूख से) मरता हुआ भी राजा श्रोत्रियसे कर न लेवे, और न ही इस के देश में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित हो * ॥ १.३३ ॥ क्योंकि जिस राजा के देश में श्रोत्रियसे भूख से पीड़ित होता है, उसका राष्ट्र भी जल्दी भूख से पीड़ित होता है ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्या प्रकल्पयेत् ।

संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १.३५ ॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्ममन्वहम् ।

तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १.३६ ॥

इसका शास्त्र ज्ञान और आचरण (की पाबित्रता) जानकर धर्म युक्त वृत्ति नियत करे सब ओर इसकी रक्षा करे, जैसे पिता और पुत्र की (रक्षा करता है) ॥ १.३५ ॥ राजा से रक्षा किया हुआ (ऐसा ब्राह्मण) प्राप्तिदिन जो धर्म करता है, उससे राजा की आयु, धन और राष्ट्र बढ़ता है ॥ १.३६ ॥

९ बौद्धाः १।१८। १.३३ १५ विष्णु ० ३ । ३२-३५, २९-३० कई अनाजों पर थोड़ा कह्यो पर बहुत बड़ा परिश्रम करना होता है । वा किसी जगह वर्षा पर्याप्त होती है, किसी जगह थोड़ी होती है, * वासि ० १९ । २३ गीत ० १० । ९ आप ० २ । २६ १०, २५ ११ विष्णु ० ३ । २६, ७९ १३५-१३६ याज्ञ ० ३ । ४४ ।

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
 व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥
 कारुकाञ्जिलिपिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
 एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥
 नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
 उच्छिन्दन् ह्यात्मनोमूलमात्मानं तांश्चपीडयेत् ॥ १३९ ॥
 तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
 तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥
 अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
 स्थापयेदासने तास्मिन्स्त्रिभुवनः कार्येक्षणेनृणाम् ॥ १४१ ॥
 एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
 युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥
 विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रादाघ्नियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
 संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥
 क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
 निर्दिष्टफलभोक्ताहि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

(शाक पञ्चादि के) व्यवहार से जीवन करते हुए साधारण
 पुरुष से राजा यत् किञ्चित् भी नाम मात्र कर दिलाए ॥ १३७ ॥
 शिकारी, कारीगर, (लोहार आदि) और मजदूरी पर जी-
 विका करनेवाले शूद्र, इनसे राजा महीमा २ एक २ कर्म (कर के

तौर पर) कराळे * ॥१३८॥ न अपना मूल काटे (कर न लेने से) और न दूसरों का [प्रजाजनों] का अतिवृष्णा से, क्योंकि अपना मूल [वा प्रजा का मूल] काटता हुआ अपने आपको और उनको पीड़ा देता है ॥ १३९ ॥ राजा (हर एक) कार्य को देखकर तीक्ष्ण और मृदु होके, तीक्ष्ण और मृदु राजा सब का प्यारा होता है ॥ १४० ॥ जब (राजा प्रजाजनों के) कार्य देखने में थक जाए तो, धर्म के जाननेवाले, बुद्धिमान + जितेन्द्रिय, कुलीन मुख्य मन्त्री को उस आसन (न्यायासन) पर बिठलाए * ॥१४१॥ इसप्रकार अपने (शासन के) सारे कार्य का विधान करके उद्योगी और अप्रमत्त होकर इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १४२ ॥ जिसके राष्ट्र से (अपनी सहायता के लिए) चिल्लाती हुई प्रजाएं डाकुओं से छिनी जाती हैं, और राजा और उसके भृत्य (चुप चाप) देखते रहते हैं, वह (राजा) मर हुआ है, जीता नहीं है ॥१४३॥ सन्निवृत्त का परम धर्म प्रजा का पालन ही है बतलाए फल (प्रजा की पूरी रक्षा करके मर्यादाका कर) भोगने वाला राजा धर्म से युक्त होता है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।

हुताग्निर्ब्राह्मणार्च्यप्रविशेत्सशुभांसभाम् ॥१४५॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।

विसृज्य च प्रजाः सर्वाः मन्त्रयेत्सहमन्त्रिभिः ॥१४६॥

* यासि० १९। २८ गीत० १०। ३१ विष्णु० ३। ३२ + प्राक्, के स्थान मेघा० शान्तं पठता है * याज्ञ० २। १-२ विष्णु० ३। ७३-७४ § १४२-१४४ यासि० १९। १ गीत० १०। ७-८ आप० २। १०६ बौध० १। १८। १ याज्ञ० १। ३३४-३३५ विष्णु० ३। १

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
 अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥
 यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
 स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः १४८
 जडमृकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
 स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यंगान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥
 भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च ।
 स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतोभवेत् ॥ १५० ॥

रात के पिछले पहर उठकर, शौच करके, एकाग्र हो, होम करके, और ब्राह्मणों को पूज करके शुभ सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥ वहाँ स्थित हुआ (दर्शन के लिए आई) सारी प्रजाओं को मधुर-संभाषण करके विसर्जन करे सारी प्रजाओं को विसर्जन करके मन्त्रियों के साथ विचार करे ॥ १४६ ॥ पर्वत की पीठ पर वा प्रासाद(महल)पर चढ़कर एकान्त हो, अथवा एकान्त*जंगल में बेमालूम मन्त्र विचारे ॥ १४७ ॥ जिसके मन्त्र को दूसरे लोग मिल करके नहीं जान पाते, वह राजा सारी पृथिवी को भोगता है, चाहे कोश से हीन भी हो ॥ १४८ ॥ मूढ़, गूंगे, अन्धे, बाहिर तिर्यग्योनि वाले (तोते, मैना, आदि) स्त्री, म्लेच्छ, रोमी और अंगहीन को मन्त्र काल में अलग कर दे ॥ १४९ ॥ (ऐसे) हीन पुरुष तथा तिर्यग्योनि वाले और विशेषतः स्त्रियें मन्त्र को फोड़ देती हैं, इसलिए इसमें (इनके अलग रखने में) यत्नवाला हो ॥ १५० ॥

* निःशलाके = जहाँ तिनका नहीं, अर्थात् अपने सिवाय और कोई नहीं, † १४७—१४८ याज्ञ० ३४३।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेकएव वा ॥१५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।

कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१५२॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।

अन्तःपुर प्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।

अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

दोपहर के समय वा आधीरात के समय जब मन और शरीर में कोई थकावट न हो, तब उन (मन्त्रियों) के साथ वा आप अकेले अपने धर्म, धन, और भोगों का विचार करे ॥१५१॥ यह जो (मायः) आप में विरुद्ध होते हैं, इनका (विरोध हटा कर) इकट्ठा कमाना, कन्याओं का (योग्य वर को) देना, और (राज-) कुमारों की रक्षा (दोषों से और दुष्ट संगों से बचाना और शिक्षा दिलाने) का (चिन्तन करे) ॥१५२॥ (दूसरे राज्यों में) दूत का भेजना, (प्रारब्ध) कार्य की समाप्ति, अन्तःपुर (की स्त्रियों) की प्रवृत्ति, और अपने गुप्तचरों की चेष्टाओं को (अन्य) गुप्तचरों द्वारा (जाने) ॥१५३॥ आठ प्रकार का कर्म *

* आठ प्रकार का कर्म कामन्दकी नीति के अनुसार—खेती, व्यापार, दुर्ग बनाने, पुल बनाने, हाथियों का बांधना, खानों का खुदवाना, जंगलों की लकड़ी का व्यापार और सेना की छावनियें डालनी ॥ आठ प्रकार का कर्म उशना के अनुसार, कर आदि का लेना, भृत्य आदि को मासिक वा पारितोषिक आदि देना, देश वृद्धि के कार्यों

समग्र पांच का समुदाय, १० अनुराग और अपराग, ‡ और मण्डल
§ की प्रवृत्ति को ठीक २ विचारे ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।

उदासीन-प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।

में लोगों को प्रेरणा, हानिकारकों से रोकना, अपने कामों की कठि-
नाइयों को सुलझाना, व्यवहार का देखना, दुष्टों को दण्ड देना,
शुद्धि ॥ टीकाकारों में से नन्द ने कामन्दक के अनुसार लिखा है,
गोवि०, कुल्लू०, राघ०, नारा०, राम० ने उद्याना के अनुसार लिखा है
मेघा० ने यह दोनों मत बतला दिए हैं, और तीसरा मत यह भी
बतलाया है, नए काम का आरम्भ, आरब्ध का पूरा करना, पूरा किए
को और उन्नत करना, कर्म का फल उठाना, साम, दान, दण्ड और
भेद । पांच का समुदाय—इसमें टीकाकारों ने दो मत दिखलाए
हैं—एक तो यह कि यह पांच प्रकार के गुप्तचर हैं, कापटिक=
बनावटी विद्यार्थी, जो विद्यार्थी होने के हेतु बिना रोक टोक सब से
मिल सकें। उदास्थित=बनावटी साधु, गृहपति=किसान, वैदेहिक
=व्यापारी, तापस=तपस्वी । यह सब प्रगल्भ पुरुष हों, जो अपना
मेल जोल बढ़ा सकें। और सब प्रकार के विचारों से मन्त्री को
सूचित करते रहें । अथवा दूसरा अभिप्राय पांच के समुदाय से
यह लिखा है, कर्मों के आरम्भ का उपाय, उसके चलाने के काम
करनेवाले पुरुषों और धन की संपदा, रुकावटों का इलाज, देश
काल का विभाग, और कार्य की सिद्धि धीरे अपनी प्रजा का अपने में
अनुराग और उससे उलट अपराग । इसी प्रकार दूसरे राजों की
प्रजा का अनुराग अपराग भी जाने § बारह प्रकार का मण्डल (जो
आगे १५५—१५६ में कहेंगे, इसकी प्रवृत्ति—अर्थात् उनमें से कौन
राजा किसी दूसरे राजा के साथ सन्धि विग्रह आदि क्या करना
चाहता है ।

अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताःस्मृताः ॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थिदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।

प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

मध्यम (राजा) की प्रवृत्ति, विजिगीषु की चेष्टा, उदासीन की प्रवृत्ति और शत्रु के साथ शत्रु की (प्रवृत्ति को जाने) *॥ १५५ ॥ यह चार प्रकृतियों संक्षेप से मण्डल का मूल है, और आठ और कही हैं, यह सब बारह (प्रकृतियों) कही हैं † ॥ १५६ ॥ इनमें से फिर एक २ के साथ पांच २ और कही हैं—मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग,

* १५५—१५९ याज्ञ० १। ३४४ विष्णु० ३। ३८ अपना राज्य और अपने पड़ोस और पड़ोसियों के पड़ोस के जो राज्य हैं, इन सब के राजाओं का एक नाम राजमण्डल है। हर एक राजा का यह कर्तव्य है, कि वह निरा अपने राज्य से ही अभिन्न न हो, किन्तु सारे राजमण्डल से पूरा २ अभिन्न हो। यह राजमण्डल मानों एक शरीर है, इसके अंग इसकी प्रकृतियाँ कहलाती हैं। यह प्रकृतियाँ संक्षेप से कहें, तो चार प्रकार की हैं, विस्तार से कहें, तो १२ प्रकार की हैं, पूरे विस्तार से कहें, तो ७२ प्रकार की हैं। जो क्रमशः १५५, १५६, १५७ श्लोकों में कही हैं। इनमें से मुख्य चार यह हैं—विजिगीषु, शत्रु, मध्यम, और उदासीन। विजिगीषु=बुद्धि और उत्साह से भरा हुआ, जो अधिक देश पाने के लिए उमंगों से भरा है, कोई अवसर व्यर्थ जाने नहीं देता है। शत्रु तीन प्रकार का होता है। सहज, कृत्रिम और भूम्यन्तर। सहज=स्वाभाविक—बड़ों से जिस के साथ वैर आरहा है। कृत्रिम=जिसकी शत्रुता का कोई विशेष कारण हुआ है। भूम्यन्तर=जिसके साथ अपनी सीमा टकराती है। मध्यम, जो विजिगीषु और उसके शत्रु के मध्य में है, जो यूँ तो किसी के भी दबाने में असमर्थ है, पर जब वह दोनों आपस में लड़ रहे हों, तो दबा सकता है। उदासीन जो न शत्रु है, न मित्र, (देखो कामन्दकी नीतिसार ८। १८ और आगे १५८) † यह आठ कामन्द

कोश, और सेना । इसप्रकार यह सब (१२ असली और हरएक के साथ की पांच २ (अर्थात् ६० मिलाकर) बहत्तर कही है ॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।

अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।

व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चितयेत्सदा ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।

कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।

उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अपने पड़ोसी (जिसकी राज्य-सीमा अपनी राज्य-सीमा से टकराती है) को शत्रु (के तौर पर) समझे, और (ऐसे) शत्रु के साथी को भी (शत्रु समझे) अपने शत्रु के पड़ोसी (मिलती

की नीतिसार ८।१६—१७ के अनुसार इसप्रकार हैं । (क) विजिगीषु के लिये, शत्रु की भूमि के अगली ओर (१) मित्र (२) शत्रु का मित्र, (३) मित्र का मित्र, (४) शत्रु के मित्र का मित्र, (ख) पिछली ओर (१) पार्श्वग्राह (= पड़ी पकड़ने वाला अर्थात् आप अगले देश पर चढ़ाई करे, तो पीछे उसके देश पर चढ़ाई करने वाला) (२) आक्रन्द (पार्श्वग्राह पर हमला करनेवाला) (३) पार्श्वग्राहोंसार [पार्श्वग्राह का सहायक) आक्रन्दासार (आक्रन्द का सहायक) ॥

सामा बाले) को अपना मित्र (समझे) इन दोनों (शत्रु मित्र) से जो परे (अलग) है उसे उदासीन (न शत्रु न मित्र) समझे ॥ १५८ ॥ इन सब को यथा सम्भव मिले हुए वा अलग २ (प्रयोग किए) साम आदि (चार) उपायों से दृढ़ में लावे, अथवा केवल बहादुरी और नीति से ॥ १५९ ॥ सन्धि (मेल) विग्रह (युद्ध) यान (चढ़ाई) आसन (ठहरे रहना) द्वैधी भाव (विभक्त होना=अलग २ होजाना) और संश्रय (किसी का सहारा लेना) इन छः गुणों को सदा चिन्तन करे * ॥ १६० ॥ और कार्य (की सिद्धि) का पूरा ध्यान करके आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैध और संश्रय का प्रयोग करे ॥ १६१ ॥ राजा, सन्धि और विग्रह दो प्रकार का जाने, यान और आसन भी दो प्रकार के, और दो ही प्रकार का संश्रय माना है ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।

तदात्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥

स्वयं कृतञ्च कार्यार्थमकाले कालएव वा ।

मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहःस्मृतः ॥१६४॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।

सहस्य च मित्रेण द्विविधं यान मुच्यते ॥१६५॥

उस समय वा भविष्यत् के लाभ के लिए दो प्रकार की सन्धि जाननी चाहिए, कुछ दूर चढ़ाई करने से हुई, वा उलट अपने स्थान पर बैठे रहने (से हुई)† ॥१६३॥ विग्रह दो प्रकार का

* १६०—१६१ याज्ञ० १।३४५—३४६ विष्णु० ३।३९ † दूसरे के साथ मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना वा एक ओर से आप और दूसरी ओर से अपने साथी का चढ़ाई करना यह दो प्रकार की सन्धि है,

माना गया है, जो (लड़ाई के) समय * पर वा बिना समय के किया गया है, एक अपने कार्य के लिये स्वयं किया, दूसरा (जब किसी ने) मित्रका अपकार किया हो, (तो बदला लेने के लिए)
॥ १६४ ॥ अस्मात् अत्यावश्यक कार्य पड़ने पर † अकेले का वा मित्र के साथ मिलकर (शत्रु पर) चढ़ना दो प्रकार का यान कहलाता है ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

दो प्रकार का आसन माना गया है, एक तो दैव से वा पूर्ण कर्म ‡ से जब दुर्बल हो तब, दूसरा मित्र के अनुरोध से ॥ १६६ ॥ कार्य सिद्धि के लिए सेना की और स्वामी की अलग अलग स्थिति करनी यह छः गुण के जाननेवालों से दो प्रकार का द्वैध कहा गया है § ॥ १६७ ॥ दो प्रकार का संश्रय माना

(कुल्लू०) * लड़ाई का समय देखो १८२ † शत्रु का व्यसन देखकर

‡ दैव से=अतिवृष्टि आदि वा मरी आदि से राष्ट्र दुर्बल हो, पूर्व कर्म=अपने किसी किए पहिले काम से, वा शत्रु के किए काम से दुर्बल हुआ हो § अर्थात् सेनापति समेत सेना का शत्रु को रोकने के लिए सामने डट जाना, और राजा का चुने सिपाहियों के साथ एक साथ दूसरी ओर से हमला आकरना एक द्वैध-राजाका सामने डटजाना और सेनापति का दूसरी ओर से हमला आकरना दूसरा द्वैध (नारा०) सेनापति का सेना समेत सामने डटना, और राजा का किले में रहना, एक द्वैध इससे विपरीत स्थिति दूसरा द्वैध है ।

गया है, एक तो जब शत्रु से पीड़ित हो रहा है, तब अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, दूसरा (यह अमुक राजा के आश्रित है ऐसा) भलों में प्रसिद्ध करने के लिए (जिससे कि उस पर कोई हमला न करे) ॥१६८॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदासन्धिंसमाश्रयेत् ॥१६९॥

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदाकुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।

परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्राति ॥१७१॥

जब राजा भविष्यत् में निःसन्देह अपनी अधिकता और उस समय (युद्ध) में थोड़ी क्षति समझे, तब सन्धि कर लेवे ॥ १६९ ॥ जब अपनी (मन्त्री आदि) सारी प्रकृतियों को उत्साहित * जाने, और अपने आपको बहुत ऊंचा (सारी शक्तियों से उन्नत) समझे, तब विग्रह करे ॥ १७० ॥ जब उत्साह से अपनी सेना को हृष्ट पुष्ट और शत्रु की (सेना को) उलटा समझे, तब शत्रु पर चढ़ाई करे यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।

तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१७२॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१७३॥

* छपे पुस्तकों में 'प्रहृष्टाः' पाठ है। पर जो अर्थ टीकाकारों ने लिये हैं, उससे 'प्रहृष्टाः' नहीं, 'प्रहृष्टा' होना चाहिए, सो वैसा

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१७४॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।

उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।

सयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

पर जब वाहन (भार ढोने वाले पशु) और (सेना-)

बल से दुर्बल हुआ २ हो, तो धीरे २ शत्रुओं को तसल्ली देता

हुआ ठहरा रहे (आसन बर्त्ते) ॥ १७२ ॥ जब राजा शत्रु को

सर्वथा बलवत्तर समझे, तब सेना को दो भाग में करके अपना

कार्य साधे ॥१७३॥ जब दूसरी शक्तियों का आसानी से आक्रमण

करने योग्य होजाए, तब जल्दी किंती धार्मिक बलवाले राजा का

आश्रय ले ले ॥ १७४॥ जोकि अपनी प्रकृतियों का और शत्रु की

सेना का निग्रह कर सके, उसको रुदा सारे यत्नों से गुरु की तरह

सेवन करे ॥१७५॥ यदि वहां भी दोष देखे, जिसका कारण सहारा

लेना हुआ है, तो निःशंक होकर वहां भी वह युद्ध ही करे ॥१७६॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।

यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥

आयति सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।

ही रक्खा है ॥ गोवि० के अनुसार यह पाठ 'सयुद्धं' है । मेधा० कुल्लू०, राघ०, नन्द के अनुसार 'सयुद्धं' है । पर पहले पाठ में अर्थ अधिक स्पष्ट है, इस लिये वह रक्खा है ॥

अतीताना च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

नीति का जाननेवाला राजा सारे (चारों) उपायों से ऐसा यत्न करे, कि जिससे इसके मित्र उदासीन और शत्रु बहुत बढ़ न जाएं ॥१७७॥ सारे कार्यों का भविष्यत् और वर्त्तमान विचारें, और होचुके सारे कार्यों के गुण दोषों को ठीक २ विचारें ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभि भूयते ॥१७९॥

यथैतं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।

तथा सर्वं संविदध्यादेश सामासिको नयः ॥१८०॥

भविष्यत् में गुण दोष के जानने वाला, वर्त्तमान में जल्दी फैसला करनेवाला, और होचुके में कार्यशेष (अवशिष्ट कर्त्तव्य) का जाननेवाला शत्रुओं से नहीं दबाया जाता है ॥ १७९ ॥ इसप्रकार सारा विधान करे, कि जैसे इसको मित्र, उदासीन और शत्रु हानि न पहुंचा सके, यह संक्षेपतः नीति है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिषट् प्रति प्रभुः ।

तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।

फाल्गुणं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१८२॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदापश्येद्भ्रुवं जयम् ।

तदायायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

जब राजा शत्रु के राष्ट्र पर चढ़ाई करे, तो इस विधि से

धीरे २ शत्रु के पुर की ओर जाए ॥ १८१ ॥ शुभ मास * मंग-
सिर में, वा फाल्गुण चैत्र महीनों में, अपनी सेना (शक्ति) के
अनुसार राजा चढ़ाई करे † ॥ १८२ ॥ और कालों में भी जब
अपना निःसन्देह विजय देखे, वा शत्रु का कोई व्यसन (छिद्र)
उत्पन्न हो जाए, तो लड़ाई छेड़कर चढ़ाई करे ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।

सांपरायिक-कल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

मूल (अपने असली राज्य) में प्रबन्ध करके (ताकि पीछे कोई
गड़बड़ न हो वा कोई दूसरा न चढ़ आए) और यथाविधि यात्रा की
सारी सामग्री को साथ लेकर ‡ गुप्तचरों को भली भान्ति (शत्रु
के देश में) लगाकर तीन प्रकार के मार्ग § को और छः प्रकार
की अपनी सेना ¶ को शोधकर युद्ध के योग्य विधान से धीरे २
शत्रु के पुर को जाए ॥ १८४, १८५ ॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

* शुभ इसलिए, मंगसिर में नया अनाज बहुतायत से हांजाता है,
और मार्ग सुखे होते हैं † याज्ञ० १।३।४७ विष्णु० ३।४०
‡ शत्रु के भूत्यों को अपने अधीन करके (मेघा०, गोवि०, कुल्लू०,
राघ०) दूसरे राज्य में अपनी छावनी डालकर (नारा०) § तीन प्रकार
के मार्ग—उजाड़ के दलदलों के और जंगलों के (मेघा० गोवि० कुल्लू०
राघ० नन्द०) गाओं, जंगलों और पर्वतों के (नारा०) ¶ छः प्रकार
की सेना, हाथी, घोड़े, रथ प्यादे, सेनापति और काम करनेवाले
(मेघा०, गोवि०, कुल्लू०, राघ०) और देखो कामन्दकी नीतिसार १६।६।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तुशकटेन वा ।
 वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥
 यतश्च भयमाशंकेत्ततो विस्तारयेद् बलम् ।
 पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत् सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥
 सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
 यतश्च भयमाशंकेत् प्रार्चीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥

जो गुप्त तौर पर शत्रु का सेवन करनेवाला है ऐसे मित्र के विषय में तथा जो (भूय शत्रु के पास) जाकर फिर आया है, उसके विषय में पूरा सावधान हो, क्योंकि वह कष्टतर शत्रु है (यदि शत्रुता करे, तो बड़ी हानि पहुंचाता है) ॥ १८६ ॥ दण्ड व्यूह से, वा शकट से, वा वराह और मकर से, वा सूची से, वा गरुड से, मार्ग पर चले * ॥ १८७ ॥ जिस ओर से भय की शंका हो, उस ओर सेना को फैलाए, स्वयं सदा पद्म-व्यूह † से छावनी डाले

* व्यूह=निवेश=सफबन्दी=युद्धक्षेत्र को जाते समय वा युद्ध करते समय सेना का निवेश-सफबन्दी (arraying his troops) यह व्यूह जिस आकार का हो, उसी नाम से बोला जाता है । दण्ड के आकार का व्यूह=दण्डव्यूह अर्थात् आगे सेनाध्यक्ष, मध्य में, राजा, पीछे सेनापति, दाएं बाएं हाथी उनके पास घोड़े, फिर प्यादे, इसप्रकार सब ओर से तुल्य रचना वाला लम्बायमान व्यूह दण्ड व्यूह है । इसीप्रकार दूसरे व्यूह भी अपने २ नाम के सदृश हैं । शकट=छकडा=पिछली ओर स्थूल, वराह=सूअर=आगे पीछे मूखन मध्य में स्थूल । मकर=मगर=मुख और जघनमें स्थूल, सूची=सूई-पगली लम्बी पंक्ति, गरुड=मध्य में पंखों की तरह दूर तक फैली हुई । सविस्तर देखो कामन्दकी नीतिसार अध्याय १९ † पद्म व्यूह=कमल की सी रचना-चारों ओर गोल वृत्त में सेना को फैला राजा केन्द्र में रहे ॥

॥ १८८ ॥ सेनापति और सेनाध्यक्ष का सब दिशाओं में स्थापन करे, और उस दिशाको सामने रखे जिससे भय की आशंका हो ॥

गुल्मांश्च स्थापेयदासान् कृतसंज्ञान्समन्ततः ।

स्थाने युद्धे च कुशलानभीरुनविकारिणः ॥ १९० ॥

संहतान्योध्येदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।

सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।

वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान् ।

दीर्घालवूश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ॥ १९३ ॥

प्रहर्षयेद्बलंव्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।

चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योध्यतामपि ॥ १९४ ॥

चारों ओर सिपाहियों के दल स्थापन करे, जो विश्वासी हों, (लड़ने ठहरने आदि के लिए भेरी आदि के शब्द आदि का) सङ्केत किए हुए हों, ठहराव और युद्धमें कुशल हों (अवसर न चूकें) भीरु न हों, और बिगड़ने वाले न हों ॥ १९० ॥ थोड़ों को इकट्ठा करके युद्ध कराए, बहुत हों तो बेशक फैलादे, सूची वा वज्र व्यूह से रचना करके इनको लड़ाए ॥ १९१ ॥ समस्थल में रथ और घोड़ों से युद्ध करे, पानी वाले स्थान में नौका और गधियों से वृक्ष और झाड़ियों से घिरे स्थान में धनुषों से, स्थल* में तल-

* स्थल = पत्थर वृक्ष झाड़ी गढे आदि रहित देश (मेघा०, गोवि०, कुल्लू०) पर्व तस्थल (राघ०)

बार ढाल और (भाले आदि) शस्त्रों से ॥ १९२ ॥ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन (देश) वासियों को * और भी लम्बे बौनों (जान तोड़ कर लड़नेवालों) को सेना के आगे जोड़े ॥ १९३ ॥ अपनी सेना को व्यूह रचना में लाकर उनको (उत्साह भरे वचनों से) उत्साहित करे, और सावधानी से उन की परीक्षा करे, और शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुआ की चेष्टाओं को जाने ॥ १९४ ॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।

समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।

युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

शत्रु को रोककर बैठे, इसके राष्ट्र को तंग करे, और लगातार इसके चारे जल इन्धन को बिगाड़ दे (रस्ते रोककर जाने न दे) ॥ १९५ ॥ (पानी के) तालाब, कोट (शहर पनाह) और खाइयें तोड़ डाले, (जहाँ से दाव लगे) उस पर हमला करे और रात्रि के समय डराए (ढोल आदि बजाकर, वा गोले आदि छोड़कर) ॥ १९६ ॥ फोड़ने योग्यों (शत्रु के मन्त्री आदि, वा भाई आदि) को फोड़ देवे, और उस (शत्रु) से किए (फोटक) को समझे, और जब दैव अनुकूल हो, तब निर्भय हो जय की इच्छा से लड़े

* मत्स्य=विराट् देश जयपुर के उत्तर में, पञ्चाल=कनौज, शूरसेन = मथुरा प्रान्त ।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
 विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥
 अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्धयमान योः ।
 पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥
 त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
 तथा युध्येत सम्पन्नो विजेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

(जहांतक हो) साम, दान और भेद, इन इकट्ठे मिले हुए वा अलग २ [प्रयोग कियों] से शत्रुओं के जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध से कभी नहीं ॥ १९८ ॥ जिसलिए युद्ध करते हुआ का संग्राम में जय अनियत होता है, (बलवानों का भी) पराजय भी होता है, इसलिए युद्ध को त्यागे ॥ १९९ ॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों में से कोई न होसके, तो (युद्ध की सारी सामग्री से) सम्पन्न होकर ऐसा लड़े, कि शत्रु को अवश्य जीत ले ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
 प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥
 सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
 स्थापयेत् तत्र तदंशं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

जीतकर देवताओं को और धार्मिक ब्राह्मणों को पूजे, परिहार * देवे, और (वहां की प्रजा के लिए) अभयदान का ढिंढोरा दे ॥ २०१ ॥ इन सब (प्रजा और मन्त्री आदि) के अभिप्राय को संक्षेप से जानकर, वहां उस वंश में उत्पन्न हुए को स्थापन करे, और उससे संकेत (अहद) कर लेवे ॥ २०२ ॥

* परिहार शब्द, विस्तृत अर्थों में है । संस्थाओं वा ब्राह्मणों के लिए जानीरे, प्रजाओं से वर्ष वा दो वर्ष के लिए कर छोड़ देना आदि

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्वथोदितान् ।
 रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥
 आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
 अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥
 सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
 तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

उनके (देश वासियों के) धर्मयुक्त (आचारों) को प्रमाण करे, जैसे वह (उनके धर्म में) कहे हों, और इस (नए राजा) को उसके प्रधान पुरुषों समेत रत्नों (बहु मूल्य उपहारों) से पूजे ॥ २०३ ॥ प्यारी वस्तुओं का लेना अप्रिय बनानेवाला और देना प्रिय बनानेवाला है (इनमें से) ठीक समय पर वत्ती (हरएक) प्रशंसा के योग्य होता है (इसलिए उस समय देना ही उचित है) ॥ २०४ ॥ हरएक काम इस (लोक) में दैव और मनुष्य के यत्र परनिर्भर है । पर इन दोनों में से दैव (का इलाज) तो चिन्ता से परे है, (सोचा जा नहीं सकता), मनुष्य के काम में क्रिया * (उपाय, इलाज) सम्भव है (इसलिये दैव को अपनी इच्छा पर चलने देकर आप अपने कार्य में विचार और पौरुष से ही साधने का यत्न करे) † ॥ २०५ ॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
 मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥
 पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले ।
 मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

* पुरुषकार (राघ०) † याज्ञ० १ । ३४८

अथवा (यदि शत्रु सन्धि करना चाहे, तो) सावधान हो प्रसन्न
से उसके साथ सन्धि करके लौट जावे, यह देखता हुआ, कि
(पौरुष का) फल मित्र, भूमि वा सोना (यही) तीन प्रकार
का होता है (अर्थात् मित्रता भी बड़ा फल है) * ॥२०६॥ मण्डल
में पार्ष्णिग्राह (पीछे आकर अपने देश पर आक्रमण करनेवाले)
और आक्रन्द (उसको आक्रमण करने से रोकनेवाले) को देख
कर (जिस पर आप आक्रमण किया है, उस राजा से) यात्रा का
फल लेवे † चाहे वह मित्र होगया है, वा अमित्र ही रहा है ॥२०७॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।

यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायति क्षमम् ॥२०८॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।

अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

सोने और भूमि की प्राप्ति से राजा वैसा नहीं बढ़ता
है, जैसे ऐसे स्थिर मित्र को पाकर, जो उस समय चाहे दुर्बल ही
हो, पर भविष्यत् में समर्थ होनेवाला हो ॥ २०८ ॥ धर्मज्ञ,
कृतज्ञ, और जिसकी प्रकृतियें (मजा और मन्त्री आदि) उस पर
प्रसन्न हैं, जो प्रेम करनेवाला है, और काम को पूरा करके छोड़ने
वाला है, ऐसा मित्र दुर्बल भी प्रशंसा किया जाता है ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।

कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥२१०॥

* २०६-२१० मेधा० के भाष्य में नहीं हैं † ऐसा न हो कि आप
नया देश ग्रहण करने में रहे, और पिछले को पार्ष्णिग्राह दबा ले,
यदि ऐसा सन्देह होजाय, तो अगले शत्रु से शत्रु सन्धि स्वीकार
कर पिछली सम्भाल में सावधान होजाय ॥ ३ याज्ञ० ॥ १ । १३५ ।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।

स्थौललक्ष्यं च सतत मुदासीनगुणोदयः ॥२११॥

बुद्धिमान् कहते हैं, ऐसा शत्रु बड़ा भयंकर होता है, जो समझ वाला, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता कृतज्ञ और धैर्यवाला हो, (ऐसे से जहाँतक बने, सन्धि कर लेनी और रखनी चाहिए) ॥ २१०॥ आर्यता, (योग्य अयोग्य) पुरुषों की पहचान, वीरता दया को अनुभव करनेवाला होना, बहुत उदारता, यह उदासीन के गुणों का उदय है (दूसरा अवश्य किसी का मित्र और किसी का शत्रु होता है) ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।

परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥२१२॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्द्वारान् रक्षेद्भनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारैरपि धनैरपि ॥२१३॥

सदा अरोगता देनेवाली, खेती देनेवाली और पशुओं की वाढ़ी करनेवाली भूमि को भी राजा अपने (बचाव के) लिये बिन सोचे खागदे (यदि उसके खाग से अपना निस्तारा हो) ॥२१२॥ आपदा (के दूर करने) के लिए धन की रक्षा करे, धन से भी स्त्रियों की रक्षा करे, और अपने आपको सदा स्त्रियों से भी और धन से भी रक्षा करे, (जब राजा की अपनी रक्षा में स्त्रियों के मरने और धन के लुप्त जाने बिना कोई उपाय न रहे, तो ऐसा सहले) ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।

संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥२१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।

एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५॥

बुद्धिमान् (राजा) जब (कोश का क्षय, प्रकृतियों का कोप और मित्र का व्यसन आदि) सारी विपत्तियों को एक साथ उत्पन्न हुआ देखे (तो घबरा न जाए, अपितु) मिले हुए वा अलग २ सारे (चारों) उपायों को बर्ते (अपने आपको और राज्य को बचाने के लिए) ॥ २१४ ॥ उपाय बर्तने वाले * को, और उपाय से पाने योग्य (फल) को और सारे उपायों को इन तीनों का पूरा सहारा पकड़कर † अर्थ सिद्धि के लिए यत्न करे एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।

व्यायम्याप्लुत्यमध्यान्हेभोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१५ ॥

तत्रात्मभूतः कालज्ञैरहोयैः परिचारकैः ।

सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।

विषघ्नानि च स्नानानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

इन सब विषयों का अपने मन्त्रियों के साथ विचार करके व्यायाम और स्नान करके, मध्यान्ह में खाने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥ वहां विश्वासी, कभी न बिगड़ने वाले, (जिस समय जो व्यञ्जनादि बनाना चाहिये, और भोजन में जिस समय देना चाहिए उस) काल के जाननेवाले नौकरों से, (तय्यार किए) सुपरीक्षित अन्न को विष के दूर करने वाले मन्त्रों से खाए ॥ २१७ ॥ विष के दूर करनेवाले औषधों से

* उपाय बर्तनेवाला=आपराजा (गोवि०, कुल्लू०, नारा० राघ०) मन्त्री आदि (नन्द) † सहारा पकड़कर=मन से इनके बल अबल आदि का निश्चय करके (नारा०, राघ०) इन पर निर्भर करके (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) ‡ २१७-२२० याज्ञ० १।३२६ विष्णु० ३।८०, ८७-८८

इस के (खाने के) सारे पदार्थों को, युक्त करे, * और विष के दूर करनेवाले रत्न सदा सावधान हो धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।

वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।

स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥२२०॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।

विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणिचिन्तयेत् ॥२२१॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् !

वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि ॥२२२॥

परस्त्री हुई स्त्रियों जिनका वेष और भूषण स्वच्छ है वह सावधान होकर पंखा, जल, धूप से इसका सेवन करें ॥ २२१ ॥ इसप्रकार गाड़ी, बिस्तरा, आसन, (रोटी से भिन्न भी) खाने की वस्तु, स्नान, अनुलेपन और भी जो सजावट की वस्तुएं हैं, उन सब में सावधान हो ॥२२०॥ जब खाचुके, तब अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ जी बहलाकर फिर ठीक समय पर कार्यों का चिन्तन करे ॥ २२१ ॥ (जंगी पहरावे से) सजा हुआ फिर अपने शस्त्रधारी जनों को देखे, सारे वाहन, शस्त्र और बर्दियों को देखे

* कुल्लू के अनुसार 'योजयेत्' पाठ है युक्त करे। (मेधा०, गोवि०, नारा०, नन्द) के अनुसार 'ने जयेत्' है, अर्थ-धोवे और राघ० के अनुसार 'शोधयेत्' है। अर्थ-शोधे।

सन्ध्यां चोपास्यशृणुयादन्तर्वेश्मानि शस्त्रभृत् ।
 रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥
 गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
 प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तः पुरं पुनः ॥२२४॥
 तत्र भुत्वा पुनः किञ्चित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
 संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥
 एताद्विधानमातिष्ठेद्रोगः पृथिवीपतिः ।
 अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

फिर सन्ध्या उपासकर शस्त्र पहने हुए घर के अन्दर (बैठकर) गुप्त बातों के कहने वालों * के और गुप्त-चरों के (किये) काम सुने † ॥ २२३ ॥ वहाँ से दूसरे कमरे में जाकर, उन लोगों को विसर्जन कर, (सेविका) स्त्रियों से युक्त हुआ भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥२२४॥ वहाँ फिर कुछ खाकर, बाजों की ध्वनियों से प्रसन्न हुआ ठीक समय पर सोवे और थकावट को दूरकर (तरो ताजह होकर) ठीक समय पर उठे ॥२२५॥ राजा अरोग हो, तो यह सारा काम आप अनुष्ठान करे, अस्वस्थ हो, तो यह सब भृत्यों के ऊपर डाल देवे ॥

इति श्रीसप्तमोऽध्याय समाप्तः

* मन्त्री आदि (नारा०) पुर के कई लोग (मेधा०) † याज्ञ०
 १ । ३२९ ः याज्ञ० १ । ३३० ।

अथाष्टमोऽध्यायः

संगति—राज्यकार्यों को कहकर अब प्रजा के न्याय का प्रकार बतलाते हैं :—

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥१॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्थिणाम् ॥०॥
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥३॥

व्यवहारों (मुकुटमों) को देखना चाहता हुआ राजा विनीत होकर ब्राह्मणों और मन्त्र के जाननेवाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करे * ॥ १ ॥ वहां बैठकर वा खड़ा होकर दाएं हाथ को उठाकर विनयवाले वेष और भूषणों से युक्त हुआ, कार्य वालों के कार्य, जो अलग २ अठारह मार्गों में बांटे गए हैं, उनको, देश में देखे और शास्त्र में देखे हेतुओं § से प्रतिदिन देखे (विचारे) ¶ ॥ ३ ॥

* वासि० १६।२ गौत० १३।२६ याज्ञ० १।३५९ ; २।१ विष्णु० ३।७२ । बड़े कार्यों में अवश्य बैठकर धैर्य के साथ निबेड़े, छोटे चाहे खड़ा रहकर निबेड़ले (मेघा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०) ऽदाई भुजा को उठाकर (कुल्लू०) दायां हाथ वस्त्र से बाहर रखकर (नारा०, नन्द०, राघ०, गोवि०) और देखो पूर्व ४।५८ § देश में देखे, देश, जाति और कुल के आचार, शास्त्र में देखे प्रमाणपत्र और साक्षी आदि ¶ वासि० १६।४-५ गौत० ९।१९-२४ ॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
 संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
 वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
 क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
 सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
 स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
 स्त्रीपुं धर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयएव च ।
 पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥
 एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
 धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

उन (अठारह) में से पहला (१) ऋण का न देना *
 (२) निक्षेप (अमानत) (३) बिना स्वामी होने के बेचना
 (४) मित्रकर कारोबार (५) दिये हुए का फेर लेना ॥ ४ ॥
 (६) वेतन का न देना (७) इकरार का पूरा न करना (८)
 खरीद और बिक्री का पश्चत्ताप (९) पशुओं के मालिक और
 पालक का झगड़ा ॥ ५ ॥ (१०) सीमा (हद्द) के झगड़े का
 धर्म (कानून) (११, १२) बाणी और दण्ड की कठोरता
 (गाली देना वा मारपीट) (१३) चोरी (१४) साहस (बला-
 त्कार) (१५) पर स्त्री का लेलेना ॥ ६ ॥ (१६) पति पत्नी का धर्म
 (१७) (भाइयों का) विभाग (१८) जुआ और प्राणधारियों

* ऋणा दानम् = ऋण + आदानम् = ऋण का लेना भी अर्थ
 होसका है

का जुआ । यह अठारह इस (जगत्) में व्यवहार २ की स्थिति में * स्थान है ॥७॥ बहुधा † इन्हीं अठारह स्थानों में विवाद करते हुए मनुष्यों के कार्यों का निर्णय सनातन मर्यादा के आश्रय करे ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।

सभामेव प्रविश्याग्रयामासीनः स्थितएव वा ॥१०॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञश्चाधिकृतोविद्वान् ब्रह्मणस्तां सभांविदुः ॥११॥

जब (काम की अधिकता से वा रोगादि से) राजा स्वयं कार्यों का देखना न कर सके, तब विद्वान् ब्राह्मण को कार्यों के देखने में लगाए ॥ ९ ॥ वह (ब्राह्मण) तीन § दूसरे सभासदों से युक्त हुआ, सभा में ही प्रविष्ट होकर, वहाँ बैठा हुआ वा खड़ा होकर इसके कार्यों को देखे ॥ १० ॥ जिस सभा में वेदवेत्ता तीन ब्राह्मण और राजा का अधिकारी एक विद्वान् बैठता है, उसको ब्रह्मा की सभा कहते हैं ॥ ११ ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।

शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥

* जिस पर विवाद की स्थिति है, (गोवि०) विवाद की स्थिति=विवाद के निर्णय में (नारा०) † बहुधा कहने से और भी विवाद स्थान हैं, जैसा कि नारद ने कहे हैं (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०, नारा०, राघ०) नन्द० ने यह श्लोक छोड़ दिया है ।

‡ वासि० १६ । २ गौत० १३ । २६ याज्ञ० २ । ३ विष्णु० ३ ॥७३॥
§ घट से घट तीन (मेधा०) ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
 अब्रुवन्ब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥
 यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च ।
 हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

जहाँ सभा में धर्म अधर्म से बँधा हुआ आता है, और (सभासद) इसके शल्य (काँटे) को नहीं काटते हैं, वहाँ सभासद (स्वयं अन्याय से) बँधे हुए हैं ॥ १२ ॥ या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए * या ठीक २ कहना चाहिए, न कहता हुआ वा उलटा कहता हुआ दोनों तरह से मनुष्य पापी होता है ॥ १३ ॥ क्योंकि जहाँ धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से मारा जाता है और (सभासद) देखते रहते हैं, वहाँ सभासद मरे हुए धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीतः ॥ १५ ॥

वृषोहि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।

वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्याद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।

पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।

एनोगच्छति कर्त्तारं निन्दाहो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

* व्यवहार निर्णय के लिए (गोवि०, कुल्लू०, राघ०)

धर्म मारा हुआ मार देता है, धर्म रक्षा किया हुआ रक्षा करता है, इसलिए धर्म को नहीं मारना चाहिए, न हो, कि मारा हुआ धर्म हमें मारदे *॥ १५ ॥ भगवान् धर्म वृष [श्रेष्ठ वा बल] है, उसका जो लोप करता है, उसको वृषल (शूद्र) कहते हैं, इसलिए धर्म का लोप न करे ॥ १६ ॥ धर्म ही एक मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है (साथ नहीं त्यागता) और सब कुछ शरीर के साथ नाश को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ (अन्याय करने में फल भागी बतलाते हैं) पाद (चौथाई) अधर्म के करनेवाले को, चौथाई साक्षियों को, चौथाई सब सभासदों को और चौथाई राजा को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ पर जहां (ठीक न्याय होने से) निन्दा के योग्य (अर्थी वा प्रसर्थी) निन्दा जाता है, वहां राजा निष्पाप होता है, सभासद सब छूट जाते हैं, पाप अपने करने वाले को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः ।

धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।

तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।

विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

*यह वचन सःयों की ओरसे प्राङ्गविवाकको कहा गया है, यदि वह अन्याय पर चले (गोवि०, कुल्लू०, राघ०) नन्द० 'नः' के स्थान 'वः' = तुम्हें, पढ़ता है † गौत० ८ । २ बौध्वा० १।१९। ८ इस श्लोक में 'सभासद' से सभासद और प्राङ्गविवाक 'दोनों अभिप्रेत हैं ॥

जातिमात्र से जीनेवाला ब्राह्मणब्रुव* बेशक राजा का धर्म प्रवक्ता (न्यायनिर्णयता) हो, पर शूद्र† कभी नहीं॥२०॥ जिस राजा के शूद्र धर्म निर्णय करता है, उसका वह राष्ट्र उसके देखते हुए कीचड़ में गौ की तरह फंसता है ॥ २१ ॥ वह राष्ट्र जहां शूद्र बहुत हैं ‡ नास्तिकों से दबा हुआ है, द्विजों से शून्य है, वह जल्दी दुर्भिक्ष और रोगों से पीड़ित होकर नष्ट होता है ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।

प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

अर्थानर्थाबुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।

वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्पिणाम् ॥ २४ ॥

न्यायासन पर बैठकर, शरीर को ढाँपे हुए एकाग्र हो लोकपालों को नमस्कार करके कार्यों के देखने का आरम्भ करे॥२३॥ दोनों अर्थ और अनर्थ और केवल धर्म और अधर्म को जानकर § वर्ण क्रम से कार्यवालों के सारे कार्य देखे ॥ २४ ॥

* जो अपने आपको ब्राह्मण कहता है, पर है जातिमात्र से जीविका वाला, ब्राह्मणके योग्य विद्या और कर्म नहीं रखता (मेधा०, गोवि०) जाति मात्रो पजीवी=जातिमात्र से जीनेवाला=विद्यादि से हीन, और ब्राह्मणब्रुव=जिस का ब्राह्मण होना ही संदिग्ध है। हां वह आप अपनेको ब्राह्मण कहता है। (कुल्लू०, राघ०) जातिमात्र से जीनेवाला=संस्कारों से हीन, और ब्राह्मणब्रुव=संस्कार होकर विद्या न पढ़ा हुआ (नारा०) † केवल शूद्र के निषेध से यह अभिप्राय है, कि ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और वैश्य न्यायदेखसके हैं, ‡ शूद्र संख्यामें अधिक हैं, (गोवि०, कुल्लू०, राघ०) न्याय निर्णय करनेवाले अधिक शूद्र हैं (मेधा) शूद्रों को ही अधिक ऊँचे अधिकार हैं, (नन्द०) § अर्थ=कैसा निर्णय लोगों को प्रसन्न करेगा, अनर्थ=कैसा अप्रसन्न करेगा, पर

बाह्यैर्विभावयेल्लिगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
 स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥
 आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
 नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥
 बालदायादिकं रिक्तं तावद्राजानुपालयेत् ।
 यावत्सस्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥
 वशाऽपुत्रासु चैव स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
 पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥
 जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
 ताञ्छिष्याच्चोरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥
 प्रणष्टस्वामिकं रिक्तं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
 अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेस्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥
 ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
 संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥
 अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
 वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

जहाँ धर्म से विरोध आता हो वहाँ केवल धर्म अधर्म का ही विचार
 करे, (गोवि०) अर्थ अनर्थ=प्रजा की रक्षा और उच्छेद (कुल्लू०)
 मेधा०, राघ० इसप्रकार अन्वय करते हैं, केवल धर्म अधर्म को ही
 अर्थ अनर्थ जानकर=अर्थात् धर्म ही अर्थ और अधर्म ही अनर्थ है
 ऐसा जानकर ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्मं मनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

बाहरे के चिन्हों अर्थात्—स्वर, रंग, इशारा, आकृति, नेत्र, और चेष्टा से * लोगों के अन्तरीय अभिप्राय को लखे ॥२५॥ क्योंकि आकृति, इशारे, गति (पाओं आदि का फिसलना आदि) चेष्टा, भाषण, और नेत्र तथा मुख के विकारों से अन्तर्गत मन जाना जाता है ॥ २६ ॥ बालक जिसका स्वामी है, उस धन की राजा तब तक रक्षा करे जबतक वह (गुरुकुल से) वापिस आए अथवा जब बचपन से निकल जाए ॥२७॥ बन्ध्या, वा जिसका कोई पुत्र न हो, वा जिसके वंशमें कोई पुरुष नहीं रहा, तथा पतिव्रता, विधवा, और स्थिर रोगवाली स्त्रियों के विषयमें भी इसी तरह रक्षा का प्रबन्ध करे ॥ २८ ॥ जब तक वह जीती है, यदि उनके धन को बान्धव छीनें, तो धार्मिक राजा उनको चोर के तुल्य दण्ड देवे ॥ २९ ॥ (जिसका स्वामी मालूम नहीं) उस धन को राजा तीन वर्ष रखे रखे, तीन वर्ष से पहिले स्वामी लेसक्ता है पीछे राजा लेलेवे ‡ ॥३०॥ यह मेरा है, जो यह कहे उसको यथाविधि

* २५—२६ याज्ञ० २। १५ स्वर गद्गद आदि, गोवि० ने स्वर के स्थान मुख लिखा है=चेहरे का रंग । वर्ण=रंग असली रंग से और तरह का होजाना, इशारे=नीचे देखना आदि, आकृति=पसीना आना, रोंगटे खड़े होना, देह कांपना आदि, नेत्र—दीन दृष्टि वा उद्धत दृष्टि आदि। चेष्टा=हाथ की मलना आदि। द्विज जब गुरुकुल से वापिस आए, तब और शूद्र जो गुरुकुल में नहीं गये, वा द्विज जो बचपन में ही वापिस आ गए हैं, वह जब बचपन से निकल जाए, तब । बचपन १६ वर्ष तक होता है । देखो नारद ३। ३७ । ‡ ३०—३४ याज्ञ० १६।२०- गौत० १०। ३६—३८ आप० २। २८ । ७—९ याज्ञ० २। ३३ अर्थात् जो राजपुरुषों ने कहीं गिरी पड़ी वस्तु पाई है । उसका ढिंढोरा पिटवाकर तीन वर्ष तक उसके स्वामी की प्रतीक्षा में रहे

पूछे, यदि वह इसका रूप संख्या आदि ठीक बतलाता है, तो वह स्वामी होने से इस धन को पाने योग्य है॥३१॥यदि नष्ट हुए द्रव्य का वह देश, काल, रंग, आकृति, और परिमाण, ठीक नहीं बतलाता है तो उस (धन) के बराबर दण्ड के योग्य होता है॥३२॥ खोया हुआ जो पाया धन है उस से राजा सत् पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुआ छटा दसवां वा बारहवां हिस्सा लेवे *॥३३॥

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।

यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत्॥३४॥

ममायामितियोब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।

तस्याददीत षड्भागं राजाद्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

खोया हुआ धन जो (राजपुरुषों ने) पाया है, वह (विशेष) अधिकारियों की रक्षा में रहे, उसको जो चोर चुरावें, उनको राजा हाथी से मरवा डाले॥३४॥जो मनुष्य स्वयं पाई वा दूसरों से पाई दबी हुई निधि (खज़ाने) को सचाई से कहे कि यह मेरा है, तो राजा उससे छटावां वा बारहवां हिस्सा लेलेवे *॥३५॥

अनृतं तु वदन्दण्डयः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।

तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसी कलाम्॥३६॥

* छटा, दसवां, बारहवां यह व्यवस्था—रक्षा के समय के अनुसार है (मेधा०, राघ०) उसको पाने के परिश्रम के अनुसार है (गोवि०) धन के स्वामी के गुणी वा निर्गुणताके अनुसार है (कुल्लू० नारा०) मेधा० ने ३३ श्लोक को ३४ के पीछे लिखा है ॥

* ३५—३९ वासि० ३।१३—१४ गौत० १०।४३—४५ याज्ञ० २।३४।३५ विष्णु० ३।५६—६४ यहां भी छटे बारहवें की व्यवस्था गुण आदि की अपेक्षा से है ।

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।
 अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥
 यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
 तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥
 निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
 अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेराधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥
 दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हतं धनम् ।

राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥
 झूठ बोले तो उसके अपने* धनका आठवां हिस्सा वा उसी निधि
 को गिनकर कोई थोड़ा सा हिस्सा दण्ड देवे ॥ ३६ ॥ विद्वान्
 ब्राह्मण बड़ों से दबी निधि को देखकर सारी ही लेलेवे, क्योंकि
 वह सब का अधिपति है ॥ ३७ ॥ राजा पृथिवी में जो पुराना
 गढ़ा हुआ धन देखे, उसमें से आधा ब्राह्मणों को देकर आधा
 अपने खज़ाने में ढाळे ॥ ३८ ॥ पृथिवी में जो पुरानी निधियाँ
 और धातु हैं राजा उनके आधे का भागी है । क्योंकि वह भूमि
 का अधिपति है + ॥ ३९ ॥ चोरों से चुराए धन को पाकर राजा
 उसके स्वामी को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, देदेवे, राजा स्वयं
 उसको बर्ते, तो चोर के पाप को प्राप्त होता है ‡ ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्माश्च धर्मवित् ।
 समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

* जो उसका अपना निज का धन है + क्योंकि वह धन राजा
 की भूमि में सुरक्षित रहा है, इसलिए वह आधे का भागी है
 ‡ गौत १०।४६-४७ आप० २।२६।८ याज्ञ० २।३६ विष्णु० ३।६६-६७

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
 प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वेस्वे कर्मण्यवस्थिताः॥४२॥
 नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नान्यस्य पूरुषः ।
 न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥
 यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
 नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥
 सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
 देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥
 सद्गिराचारितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
 तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

धर्म का जाननेवाला राजा जाति के धर्म, देश के धर्म, श्रेणियों
 * के धर्म और कुल के धर्मों को देखकर अपना धर्म
 (कानून नियत करे) ॥ ४१ ॥ अपने (जाति, देश, कुल)
 के कर्मों को करते हुए मनुष्य चाहे दूर (देशान्तर में) भी
 हों, तौ भी (अपने देश जाति, और कुल के) लोगों को प्यारे
 होते हैं, जो अपने २ कर्मों में स्थिर है ॥ ४२ ॥ राजा वा इसका कोई
 अधिकारी स्वयं कार्य को उत्पन्न न करे, और न ही दूसरेसे सामने
 लाए गए व्यवहार की उपेक्षा ‡ करे ॥ ४३ ॥ जैसे शिकारी लहू के
 गिरते जाने से (बीँधे हुए) मृग की खोज लगाता है, इसी तरह राजा

* सौदागरों और खेलों की कम्पनियों † वासि० १९ । ७ गौत०
 ११।२० आप० २। १५।१ बौध्दा० १।२।१-८ याज्ञ० १। ३६० विष्णु० ३।३
 ‡ किसी लिहाज से बेपरवाही या उलट पलटन करे ॥ गौत० १।३।२७

अनुमान से धर्म की खोज लगाए ॥४४॥ व्यवहार के काम देखने में प्रवृत्त हुआ (राजा वा राजपुरुष) सत्य, अर्थ, अपना आप साक्षी देश, काल और रूप को ठीक २ देखे * ॥ ४५ ॥ विद्वान् और धार्मिक द्विजों ने जो आचरण किया हुआ हो, उसको धर्म (कानून के तौर पर) निश्चय करे, यदि वह देश जाति और कुल के विरुद्ध न हो ॥ ४६ ॥

संगति—व्यवहार के सामान्य नियम कहकर अब ऋण के न देने के विषय में कहते हैं :—

अधमर्णार्थसिद्धयर्थं मुत्तमर्णेन चोदितः ।

दापयेद्धानिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

येयैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।

तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

ऋणी से धन के साधन के लिए जब धनी (राजा को) प्रेरे, तो (राजा प्रमाणों से) सिद्ध हुए धनी के धन को ऋणी से दिखावे ॥ ४७ ॥ जिन २ उपायों से धनी अपने धन को पाए, उन २ उपायों से वश करके ऋणी से दिखावे ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

* सत्य=बनावट को दूर करके जितना अंश सचाई है उसको देखे । अर्थ=सिद्धि, इससे क्या सिद्धि है । आत्मा=मेरा किसी ओर झुकाव किसी सम्बन्ध से तो नहीं, साक्षी-किस हैसियत के हैं । देश=इस देश में रिवाज कैसा है, काल=इस समय क्या योग्य है, वा कैसे समय पर इसने लेना देना आदि किया है, रूप=व्यवहार का गौरव वा लाघव ॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।

न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥५०॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।

दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

धर्म से, व्यवहार से, छल से, आचरित से, और पांचवें बल से

* अपने लगाए धन को साधे ॥ ४९ ॥ जो धनी ऋणी से स्वयं

अपना धन साधे, राजा उसे अपराधी न ठहराए, जब कि वह

उस धन को साधता है, जो उसका अपना है † ॥ ५० ॥ (लिये)

धन के विषय में इनकार करनेवाले से प्रमाण से सिद्ध हुआ धन

धनी को दिलावे, और उसकी शक्तिके अनुसार कुछ दण्ड † देवे ॥

अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसादि ।

अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापन्हुते च यः ।

यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।

सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥

* धर्म से = ऋणी के हृदय में धर्म-भाव के उभारने से, व्यवहार से = व्यवहार का बल दिखलाने से (निर्धन हो, तो उसी को कोई व्यवहार कराकर लाभ लेने से-मेधा०) छल से = विवाह पर जाना है, इत्यादि बहाने से उससे भूषण आदि लेकर बन्धक कर लेने से। आचरित से = धरना मार बैठने से, बल से, उसको रोंके रखने आदि से। यह पांच उपाय अपने आप धन साधन के हैं † याज्ञ० २। ४० विष्णु० ६। १९ ॥ दण्ड के लिए देखो आगे १३९ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥५५॥

(इसका धन) दो, ऐसा कहने पर जब सभा में (मैंने कोई नहीं देना है, इसप्रकार कोई) ऋणी इनकार कर देवे, तो अभियोक्ता (नाछिन्न करनेवाला) उस स्थान के साक्षी * बतलाए, वा और भी साधन (पत्र आदि) बतलाए ॥ ५२ ॥ जो (ऋण देने के) देश में अनुपस्थित को (साक्षी) † बतलाता है, और बयान देकर उससे इनकारी होजाता है, और जो अगली पिछली परस्पर विरुद्ध बातों को नहीं समझता है ‡ ॥ ५३ ॥ वा जो कुछ कहना है, कहकर फिर उस से फिर जाता है, वा जो यथार्थ कही बात को (क्यों तूने रात को बिना साक्षी के दिया इत्यादि) पूछने पर समाधान नहीं कर सका ॥ ५४ ॥ वा भाषण के अयोग्य (निर्जन आदि) स्थान में साक्षियों के साथ अलग बात चीत करे (वा दावे के स्थिर करने के लिए वा जिरह के तौर पर) चुन २ कर पूछे प्रश्न को न चाहे, वा जो सभा से निकल जाए ॥ ५५ ॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।

न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थ्यात्स हीयते ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥५७॥

* देश्यं = साक्षी जो उस स्थान में उपस्थित हो, (कुल्लू० राघ) देश्यं, के स्थान मेघा०, गोविन्द, नारा०, नन्द के अनुसार ' देशं, पाठ है । अर्थ जहां दिया है, वह स्थान † मेघा०, गोवि०, नारा०, नन्द के अनुसार अदेश्यं के स्थान ' अदेशं, पाठ है । न ठीक स्थान-अर्थात् जहां ऋणी गया ही न हो, वा एकान्त आदि ‡ ५३-५६ याज्ञ० २।१६

वा कहो ऐसा कहने पर जो कुछ न कहे, वा जो कहे हुए को सिद्ध न करे, वा जो पहले पिछले * को न जाने, वह उस अर्थ से हीन होजाता है (हरजाता है) ॥५६॥ मेरे साक्षी हैं, ऐसा कहने पर 'बतला' कहा हुआ जो न बतलाए, धर्म में स्थित प्राइविवाक इन कारणों से उस (धनी) को भी हीन बतलाए ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता नचेद ब्रूयादध्योदण्ड्यश्च धर्मतः ।

नचेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

योयावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावाति वा वदेत् ।

तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तदद्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥

अर्थी यदि (प्रसर्थी से उत्तर पाकर फिर) कुछ भी न कहे, तो वह धर्म से ताड़ना वा दण्ड के योग्य † होता है, और (प्रत्यर्थी) यदि तीन पक्ष के अन्दर न कहे, तो वह धर्मानुसार (मुकदमा) हार देता है ॥ ५८ ॥ (प्रसर्थी) जो जितने धन से इनकार करता है, और (अर्थी) जो जितने (धन) के विषय में झूठ कहता है, उन दोनों अधर्मज्ञों को उससे दुगुना दण्ड देना चाहिए ‡ ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।

त्र्यवरः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।

तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥

* पहले पिछले को = यहां क्या साधन है । और क्या साध्य है इस को (कुल्लू०राघ०) यह पहले कहना चाहिए, यह पीछे (नारा०, नन्द) † भारी दोष में ताड़ना के योग्य, हल्के में दण्ड के योग्य ‡ याज्ञ० २।५९

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविश्वद्वयोऽनयः ।

अथ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि॥६२॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।

सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

(सभा में) बुलाकर पूछा हुआ (ऋणी) यदि इन्कारी होता है

तो धनी ने राजा के (अधिकारी) ब्राह्मणों के सामने * न्यूना-

तिन्यून तीन साक्षियों द्वारा सिद्ध करना चाहिए ॥ ६० ॥ धनियों

ने व्यवहारों के विषय में जैसे साक्षी बनाने चाहियें, वैसे बतला-

ऊंगा, और जैसे उन्होंने सत्य कहना चाहिए, (वह भी कहूंगा)

॥ ६१ ॥ अर्थी से बतलाए, गृहस्थ, पुत्रोंवाले, उस देश के वासी

क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र जाति के साक्षी होने योग्य होते हैं, न कि

जो कोई बिना आपात्तिकाल के ॥ ६२ ॥ सब वर्णों में सच्चे पुरुष

जो अपने धर्म के जाननेवाले हैं और लालची नहीं, वह कार्यों

में साक्षी बनाने चाहिएं, इनसे उलटों को छोड़ दे ॥ ६३ ॥

नार्थ संबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।

न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः॥६४॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।

न श्रोत्रियो न लिंगस्थो न संगेभ्योविनिर्गतः॥६५॥

* अथवा राजा और ब्राह्मणों के सामने यह अर्थ भी होसका है । ६१—७२ वासि० १६।२८-३० गौतम १३।१—४ आप० २।२९-७ बौध० १। १९-१३ याज्ञ० २। ६८-७२ बिष्णु० ८। ७—९ ॥ अर्थात् लड़ाई, झगड़े आदि में सभी साक्षी होसके हैं, देखो आगे ६९ ।

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
 न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥
 नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
 न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥
 स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
 शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥
 अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
 अन्तर्वेश्मन्यरण्येवा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥
 स्त्रिया प्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
 शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

(साक्षी) न अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले * बनाने चाहियें,
 न मित्र, न साथी † न वैरी, न वह जिनके दोष (पहली साक्षियों
 में) देखे गये हैं, न रोग से पीड़ित, न जिन पर दोष लगा हुआ
 है ‡ ॥ ६४ ॥ साक्षी न राजा को बनाना चाहिए (उसको साक्षी
 की तरह पूछना अयोग्य है) न कारीगर, न नट (अपने २
 काम में व्यग्र रहने से) न वेद पाठी, न ब्रह्मचारी न संगों से
 अलग हुआ (= संन्यासी) (अपने २ काम में व्यग्र होने से और
 साक्षी की तरह पूछने के अयोग्य होने से) ॥ ६५ ॥ न अत्यन्त
 पराधीन (गर्भ दास) न (लोगों में) निन्दित, न घातक, न खोटे
 कर्म करनेवाला, न बूढ़ा, न बच्चा, न अकेला, न अन्त्यज (धर्म
 के न जानने से) न हीन इन्द्रियों वाला (अन्धा, बहिरा, आदि-

* मुकद्दमे से जिनका सम्बन्ध है † नौकर आदि ‡ पातकी
 समझे गये हैं

पूरा प्रत्यक्ष न होने से) ॥ ६६ ॥ न (पुत्र शोकादि से) पीड़ित
न (मद-) मत्त, न पागल, न थकावट से पीड़ित, न काम से पीड़ित
न क्रुद्ध, न चोर (बुद्धि ठिकाने न होने से) ॥ ६७ ॥ स्त्रियों की
साक्षी स्त्रियें हों, द्विजों के अपने जैसे द्विज, शूद्रों के श्रेष्ठ शूद्र हों
और अन्त्यजों के श्रेष्ठ अन्त्यज हों * ॥ ६८ ॥ घर के अन्दर वा
जंगल में (उपद्रव हुआ हो तब), वा प्राण के विनाश में, जो कोई भी
देखनेवाला है वह झगड़नेवालों का साक्षी हो सकता है ॥ ६९ ॥
और साक्षी के न होने पर स्त्री, बाल, बूढ़ा शिष्य, बन्धु, दास और
नौकर को भी साक्षी कर लेना चाहिये ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।

जानीयादास्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।

वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृहीयात्साक्षिद्वैधेनराधिपः ।

समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिवैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।

तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्ट श्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्य संसदि ।

अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

बाल, बूढ़े, रोगी और अस्थिर मनवाले (मत्त और पागल)
यह साक्ष्य में यदि झूठ बोलें, तो इनकी वाणी स्थिर नहीं होती है,

उसको समझे ॥७१॥ सब प्रकार के साहसों (किसी का घर जला देने आदि) में चोरी और (स्त्री के साथ) धक्का, करने में बाणी और दण्ड की कठोरता में साक्षियों को (गृहस्थ हों, पुत्रों वाले हों इत्यादि रूप से) न परखे ॥७२॥ साक्षियों के विरोध में (राजा) बहुत्व (जिधर बहुत हों) को स्वीकार करे, जब (दोनों ओर) बराबर हों, तो गुणों में जो ऊंचे हैं उनको, गुणियों के विरोध में द्विजोत्तमों* को † (स्वीकार करे) ॥७३॥ सामने देखने और सुनने से साक्षीपन सिद्ध होता है, उसमें सत्य कहता हुआ साक्षी धर्म और अर्थ से हीन नहीं होता है ‡ ॥ ७४ ॥ देखे, सुने के विरुद्ध आर्य सभा § में कहता हुआ, साक्षी अधोमुख हुआ नरकको जाता है, और परलोक में स्वर्ग से हीन होता है ¶ ७५ ॥

यत्रानिवद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन ।

पृष्ठस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथा दृष्टं यथाश्रुतम् ॥७६॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षीस्यादबहूयः शुच्योपि न स्त्रियः ।

स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥७७॥

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तदग्राह्यं व्यावहारिकम् ।

ततोयदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥ ७८ ॥

* द्विजों में उत्तम = ब्रह्मण (गोवि०, नारा०) धार्मिक क्रियाओं के करनेवाले द्विज (कुल्लू० राघ०) † याज्ञ० २।७८, ८० विष्णु० ८।३९ ‡ ७४-७५ वासि० १६-३६ गौत० १३-७ आप० २।२९।९-१० बौधा० १।१९।१४-१५ विष्णु० ८।१३-१४। अर्थ से हीन नहीं होता है = उसे दण्ड नहीं मिलता । (नारा० कुल्लू०) § आर्य सभा = न्याय सभा (मेधा०) ब्राह्मणों की सभा (गोवि०) ¶ स्वर्ग जो दूसरे पुण्यों से कमाया है उससे भी हीन होजाता है

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थं प्रत्यर्थि सन्निधौ।

प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥७९॥

(पत्र में साक्षी के तौर पर) न लिखा हुआ भी जहाँ जिसने कुछ देखा वा सुना हो, वह उस विषय में पूछा हुआ उस बात को बतलाए, जैसा उस ने देखा वा सुना है ॥७८॥ लोभ से रहित पुरुष अकेला भी साक्षी होसकता है, पर स्त्रियों बहुत भी जो पवित्र भी हों नहीं, क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती, तथा और भी, जो दोषों से युक्त पुरुष हैं (वह साक्षी न हों) ॥७७॥ (साक्षी) निरा स्वभावतः * जों कुछ कहे, वह व्यवहार निर्णय के लिए स्वीकार करने योग्य होता है, इससे भिन्न जो कुछ इधर उधर की बातें कहे, वह धर्म (निर्णय) के लिए निष्प्रयोजन है, इसलिये स्वीकार करने योग्य नहीं है ॥७८॥ सभा के अन्दर आए साक्षियों को प्राड्विवाक अर्थी प्रत्यर्थी के सामने प्रिय बोलता हुआ इस विधि से पूछे † ॥७९॥

यदद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।

तदब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।

इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्वध्यते वारुणैर्भृशम् ।

विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेद्वतम् ॥८२॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।

* अर्थात् दिन विचारे झटपट, न कि सोच-र कर, वा घबराकर ।

† गौत ८।५

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।

मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥८५॥

द्यौर्भूमिरापोहृदयं चन्द्रार्काग्निरयमानिलाः ।

रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्ताज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥८६॥

जो इस कार्य में इन दोनों (अर्थी प्रसर्थी) की आपस की चेष्टा तुम जानते हो, वह सब सचाई से कहो, क्योंकि तुम्हारी इस में साक्षिता है * ॥ ८० ॥ साक्षी अपनी साक्षिता में सत्य बोलता हुआ (मरकर) उत्तम लोकों को, और यहां अत्युत्तम यज्ञ को प्राप्त होता है, यह बाणी (सचाई) ब्रह्म (वेद वा ब्रह्म) से पूजित है ॥ ८१ ॥ साक्षिता में झूठ बोलने वाला सौ जन्म तक वरुण के फाँसों † से बेबस बांधा जाता है, इसलिये साक्षिता ठीक २ कहे ॥ ८२ ॥ साक्षी सत्य से पवित्र होता है, धर्म सत्य से बढ़ता है, इसलिये हर एक वर्ण के विषय में साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ आत्मा ही आत्मा का साक्षी है,

* ८०-१०१ वासि १६ । ३२-३४ गौत ८ । १४-२२ आप २ । २९ । ९-१० बौधा० १ । १९ । ९-१२ याज्ञ २ । ७३-७५ विष्णु ८ । १९-३७ † झूठों का वरुण को फाँसों से बांधा जाना अथर्व ४ । १६ । ६ में कहा है । वरुण की फाँसों भयंकर सर्प-रज्जु वा जलचर (मेघा०) सर्प रज्जु वा जलोदर (कुल्लू०) जलोदर रोग का वरुण के विरुद्ध चलने से विशेष सम्बन्ध ऋग्वेद ७ । ८९ । १ और ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १५ शूनःशेष की कथा में आया है

तथा आत्मा ही आत्मा का शरण (रक्षक) है, सो तू मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूठ बोलकर) अपमान न कर ॥ ८४ ॥ पाप करने वाले समझते हैं, कि हमें कोई नहीं देखता, पर उनको देवता देखते हैं, और अपने अन्दर का पुरुष (देखता है) ॥ ८५ ॥ द्यौ, पृथिवी, जल, (अपना) हृदय * चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात, दोनों सन्ध्याएं और धर्म यह सब प्राणियों के (शुभ, अशुभ) वृत्त के जानने वाले हैं ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।

उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वापूर्वाङ्गैर्वैशुचिःशुचीन् ॥ ८७ ॥

ब्रूहीतिब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।

मित्रद्रुहःकृतधनस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

(प्राङ्निवाक) स्वयं पवित्र हो, पवित्र हुए पूर्व मुख वा उत्तर मुख खड़े द्विजों को प्रातःकाल के समय देवता और ब्राह्मणों के सामने सच्ची साक्षिता पूछे ॥ ८७ ॥ 'कहो' ब्राह्मण से इतना ही पूछे 'सत्य कहो' यह क्षत्रिय से, वैश्य को उसके गौ,

* हृदय=हृदय में रहने वाला आत्मा (कुल्लू०) यहां द्यौ आदि के देखने से यह अभिप्राय है, कि पाप करने वाला पुरुष इन को जड़ समझ इन से नहीं क्षिजकता, जैसाकि मनुष्यों से क्षिजकता है, पर वह नहीं जानता कि वास्तव में यह सब मनुष्यों से बढ़कर देखने वाले हैं, जबकि इनके अन्दर से अन्तर्यामी देख रहा है॥

बीज और सोने* से, और शूद्र को हर एक पातक से (पातक का भय देकर पूछे) ॥ ८८ ॥ (अर्थात्) ब्रह्म हसा करने वाले के वा स्त्री वा बालक के घाती के, तथा मित्र द्रोही वा कृतघ्न के जो २ लोक कहे हैं, वह २ झूठ बोलने वाले के हों ॥ ८९ ॥
जन्मप्रभृति यात्किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।

तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।

नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥
जन्म से लेकर, हे भद्र ! जो २ तूने पुण्य किया है, वह तेरा सारा कुत्तों को प्राप्त हो (व्यर्थ जाए) यदि तू अन्यथा कहे ॥ ९० ॥
'मैं अकेला हूँ' हे भले ! तू जो ऐसा अपने आपको समझता है (ऐसा मत समझ, क्योंकि) पाप पुण्यों का देखने वाला यह मुनि (चुपचाप परमात्मा) सदा तेरे हृदय में स्थित है ॥ ९१ ॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।

तेन चेदाविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ९२ ॥

नमो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।

अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

अवाङ्मशिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।

यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाशनाति स नरः कण्टकैः सह ।

यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥

* तुक्षे गी आदि के चुराने का पाप लगे (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) तेरे पशु बीज सोना नष्ट होजाएँ यदि तू झूठ बोले (नारा०)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।

तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

वैवस्वत यम देवता जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उसके साथ यदि तेरा (झूठ बोलने से) विवाद नहीं है, तो मत गंगा को जा मत कुरुक्षेत्र को जा * ॥ ९२ ॥ वह (शरीर से) नंगा, सिर से मूंडा हुआ, (आंखों से) अन्धा हुआ, भूख प्यास से पीड़ित हो, (हाथ में) कपाल लिये, भिक्षुक बन, शत्रु के घर जाए, जो झूठी साक्षिता देवे ॥ ९३ ॥ जो धर्म निर्णय के लिये पूछा हुआ झूठ बात बतलाए, वह पापी महा अन्धकार में नीचे सिर किये नरक को जाए ॥ ९४ ॥ जो सभा में गया हुआ सचाई से हीन बिन देखी बात कहता है, वह मनुष्य अन्धे की तरह कांटों समेत मछलियों खाता है † ॥ ९५ ॥ जिस के कहते हुए उसका (सच झूठ) जानने वाला आत्मा शंका नहीं करता है, देवता उनसे बढ़कर किसी को श्रेष्ठ नहीं मानते ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।

तावतः संख्यया तस्मिन् शृणुसौम्यानुपूर्वशः ॥९७॥

पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

गौ आदि पर हाथ धराकर पूछे (नन्द०) * गंगा और कुरुक्षेत्र में जाना—दण्ड भोगने के लिये, वा प्रायश्चित्त करने के लिये संभावित हो सका है, पर मनु में आगे कहीं कुछ नहीं लिखा † जैसे कांटों समेत मछली खाने से सुख आपाततः है, दुःख ही अधिक होता है, इसी तरह रुपये के लोभ आदि से झूठी गवाही देने वाला दुःख ही अधिक पाता है ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।

अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

एतान्दोषानऽवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।

यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥

गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।

प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

जिस साक्षिता में झूठ बोलता हुआ, जितने बान्धवों को मारता है, * हे सौम्य ! उसमें क्रमशः उतनों को गिनती से सुन ॥ ९७ ॥ पशुओं के (विषय में) झूठ (बोलने) में पांच (बान्धवों) को मारता है, गौ के झूठ में दस को मारता है, घोड़े के झूठ में सौ को मारता है, पुरुष † के झूठ में सहस्र को मारता है ॥ ९८ ॥ सुवर्ण के लिये झूठ बोलता हुआ उत्पन्न हुआ और न त्पन्न हुआ को मारता है, भूमि के लिए झूठ बोलता हुआ सब को ‡ मारता है इसलिये भूमि के विषय में झूठ मत बोल ॥ ९९ ॥ (तालाब, बावड़ी आदि से लेने योग्य) जलों में, स्त्रियों के मैथुन रूपी भोग में, जल से उत्पन्न होने वाले रत्नों (मोती आदि), और पत्थरमय रत्नों (हीरा आदि) में भूमि की तरह (पाप) कहते हैं ॥ १०० ॥ झूठ बोलने में इन सारे दोषों को देखकर तू जैसा सुना जैसा देखा है, वह

* मारता है = नरक में डालता है, (मेघा०, गोवि०, कुल्लू०, नारा०) अथवा मारने के पाप का भागी होता है (मेघा०, कुल्लू०, ९८—९९ पर) मारता है = स्वर्ग से गिराता है (राघ०)

† पुरुष = दास, यह दास है कि नहीं (नन्द०) ‡ सब को = सब प्राणधारियों को (गोवि०, कुल्लू) सहस्र से अधिक को (नारा०, राघ०)

सब ठीक २ कहो ॥ १०१ ॥ गौओं की रक्षा से, बाणज से, कारी-
गरी से, नटपन से, दासपन से, और व्याज से जीविका करनेवाले
ब्राह्मणों को भी शूद्र की नाई आचरण करे (शूद्रवत् पूछे) * ॥

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।

न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्देवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥

शूद्रविदक्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥

वाग्देवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।

अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्वृत्तमग्नौ यथाविधि ।

उदित्युच्चा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥१०६॥

इस (साक्षिता) को धर्म (= दया आदि) हेतु से व्यवहारों में
जान बूझकर भी अन्यथा कहता हुआ मनुष्य स्वर्ग लोक से नहीं
गिरता है, क्योंकि ऐसी (शुभ संकल्प से बोली गई) वाणी को
देवी कहते हैं † ॥ १०३ ॥ (कहां अन्यथा कहना पाप नहीं,
सो दिखलाते हैं) जहां सत्य कहने में शूद्र, वैश्य, क्षत्री, ब्राह्मणों
का बध होता है ‡ वहां झूठ बोल देना चाहिए, क्योंकि वह सत्य

* वासि० ३ । १ ।

† १०३-१०४ वासि० १६ । ३६ गौत० १३। २४-२५ याज्ञ० २।८
विष्णु० ८ । १५ ‡ किसी धार्मिक से जब भूल से कोई बध होजाए,
उसके बचाने में यह नियम है, न कि पापी के बचाने में, जैसा कि
गौतम ने कहा है-‘नानुबन्धने दोषो तज्जीवनं चेत्तद्वर्धनं न तु पापी-
यसो जीवनम्, = झूठ बोलने में दोष नहीं, यदि उसका जीवन इस
के अधीन हो, पर पापी का जीवन नहीं,

से बढ़कर है ॥१०४॥ उस झूठ बोलने के पाप का उत्तम प्रायश्चित्त करते हुए वह (साक्षी) वाग्देवता वाले मन्त्रों से चरु के साथ सरस्वती याग करें * ॥ १०५॥ कूष्माण्ड मन्त्रों से, वा “उद्” इस वारुणी ऋचा से, वा जल देवतावाले तृच [तीन ऋचा के सूक्त] से यथाविधि अग्नि में घृत होमे † ॥१०६॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।

तद्वृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।

रोगोऽभिर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥१०८॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।

अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।

वासिष्ठश्चापि शपथं शेषे पैजवने नृपे ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।

वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

कामिनीषु विवाहेषु गवांभक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥११२॥

एक नीरोग पुरुष यदि (सम्मन मिलने से) तीन पक्ष के

* १०५-१०६ बौधाय० १।१।१९।१६ याज्ञ० २।८३ विष्णु० ८।१६

† कूष्माण्ड मन्त्र तैत्तिरीय आर० १०। ३-५ “ उद् ” वारुणी ऋचा “ उबुत्तमं वरुण ” ऋग० १।२४।१५, जल देवता वाला तृच ‘आपोहिष्ठाः’ इत्यादि ऋग्वेद १०। ९। १-३ ।

अन्दर साक्षिता न कहे, तो (धनी को) वह सारा धन देवे,
और उस सारे का दसवां भाग (राजा को दण्ड देवे) * ॥१०७॥
जिस गवाही दे चुके साक्षी के सात दिन के अन्दर रोग, वा अभिनि
(घर का दाह आदि) वा (निकट के) ज्ञाति (पुत्रादि) का
मरना देखा जाए, उससे ऋण और दण्ड दिलाना चाहिए †
॥ १०८ ॥ जिनमें साक्षी नहीं है, ऐसे व्यवहारों में परस्पर झगड़ते
हुओं की असली सचाई का पता न लगे, तो शपथ ‡ से भी पता
लगाए § ॥ १०९ ॥ महर्षि और देवताओं ने (संदिग्ध) कार्य
(के निर्णय) के लिए शपथें की हैं, वसिष्ठ ने भी पैजवन (पिज-
वन के पुत्र सुदास) राजा के सामने शपथ की थी ॥ ११० ॥
बुद्धिमान् पुरुष बहुत छोटे भी काम में ¶ झूठी शपथें न करें, क्योंकि
झूठी शपथ करनेवाला लोक परलोक में (निन्दा और नरक की
प्राप्ति से) नाश को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥ स्त्रियों के विषय में

* याज्ञ० २।७६ १० याज्ञ० २।११३ अर्थात् घोर रोग, वा घर आदि का
दाह वा पुत्रादि का मरण उसकी झूठी गवाही का चिन्ह है, जब एक
सच्चे पुरुष के विरुद्ध झूठ बोलकर उसके हृदय को भारी दुःख पहुँ-
चाया है, तो उसकी आह ने उसके किये उपद्रव का फल दिलाया है,
यह अभिप्राय है। (यह कहीं २ तो सच भी होता है, पर यह निःसन्देह
इसी का फल हुआ है, ऐसा जानना मनुष्य की बुद्धि से परे है, इस
लिए यह निर्णायक नहीं होसका-संपादक) † शपथ=सौगन्ध तथा
और दूसरे दिव्य उपाय जो आगे कहेंगे (मेघा०) § गौत० १३।

१२-१३ विष्णु० २।२-९ ॥ क्योंकि बड़े भारी कामों में झूठी शपथका
दोष भी भारी होता है। पर यदि 'स्वल्पे प्यर्थे' के स्थान 'स्वल्पे
कार्ये' पाठ हो, तो यह अभिप्राय होगा, बहुत छोटी बातों में वृथा
शपथ=युं ही सुगन्ध न खा लिया करे, यह अभिप्राय राघवानन्द

विवाहों में, गौओं के चारे में, इन्धन में, और ब्राह्मण की रक्षा में शपथ में पातक नहीं है * ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

अग्निं वाऽऽहारये देनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

यमिद्धो नदहत्यग्निं रापो नोन्मज्जयन्ति च ।

न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।

नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतःस्पशः ॥ ११६ ॥

ब्राह्मण को सचाई की, क्षत्रिय को घांड़े और शस्त्रों की, वैश्य को गौ बीज और सोने की † और शूद्र को सारे पातकों की शपथ देवे ॥ ११३ ॥ वा अग्नि इससे (शूद्र से) उठवाए, जलों में इसे डुबाए, वा अलग २ इसे पुत्र और स्त्री के सिर पर हाथ धराए ॥ ११४ ॥ (ऐसा करने पर) जिसको जलता अग्नि जला नहीं देता, जल डुबा नहीं देते, न जल्दी (पुत्र स्त्री के

ने लिया है * बहुत स्त्रियें हों, तो उनके चित्त को प्रसन्न रखने के लिए तूही मेरी प्यारी है, इत्यादि कहना, विवाह में अर्थात् तेरे सिवाय और नहीं विवाहूंगा, गौओं के लिये घास आदि लेने में और हवन के लिए लकड़ी लेने में, (नारा०) (सच तो यह है, कि झूठ सर्वत्र झूठ ही है—समादक)

† क्षत्रिय और वैश्य को इन वस्तुओं का स्पर्श कराए, और कहलावे कि यह हमारे निष्फलहों, यदि हम झूठ बोलें. (मेघा०, गोवि० कुल्लू)

वियोग की) पीड़ा को प्राप्त होता है, उसे शपथ में शुद्ध समझना चाहिए ॥ ११५ ॥ जैसा कि वत्स (ऋषि) को जब उसके छोटे (वैमात्र) भाई ने दोष लगाया (कि तू ब्राह्मण नहीं, तू शूद्रा का पुत्र है) तो (वह यह कहकर कि यदि मैं सत्य कहता हूँ, कि मैं ब्राह्मण हूँ, तो अग्नि मुझे नहीं जलाएगा, अग्नि में से निकल गया और) अग्नि ने—जो कि जगत् का गुप्तचर * है उसकी सचाई से उसका रोम भी न जलाया ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निर्वर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥
लोभान्मोहाद्व्यान्मैत्र्यात्कामात् क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

जिस २ विवाद में (साक्षियों ने) झूठी साक्षिता दी है, यह निश्चय होजाए, तो वह २ कार्य फिर लौटाया जाए, किया हुआ भी न किया हुआ होगा ॥११७॥ लोभ से, घबराहट से, भय से, मित्रता से, काम से, क्रोध और बालकपन से साक्षिता झूठी कही जाती जाती है ॥११८॥ इन (लोभादि) में से किसी एक निमित्त के होने पर जो साक्षिता झूठ कहे, उसके दण्डविशेष क्रमशः कहूंगा ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

* गुप्तचर = लोगों के शुभ अशुभ का जाननेवाला है ॥ † विष्णु०
८।४ दण्ड दिया हुआ भी लौटा दिया जाए, (गोवि०कुल्लू०, राघ०)
॥ ११९-१२३ याज्ञ० २।८१

कामादशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।

अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छत मेवतु ॥१२१॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान् मनीषिभिः ।

धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मं नियमाय च ॥ १२२ ॥

लोभ से हजार पण * मोह से प्रथम साहस (२५० पण)
भय से दो मध्यम साहस (हजार पण) मैत्री से चौगुना
प्रथम साहस (हजार पण) दण्ड देवे ॥ १२० ॥ काम से प्रथम
साहस दस गुना (= २५० × १० = २५०० पण) क्रोध से त्रिगुना
उत्तम साहस (१००० × ३ = ३००० पण) अज्ञान से पूरे दो
सौ पण और बालकपन से सौ पण दण्ड देवे ॥ १२१ ॥ झूठी
साक्षिता में बुद्धिमानों से कहे यह दण्ड बतलाए हैं, ताकि सत्य
का लोप न हो, और झूठ रुके ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।

प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥१२४॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।

सारापराधौ चालोक्य दण्डं दृष्ट्वेषु पातयेत् ॥१२६॥

* पण उस समय का पैसा था, प्रथम साहस २५० पण, मध्यम
साहस ५०० पण, उत्तम साहस १००० पण देखो आगे १३८ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोध्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
 अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥
 अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
 अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥
 वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विग्दण्डं तदनन्तरम् ।
 तृतीयं धनदण्डं तु बधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥
 बधेनापि यदात्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
 तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

धार्मिक राजा झूठी गवाही देनेवाले तीन वर्णों को दण्ड देकर निकालदे, पर ब्राह्मण को निरा निकालही दे * ॥१२३॥
 स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के दस स्थान बतलाए हैं, जो तीनों वर्णों के विषय में हैं, पर ब्राह्मण बिना किसी क्षति के (देश से) निकलजाए † ॥ १२४ ॥ (वह दस यह हैं) उपस्थ, पेट, जीभ, दोनों हाथ, पांचवें दोनों पाओं, नेत्र, नासा, दोनों कान, धन और सारा देह (छोटे अपराधों में धन दण्ड, ओर बड़े अपराधों में इन २ अंगों का काटना वा फांसी) ॥ १२५ ॥ अभिप्राय (निर्यतं) ‡ (अपराध का) स्थान (ग्राम जंगल आदि), अपराध

* ' विवासयेत् ' निरा निकालही दे, (कुल्लू०, नारा०, राघ०, नन्द) वस्त्र उतरवा कर नंगा करदे (गोवि०) नंगा करदे, और घर से निकालदे (मेघा०) † गौतम १२। ४६-४७ आप० २। २७; ८। १७—१९ विष्णु० ५। २-८ ‡ अनुबन्ध=अभिप्राय (गोवि०) किसी अपराध को बार २ करना (कुल्लू०, नारा०) नन्द ' अनुबन्ध के स्थान ' अपराध ' और ' सारापराधो ' के स्थान ' सारा सारा =बल बर्बलता ' पढ़ता है,

का काळ (रात्रि आदि) (अपराधी के धन और देह का) सामर्थ्य और अपराध (के गौरवलाघव) को देखकर दण्डनीयों को दण्ड देवे *॥१६॥ (सारी बातों को देखे बिना) अधर्म से दण्ड देना लोक में (जीते जी) यश का नाशक है और (मरे पीछे) कीर्ति का नाशक है, और परलोक में स्वर्ग का विरोधी है, इसलिये उसे खागे † ॥ १२७॥ अदण्डनीयों को दण्ड देता हुआ और दण्डनीयों को दण्ड न देता हुआ राजा बड़े अपयश को प्राप्त होता है, और नरक को जाता है ॥ १२८॥ पहले पड़ल बाणी का दण्ड (झिड़क) देवे, इसके पीछे (फिर अपराध करे तो) धिक्-दण्ड (लानत, फिटकार) देवे, (फिर करे तो) तीसरा धन दण्ड देवे, इसके पीछे (फिर करे तो) बध दण्ड देवे (बैत लगावे वा अंग काट दे) ॥ १२९॥ जब बध से भी इनको रोक न सके, तो इन पर सारे दण्ड लगावे ॥ १३०॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।

ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।

ता राजसर्षपास्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपाः ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षड्वयवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।

पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

* गौत० १२।५१ याज्ञ० १।३६७ १२७—१२८ याज्ञ० १।३६६]

विष्णु० १९।४३ ३३ १२९—१३० याज्ञ० १।३६६ ॥

(क्रय विक्रयदि-) लोक व्यवहार के लिए तांबे, चान्दी, सोने की जोर संज्ञा लोक में प्रसिद्ध हैं, वह (दण्डादि के उपयोग के लिए) पूर्णतया कहूंगा * ॥ १३१ ॥ रौशनदान के अन्दर से आती सूर्य की रश्मियों में जो सूक्ष्म रज (बारीक जरे) दीखते हैं, प्रमाणों में से उस सब से पहले प्रमाण (माप) को त्रसेरणु कहते हैं ॥ १३२ ॥ आठ त्रसेरणुओं की परिमाण में एक लिखा जाननी चाहिए, तीन लिखा एक राई, तीन राई, एक श्वेत सरसों ॥ १३३ ॥ छः सरसों का एक मध्य (न बहुत मोटा, न बहुत छोटा) यव, तीन जौ की एक रची, पांच रची का एक मासा, सोलह मासे का एक सुवर्ण (तोला) पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।

कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकःपणः ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।

चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।

मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

चार सुवर्ण का पल (छटांक), दस पल का धरण, बराबर की दो रातियें इकट्ठी तोली हुई एक चान्दी का मासा होता है ॥ १३५ ॥ सोलह मासे का चान्दी का धरण और पुराण

* १३१-१३८ याज्ञ० १ । ३६१-३६५ विष्णु० ४ । १-१४

होता है, तांबे का कर्ष * कर्षापण वा पण जानो ॥ १३६ ॥
दस धरण का चांदी का एक शतमान होता है, प्रमाण से चार
सुवर्ण एक निष्क (मोहर) होता है ॥ १३७ ॥ दो सौ पचास
पणों का प्रथम साहस, पांच सौ का मध्यम साहस और हजार
का उत्तम साहस कहा है ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पंचकं शतमर्हति ।
अपह्वे तद्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥
वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धनीम्
अशीतभागं गृहीयान्मासाद्वर्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

देने योग्य ऋण को (ऋणी) स्वीकार करले, तो पांच
(पण) सैकड़ा दण्ड देने योग्य है, इन्कार करे, (और प्रमाणित हो
जाए) तो इससे दुगुना (दण्ड) यह मनु की आज्ञा है ॥ १३९ ॥
धन के बढ़ाने वाली व्याज, जो वसिष्ठ ऋ ने बतलाई है, वह
लगाए, अर्थात् व्याजी सौ पर अस्सीवां भाग १।) सैकड़ा लेवे ॥

द्विकं शतं वा गृहीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृहीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥
नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीर्दिं वृद्धिमाप्नुयात् ।
नचाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्तिनविक्रयः ॥ १४३ ॥

* कर्ष = १६ मासे = ८० रत्तिये । † याज्ञ० २।४२ विष्णु० ६।
२०-२१ ‡ देखो वसिष्ठ धर्म शास्त्र २।५१ § याज्ञ० २।३७ गौत० १२।
२९ यह नियम बन्धक वाले ऋण के विषय में है, यह १४१ पर
नारा० राघ० और नन्द० ने लिखा है

नभोक्तव्येवलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।

मूल्यान तोषयेच्चैनमाधिस्तेनान्यथाभवेत् ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।

अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

अथवा भलों की मर्यादा जान दो (पण) सैंकड़ा लेवे, क्योंकि दो (पण) सैंकड़ा लेता हुआ धनी (व्याज लेने में) पापी नहीं होता है * ॥ १४१ ॥ (ब्राह्मण आदि)

वर्णों से क्रमशः बराबर दो, तीन, चार, पांच मासिक वृद्धि लेवे † ॥ १४२ ॥ फल देने वाले बन्धक (गौ, भूमि, दास, आदि) में

व्याज की वृद्धि (धनीको) नहीं मिलती, और लम्बी देर के पीछे भी बन्धक का न दान न विक्रय होता है ‡ ॥ १४३ ॥ बन्धक धक्के से नहीं

भोगना चाहिए, § यदि भोगे तो व्याज छोड़ देवे, (अथवा बन्धक रखे जाने के समय जो उसका मूल्य था उस) मूल्य से उस को

सन्तुष्ट करे, अन्यथा बन्धक का चोर होगा ¶ ॥ १४४ ॥ बन्धक

और अमानत दोनों दीर्घकाल तक पड़े हुए भी समय को नहीं लंघ जाते, (जब स्वामी चाहे तभी) देने होते हैं ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धेनुरुष्ट्रोवहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

* १४१-१४२ वासि० २।४८ याज्ञ० २।३७ विष्णु० ६।२ † यह नियम नारा०, राष्ट्र० नन्द० के अनुसार बन्धक रहित ऋण के विषय में है । मेघा०, गोवि० के अनुसार धनी का निर्वाह थोड़ी व्याज पर न चले, तो इतनी ले संका है, ‡ गौत० १।३२ विष्णु० ६।५ § यह कपड़े आदि जिनका भोगने से मूल्य घट जाता है । इनके विषय में है, ¶ याज्ञ० २।५९ विष्णु० ६।५ ॥ याज्ञ० २।५८ विष्णु० ६।७-८ ।

यात्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।

भुज्यमानं परंस्तूष्णीं न स तलब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपौगण्डौ विषये चास्य भुज्यते ।

भ्रमं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्व्यमर्हति ॥ १४८ ॥

धेनु, ऊंट, सवारी का घेड़ा, और जो सिधाने योग्य (बैल, आदि सिधाकर) काम में लगाया गया है, इन [वस्तुओं] को जब कोई मित्रता से भोग रहा हो, तो यह कभी खोई नहीं जाती* ॥ १४६ ॥

† (स्वामी के) सामने दूसरों से भोगी जाती हुई जिस किसी वस्तु को स्वामी बराबर दस वर्ष चुपचाप देखता रहता है (भोगने वाले को रोकता नहीं) तो वह उस वस्तु को (दस वर्ष के पीछे) नहीं पा सकता है † ॥ १४७ ॥ (स्वामी) यदि न पागल है, न बालक है और उसकी आंखों के सामने वस्तु भोगी जा रही है, तो व्यवहार से वह वस्तु उसकी नहीं रही, भोगनेवाला उस वस्तु को पाने योग्य है

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः ।

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

यः स्वामिनाऽननुज्ञात^म आधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।

तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

बन्धक, (ग्राम आदि की) सीमा, बालक का धन, खुली अमानत, और बन्ध अमानत, स्त्रियें (दासी आदि), राजा का धन और श्रोत्रिय का धन यह भोग से खोए नहीं जाते (दस वर्ष पीछे भी

* अगले श्लोक में दस वर्ष पीछे भोग से स्वत्व का नाश कहेंगे वह नियम मित्रता से भोगी जाती वस्तुओं में नहीं लगे, यह अभिप्रेत है । † १४७-१४८ वासि० १६।१६-१७ गौत० १२।३७ याज्ञ० २ । २४

स्वामी लेसकता है * ॥ १४९ ॥ जो मूर्ख (स्वामी की) अनुज्ञा बिना (चोरी २) बन्धक को भोगता है, उसे उस भोग के बदले में आधी व्याज छोड़नी चाहिये ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येनि सकृदाहता ।

धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥

कृतानुसारादाधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति ।

कुसीदपथमाहुस्तं पंचकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनःक्रियाम् ।

स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

एकवारगीली व्याज (मूल से) दुगुने से बढ़ नहीं जाती, अनाज, फल, बोझ ढोनेवाले पशुओं के विषय में पांच गुने से बढ़ नहीं जाती ॥ १५१ ॥ अधिक (व्याज) जो ठहराई मर्यादा से बढ़कर है, वह (व्यवहार से) सिद्ध नहीं होती, इसे बहुत व्याज खानेवालों का मार्ग कहते हैं, (अधिक से अधिक) पांच सैकड़े पीछे योग्य है ॥ १५२ ॥ वर्ष उल्रांघ्रकर व्याज न ले, न (शास्त्र में) न बतलाई (पांच से अधिक) ले, तथा चक्र की व्याज, काल की व्याज, कारित (व्याज) और कायिक (व्याज) न लेवे ॥ १५३ ॥ जो (ऋणी) ऋण देने के असमर्थ हुआ फिर लेख (तपस्सुक) कर देना चाहे, वह पिछली व्याज धनी को देकर लेख को बदल ले (नया कर दे) ॥ १५४ ॥

* वासि० १६। १८ गौत० १२। ३८—३९ याज्ञ० २। २५ † जो धके से भोगता है, उसे सारी व्याज छोड़ देनी चाहिये, यह पूर्व कहआए हैं ॥ चक्रवृद्धि=व्याज की व्याज । काल वृद्धि=दुगुना आजाने के पीछे की व्याज, कारित=इतना समय पीछे दुगुनी व्याज होगी, ऐसा ऋणी ने कर दिया । कायिक=व्याज में शरीर से कर्म कराते रहना ।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।

यावती सम्भवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥१५५॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।

अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥१५६॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥

यदि (व्याज का) धन भी न दे सके, तो बिना दिए उसी (नए लेख) में सारे धनको चढ़ा दे, [तब उस पर] जितनी वृद्धि हो, उतनी देने योग्य है ॥१५५॥ चक्र वृद्धि* में देश काल का नियम करके

† देश काल को उड़ाधने वाला उसके (पूरे) फल को नहीं पाता है ॥ १५६ ॥ किन्तु जल थल से जाने में चतुर, देश, काल और वस्तु ‡ के जाननेवाले जो वृद्धि स्थापन कर दें, वही वहां मिले ॥

यो यस्य प्रतिभृस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।

अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत् स्वधनाद्वणम् ॥१५८॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।

दण्ड शुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः ।

दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

* चक्र वृद्धि = पहिये से लाभ अर्थात् छरुड़े आदि द्वारा बोझ ढोने में जो लाभ नियत किया हो, † इतनी दूर ले जाने में, वा इतने समय में यह लूंगा ‡ जितनी दूर तक ले गया है, जितना समय साथ रहा है, जैसी वस्तु लेजानेवाली है, अर्थात् सम्भाल करके वा बिना सम्भाले इत्यादि समझने वाले ।

अदातरि पुनर्दाता विज्ञात प्रकृतावृणम् ।

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंघनः ।

स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६० ॥

जो मनुष्य जिसके दिखलाने के लिए ज़ामिन हो वह यदि (धन देने के समय) उसे न दिखलाए तो वह अपने धन से धनी का ऋण देवे * ॥ १५८ ॥ ज़मानत का धन, वृथा दान (मीरासी आदि को देना कहा हुआ) जुए का रुपया, शराब का रुपया दण्ड और कर की बाकी (पिता के मरने पर) पुत्र देने योग्य नहीं है ॥ १५९ ॥ पर दिखलाने की ज़मानत में पूर्व कही विधि लगती है देने का ज़ामिन मरजाए तो उसके वारिसों से भी दिलाए ॥ १६० ॥ जो देने का ज़ामिन नहीं हुआ (किन्तु दिखलाने का, वा विश्वास का ज़ामिन है) ऐसा जिसके विषय में ज्ञात है, उस ज़ामिन के मरने पर पीछे धनी किस हेतु से धन पाए (अर्थात् नहीं पासक्ता) ॥ १६१ ॥ पर यदि ज़ामिन को (ऋणी से) धन मिल चुका हुआ है, और पूरा मिल चुका हुआ है, तब वह लिए धन वाला ज़ामिन अपने धन से ही देवे (अथवा जितना लिया हो, उतना देवे) यह मर्यादा है ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरणे वा ।

असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता ।

बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्वयावहारिकात् ॥ १६४ ॥

* १५८-१६० गौत० १०।४२ याज्ञ० २।४७, ५३-५४ विष्णु० ६।४१

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।

यत्र वा प्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

(मद्य आदि से) मत्त, पागल, (शोकादि से) पीड़ित, अ-
स्वतन्त्र, बाल, और बूढ़े से किया, तथा असम्बद्ध (पुरुष) से
किया (ऋण आदि का) व्यवहार नहीं सिद्ध होता है । (ऐसा
ऋण आदि धनी को नहीं मिल सक्ता) * ॥ १६३ ॥ वह भाषा
(इकरार) जो (शास्त्रीय-) धर्म से वा नियत व्यवहार (रिवाज)
से विरुद्ध की गई है, † वह चाहे (लेख आदि से) पक्की भी कर
ली गई हो, तथापि वह सच्ची नहीं होती (उसका विषय अनुष्ठेय
नहीं होता) ॥ १६४ ॥ छल से किए बन्धक (गिरवी), विक्रय,
दान और प्रतिग्रह, अथवा (इनके अन्यत्र भी) जहां कहीं
(अमानत आदि में) छल देखे (वास्तव में बन्धक आदि न
किये हों) उस सब को उलट देवे [स्वीकार न करे] ॥ १६५ ॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः ।

दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।

स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्नविचालयेत् ॥ १६७ ॥

बलाद्वत्तं बलादभुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।

सर्वान्वलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

ऋण लेने वाला यदि नष्ट हो [मर गया हो वा बेपता होगया
हो] पर उस ऋण का (व्यय यदि उसने सारे) कुटुम्ब के लिए

* याज्ञ० २। ३२ † स्त्री वा सन्तान का बेचना इत्यादि

किया हो) तो वह (ऋण) [लेने वाले के] बान्धवों को चाहिए, कि अपने २ धन से देवें, चाहे अलग २ भी होगये हों, * ॥ १६६ ॥
(घर के स्वामी के) अपने देश में विद्यमान होते हुए, वा विदेश में होते हुए भी उसके कुटुम्ब के लिये पराधीन (नौकर आदि) भी जो व्यवहार (लेन देन) करे, इसको बुद्धिमान न हिलाए † ॥ १६७ ॥ बल से दिया, बल से भोगा, बल से लिखवाया बल से किये यह सारे व्यवहार मनु ने न किये कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥
अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥
अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् !
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥
स्वादानाद्गणसंसर्गाच्चवलानां च रक्षणात् ।
बलं संज्ञायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

तीन (पुरुष) दूसरे के लिये क्लेश उठाते हैं, साक्षी, जामिन और जज । ‡ और चार पुरुष (दूसरों के द्वारा) बढ़ते हैं, ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा ॥ १६९ ॥ (धन से) क्षीण भी राजा अग्राह्य धन (किसीसे) न लेवे, और (धन से) समृद्ध भी ग्राह्य थोड़े भी

* अर्थात् ऋण लेने के समय इकट्ठे थे पीछे चाहे अलग भी होगये हों । याज्ञ० २।४५ † न हिलाए, मैं नहीं दूंगा न कहे । याज्ञ० २।८९ विष्णु० ७।६ ‡ कुल=जज (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) न अलग हुए भाई बन्धु जो किसी मरे हुए का कुछ न लेकर उसका ऋण शोधते हैं, (नारा०)

धन को न छोड़े * ॥ १७० ॥ क्योंकि अग्राह्य के ग्रहण से और ग्राह्य के साग से राजा की दुर्बलता पाई जाती है, वह परलोक में और इस लोक में नष्ट होता है ॥ १७१ ॥ अपना हक लेने से, वर्णों की परस्पर प्रीति बढ़ाने से, और दुर्बलों की रक्षा से, राजा का बल बढ़ता है, वह लोक और परलोक में बढ़ता है ॥ १७२ ॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।

वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ।

अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति ।

प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

इसलिए राजा यम की तरह अपने प्रिय अप्रिय को छोड़कर, क्रोध को जीत, और इन्द्रियों को बस में करके, यम के बर्ताव (सब में समता) से वर्ते ॥ १७३ ॥ जो राजा मोहवश अधर्म से कार्य करता है, उस दुरात्मा को जल्दी शत्रु बस में कर लेते हैं ॥ १७४ ॥ और जो काम क्रोध को रोककर धर्म से सारे व्यवहारों को देखता है, प्रजा उसकी ओर झुकती हैं, जैसे समुद्र की ओर नदियाँ ॥ १७५ ॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदेयद्वनिकं नृपे ।

स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥१७६॥

कर्मणापि समं कुर्याद्वनिकायाधमर्णिकः ।

समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छतैः ॥१७७॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।

साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥१७८॥

अपनी स्वतन्त्रता से धन लेने का यत्न करते हुए धनी पर जो (ऋणी) राजा के पास नालिश करे, उस (ऋणी) को राजा (ऋण का) चौथा हिस्सा दण्ड भी दे, और उसका (धनी का) वह धन भी दिलावे *॥१७६॥ बराबर की जाति वा निचली जाति का ऋणी (ऋण न दे सके, तो) कर्म से भी धनी का ऋण चुकादे, पर जो ऊंची जाति का है, वह धीरे २ दे ही ॥१७७॥ इसप्रकार राजा आपस में झगड़ते हुए मनुष्यों के कार्य साक्षी और कागज़ आदि से सिद्ध करके ठीक करे ॥ १७८ ॥

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।

महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षेपेद् बुधः ॥१७९॥

यो यथा निक्षेपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।

स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।

याच्यः प्राड् विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥

कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुत बान्धवों वाले, धनी आर्य के पास बुद्धिमान को अमानत रखनी चाहिये ॥ १७९ ॥ जो मनुष्य जिसप्रकार से [= मुहर लगाकर वा बिना मोहर, किसी के सामने वा अकेले] जिसके हाथ में अमानत रखे,

* विष्णु० ६। १९ देखो पूर्व ४९—५० ॥

वह वैसे ही लेवे, जैसे देना होता है वैसे लेना होता है* ॥१८०॥
जो मांगने पर अमानत रखनेवाले को अमानत देता नहीं है,
उससे जज मांगे, पर रखनेवाले के सामने [न मांगे] ॥१८१॥

साक्ष्यभावे प्राणिभिर्वियोरूपसमान्वितैः ।

अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥१८२॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथा कृतम् ।

न तत्र विद्यते किञ्चिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथान्विधि ।

उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

साक्षी के अभाव में [जज] अवस्था और रूप [से भले प्रतीत होने] वाले अपने गुप्तचरों से बहाने से उसके घर में अपना सोना ठीक रीति से अमानत रखाए ॥ १८२॥ अब [मांगने पर] जैसी रीति से जैसे रूप में अमानत रखी थी, उसे स्वीकार करता है, तो [यह जानना चाहिये कि] उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिस की दूसरों ने नालिश की है ॥१८३॥ पर यदि ठीक उसीप्रकार उनका वह [अमानत रक्खा] सोना न देवे, तब उस को पकड़वाकर दोनों [अमानतें=पहली और अब की भी] उससे दिलवानी चाहिये, यह धर्म की मर्यादा है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।

नश्यतो विनिपाते तावनिपातेत्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।

न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥

* याज्ञ० २।६५ और देखो आगे १९५।

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीति पूर्वकम् ।
 विचार्य तस्य वा वृत्तं साधैव परिसाधयेत् ॥१८७॥
 निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्त्वरिसाधने ।
 समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरत् ॥१८८॥
 चौरहतं जलेनोदमग्निना दग्धमेव वा ।
 न दद्यादद्यादि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥

खुली वा मोहरवाली अमानत [अमानत वाले के जीते जी]
 उसके वारिसों [पुत्र, भाई, स्त्री] को नहीं देनी चाहिये, क्योंकि
 विघ्न (उस तकन पहुंचने) में खोजाती है, हां कोई विघ्न न हो, तो नहीं
 खोई जाती ॥१८५॥ जो स्वयमेव मरे हुए के वारिसों को [मरनेवाले
 की अमानत] देदेवे, उस पर न राजा ने न अमानत रखनेवाले के
 बन्धुओं ने कोई आक्षेप करना चाहिए, (कि उसने पूरा नहीं दिया
 इत्यादि) ॥ १८६ ॥ [यदि और होने की सम्भावना हो तो]
 बिना छल ही उस अर्थ को प्रीति पूर्वक पता लगाना चाहे वा
 उसके शील को विचारकर सभ्य मार्ग से साधे ॥१८७॥ इन सारी
 अमानतों में अमानत के पाने में यही विधि है मोहर वाले में कोई
 शंका भी उस पर न हो, यदि (वह अमानत) उस [हरणक मोहर] से
 बिगड़ी न हो ॥१८८॥ चौरों से हरी, जल से बहाई गई, वा अग्नि से
 जलाई गई [अमानत को] वह न देवे, यदि उसमें से कुछ लिया
 हुआ नहीं [लिया हुआ हो, तो उतना देदेवे] * ॥ १८९ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तार मेव च ।
 सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥

निक्षेपस्यापहतारं तत्समं दापयेद्दमम् ।

तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अमानत के चुरा लेने वाले वा बिना रखे मांगने वाले को इन सब उपायों से और वैदिक शपथों से निश्चय करे ॥ १९० ॥ जो अमानत वापिस नहीं देता है, वा बिना अमानत रखे मांगता है, उन दोनों को चोर की तरह दण्ड देना चाहिए * वा उस [धन] के बराबर दण्ड देना चाहिए † ॥ १९१ ॥ अमानत के हरनेवाले, तथा मोहर वाली अमानत के हरनेवाले को भी राजा अविशेष से ‡ उस (अमानत) के बराबर दण्ड देवे ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।

ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधेर्वधैः ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।

तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथएव वा ।

मिथ एव प्रदातव्यो यथादायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।

राजा विनिर्णयं कुर्यादाक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१९६॥

जो धोखों से [राजपुरुष बनकर, वा रसायनी आदि बनकर

* चोरघट्ट दण्ड = हाथ काटना आदि । † विष्णु० ५।१६९-१७१

‡ अविशेष से, बिना भेद करने के हरणक वर्ण के पुरुष को ॥

इत्यादि से] दूसरे के धन को हरे, उसे साथियों समेत अनेक प्रकार के बध दण्डों से मारना चाहिये ॥ १९३ ॥ जिसने साक्षियों के सामने जितनी अमानत धरी हो, उतनी ही वह जाननी चाहिए, अन्यथा कहता हुआ † दण्ड के योग्य होता है ॥ १९४ ॥ जिसने [अमानत] एकान्त में दी हो, और एकान्त में ही ली हो, वह एकान्त में ही वापिस देनी चाहिए, जैसे देना होता है, वैसे लेना होता है ॥ १९५ ॥ अमानत रखे वा प्रीति से [कुछ काल भोगने के लिये] दिए धन का इसप्रकार अमानतधारी को पीड़ा न देता हुआ राजा निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।

न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।

निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥१९८॥

(अब बिन स्वामी के बेचने का विचार करते हैं) जो स्वामी न होकर स्वामी की संमति बिना दूसरे के धन को बेचता है, उस अपने आपको चोर न माननेवाले (वस्तुतः) चोर को साक्षी न बनाए, (अर्थात् कहीं भी प्रमाण न करे) ॥ १९७ ॥ यह (पर धन का बेचनेवाला) यदि स्वामी का सम्बन्धी (भाई पुत्रादि) है, तो उसे छः सौ पण दण्ड देना चाहिए, जो सम्बन्धी नहीं और (असली स्वामी वा उसके पुत्रादि की ओर से) उसके हाथ में नहीं आया, तो वह चोर के पाप को प्राप्त होता है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतोयस्तु दायो विक्रयएव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः ॥१९९॥

* हाथ पांओं काठने आदि से, † उससे अधिक कहता हुआ ।

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृहीयात्कुलसन्निधौ ।

क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥

अस्वामी ने जो दिया वा बेचा है, वह न किया हुआ जानना चाहिए, यह व्यवहार में मर्यादा है ॥ १९९ ॥ जिस वस्तु के विषय में संभोग देखा जाता है, आगम नहीं, वहां आगम कारण है, न कि संभोग, यह मर्यादा है (एक पुरुष किसी वस्तु को बर्त रहा है, पर उसे किस तरह मिली, यह नहीं बतला सक्ता, वह उसका स्वामी नहीं होसक्ता, किन्तु स्वामी वह है, जिसने उस वस्तु को उचित रीति से पाया है) ॥ २०० ॥ बिक्री से जो कोई वस्तु बहुतों के सामने लेवे, वह खरीद से शुद्ध है, (यदि उसमें गड़बड़ भी निकले, तौ भी बेचने वाले से) वह अपना धन न्यायानुसार पालेता है * ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।

अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रय मर्हति ।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

पर यदि मूल पुरुष (= बेचने वाले) को न लासके, और लोगों के सामने खरीद से निर्दोष है, तब वह राजा से अदण्डनीय कहा है, पर धन वह पाता है, जिसका खोया गया है ॥ २०२ ॥ एक वस्तु दूसरे के साथ मिलाकर (जैसे केसर के साथ

कुसुम्भा और घी के साथ चर्बी) नहीं बेचनी चाहिए, न (बहुत दूर पड़ी रहने आदि से) असार, न (परिमाण से) घट, न दूर से ढकी हुई (बेचनी चाहिये) * ॥ २०३ ॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।

उभे ते एक शुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।

पूर्वं दोषानभिरूपाप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

यदि (शुल्क ठहराने के समय) और कन्या दिखलाकर (विवाह के समय) वर को और कन्या दीजाती है, तो वह उन दोनों को उस एक शुल्क से विवाह सकता है, यह मनु ने कहा है । ॥ २०४ ॥ पागल, कोढ़वाली, वा कंवारापन नष्ट कर चुकी कन्या के दोषों को कहकर देनेवाला दण्ड के योग्य नहीं होता है ॥ २०५ ॥

ऋत्विग्यादि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।

तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।

कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

यस्मिन् कर्माणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यंगदक्षिणाः ।

स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

* याज्ञ० २ । २४५ †रूपया लेकर कन्या विवाह देना धर्म शास्त्र से निन्दित है, देखो पूर्व ३ । ५१-५४ पर कुछ छोटी जातियों में रिवाज था, उसके विषय में यह नियम है ।

(अब मिलकर किये कामों के विषय में कहते हैं) यज्ञ में चुना हुआ ऋत्विज् यदि (व्याधि आदि से) बीच में ही अपने कर्म को त्याग दे, तो उसको दूसरे करने वालों के साथ अपने कर्म के (जितना किया है उसके) अनुसार हिस्सा देना चाहिए ॥२०६॥ पर दक्षिणा दीजाने पर यदि अपने कर्म को छोड़े, तो पूरा ही हिस्सा लेवे, (और शेष रहा कर्म) दूसरे से करवा देवे * ॥२०७॥ जिस कर्म में अंगर के प्रति जोर दक्षिणा (जिसके लिए) कही हैं, वह उनको लेवे, वा सारे ही इकट्ठी करके बांट लेवें † ॥

रथं हरेत वाऽध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।

होता वापि हरेदश्वमुदगाता चाप्यनः क्रये ॥२०९॥

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।

तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थीशाश्चपादिनः ॥ २१० ॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।

अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

अग्न्याधान में अध्वर्यु रथ को लेवे, ब्रह्मा और होता घोड़े को और (सोम के) खरीदने में उद्गाता रथ को लेवे ॥ २०९ ॥ सब (सोलह ऋत्विजों) में जो मुखिया चार ऋत्विज् हैं (होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता) वह आधी होते हैं, दूसरे (चार—मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंती, प्रस्तोता) शेष आधे के आधी होते हैं, तीसरे [चार—अच्छावाक, नेष्टा, अग्नध्रि, प्रतिहर्ता] [पहलों के] तीसरे हिस्से के भागी होते हैं, चौथे

* याज्ञ० २।२६५ † देखो आश्व० श्रौत० सूत्र१।३।१४-१५; ४।७-२०

[चार—ग्रावस्तुत, नेता, पोता, सुब्रह्मण्य,] (पहल्लोंके) चौथे हिस्से के भागी होते हैं, * ॥२१०॥ मिलकर काम करनेवाले मनुष्यों [मिस्तरी राज आदि] को भी यहां इस क्रम योग से (अपने) भागों की कल्पना करनी चाहिये * ॥ २११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्॥२१२॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पालोभेन वा पुनः ।

राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनप क्रिया ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

[अब दिए को लौटा लेना कहते हैं] जिसने धर्म [यज्ञादि] के लिए याचना करते हुए किसी को कुछ धन दिया हो, पछि यदि वह धन उस काम पर न लगे, तो वह उसको देने योग्य नहीं होता है, [अर्थात् देना कहा हो, तो न देवे, दे चुका हो, तो वापिस लेसकता है] ॥२१२॥ यदि वह दर्प से, वा लोभ से उस धन को फिर लेवे, [वा लिया न फेरे] तो राजा उसे उस चोरी का बदला एक सुवर्ण दण्ड देवे॥२१३॥ यह दिए हुए का न देना धर्मानुसार ठीक २ कहा है, इसके आगे वेतन का न देना कहूंगा॥

* अर्थात् २५ हिस्से पूरे होकर १२ पहल्लों को ६ दूसरों को, चार तीसरों को, ३ चौथों को । ऊपर का नियम मोटे तौर पर है, २५ का पूरा आधा १२॥ साढ़े बारह है । मोटे तौर पर १२ भी आधा कहा जाता है । मिलाओ आश्व० श्रौ० ९ । ४ । ३-५ * याज्ञ० २ । २५ ९, २६५ ।

भृतोऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
 सदण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥२१५॥
 आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथा भाषितमादितः ।
 स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥
 यथोक्तमार्तःसुस्थोवा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
 न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥२१७॥
 एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादान कर्मणः ।
 अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

नौकर जो बिना रोग के अहंकार से कहे हुए कर्म को न करे, उसको आठ रत्ती * दण्ड मिले, और वेतन भी नहीं देना चाहिये † ॥ २१५ ॥ हां यदि रोगी हो तो स्वस्थ होकर कहे अनुसार आदि से [काम को] पूरा करे, वह लम्बे काल के पीछे भी उस वेतन को पावे ॥ २१६ ॥ पर जो रोगी हुआ [दूसरे से] वा चंगा होकर स्वयं उस कर्म को न करवाए, वा न करे, उसको वेतन नहीं देना चाहिए, चाहे कर्म थोड़ा ही ऊन हो ॥ २१७ ॥ यह वेतन के न देने का सारा धर्म कहा, इसके आगे प्रतिज्ञा तोड़नेवालों का धर्म कहूंगा ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।

विसंवदेन्नरोलोभात्तं राष्ट्रादिप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

* अपराध के अनुसार आठ रत्ती सोने चान्दी वा तांबे की (मेघा० गोवि०) † आप० २। २८। २-३ याज्ञ० २। १९३ विष्णु० ५। १५३-१५४।

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।

चतुःसुवर्णांश्च षण् निष्कांश्छतमानंच राजतम् ॥२२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।

ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वाकिञ्चिद्यस्येहानुशयोभवेत् ।

सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥२२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।

आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्डयः शतानि षट् ॥२२३॥

जो मनुष्य ग्रामदेश * वा समुदायो [कम्पनियों वा धार्मिक संघों] के साथ सचाई से इकरार करके लोभ से उसे उलाँचे, उस को (राजा)देश से निकाल दे † ॥ २२० ॥ और इस इकरार तोड़ने वाले को पकड़वाकर चारसुवर्ण, वा छः मोहरें, वा चान्दी का शतमान [अपराध के अनुसार अलग २ वा सारे मिलाकर] दण्ड देवे ॥ २२० ॥ ग्राम और जाति समूहों के विषय में इकरार तोड़ने वाले को भी धार्मिक राजा यही दण्ड विधान करे ॥२२१॥ कोई वस्तु खरीद कर वा बेचकर जिसको पछतावा हो, वह दस दिन के अन्दर उस वस्तु को देदे, वा लेले, ‡ ॥ २२२ ॥ दस दिन के पीछे न दे न दिलाए, लेनेवाले वा देने वाले को राजा छः सौ [पण] दण्ड देवे ॥ २२३ ॥

* इस गाँवों में, वा इस देश में, यह बात न की जाएगी वा इस तरह पर की जाएगी † याज्ञ० २। १९२ विष्णु० ५।१६८ ‡ याज्ञ० २। १७७ यह नियम उन वस्तुओं के विषय में है, जिनका मूल्य ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे भूमि वा घातें आदि ।

यस्तु दोषवर्ती कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
 तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवर्ति पणान् ॥२२४॥
 अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः ।
 स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥२२५॥
 पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
 नाकन्यासु कचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥२२६॥
 पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
 तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वाद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥
 यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
 तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

जो [उन्मादादि] दोष वाली कन्या को न बतलाकर [वर को] देता है, उसको राजा स्वयं ९६ पण दण्ड देवे *॥ २२४ ॥ जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या [क्षत योनि है] कहे, वह उसके दोष को न सिद्ध करता हुआ १०० पण दण्ड को प्राप्त हो ॥ २२५ ॥ मनुष्यों के पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र कन्याओं के विषय में ही नियत हैं, अकन्याओं में कहीं नहीं, क्योंकि वह धर्म कार्य को लुप्त कर चुकी हैं ॥ २२६ ॥ पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र निश्चित पत्नी होजाने का निमित्त हैं, उन [मन्त्रों] की समाप्ति [सप्तपदी के] सातवें पद में जाननी चाहिये ॥२२७॥

* २२४-२२५ याज्ञ० १।६६ दोष पहले कह कर देने में दण्ड नहीं होता । देखो पूर्व २०५ ' सप्तपदी होजाने से पूर्व भार्यात्वकी सिद्धि नहीं होती, अर्थात् सातवें पद से पूर्व पञ्चात्ताप हो, तो त्यागी जास-

[इसी प्रकार और भी] जिस २ कार्य के करने पर जिसको यहां पञ्चात्ताप हो, उसको इसी विधि से ॐ [राजा] धर्म के मार्ग में स्थित करे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।

विवादं सं प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु सदुह्यादशतो वराम् ।

गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृतेभृतिः ॥ २३१ ॥

[स्वामी और पालक का विवाद कहते हैं] पशुओं के विषय में स्वामी और पालकों के बिगाड़ में जो विवाद होता है, उसको ठीक २ धर्म के तत्त्व से कहूंगा ॥ २२९ ॥ [पशुओं के] योग क्षेम [पालन और रक्षा] में दिन के समय पालक पूछा जाता है, रात्रि को स्वामी यदि [पशु] उसके घर आए हों, न आए हों, तो रात को भी पाल ही पूछा जाता है ॥ २३० ॥ जो गौओं का रक्षक भृत्य अपना वेतन दूध लेवे, वह गौओं के स्वामी की अनुमति में दस गौओं में से एक चुनकर दोह लेवे, यह कोई और दूसरा वेतन न लेने वाले पाल का वेतन है ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।

हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।

यादि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥

करती है, पीछे नहीं, (कुल्लू०) ॐ अर्थात् दस दिन के अन्दर ।

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्ति स्नायुं च रोचनाम् ।
 पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानिदर्शयेत् ॥२३४॥
 अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
 यां प्रसह्य वृकोहन्यात् पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥२३५॥
 तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
 यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्नपालस्तत्रकिल्बिषी ॥२३६॥

खोए गए वा कीड़ों* से मरे वा हिस्सों से मारे गए, वा गढ़े आदिमें गिरकर मरे को पालका ही देवे, यदि उसने बचाने का पूरा पुरुषार्थ न किया हो ॥ २३२॥ पर जो डंके की चोट [जबरदस्ती छीन कर] चोर लेगये हैं, उसको पालक देने योग्य नहीं है, यदि ठीक देश काल में अपने स्वामी को बतला देता है ॥ २३३॥ [अपने आप मरे पशुओं के] कान, चमड़ा, (पूंछ के) बाल, मसाना, (भुक्रना = मृत्राशय) और गोरोचन स्वामी को देवे, और चिन्ह ॐ दिखला देवे ॥ २३४॥ भेड़ बकरियों को भेड़िये घेर लें, और पाल [छुड़ाने को] न आए, तो जिसको भेड़िया धक्के से मार डाले, वह पाल का दोष हो ॥ २३५॥ पर यदि वह (पाल से) रोकी हुई बन में इकट्ठी चर रही हैं, तो जिसको (बे मालूम कहीं से) कूद कर भेड़िया मार डाले, उसमें पाल दोषी नहीं है ॥ २३६॥

* कीड़े=आरोहक नामी कीड़े जो गौओं को उपस्थमार्ग से प्रवेश कर के मार डालते हैं (मेधा०) कीड़े=सर्पादि (राघ०) ॥ याज्ञ १।१६४-१६५ विष्णु ५।१३७-१३८ ॥ 'अंगानि' = 'अंग' पाठ भी है ॥ विष्णु ५।१३७॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
 शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥
 तत्रापखितं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
 न तत्र प्रणयेदण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥

ग्राम के चारों ओर सौ धनुष वा तीन शम्यापात *
 भूमि (चरागाह के लिये) ज़खीरा रखें, इससे त्रिगुनी नगर
 के चारों ओर । २३७ । वहां बाड़ से रहित खेती को यदि
 पशु नष्ट करें, तो उसमें राजा पशुपालों को दण्ड न दे । २३८ ।

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
 छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे पखिते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
 सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥२४०॥
 वहां (खेती के बचाव के लिये) बाड़ देवे, जिस (के पिछली
 ओर) को ऊंट न देख सके और हर एक छिद्र जिस में कुत्ते वा
 सूअर का मुख पहुंच सकता है ढक दे । २३९ । पर मार्ग के
 समीप वा ग्राम के समीप जो क्षेत्र बाड़ दिया हुआ है, उसमें
 (द्वारादि से प्रविष्ट हुए) पशु के पालक को दण्ड देवे, और जिन
 का मालक नहीं उन पशुओं को (क्षेत्ररक्षक) हटा दे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
 सर्वत्र तु सदा देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥

* धनुष चार हाथ का होता है । शम्या एक लकड़ी का
 यज्ञ पात्र होता है । तीन शम्यापात अर्थात् तीन बार फैकी हुई छड़ी
 जितनी दूर पहुंचजाए, उतनी भूमि ॥ २४०-२४२ गीत १२ । १९-

आनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा ।

सपालान्वाविपालान्वानदण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥२४२॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।

ततोऽर्धदण्डोभृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥२४३॥

एताद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।

स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥२४४॥

दूसरे (जो ग्रामसे दूरस्थ हैं, ऐसे) खेतों में सवा पण दण्ड के योग्य होता है, और सर्वत्र फल खेत के मालिक को देना चाहिये, यह मर्यादा है । २४१। गौ प्रसूता, जिस को दस दिन नहीं निकले, (स्वतन्त्र छोड़े हुए) साण्ड और देवपशु चाहे पालक सहित हों वा पालक रहित हों इनको मनुने दण्डनीय नहीं कहा है । २४२ । यदि खेत के मालिक का अपराध हो (अर्थात् उसी के पशु खेती चर जाएं, वा खेती ही न बोए) तो उसे राजा को देने योग्य भाग से दस गुना दण्ड हो, उससे आधा दण्ड खेत के स्वामी को हो, जब उसके नौकरों की मूर्खता से ऐसा हुआ हो * २४३ । धार्मिक राजा यह (पूर्वोक्त) मर्यादा बर्ते, जब स्वामी का पालक का वा पशुओं का अपराध हो । २४४ ।

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।

ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्च तथा किंशुकान् ।

शाल्मलीन् सालतालान्श्चक्षीरिणश्चैव पादपान् ॥२४६॥

गुल्मान्वेणुंश्चविविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
 शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥२४७॥
 तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
 सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥
 उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिंगानि कारयेत् ।
 सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्॥२४९॥

दो गाओं की हृद का झगड़ा उत्पन्न हो, तो जेठ महीने में जब कि (घास के सूखजाने से) हृद के चिन्ह प्रकट हों, तब हृद का निश्चय करे । २४५ । वड़, पीपल, केसू, सिंबल, साल, ताल, तथा और दूध वाले (गूलर आदि) वृक्षों को हृद के वृक्ष बनाए । २४६ । झाड़ियें, भिन्न २ प्रकार के बांस, जंडी बेलें *, मट्टी के ढेर, सर, और कुब्जक झाड़ियें, (हृद के चिन्ह बनाए) इस प्रकार हृद नष्ट नहीं होती । २४७ । तालाब, कुएं, बावड़ियें, झरने और देवमन्दिर हृद के मेल पर बनाने चाहियें । २४८ । सीमा के जानने में सदा लोक में लोगों की भूल होती देख कर और भी हृद के गुप्त चिन्ह बनाए । २४९ ।

अश्मनोऽस्थीनिगोबालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।

करीषमिष्टकांगारांश्छर्कराबालुकास्तथा ॥२५०॥

यानि वैधं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्नभक्षयेत् ।

तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥

* चिर रहने वाली करंज आदि बेलें (नारा०)

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २४२ ॥

अर्थात् पत्थर, हड्डियें, गोबाल, तुस, भस्म, खपड़े, सूखा गोबर, कोइला, रोड़ ठीकरी, रेत । २५० । इसी प्रकार के और भी पदार्थ जिन को समय बीतने पर भूमि खा न जाए, वह हृद् के जोड़ों पर बेमालूम करादे । २५१ इन चिन्हों से राजा झगड़ते हुए दो गाओं की हृद् का निर्णय करे, दीर्घ काल के पूर्वले भोग से (कौन गाओं किस भूमि को भोगता चला आता है) और बीच में पानी (नदी नाले आदि) के पड़ने से (बार पार के गाओं की हृद् का निश्चय करे) । २५२ ।

यदि संशयएव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।

साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।

प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।

निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

शिरोभिस्तेगृहीत्वोर्वीं सग्विणो रक्तवाससः ।

सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।

विपरीतं नयन्तस्ते दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५८॥
सामन्तानामभावेतु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

यदि चिन्हों के देखने में भी संशय ही हो, तब हद्द के झगड़े का निर्णय साक्षियों के विश्वास पर हो । २५३ । गाओं के लोगों के, और (दोनों गाओं की ओर से) झगड़नेवाले उन दोनों के सामने हद्द के विषय में हद्द के चिन्ह साक्षियों से पूछने चाहियें । २५४ । वह पूछे हुए सारे सीमाके विषय में जैसा अपना निश्चय बतलाएँ, वैसी सीमा नियत करे, और उन सब (साक्षियों) के नाम लिखे * । २५५ । वह (साक्षी) (काल फूलों की) माला और लाल वस्त्र पहन कर, सिरपर मट्टी रख कर अपने २ पुण्यों की सौगन्द खाकर ठीक २ निर्णय करें ॥ २५६ ॥ कहे अनुसार ठीक निश्चय कराने वाले सच्चे साक्षी पवित्र होते हैं, उलटा निश्चय करानेवालों को (पता लगने पर) दौ सौ पण दण्ड देना चाहिये । २५७ । साक्षियों के अभाव में चारों ओर के रहने वाले, भिन्न २ ग्राम वासी चार जमींदार शुद्ध हो राजा के सामने सीमाका निर्णय करें । २५८ । सीमा निर्णय में मूलसे आते हुए (पिता पितामह आदि से वहीं बसते हुए) आस पास वालों के अभाव में वन में रहने वाले इन पुरुषों से भी पूछे ।

* सीमा निर्णय में सब की एक वाक्यता पूरा प्रमाण है, एक वाक्यता नहो, तो बहुतों का वाक्य माने (मेघा०) † २५६-२६० याद० २ । १५२

व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।

व्यालग्राहानुच्छवृत्तीनन्यांश्चवनचारिणः ॥ २५६ ॥

ते पृष्ठास्तु यथाब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।

तत्तथास्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

शिकारी, चिड़ी मार, ग्वाले, धीवर (माहीगीर) मूल (कंद) खोद (कर जीविका कर) ने वाले, सांप पकड़ने वाले, दाने चुनने वाले और दूसरे * बन चारियों को (भी पूछे) । २६० । वह पूछे हुए सीमा के जोड़ों में जो चिन्ह बतलाएं, उसको वैसे राजा दोनों गाओं में धर्म से (सीमा चिन्ह) स्थापन करे । २६१ ।

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।

सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६१ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।

सर्वे पृथक्पृथग्दड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानादद्विशतोदमः ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।

प्रदिशेद्भूमिमेतेषां मुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

खेत, कुएं, तालाब, बगीचे और घर की हद्द बन्दी का

‡ लकड़ियां काटने वाले आदि वा भील आदि ।

निश्चय आसपासवालों के विश्वास पर जानना चाहिये * २६३
 विवाद करने वाले मनुष्यों की हद्दबन्दी में यदि आस पास वाले
 झूठ बोलें, तो राजा सबको अलग २ मध्यम साहस दण्ड देवे २६३
 जो भय दिखलाकर किसके घर, तालाब, बाग, खेत को छीने, तो
 उसे पांच सौ दण्डदे, (मेरा है इस) भूल से छीने, तो दो सौ दण्ड
 देवे ॥ २६४ ॥ हद्द (जब दूसरे प्रमाणों से) निश्चय करनी अश-
 क्य हो जाए (तो) धर्मज्ञ (पक्षपात रहित) राजा आप ही इन
 (सब) के लाभ का ध्यान रख कर हद्द की भूमि बतलाए (हद्द
 नियत करे, और वहीं आगे के लिये चिन्ह स्थापन करे) यह
 मर्यादा है † ॥ २६५ ॥ यह हद्द के निर्णय में मर्यादा पूरी कहदी
 है, इस से आगे बाणी की कठोरता का निर्णय कहूंगा ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।

वैश्योऽप्यर्धं शतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।

वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातीस्तु वाचा दारुणयाक्षिपन् ।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।

निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥ २७१ ॥

* वांस्ति १६।१३-१५ याज्ञ २ । ११४ † याज्ञ २ । १५३ ॥

ब्राह्मण को (चोर बेईमान इत्यादि) कठोर कह कर क्षत्रिय सौ पण दण्ड के योग्य है । वैश्य डेढ़ सौ वा दो सौ, शूद्र ताड़ना के योग्य है * ॥ २६७ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर कहे, तो ५० पण, वैश्य को कहे तो २५ पण, शूद्र को कहे, तो दस पण उसे दण्ड हो ॥ २६८ ॥ अपने समान वर्णवाले को कठोर कहने में द्विजातियों को १२ पण ही दण्ड हो, न कहने योग्य वचनों (माता बहिन आदि को गाली) में वही दुगुना हो ॥ २६९ ॥ यदि शूद्र द्विजातियों को दारुणबाणी (माता आदि की गालियों) से झिड़के, तो उसको जीभ कटवा देवे, क्योंकि वह निचले अंगसे उत्पत्ति वाला है ॥ २७० ॥ और यदि इन (द्विजातियों) का सख्त झिड़क के साथ नाम वा जाति का ग्रहण करे, † तो उसके मुख में जलता हुआ लोहे का दस अंगुल कील डालना चाहिये धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।

तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शरीरमेव च ।

वितथेन ब्रुवन्दर्पादाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ।

तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।

अश्लास्यञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥ २७५ ॥

* २६७—२७७ वासि० ९।९ गौत० १२।१, ८—१४ आप० २।२७।१४ याज्ञ० २।२०३—२११ विष्णु० ५।२३—३९ † रे नीच

और द्रुप से ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करते हुए इस (शूद्र) के मुख और श्रोत्र में राजा गर्भ तेल डलवाए ॥ २७२ ॥ जो अभिमान से (दूसरे का) वेद, ज्ञान, देश, जाति और शरीर सम्बन्धी कर्म * झूठ बतलाए, उसे दो सौ दण्ड हो ॥ २७३ ॥ काने, लूले, और भी इसी प्रकार के पुरुष को (काना आदि) सच कहने वाले को भी घटसे घट एक कार्षापण दण्ड देवे ॥ २७४ ॥ माता पिता पत्नी भाई पुत्र गुरु पर झूठा दोष लगाने वाले को और गुरु को मार्ग न देने वाले को सौ पण, दण्ड देवे ॥ २७५ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।

ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

विद् शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।

छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली देने में ब्राह्मण को प्रथम साहस दण्ड देवे, क्षत्रिय को मध्यम साहस ॥ २७६ ॥ वैश्य शूद्र को भी एक दूसरी जाति को (गाली देने में) इसी प्रकार (वैश्य को प्रथम साहस, शूद्र को मध्यम साहस) (अर्थात् जिह्वा) काटने को *

यद्वत्त रे नीच ब्राह्मण इत्यादि, * तू ने वेद नहीं पढ़ा, तुझे इसका ज्ञान नहीं, तू इस देश का नहीं, तू इस जाति का नहीं, वा तेरा यह पेशा नहीं, इत्यादि * अर्थात् पूर्व २७० में छिजों को गाली देने में जो शूद्रों की जीभ काटना कहा है, वह दण्ड वैश्य को गाली देने में नहीं, केवल ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली देने में ही हो ॥

छोड़ कर दण्ड दिया जाता है यह मर्यादा है ॥ २७७ ॥ बाणी की कठोरता की यह दण्ड विधि ठीक २ कह कह दी है, इस से आगे दण्ड (मार पीट) की कठोरता का निर्णय कहूंगा ॥२७८॥ येनकेनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छेमन्त्यजः ।

छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनो रनुशासनम् ॥२७९॥

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।

पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।

कट्यां कृताङ्गो निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥२८१॥

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।

अवमृत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

अन्त्यज जिस किसी अंगसे द्विजाति पर प्रहार करे, वही २ उसका काटना चाहिये, यह मनुकी आज्ञा है * ॥ २७९ ॥ अर्थात् हाथ वा दण्ड उठाए, तो हाथ काटने योग्य है, क्रोध से पाओं से प्रहार करे, तो पाओं काटने योग्य है ॥ २८० ॥ ऊंचे के साथ बैठना चाहते हुए नीच को कमर में निशान देकर निकाल दे, वा इस के चूतड़ को थोड़ासा कटवा देवे † ॥२८१॥ दर्प से (नकि भूलसे) ब्राह्मण पर थूके, तो राजा उसके दोनों

* २७९-२८० याज्ञ २।२१५ विष्णु० ५।१९ † गौत ७।७ आप० २।२७।१५ विष्णु० ५।२० मेघा० गोवि० कुल्लू के अनुसार यह नियम शूद्र और ब्राह्मण के विषय में है (शूद्र से चाण्डाल पर्यन्त सभी छोटी जातियों के विषय में हो सका है, पर है सर्वथा मिथ्याभिमान-सम्पादक)

होंट कटवादे, मूत्रे, तो लिंग कटवा देवे, पादे तो गुदा कटवादे*
 केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
 पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥
 त्वग्भेदकः शतं दण्डयो लोहितस्य च दर्शकः ।
 मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥

(दर्प से) (मारने पीटने के लिये) सिर के बाल
 पकड़े, तो बिन विचारे उसके दोनों हाथ कटवादेवे, पाओं,
 दाढ़ी, गर्दन और अण्डकोश (पकड़ने) में भी (हाथ कटवादे)
 ॥ २८३ ॥ (शस्त्र प्रहार से दूसरे का) चमड़ा छीलने वाले वा लहू
 निकालने वाले को सौ पण दण्ड देवे, मांस काटने वाले को
 छः मोहरें, हड्डी तोड़ने वाले को देश निकाला ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ।
 तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥
 मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
 यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥
 अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
 समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥
 स च वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग है, वैसा २ उनकी हिंसा

* विष्णु० ५।२१-२२ ॥ याज्ञ० २। २१८ विष्णु० ५। ६६-७०
 मेधा० कुल० नन्द० के अनुसार यह नियम समान जातियों के लिये
 है, न कि शूद्र का द्विजातियों के विषय में, राघ० के अनुसार शूद्र
 का शूद्र के विषय में, नारा० के अनुसार बराबर के वा निचले के
 अपराध के विषय में है ॥ उपभोग=फल घाले, छाया घाले, हड़ के
 दूध, बाज्रियों के माराम के दूध इत्यादि वृक्षों के उपकार को

में दण्ड देवे, यह मर्यादा है * ॥ २८५ ॥ मनुष्य और पशुओं की पीड़ा के लिये प्रहार करने पर जैसे २ पीड़ा हो, वैसा २ दण्ड देवे † ॥ २८६ ॥ अंगों की और व्रण और लहू की पीड़ा में (प्रहार करने वाला) असली अवस्था तक आने का व्यय दे, अथवा सारा दण्ड देवे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।

स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ।

मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

जो जिस की वस्तुओं को जानकर वा बिन जाने हानि पहुंचाए, वह उसका संतोष उत्पन्न करे, और उसके बराबर राजा को दण्ड भी देवे § ॥ २८८ ॥ चमड़ा, चमड़े लकड़ी और मिट्टी के बर्तनों में मूल्य से पांच गुना दण्ड राजा को दे (और स्वामी की प्रसन्नता करे) ॥

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।

दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रति मुखागते ।

अक्षभंगे च यानस्य चक्रभंगे तथैव च ॥ २९१ ॥

(गाड़ी से हानि पहुंचने में) गाड़ी के चक्राने वाले और मालिक के लिये दस छोड़ने योग्य स्थान हैं, शेषों में दण्ड दिया जाता है ।

देखकर दण्ड देवे * याज्ञ २ । २२७-२२८ विष्णु ५ । ५५-५२ † २८६-२८७ याज्ञ २ । २१९-२२२ विष्णु ५ । ७५-७६ ‡ पूर्व कहे दण्डों में से यथा-योग्य कोई दण्ड ।

§ जिन के विषय में विशेष दण्ड नहीं कहा है (मेघा० गोवि० कुल्लू० राघ०

॥ २९० ॥ (वह दस यह हैं) नाथ (नकेल) के टूट जाने, जुए के टूटजाने (ऊंची नीची भूमि के हेतु) टेढ़ा पड़ने से, वा उलटा पीछे आपड़ने से, यान का धुरा टूटने, वा पहिया टूटने पर *॥

छेदनेचैव यन्त्राणां योक्तरश्म्योस्तथैव च ।

आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।

तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

प्राजकश्चेद्भवेदासः प्राजको दण्डमर्हति ।

युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतंशतम् ॥ २९४ ॥

यन्त्रों (चर्मबन्ध आदि) के टूटने, जोते के टूटने, लगाम के टूटने में, और हटजा २ ऐसा पुकारते हुए (हानि होने पर) मनु ने दण्ड नहीं कहा है ॥ २९२ ॥ जहां साराथि के चतुर न होने से रथ उलट पलट चलता है, वहां हानि में (अशिक्षित साराथि लगाने के हेतु) स्वामी को दो सौ पण दण्ड हो ॥ २९३ ॥ यदि साराथि कुशल हो, तो वही दण्ड के योग्य है, अकुशल हो, तो (साराथि और स्वामी से अलग और भी) रथ पर बैठे पुरुष सौ २ पण दण्ड के योग्य होते हैं ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।

प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवात्किल्बिषं भवेत् ।

प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्टूहयादिषु ॥ २९६ ॥

यदि वह सारथि मार्ग में पशुओं से वा दूसरे रथ से रुका हुआ
(अपना रथ चलाने में उतावली करके) प्राणियों को मार डाले,
वहाँ विनविचारे दण्ड हो ॥२९५॥ मनुष्य के मारने में (सारथि
को) चोग का दण्ड (उत्तम साहस=सहस्र पण) हो, गो हाथी
ऊँट घोड़े आदि बड़े २ प्राणियों के मारने पर उससे आधा
क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।

पञ्चाशत्तुभवेदण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।

माषकस्तु भवेदण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सौदरः ।

प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदेलन वा ॥२९९॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथञ्चन ।

अतोऽन्यथा तु प्रहरन प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥३००॥

एषोऽखिलेनाऽभिहितो दण्ड पारुष्यनिर्णयः ।

स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डाविनिर्णये ॥३०१॥

क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ दण्ड हो, अच्छे
मृग पक्षियों की हिंसा में ५० दण्ड हो * ॥ २९७ ॥ गधा,
बकरी, भेड़ के (मरजाने में) पाँच मासे दण्ड हो, कुत्ते, सूअर
के मारने में एक मासा दण्ड हो ॥ २९८ ॥ पत्नी, पुत्र, नौकर,
चपड़ासी, छोटा भाई अपराध करें, तो रस्सी वा बांस की तील
से ताड़ने योग्य हैं ॥ २९९ ॥ (वह भी) शरीर की पीठ पर

सिर पर कभी नहीं, इससे अन्यथा * प्रहार करे, तो चोर का दण्ड पावे ॥ ३०० ॥ यह दण्ड की कठोरता का निर्णय पूरा २ कह दिया, अब चोर के दण्ड निर्णय में विधि कहेंगे ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

चोरों के रोकने में राजा पूरा यत्न करे, चोरों के रोकने से इसका यश और राष्ट्र बढ़ता है ॥ ३०२ ॥ क्योंकि (चोरों के रोकने से) जो राजा अभय का दाता है, वह सदा पूजा योग्य होता है, उसका अभय की दक्षिणा वाला सत्र (लंबा यज्ञ) सदा बढ़ता रहता है ॥ ३०३ ॥ (प्रजा की) रक्षा करते हुए राजा को सबसे धर्म का छटा हिस्सा मिलता है, और न रक्षा करते हुए को अधर्म से छटा हिस्सा मिलता है ॥ ३०४ ॥ जो कोई स्वाध्याय, यज्ञ, दान, पूजा करता है, उसके छटे हिस्से का भागी राजा रक्षा करने से होता है ॥ ३०५ ॥

* २९९-३०० गौत २। ४३-४४ आप १। ८। ३१ ॥ छाती वा सिर पर वा लात आदि से ।

† ३०३-३११ वासि० १। ४२-४४ आप २। २५। ७५ याज्ञ० २। ३३५-३३६, ३५८ विष्णु ५। १९६ और देखो आगे ८। २५२ ।

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वर्ध्याश्च घातयन् ।
 यजतेऽहरह्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥
 योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
 प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥
 अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
 तमाहुःसर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥
 अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
 अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

न्याय से सब प्राणियों की रक्षा करता हुआ और मारने योग्यों को मारता हुआ राजा प्रतिदिन लक्ष गौ दक्षिणा वाले यज्ञों से यज्ञ करता है ॥ ३०६ ॥ रक्षा न करता हुआ जो राजा कर (मुआमला), चुंगी, डाली वा दण्ड लेता है, वह शीघ्र नरक को प्राप्त होता है ॥ ३०७ ॥ रक्षा न करके अनाज का छटा हिस्सा लेने वाले राजा को सारी दुनिया को समग्र मल का देने वाला कहते हैं ॥ ३०८ ॥ मर्यादा की परवाह न करने वाले, नास्तिक, (लोगों से) छीनने वाले, रक्षा न करने वाले निरा खाने वाले राजा को नरकगामी जाने ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
 निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥
 निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
 द्विजातयइवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपता कार्पिणां नृणाम् ।
 बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥
 यः क्षिप्तो मर्षयत्यर्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
 यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

अधार्मिक(चोर आदि)को राजा तीन उपायों से रोके, नज़र बन्द करने से, बेड़ियाँ डालने से और अनेक प्रकार के शरीर दण्डों से ॥ ३१० ॥ पापियों के निग्रह और भलों के संग्रह से राजे सदा पवित्र होते हैं, जैसे यज्ञों से ब्राह्मण ॥ ३११ ॥ कार्यार्थी, तथा बाल वृद्ध और आतुर जन कुछ अप्रिय भी कहें, तो राजा को चाहिये क्षमा करदे, इस में उसका अरना भला है ॥ ३१२ ॥ जो दुखियों से कठोर कहा हुआ सहता है, उससे वह स्वर्ग में पूजा जाता है, और जो ऐश्वर्य (के अभिमान) से नहीं सहारता है, उससे वह नरक को जाता है ॥ ३१३ ॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
 आचक्षणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ३१४
 स्कन्देनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।
 शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥

चोर को चाहिये, कंधेपर मूसल, वा खैर का डंडा वा दोनों ओर में तीक्ष्ण बल्ली, वा लोहे का दण्ड रख कर, बाल खोले हुए दौड़ता हुआ, अपनी चोरी कहता हुआ, राजा के पास जाए,

कि मैं इस कर्म वाला हूँ, मुझे दण्ड दो * ॥ ३१४, ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयादिमुच्यते।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्रोति किल्बिषम् ॥ ३१६

अन्नादे धूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनिकिल्बिषम् ॥ ३१७

राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्विन्द्याच्च यः प्रपाम।

स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।

शेषेण्येकादशगुणं दाप्यस्तस्यच तद्धनम् ॥ ३२० ॥

दण्ड दिया जाने से, वा छोड़ देने से चोर अपराध से छूट जाता है, पर उसको दण्ड न दे, तो राजा चोर के पाप को प्राप्त होता है ॥ ३१६ ॥ ब्रह्महत्या करनेवाला अपना अन्न खाने वाले में, व्यभिचारिणी स्त्री अपने पति में, शिष्य गुरु में, यजमान पुरोहित में, और चोर राजा में अपने पाप को ढालता है † ॥ ३१७ ॥ पाप करके मनुष्य राजाओं से दण्डित

* ३१४-३१६ वासि २०। ४१ गौत १२। ४३-४५ आप १। २५। ४-१ बौघा २। १। १६-१७ याज्ञ ३। २५७ चिष्णु ५२। १-२ यह नियम ब्राह्मण का सुवर्ण चुराने वाले चोर के विषय में है देखो आगे ११। २९-१०१ † वासि १९। ३४ महापातकों से बचाना उसका अन्न खाने वालों का, पत्नी को व्यभिचार से रक्षा करना पतिका, शिष्यकी अघर्म से रक्षा करना गुरुका और यजमानकी रक्षा पुरोहित का और प्रजाकी रक्षा राजा का कर्तव्य है। और रक्षा न करने से यह भी

होजाएँ, तो वह निर्मल होकर पुण्यात्माओं के तुल्य स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ३१८ ॥ जो पुरुष कुण्ड से रस्सी वा डोल चुराले, और जो प्याऊ को तोड़ दे * उसे एक मासा दण्ड हो, और उस (वस्तु) को वहाँ समर्पण करे [रस्सी डोल देवे, प्याऊ बनवादे] ॥ ३१९ ॥ दस कुम्भों † से अधिक अनाज चुरानेवाले को वध [बैत मरवाना वा अङ्ग काटना आदि] दण्ड देवे, बाकी में ग्यारह गुना दण्ड और मालिक को धन दिलावे ‡ ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदन मिष्यते ।

शेषे त्वेकादशगुणं मूल्यादण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणांच विशेषतः ।

मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।

कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

तथा तकड़ी से तोले जाने वाले सोने, चान्दी और उत्तम वस्त्रों की [चोरी में] सौ से अधिक में वध § पचास से अधिक में हाथ का काटना, शेष में मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड देवे (और मालिक को) धन दिलावे ¶ ॥ ३२१ ॥ ३२२ ॥ कुलीन पुरुषों

का उनके साथ पापी होते हैं, यह अभिप्राय है * प्याऊ की लकड़ी चुरा ले (नारा०) † कुम्भ=२० वा २२ प्रस्थ (मेघा) २०० पल=द्रोण, २० द्रोण=कुम्भ (गोवि० कुल० राघ०) २०० पल (नारा०) ‡ विष्णु ५।१२ § विष्णु ५।१३ ¶ विष्णु ५।८१-८२

विशेषतः स्त्रियों और मुख्य रत्नों (हीरे आदि) के चुराने में
बध के योग्य होता है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओं (हाथी गौ घोड़े
आदि) के, शस्त्रों के और औषध के चुराने में काल और कार्य को
देखकर राजा दण्ड कल्पना करे * ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।

पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।

दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥

ब्राह्मण की गौओं के चुराने, बोरियों के फाड़ने में † और
(ब्राह्मण के दूसरे) पशुओं के चुराने में जल्दी उसके आधे २
पाओं काटदे ॥ ३२५ ॥ (ऊण, सन आदि का) सूत, कपास,
शराब के बीज, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, घास

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।

मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥

मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।

मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥

बांस और बैत के बर्तन, लवण, मट्टी के बर्तन, मट्टी
और भस्म ॥ ३२७ ॥ मछली, पक्षी, तेल, घी, मांस, शहद और
भी जो पशुओं से उत्पन्न होता है (चोरी गोरोचन आदि)

* ३२४-३२५ विष्णु ५ । ७७-७८

† 'स्थूरि कायाश्च छेदने' इस पाठान्तर में बांझ गौ के नासा
छेदने में, अर्थ है ‡ ३२६-३३१ विष्णु ५ । ८३-८६

अन्येषांचैव मादीनामाद्यानामोदनस्य च ।
 पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्यादद्विगुणोदमः ॥ ३२९ ॥
 पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
 अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥
 परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
 निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
 स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
 निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

इत्यादि और भी * खाने योग्य वस्तुएं, भात, सारे पके अन्न, (इन पूर्वोक्तवस्तुओं के) चुराने में उनके मूल्य से दुगुना दण्ड हो (और मूल्य मालिक को दिलाए) ॥ ३२९ ॥ फूल, हरे अनाज, झाड़ी, बेल, वृक्ष (इनके फल) और भी जो (दानों की तरह) शोध नहीं जाते, उनमें पांचरत्नी दण्ड हो † ॥ ३३० ॥ पर शोधे हुए अनाजों में और शाक मूल फलों में (स्वामी से) सम्बन्ध न रखने वालों को सौ दण्ड और सम्बन्ध रखने वालों को पचास दण्ड देवे ‡ ॥ ३३१ ॥ जो (छीनना आदि) कर्म सामने बल से किया गया है, वह साहस है (चोरी नहीं) जो पीछे किया गया है, वह चोरी है, और जो छीनकर मुकरना है, वह भी चोरी है §

यस् वेतान्युपलकृत्मानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
 तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयद्गृहात् ॥ ३३३ ॥

* मनसिल आदि और खाने योग्य (कुल०) † गीत १२।१८
 ‡ मिलाओं पूर्व १९८ § याज्ञ २।२३०

अन्येषांचैव मादीनामाद्यानामोदनस्य च ।
 पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्विगुणोदमः ॥ ३२९ ॥
 पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
 अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥
 परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
 निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
 स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
 निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

इत्यादि और भी * खाने योग्य वस्तुएं, भात, सारे पके अन्न, (इन पूर्वोक्तवस्तुओं के) चुराने में उनके मूल्य से दुगुना दण्ड हो (और मूल्य मालिक को दिलाए) ॥ ३२९ ॥ फूल, हरे अनाज, झाड़ी, बेल, वृक्ष (इनके फल) और भी जो (दानों की तरह) शोध नहीं जाते, उनमें पांचरत्नी दण्ड हो ॥ ३३० ॥ पर शोधे हुए अनाजों में और शाक मूल फलों में (स्वामी से) सम्बन्ध न रखने वालों को सौ दण्ड और सम्बन्ध रखने वालों को पचास दण्ड देवे ॥ ३३१ ॥ जो (छीनना आदि) कर्म सामने बल से किया गया है, वह साहस है (चोरी नहीं) जो पीछे किया गया है, वह चोरी है, और जो छीनकर मुकरना है, वह भी चोरी है ॥
 यस्य वेतान्युपलब्धानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
 तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयद्गृहात् ॥ ३३३ ॥

* मनसिल आदि और खाने योग्य (कुल्ल०) † गौत १२।१८
 ‡ मिलाओं पूर्व १९८ § याज्ञ २।२३०

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।

तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मेन तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

जो पुरुष (उपभोग के लिये) तय्यार की इन (ऊण आदि) वस्तुओं को चुरावे, और अग्नि गृह से अग्नि (त्रेताग्नि वा गृह्याग्नि न कि मामूली अग्नि) चुरावे उसको राजा प्रथम साहस दण्ड दे * ॥ ३३३ ॥ जिस २ अंग से चोर किसी प्रकार भी मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उसके उसी अंग को (वैसे पाप के) हटाने के लिये + राजा कटवा दे ॥ ३३४ ॥ पिता आचार्य, सुहृद्, पत्नी, पुरोहित कोई भी हो, राजा के लिये अदण्डनीय नहीं है, जो अपने धर्म पर स्थित नहीं रहता है ‡ ॥ ३३५ ॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।

तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

अष्टापद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।

षोडशैवतु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणाविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

* और स्वामी को वस्तु वा उसका मूल्य दिलाए, अग्नियों के विषय में दुबारा अग्नि स्थापन करने में जो व्यय आए, वह दिलाए + ताकि फिर वह वैसा पाप न करे, वा दूसरे न करे ‡ याज्ञ१।३।५७

वानस्पत्यंमूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।

तृणं च गोभ्योग्रासार्थं मस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

जिस (अपराध) में दूसरे साधारण पुरुष को एक कार्षापण दण्ड हो, उसमें राजा को सहस्र कार्षापण दण्ड होना चाहिये यह मर्यादा है * ॥ ३३६ ॥ चोरी में शूद्र का आठ गुना अपराध होता है, वैश्य का सोलह गुना, क्षत्रिय का बत्तीस गुना, ब्राह्मण का चौसठ गुना वा पूरा सौ, वा चौसठ गुना (१२८ गुना) होता है, जब कि वह (शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण) उस (चोरी) के दोषगुण का जानने वाला है † ॥ ३३७-३३८ ॥ वनस्पतियों के मूल फल, और अग्नि (होत्र) के लिये लकड़ी, और गौओं के खाने के लिये घास चोरी नहीं, ‡ यह मनुने कहा है § ॥

योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्दा विक्षू द्वेच मूलके ।

आददानः परक्षेत्रात् दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

जो ब्राह्मण चोर के हाथ से यज्ञ कराने से वा पढ़ाने से भी धन लेने की इच्छा करे, वह (ब्राह्मण) वैसा है, जैसा चोर है (चोरवत् दण्डनीय है) ॥ ३४० ॥ पथिक (मुसाफिर)

* मनु० ९ । २३५ के अनुसार राजा का दण्ड ब्राह्मणों को मिले वा जलों में डाल दिया जाए (मेचा० गोवि० कुल्लू०)

† ३३७-३३८ गौत० १२ । १५-१७ ‡ मेचा गोवि० कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार यह नियम उन फल फूल आदि के विषय में है, जो खुले हैं, रोके हुए नहीं § गौत० १२।२८ आप० १।२८।३ याज्ञ० २।१६६

द्विजाति खर्च के नखुट्ट जाने पर दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली लेता हुआ दण्ड के योग्य नहीं होता है * ॥ ३४१ ॥

असन्धितानां सन्धाता सन्धितानांच मोक्षकः ।

दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

अनेनविधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।

यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

न बन्धे हुआँ (बेगाने पशुओं) का बांधनेवाला, और बन्धे हुआँ का खोलने वाला, दास, घोड़े और रथ का लेने वाला * चोर के अपराध को प्राप्त हो (गुरु लघु अपराध के अनुसार चोर के भिन्न २ दण्डों का भागी हो) ॥ ३४२ ॥ इस विधि से राजा चोरों का निग्रह करता हुआ इस लोक में यश को और परलोक में अत्युत्तम सुख को पाता है ॥ ३४३ ॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेत्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसितः ।

साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

[अब साहस कर्म कहते हैं] ऐन्द्रस्थान [सब पर शासन करने की पदवी] और अविनाशी अनखुट्ट यश पाना चाहता

* गौत १२।४९-५० देखो आगे १।२३९-२४१

* लेने वाला=किसी तरह धोखे से उनसे अपने काम लेने वाला (नारा०) चुराने वाला (दूसरे टीकाकार)

हुआ राजा साहसी* मनुष्यकी क्षणभर भी उपेक्षा न करे॥३४४॥
 बाणी की कठोरता वाले से, चोर से और दण्ड की कठोरता वाले
 से भी साहस का करने वाला मनुष्य अधिक पापकारी है ॥३४५॥
 साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
 स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥
 न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
 समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥
 शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
 द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥३४८॥
 आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।
 स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च प्रन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥
 गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
 आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥
 नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
 प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्यु मृच्छति ॥३५१॥
 साहस में प्रवृत्त पुरुष को जो राजा सहारता है वह जल्दी नाश
 को प्राप्त होता है और [तंग आई प्रजा से] द्वेष को प्राप्त होता
 है ॥ ३४६॥ राजा न मित्र के कारण न बहुत बड़ी धन प्राप्ति के
 कारण सब लोगों को भय में डालनेवाले साहसियों को

* साहस=बल के सहारे पर धक्का करना, किसी के धन वा स्त्री का छीन लेना वा किसी का धन नाश कर देना, आदि। ऐसा कर्मी साहसी कहलाता है। पञ्जाब में एक अन्त्यज जाति साहसी

छोड़े ॥ ३४७ ॥ द्विजातियों को शस्त्र पकड़ना चाहिए, जब कि वह धर्म [-पालन] से रोके जाएं + अथवा [बुरे] काल के कारण द्विजाति वर्णों पर कोई उपद्रव हो ॥ ३४८ ॥ अपने बचाव में, दक्षिणाओं के बचाव में जो युद्ध हो उसमें स्त्री और ब्राह्मण की रक्षा में [उपद्रवियों को] मारना धर्म है, इससे दोषी नहीं होता ॥ ३४९ ॥ [अपने बचाव के लिए तो कहीं भी दोष नहीं होता] गुरु, बाल, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण कोई भी हो जब आततायी [प्राणों का शत्रु] बनकर आवे, तो उसे बिन विचारे मार डाले ॥ ३५० ॥ चाहे लोगों के सामने हो वा एकान्त में, पर आततायी के मारने में मारनेवाले को कोई दोष नहीं होता वहां क्रोध क्रोध का मुकाबिला करता है ॥ ३५१ ॥

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नृन्महीपतिः ।

उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।

येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

अब [स्त्री से धक्का कहते हैं] परनारी के सतभङ्ग में प्रवृत्त मनुष्यों को राजा मयावने दण्डों [नासा होंठ काटने आदि] से अङ्ग भंग करके देश से निकाल दे ॥ ३५२ ॥

कहलाती है। जो अब भी ऐसे देशों में अग्रसर है। जबकि साहसी लोग धर्म में बाधा डालें, तो ब्राह्मणों को भी और वैद्यों को भी शस्त्र उठाना चाहिए, क्या फिर राजा को, साहसियों के उपद्रव को रोकने के लिए शस्त्र उठाना साहस नहीं ॥ ३४८-३४९ वासि० ३।११-१८, २४ गौत० ७-२५ बौध्वा० १।१८। २३ विष्णु० ५।१८९। १९२ ॥

क्योंकि इस [कुकर्म] से लोक में वर्णसंकर होता है, जिससे कि जड़ उखाड़ने वाला अधर्म सर्वनाश के समर्थ होता है * ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।

पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।

न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्नाहि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।

नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणं प्राप्नुयात् ॥ ३५६ ॥

जिस पर पहले दोष लग चुके हैं, ऐसा पुरुष यदि एकान्त में परपत्नी के साथ बातचीत करे, तो वह प्रथम साहस दण्ड पावे ॥ ३५४ ॥ हाँ जो पहले दूषित नहीं, वह यदि किसी कारण से बात चीत करे, तो उसे कोई दोष नहीं, क्योंकि उसका अपराध नहीं ॥ ३५५ ॥ जो पराई स्त्री से पानी के घाट, जंगल वा बन में, वा नदियों के संगम पर बात चीत करे, वह संग्रहण [पराई स्त्री हरने के अपराध] को प्राप्त हो ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।

सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।

परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

* यज्ञ, जिनके सहारे पर यज्ञ अन्न की उत्पत्ति है, वह वर्ण संकर में पूरे नहीं होते, क्योंकि यज्ञ करनेवाले दम्पती शुद्ध होने चाहियें, १ ३५४—३५८ आप० २। २६। १८-१९ याज्ञ० २। २८४

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्षयतमाः सदा ॥३५९॥

उपचार कर्म, (हाथों से शरीर सेवा=छाते दाबना आदि) मस्त्रौल, भूषणों और वस्त्रों को छूना, इकट्ठे एक खाट पर बैठना, सब संग्रहण माना गया है ॥ ३५७ ॥ स्त्री के जो अस्पृश्य स्थान पर हाथ लगाए, वा उससे स्पर्श किया हुआ सहेले, यह सारा संग्रहण है, चाहे इस में परस्पर की अनुमति भी हो ॥ ३५८ ॥ अब्राह्मण संग्रहण में प्राणान्त दण्ड के योग्य होता है * चारों वर्णों की स्त्रियों सदा पूरी रक्षा के योग्य हैं ॥ ३५९ ॥

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।

निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

नैष चारणदारेषु विधिनात्मोपजीविषु ।

सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चरयन्ति च ॥३६२॥

* दण्ड कड़ा होने से, अब्राह्मण से अभिप्राय शूद्र लेकर । शूद्र जब न चाहती हुई ब्राह्मणी को धक्के से भ्रष्ट करे, तब यह दण्ड हो, (कुल्लू) अथवा प्राणान्त का यह अर्थ है, कि प्राण दण्ड तक दण्ड दिया जा सकता है । क्योंकि ऐसी भी कुलीना पतिव्रता होती हैं, जो धक्का होने के समय अपने प्राण देने की वाह न लगने पर भी पीछे शोक में ही प्राण दे देती हैं, उनके साथ धक्का करनेवालों को प्राण दण्ड उचित ही है, (सम्पादक)

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात् संभाषां ताभिराचरन् ।
 प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥
 योऽकामां दूषयत्कन्यां ससद्यो वधमर्हति ।
 सकामां दूषयेस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥
 कन्यां भजन्ती मुत्कृष्टं न किञ्चिदापि दापयेत् ।
 जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥

भिक्षुक, स्तुतिपाठक, दीक्षा लिपिद्वय और कारीगर [भिक्षा आदि के लिये] बिना रोक [गृहस्थ] स्त्रियों के साथ बात चीत कर सकते हैं ॥ ३६० ॥ रोक दिया हुआ कोई भी पुरुष किसी की स्त्री के साथ बात चीत न करे, रोकने पर बात करने वाला एक सुवर्ण दण्ड के योग्य होता है * ॥ ३६१ ॥ यह [एकान्त में बात चीत न करने की] विधि नटों की स्त्रियों में नहीं है, न स्त्रियों से जीविका करनेवालों में, क्योंकि वह आप स्त्रियों को [दूसरों से] मिलाते हैं, ओर छिपे रहकर उनसे व्यवहार करते हैं † ॥ ३६२ ॥ किन्तु एकान्त में उनसे संभाषण करते हुए, तथा दासी, ब्रह्मचारिणी और संन्यासिनी से एकान्त में संभाषण करते हुए को थोड़ा सा दण्ड देवे ॥ ३६५ ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत् पितायदि ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्वर्षेण मानवः ।

तस्याशु कर्त्ये अंगुल्यौ दण्डं चार्हति षट् शतम् ॥ ३६७ ॥

* याज्ञ० २।२८१। † बौवा० २।४।३

सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात् ।

द्विशतन्तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

जो न चाहती हुई कन्या को दूषित करे वह जल्दी बध [अंग छेदादि] के योग्य है, इच्छावाली को दूषित करता हुआ वध को प्राप्त नहीं हो * ॥ ३६४ ॥ [जाति से] ऊँचे पुरुष को सेवन करती हुई कन्या को कुछ भी दण्ड न दे, नीच को सेवन करती हुई को बांधकर घर में बसाए ॥ ३६५ ॥ ऊँची कन्या को सेवन करता हुआ नीच बध [अंगछेदादि] के योग्य होता है, समजातिवाली को सेवन करनेवाली कन्या को (सेवन करने वाला) शुल्क दे [कर उसे विवाह ले] यदि पिता चाहे † ॥ ३६६ ॥ जो मनुष्य दर्प से [सजाति की] कन्या को दूषित करे, उसकी दो अंगुलियों काट लेनी चाहियें, और वह छः सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ ३६७ ॥ कामनावाली को तुल्य जातिवाला दूषित करे, तो उसका अंगुलि छेद न हो, किन्तु आगे को प्रसंग से हटाने के लिए दो सौ दण्ड देवे ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः ।

शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफार्थैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्योमौण्ड्यमर्हति ।

अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्धहनं तथा ॥ ३७० ॥

कन्या ही जो [अंगुलि डालने से] कन्या को दूषित करे, उसको

* ३६४—३६५ याज्ञ० २ । २८८ † पिता न चाहे, तो दुगुना दण्ड राजा को देवे (मेघा० गोवि०, राघ०)

दो सौ दण्ड हो, और दुगुना शुल्क [कन्या के पिता को) दे,
और दस रस्सी के प्रहार खावे ॥३६९॥ और जो स्त्री कन्या को
[अंगुलि से] बिगाड़े उसका उसी समय सिर मुण्डा कर वा दो
अंगुलियें काटकर गधे पर चढ़ाकर घुमाए * ॥ ३७० ॥

भर्तारं लघयेद्या तु स्त्री ज्ञाति गुणदर्पिता ।

तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥३७१॥

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।

अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत ॥३७२॥

जो स्त्री अपने मेकों के [पिता भाई आदि के धन बल आदिके]
वा अपने गुण [सौन्दर्यादि] के दर्प से पति को उलंघे, [पति
की प्रवाह न करके पर पुरुष से फंसे] उसको बहुत जनों से
भरे स्थान में राजा कुत्तों से नोचवाए † ॥ ३७१ ॥ और उस
पापी पुरुष को राजा तपे हुए, लोहे के पलंग पर [बांधकर]
जलवाए, इस पर लकड़ियां डालें, वहां वह पापकारी दग्ध हो ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।

ब्राह्मया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥३७३॥

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।

अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

* मेधा० नारा० के अनुसार यह तीन दण्ड हैं, ब्राह्मणी का
सिर मूण्डे, क्षत्रिया को गधे पर चढ़ाए, वैश्या और शूद्रा की अंगु-
लियें काटवाए, गोवि० कुल्लू० के अनुसार दुबारा करने में अंगुलियें
काटे । † ३७१—३७२ गौत० २३ । १४—१५ विष्णु० ५ । १८

वैश्यः सर्वस्वदह्यः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।

सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥

जो पहले [किसी स्त्री से] दूषित हो चुका है, वह यदि वर्ष के अन्दर फिर [उसी स्त्री से] दूषित हो, तो उसे (पहले से) दुगुना दण्ड हो, ब्राह्म * और चाण्डाली के साथ † दुबारा वास में भी उतना ही (पहले से दुगुना ही) हो ॥ ३७३ ॥ (भर्ता आदि से) रक्षा की हुई, वा [किसी से] न रक्षा की हुई द्विजाति स्त्री को यदि शूद्र भोगे, तो न रक्षा की हुई में अंग (लिङ्ग) से और सब धन से, और रक्षा की हुई हो, तो सब से (= देह और सब धन से) हीन होता है ‡ ॥ ३७४ ॥ (रक्षा की हुई ब्राह्मणी के गमन में) वैश्य को एक वर्ष कैद और सर्वस्व दण्ड हो, क्षत्रिय को सहस्र पण दण्ड हो और (गधे) के मूत्र से मूँडा जाए ब्राह्मणीं यद्यगुशां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।

वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।

विप्लुतौ शूद्रवहण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥३७७॥

* जिसका उपनयन नहीं हुआ, उस आर्य की स्त्री (गोवि० कुल्लू० राघ०) देखो पूर्व २ । ३९, अथवा जो ठीक समय पर विवाही नहीं गई (नारा०, मेधा०) † चाण्डाली और ब्राह्मणी को इकट्ठा कहने का यह अभिप्राय है, कि चाण्डाली का दण्ड ही ब्राह्मणी में भी हो, अर्थात् सहस्र पण दुगुना (२००० पण) दण्ड हो (गोवि० कुल्लू० राघ०) ‡ वासि० २१ । ५। ५ गौत० १२ । २—३ आप० २। २६। २० ; ६७.९ बौधाय० २। ३। ५२ याज्ञ० २। २८६, २९४

यदि न-रक्षा की हुई ब्राह्मणी का वैश्य और क्षत्रिय गमन करें, तो वैश्य को पांचसौ और क्षत्रिय को सहस्र (पण) दण्ड हो ॥३७६॥ वही दोनों यदि रक्षा की हुई (गुण वाली) ब्राह्मणी के साथ उपद्रव करें, तो उनको शूद्रवत् * दण्ड दे वा चटार्ई में लपेटकर जलादे ॥ ३७७ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद ब्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥३७८॥
मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३७९॥
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बाहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥

रक्षा की हुई ब्राह्मणी का धक्के से गमन करे, तो ब्राह्मण को सहस्रपण दण्ड हो, चाहती हुई के साथ संगत हो, तो पांचसौ पण दण्ड हो ॥ ३७८ ॥ सिर मूँडना ही ब्राह्मण का प्राणान्तिक दण्ड बतलाया है, दूसरे वर्णों का दण्ड प्राणान्तिक होसक्ता है ॥ ३७९ ॥ सो ब्राह्मण को, सारे पापों में स्थित को भी, न मारे, सारे धन समेत इसे देश से बाहर करदे, कोई अंगच्छेद न करे न ब्राह्मणवधाद्वयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥३८१॥
वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो ब्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥

* शूद्रवत् देखो पूर्व ३७४ ॥ वासि० २१।२-३ आप० २।२६।२०
याज्ञ० २।२८६।

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।

शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेदमः ॥ ३८३ ॥

ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप जगत् में है नहीं, इसलिए इस के वध को राजा मन से भी चिन्तन न करे ॥ ३८१ ॥ रक्षा की हुई क्षत्रिया का यदि वैश्य गमन करे, वा वैश्या का क्षत्रिय गमन करे, तो जो न रक्षा की हुई ब्राह्मणी के विषय में दण्ड (३७६ में) कहा है, दोनों उस दण्ड के योग्य होते हैं ॥ ३८२ ॥ रक्षा की हुई क्षत्रिया का गमन करनेवाले ब्राह्मण को सहस्रपण दण्ड दिखाए, शूद्रा के विषय में क्षत्रिय और वैश्य को भी सहस्रपण ही दण्ड हो ॥

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्यं पंचशतं दमः ।

मृत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत् क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रिया वैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।

शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥

न रक्षा की हुई क्षत्रिया में वैश्य को पांच सौ पण दण्ड हो, और क्षत्रिय सिर मुण्डन को प्राप्त हो, वा (पांच सौ पण) दण्ड को ही (प्राप्त हो) ॥ ३८४ ॥ न रक्षा की हुई क्षत्रिया, वैश्या, वा शूद्रा का गमन करता हुआ ब्राह्मण पांच सौ दण्ड के योग्य है, अन्त्यज * स्त्री के गमन में सहस्र (पण दण्ड के योग्य) है ॥ ३८५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।

न साहसिकदण्डघ्नौ सराजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

* चाण्डाली (गोवि०, कुल्लू०, राघ०) धोबी, चमार, नद, शिकलीगर, धीवर, मेद और भील (नारा)

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
 साम्राज्यकृतसजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥
 ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
 शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥
 न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
 त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥

जिसके पुर में चोर नहीं, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट बाणी वाला,
 न साहसी, न कठोर दण्ड (मार पीट) वाला, वह राजा इन्द्रलोक
 (स्वर्ग) का भागी है *॥३८६॥ अपने देश में इन पाँचों को दबाए
 रखना राजा के लिए अपने बराबर वालों में साम्राज्य देनेवाला
 और लोक में यश देनेवाला है ॥३८७॥ कर्म में समर्थ अदुष्ट
 ऋत्विज् को यदि यजमान छोड़ दे, वा ऋत्विज् (वैश्वे) यजमान †
 को छोड़ दे, उन दोनों को सौ २ पण दण्ड हो ॥३८८॥ न माता, न
 पिता, न स्त्री न पुत्र त्याग के योग्य है, यह यदि (जाति से) पतित
 न हों, तो जो इनको त्यागे वह राजा से छः सौ पण दण्ड के योग्य है ॥
 आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।

न विब्रूयान् नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥३९०॥
 यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पर्थिवः ।
 सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥

* विष्णु० ५। १९६ † पीढियों से जिस क्षत्रिय ब्राह्मण का यज्ञ
 करने कराने का सम्बन्ध चला आता है (नारा०, गोवि०)
 ‡ याज्ञ० २। २३७ विष्णु० ५। १६३

प्रतिवेश्यानुवेश्यौच कल्याणे विंशतिद्विजे ।
 अर्हावभोजयन्विप्रो दण्ड मर्हति माषकम् ॥३९२॥
 श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
 तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥

आश्रमों के कर्त्तव्यों के विषय में विवाद करते द्विजों को राजा अपना भला चाहता हुआ धर्म में अपने आप कुछ न कहे ॥३९०॥ किन्तु यथायोग्य इन सब को पूजकर पहले मृदु वचनों से इनको ठण्डा करके, तब (वेदवेत्ता) ब्राह्मणों के साथ (उन को) अपना कर्त्तव्य बतलाए ॥ ३९१ ॥ कोई मंगल कार्य जिस में बीस ब्राह्मण (जिमाने) हों, उसमें यदि (जिमाने के) योग्य अपने पड़ोसी वा पड़ोसी के पड़ोसी को न जिमाए, तो वह एक मासा (चांदी) दण्ड के योग्य है*॥३९२॥ और एक वेदपाठी यदि दूसरे धर्मात्मा † वेदपाठी को मंगल कार्यों में न जिमाए, तो उससे दुगुना अन्न (वेदपाठी को) और मासा सोना (राजाको दण्ड) दिलाए

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
 श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥
 श्रोत्रियं व्याधितार्तौच बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
 महाकुलीन मार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥३९५॥

* याज्ञ० २।२६३ विष्णु० ५।९४

† धर्मात्मा वेदपाठी जो पड़ोसी है (गोवि०, कुल्लू०, राघ०)
 इसी गाओं का बासी हो, (नारा०) चाहे पड़ोसी न भी हो (मेघा०)

अन्धा, जड़, पीठ से चलनेवाला (लूला), सत्तर से ऊपरका बूढ़ा, और वेदपाठियों का उपकार करनेवाला, इनको (राजा) कोई भी कर न लगाए *॥३९४॥ वेदपाठी, रोगी, पीड़ित, बाल, वृद्ध, निर्धन, महाकुलीन, आर्य, (उदार प्रकृति) को राजा सदा (दान मान दित करने से) पूजे ॥ ३९५ ॥

शात्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।

न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्ने च वासयेत् ॥३९६॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।

अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥३९७॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।

कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥३९८॥

धोबी सिबल के साफ पट्टे † पर धीरे २ (वस्त्रों को) धोवे, न एक के वस्त्र दूसरे के वस्त्रों में मिलाकर रखे, न (किसी को) पहनावे, न पहने । (अन्यथा दण्डनीय हो) ‡ ॥ ३९६ ॥ जुलाहा दस पल (सूत) को (लेकर माया लगाने के कारण) ११ पल (वस्त्र स्वामी को तोल) दे, इससे उलटा चले, तो १२ § दण्ड

* वासि० १९ । २३-२४ आप० २। २६ । १०-१५ ॥

† सिबल स्वभावतः साफ होता है, अभिप्राय साफ पट्टे से है, चाहे किसी का हो ‡ याज्ञ० २। २३८ § १२ पण दण्ड, २० पल वाले स्थाल में २४ पण इत्यादि (मेघा०) सूत से बारह गुना दण्ड (गोवि) सूत का बारहवां हिस्सा दण्ड (नारा०) नन्द कहता है, ' जुलाहा अपने काम के दस पल लाभ के साथ ११ वां पल राजा को कर देवे,

देवे, और बख्खवाले की प्रसन्नता करे * ॥३९७॥ चुंगी के स्थानों में कुशल (जिनको कोई धोखा न दे सके), विक्री की सब वस्तुओं के (सार असार को) जाननेवाले, वस्तु के अनुसार जो भाव निश्चित करें, (उसमें लाभ में से) बीसवां भाग राजा लेवे † ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।

तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।

मिथ्यावादी च संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।

विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥४०१॥

वह द्रव्य जो राजा के प्रसिद्ध हैं ‡ और जो रोक दिए गये हैं § उनको लोभ से बाहर लेजाने वाले का राजा सब कुछ हर लेवे ॥ ३९९ ॥ चुंगी के स्थान को खाग (कर कुमार्ग से चल) ने वाला, असमय (आधीरात) में खरीदने बेचने वाला, गिनती में झूठ बोलने वाला (घट बतलाने वाला) (जितनी चुंगी बचाता है उससे) आठ गुना दण्ड देवे ¶ ॥ ४०० ॥ व्यवहार की सब वस्तुओं की इन बातों को ठीकर विचारकर राजा क्रय विक्रय कराए, कि कहां से आई हैं (और यहां से बाहर लेजानी हैं तो) कहां जाएंगी, कब तक पड़ी रही हैं, (वा रहेंगी), क्या ऊपर खर्च

* याज्ञ० २। १७९ † ३९८—३९९ याज्ञ० २। २६१ ‡ जो राजा के समझे जाते हैं, जिनको राजा भेंट के तौर पर दूसरे राजों के पास भेजते हैं, जैसे हाथी, कश्मीर में केसर वा कुशाले, पश्चिम में घोड़े; दक्षिण में मणि मोती § जैसे अकाल में अनाज का बाहर जाना ¶ याज्ञ० २। २६२

पड़ा है, और कितनी घटी हैं (सूखकर वा किसी और प्रकार से)
पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।

कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्धसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

पांचवें २ दिन अथवा पक्ष २ (पन्द्रह दिन) के जाने *
पर राजा इनके सामने भाओ स्थापन करे ॥ ४०२ ॥ तोल
और माप सब (राज चिन्हों से) ठीक चिन्होंवाले हों छः २
महीने पर उनको फिर परखे ॥ ४०३ ॥

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।

पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्थं दाप्यानि सारतः ।

रिक्तभाण्डानि यात्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

पार उतरने में छकड़े का (तारिक = मील बहरी) एक पण,
पुरुष के (बोझ) का आधापण, पशु और स्त्री का चौथाई पण,
खाली पुरुष का आधा पण दिलाए ॥ ४०४ ॥ विक्री की वस्तुओं
से भरे छकड़े का (वस्तु के) सार (मूल्य के अनुसार) खाली वर्तन
और गरीब मनुष्यों से यात्किञ्चित् तारिक दिलाए ॥ ४०५ ॥

* जल्दी भाओ बदलने वाली वस्तुओं पर पाचवें पाचवें दिन,
दूसरी वस्तुओं पर पन्द्रहवें २ दिन (कुल्लू०) इनके=सौदागरों
के (राघ०) ३९८ में कहे चुंगी वालों के (गोवि० कुल्लू०) १ याज्ञ०
२। २५१ ॥ वासि० १९।१२ ॥ १ गोनी कंबल आदि (कुल्लू०)

दीर्घाध्वानि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।

नदीतीरेषु ताद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥४०६॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।

ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकंतरे ॥४०७॥

लंबे मार्ग में देश और काल (वर्षा काल आदि) के अनुसार तारिक हो, यह नदी के तीर में ही समझे, समुद्र में नियम नहीं है (पहुंचाने की कठिनाई आसानी का नियम नहीं होसक्ता)

॥४०६॥ दो मास से ऊपर गर्भवाली, संन्यासी, बानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण से पार उतरनेमें तारिक न दिखाए *॥४०७॥

यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः ।

तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ॥ ४०८॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।

दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥

नौका में मल्लाहों के अपराध से जो कुछ नष्ट हो, वह मल्लाह ही मिलाकर अपने २ हिस्से से देवें ॥ ४०८॥ नौका पर जाने वालों के व्यवहार का यह निर्णय जल में मल्लाहों के अपराध से कहा है, दैविक (-हानि-तूफान आदि से हानि) में दण्ड नहीं होता है ॥

वाणिज्यं कारयेद्देश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।

पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ ।

विभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥४११॥

दास्यं तु कारयंलोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्रिजान् ।

अनिच्छतःप्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यःशतानिषट् ॥४१२॥

व्यापार, व्याज, खेती और पशुओं की रक्षा वैश्य से करवाए और शूद्र से द्विजातियों की दासता करवाए ॥ ४१० ॥ क्षत्रिय और वैश्य जीविका से दुर्बल हों, तो ब्राह्मण दया करके उनसे उनके कर्म करवाता हुआ पालन करे ॥ ४११ ॥ ब्राह्मण संस्कृत हुए द्विजों से यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध प्रभुता के कारण दास कर्म (पाद धोना आदि) करवाए, तो राजा उसे छः सौ पण दण्ड देवे शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीत मेव वा ।

दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा ॥४१३॥

न, स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्यादिसुच्यते ।

निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

शूद्र चाहे खरीदा हुआ हो, वा न खरीदा हुआ हो + उससे दास कर्म करवाले, क्योंकि ब्रह्मा ने उसको ब्राह्मण के दास कर्म के लिए ही रचा है ॥ ४१३ ॥ अपने स्वामी से आज़ाद किया भी शूद्र दासत्व से नहीं छूट सकता है, क्योंकि वह उसका स्वाभाविक है, कौन उससे इस (कर्म) को हटा सकता है ॥ ४१४ ॥

* महाधनी ब्राह्मण के लिए यह विधि है, कि निर्धन क्षत्रिय से ग्राम रक्षादि कराए, और वैश्य से खेती आदि करा उनको वृत्ति देवे

† अश्वदि से पोषण किया हुआ, वा न किया हुआ (टीकाकार)

‡ शूद्र निर्धन से दास कर्म करवाले, चाहे पहले दास हो वा न हो, क्योंकि शूद्र के लिए दास कर्म गिरावट नहीं, जैसा कि आर्य के लिए है, यह अभिप्राय है, यह नहीं, कि शूद्र दासत्व से छूट नहीं सकता, क्योंकि दासत्व से छूटना आगे कहेंगे

ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः कृतदात्रिमौ ।
 पैतृको दण्डदासश्च समैते दासयोनयः ॥४१५॥
 भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
 यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥
 विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
 न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥४१७॥
 वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
 तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८॥

यह सात दासत्व के कारण होते हैं, युद्ध में जीता हुआ* भक्त के लिए दास हुआ, घर में उत्पन्न हुआ † (= दासी का पुत्र) खरीदा हुआ दूसरे से दिया हुआ, पितासे प्राप्त हुआ (= दास पिताका पुत्र) दण्डदास (देना चुकाने के लिये दास हुआ) ॥४१५॥ भार्या, पुत्र और दास यह तीनों ही न धन वाले कहे हैं, वह जो पाते हैं, वह धन उसका होता है जिसके वह हैं ॥४१६॥ ब्राह्मण (अपने दास) शूद्र से निःशंक धन लेलेवे, क्योंकि उसका (दासका) कुछ अपना नहीं है, स्वामी उसका धन ले सकता है ॥४१७॥ वैश्य और शूद्र से रात्ता प्रयत्न से अपने २ कर्म करवाए, क्योंकि वह अपने कर्मों से च्युत हुए हुए इस जगत् को क्षोभ में डालते हैं ॥४१८॥

* ध्वजाहत=ध्वज=लिंग, उससे लाया गया, दासी में से आप उत्पन्न किया लड़का (नारा०) † गृहजः=दास का पुत्र (नारा०)
 ‡ इसलिये स्त्री, पुत्र और दास को अपने कमाए धन के खर्च करने में भी पति, पिता और मालिक से स्वतन्त्र नहीं हो जाना चाहिए (मेधा०)

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
 आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥
 एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
 व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४२०॥
 राजा अपने कारखाने § वाहन, (हाथी घोड़े आदि) नियत आमदनी
 खर्च, खानों और कोश को प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इसप्रकार
 राजा इन सारे व्यवहारों को समाप्त करता हुआ सारे पाप को
 दूर करके परमगति को पाता है ॥ ४२० ॥

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्तमानि तिष्ठतोः ।
 संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥
 अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
 विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥
 पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
 रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३॥
 कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
 मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

* कर्मान्तान्=चुंगी स्थान आदि (मेधा० गोवि०) कार्यों
 की सिद्धि (कुल्लू०, राघ०) शस्त्र आदि बनाने के कारखाने (नारा०)

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।

द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।

यतन्ते रक्षितुं भार्या भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

(क्रम प्राप्त स्त्री पुरुष धर्म का आरम्भ करते हैं) * धर्म युक्त मार्ग में ठहरे हुए स्त्री और पुरुष के संयोग और वियोग † में जो जो सनातन धर्म हैं वह कहूंगा ॥१॥ अपने पुरुष (पिता,पति,पुत्रों) को चाहिये, कि स्त्रियों को किसी समय स्वतन्त्र न करें, और (रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों में फंसती हुईयों को अपने बस में ठिकाए रखें ‡ ॥ २ ॥ बालकपन में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति रक्षा करता है, और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं, स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ समय पर न देने वाला पिता निन्दनीय होता है, और (समय पर) पास न जाने वाला पति निन्दनीय होता है, पति के मरने पर पुत्र रक्षा न करे तो निन्दनीय होता है § ॥४॥सूक्ष्म भी दुःसंगों से स्त्रियों की विशेषतः

* स्त्री पुरुष के धर्मों को व्यवहार प्रकरण में कहने का यह अभिप्राय है कि स्त्री पुरुष में से यदि कोई अपने धर्म में स्थित न रहे, तो दण्ड से भी राजा उसे अपने धर्म में स्थित करे (कुल्लू०)
† पति विदेश में हो, या मरगया हो (नारा०) ‡ ताकि इनमें उनका बहुत लगाव न होजाए (नारा०) २—३ वासि० ५ । १—२ गौत० १८ । १ बौध्वा० २ । ३ । ४४-४५ विष्णु० ५ । १-२ याज्ञ० १ : ८५ § याज्ञ० १ । ६४ कन्यादान का समय देखो वासि० १७ । ६७—७१ गौत० १८ । २१ पति का पत्नी के पास जाने का समय देखो बौध्वा० ४ । १ । १७—१९ और पूर्व ३ । ४५

रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि न रक्षा की हुई यह दोनों कुलों में
शोक लाती हैं ॥५॥ सभी वर्णों में इस धर्म को उत्तम समझते हुए
दुर्बल * पति भी स्त्रियों की रक्षा के लिए यत्न करते हैं ॥६॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥७॥
पतिर्भार्या संप्राविश्य गर्भोभूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥
यादृशं भजते हि स्त्री सूतं सुते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

क्योंकि पति की प्रयत्न से रक्षा करता हुआ पुरुष ही अपनी
सन्तान, चरित्र अपने कुल ‡ अपने आप, और अपने धर्म की
रक्षा करता है ॥७॥ पति (वीर्य रूप से) अपनी स्त्री में प्रवेश करके
गर्भ बनकर फिर यहां (पुत्र रूप से) उत्पन्न होता है, जाया का
जायापन यही है, जो इसमें फिर उत्पन्न होता है § ॥८॥ क्योंकि
जैसे पुरुष को स्त्री सेवन करती है, वैसे पुत्र को जन्मती है इसलिए
सन्तान की शुद्धि के लिये स्त्री की प्रयत्न से रक्षा करे ॥ ९ ॥

न काश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतै रूपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपत्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥११॥

* दुर्बल=अन्धे, लूले, गरीब आदि † याज्ञ० १।८१ ‡ कुल
कीस्थिति (नारा०) § जाया का निर्बचन ' जायतेऽस्यां पति रिति
जाया ' = इस में पति जन्मता है, देखो याज्ञ० १।५६ पें० ब्रा० ७।१३

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

धक्के से स्त्रियों की रक्षा कोई नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों के प्रयोग से वह रक्षा की जासक्ती हैं ॥ १० ॥ धन के संग्रह और लगाने में, (वस्तुओं और शरीर की) शुद्धि में, (भर्त्ता और अग्नि की सेवा आदि) धर्म में, अन्न पकाने में, और घर के साधनों (मंजे, वस्त्र, आदि) के देखने में इन को लगाए ॥ ११ ॥ विश्वासी और आज्ञाकारी पुरुषों से घर में रोकी हुई भी अरक्षित होती हैं (जो दुःशीलता से आप अपनी रक्षा नहीं करतीं) किन्तु जो आप अपनी रक्षा करती हैं, वही सुरक्षित हैं (इसलिए इनके चित्त में धर्म बिठाना चाहिये, यही मुख्य उपाय है)

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽनम् ।

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥१३॥

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

(मद्य—) पान, दुर्जनों की संगति, पति से वियोग, इधर उधर घूमना, (असमय) सोना और दूसरे के घर में वास, यह छः स्त्रियों को बिगाड़नेवाले हैं ॥ १३ ॥* न यह (सुन्दर) रूप की परवाह करती हैं, न इनका अवस्था (यौवन) में आदर है, सुरूप हो वा विरूप यह पुरुष है इतने से ही भोगती हैं

पौंश्चस्याच्चलचित्ताच्च नैः स्नेह्याच्चस्वभावतः ।

रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

* इस से आगे स्त्रियों की अनुचित निन्दा है, जो पहली प्रशंसा से विरुद्ध भी है ।

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।

परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।

द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

पुरुष की ओर प्रेरी जाने से, चित्त की चञ्चलता से, स्वभावतः स्नेह शून्य होने से, यह यत्न से रक्षा की हुई भी अपने भर्त्ताओं में विकार को प्राप्त होती हैं ॥ १६ ॥ प्रजापति की सृष्टि काल से उत्पन्न हुआ उनका ऐसा स्वभाव जानकर रक्षा के लिए पुरुष पूरा यत्न करे ॥ १६ ॥ लेटना, बैठना, (अपने आपको) सजाना, काम, क्रोध, टेढ़ापन, द्रोह, कुचाल यह मनु ने स्त्रियों के लिए स्थिर किये हैं ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।

निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।

स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

यन्मेमाता प्रलुलुभे विचरन्त्यऽपतिव्रता ।

तन्मे रेतः पिता वृत्तामित्यस्यैतन्निर्दर्शनम् ॥ २० ॥

ध्यायत्यानिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।

तस्यैष व्यभिचारस्य निन्हवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।

तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणैव निम्नगा ॥ २२ ॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
 शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३॥
 एताश्चान्याश्चलोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
 उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४॥

स्त्रियों का मन्त्रों से कर्म (संस्कार) नहीं है, * यह मर्यादा है, स्त्रियों शक्ति से हीन † (वेद) मन्त्रों से हीन, झूठ (रूप) है, यह मर्यादा है ॥ १८ ॥ इस विषय पर बहुत सी श्रुतियों (स्त्रियों के) अपने लज्जन (व्यभिचार) की परख के लिए गाई गई हैं, उन (श्रुतियों) में से (उनके व्यभिचार की) प्रायश्चित्त श्रुति सुनो ॥ १९ ॥ “विचरती हुई मेरी माता अपतिव्रता बनकर यदि प्रलोभन में आई हो, तो उस बीज को मेरा पिता शोधन करे”, § इस (=व्यभिचार) का यह दृष्टान्त है ॥ २० ॥ मन से अपने पति का स्त्री जो अनिष्ट चिन्तन (मानस व्यभिचार) करती है, उस व्यभिचार का यह प्रायश्चित्त है § ॥ २१ ॥ जैसे गुणवाले भर्ता से स्त्री (विवाह-) विधि अनुसार युक्त होती है, वैसे गुणवाली बह होती है, जैसे नदी समुद्र से ॥ २२ ॥ नीच जाति में उत्पन्न

* मिलाओ पूर्व २ । ६६ † धीरज प्रज्ञा बल आदि से हीन (मेधा०) ‡ यह वाक्य कुछ थोड़े से भेद से शाङ्खायन गृह्यसूत्र ३ । ३ में पढ़ा है । यद्यपि यह वाक्य अन्यतरकरण ने कहा है, तथापि चातुर्मास्य में हर एक यजमान इसे पढ़ता है, और अन्वष्टका श्राद्ध में हर एक पुरुष पढ़ता है इससे हर एक स्त्री के चित्त की चञ्चलता सम्भावित है § अर्थात् यह ऊपर के वाक्य का जप स्त्री के मानस व्यभिचार का जो कुसंस्कार पुत्र में आता है, वह इस जप से दूर होता है ॥ मीठी नदी समुद्र से मिलकर खारी हो जाती है, कविता में समुद्र नदियों का पति कहा जाता है ॥

हुई अक्षमाला वसिष्ठ से युक्त होकर, और शारङ्गी मन्दपाळ से युक्त होकर पूज्यता को प्राप्त भई ॥२३॥ यह तथा और भी नीच जन्मवाली स्त्रियें अपने २ पतियों के शुभ गुणों से इस लोक में उत्तमता को प्राप्त हुई हैं ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्री पुंसयोःशुभा ।

प्रेत्येह च सुखोदकान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह स्त्री पुरुष का सदा शुभ लोक व्यवहार कहा है, अब लोक परलोक में सुख देनेवाले सन्तान के धर्मों को जानो ॥ २५ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।

स्त्रियःश्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥२७॥

उत्पत्ति के लिये बड़ा उपकार करने वाली (वस्त्रभूषण आदि से) पूजा के योग्य घर की शोभा हैं, स्त्रियें और श्री घरों में एक तुल्य हैं, इन में कोई विशेष नहीं (जैसे श्री हीन घर शोभा वाला नहीं होता, वैसे स्त्री हीन भी) ॥ २६ ॥ सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न हुए का पालन, और प्रति दिन (अतिथि मित्रादि के भोजन आदि) लोक व्यवहार का स्त्री प्रत्यक्ष कारण है ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चह ॥२८॥

पतिं या नाभिचगति मनोवाग्देहसंयता ।

सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीतिचोच्यते ॥२९॥

व्यभिचारात्तुभर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।

शृगालयोनिं चाप्नोति पापेणैश्वरीष्यते ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।

विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तारि ।

आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

सन्तान, धर्म के कार्य (अग्निहोत्रादि), सेवा, उत्तम प्रीति,
तथा पितरों का और अपना स्वर्ग स्त्री के अधीन है ॥ २८ ॥

जो (स्त्री) मन वाणी शरीर को रोककर पति से व्यभिचार
नहीं करती है, वह पति लोकों को प्राप्त होती है, और सत्पुरुषों
से साध्वी (पतिव्रता) कही जाती है * ॥ २९ ॥ पति से

व्यभिचार से स्त्री लोक में निन्दा को प्राप्त होती है, और गीदड़
की योनिको प्राप्त होती है, और पाप रोगों (कुष्ठ आदि) से
पीड़ित होती है † ॥ ३० ॥ पुत्र के विषय में पूर्वज महर्षियों

और दूसरे विद्वानों से कहे इस पवित्र, सब लोगों के हितकर
विचार को जानो ॥ ३१ ॥ (सब) जानते हैं, कि (स्त्री का)

पुत्र (उसके) भर्ता का होता है, पर भर्ता के विषय में श्रुति
दो प्रकार की है, कई तो उत्पन्न करने वाले को (पुत्रवाला) कहते

हैं, दूसरे क्षेत्रवाले (जिस की वह स्त्री है उस) को ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।

क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

* मिलाओ ५।१६५ † वासि २१।१४ और पूर्व ५।१६४

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
 उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥
 बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
 सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥
 यादृशं तूच्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
 तादृगोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

(इस विवाद की मीमांसा करते हैं) स्त्री क्षेत्ररूप
 कही गई, और पुरुष बीज रूप कहा गया है, क्षेत्र और बीज
 के मेल से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥ कहीं
 बीज बढ़ कर रहता है कहीं स्त्री की योनि, जहां दोनों तुल्य हों
 वह उत्पत्ति प्रशंसनीय है ‡ ॥ ३४ ॥ बीज और योनि में से
 बीज प्रधान कहा जाता है, क्योंकि सब भूतों की उत्पत्ति बीज
 के चिन्हों (रंग आकारादि) से चिन्हित होती है ॥ ३५ ॥
 जैसा बीज ठीक समय पर तैयार किये क्षेत्र में बोया जाता है,
 वैसा वह बीज अपने गुणों से चिन्हित उस (क्षेत्र) में उगता है ॥ ३६ ॥
 इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।

न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥
 भूमावप्येकैकदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
 नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

‡ बीज की प्रधानता, जैसे व्यास ऋष्यशृङ्गादिमें (जो अब्राह्मणी में
 से भी ब्राह्मण के बीज से ब्राह्मण हुए) क्षेत्र की प्रधानता धृतराष्ट्र
 आदि में (जो क्षत्रिय के क्षेत्र में ब्राह्मण के बीज से भी क्षत्रिय हुए)
 दोनों तुल्य अर्थात् जहां विवाहने वाला ही उत्पादक है (मेधा० कुल्लू०

ब्रीहयः शालयो मुद्गगास्तिला माम्पास्तथा यवाः ।

यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।

उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहाति ॥ ४० ॥

यह भूमि भूतों (वृक्ष बेल आदि) की सनातन योनि कही जाती है, पर कोई भी बीज अपने परिणाम (उगने बढ़ने) में योनि (इस भूमि) के गुणों को नहीं परिणत करता है * ॥ ३७ ॥ भूमि में एक क्यारी में भी किसानों से समय पर बोए बीज अपने २ स्वभाव से नाना रूपों वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ३८ ॥ साठी, धान, मूंग, तिल, माष (उड़द) जौ, लहसन और ईख बीज के अनुसार उगते हैं ॥ ३९ ॥ बोया हो कुछ और उत्पन्न कुछ और हो यह नहीं होता है, जो २ बीज बोया जाता है, वही वह उगता है (इस लिये मनुष्यों में भी बीज की ही प्रधानता है)

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।

आयुष्कामेन वसव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुरोविदः ।

यथाबीजं न वसव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

नश्यतीषु र्यथा विद्धः खेविद्ध मनु विध्यतः ।

तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

पृथोरपीमां पृथिवी भार्या पूर्वविदो विदुः ।

स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

* जिस का बीज है, उसके डाल डालियां फूल पत्ते निकलते हैं, न कि पृथिवीका रूप आकार

इस लिये बुद्धिमान्, सुशिक्षित, ज्ञान विज्ञान के जानने वाले और दीर्घ आयु चाहने वाले को कभी पराई स्त्री में बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४१ ॥ इस (विषय) में भूतकाल के जानने वाले वायु से गई गाथाएं गाते हैं, कि जैसे पुरुष को पराई स्त्री में बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४२ ॥ जैसे (किसी से) बंधे गए मृग के उसी छिद्र में वह फँका गया बाण बंधने वाले का नष्ट होता है (निष्फल जाता है मृग पहले बंधने वाले को मिलता है) वैसे पर स्त्री में बीज जल्दी नष्ट हो जाता है (उसी समय गर्भ का मालिक क्षेत्र वाला होता है) ॥ ४३ ॥ पूर्व समय के जानने वाले इस पृथिवी को भी पृथु की भार्या कहते हैं *झाड़ियां काटने वाले का क्षेत्र कहते हैं, और शल्य वाले का मृग ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेतिह ।
 विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥
 न निष्क्रय विसर्गाभ्यां भर्तुर्भाया विमुच्यते ।
 एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापति निर्मितम् ॥ ४६ ॥
 सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
 सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥
 यथा गोश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
 नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

* यद्यपि पृथिवी के अनेक मालिक होचुके हैं, पर पहले पहल पृथु ने ही इसे खेती के योग्य बनाया, इस लिये इसको पृथिवी वा पृथ्वी अर्थात् पृथु की भार्या कहते हैं ।

जो पत्नी पुत्र और अपना आप है यह पूरा पुरुष है, * इसलिये विद्वान् कहते हैं, जो भर्ता है, वह स्त्री कही गई है ॥४५॥ न निष्कृति (चुकाव) ले लेने से, न छोड़ देने से भार्या भर्ता से छूट सकती है, इसप्रकार हम पूर्वकाल में प्रजापति से बनाई मर्यादा जानते हैं † ॥ ४६ ॥ एकवार (भाइयों का) विभाग होता है ‡ एकवार कन्या दीजाती है, एकवार देने का वचन कहा जाता है, यह तीनों सत्पुरुषों के एकवार होते हैं § ॥४७॥ जैसे गौ, घोड़ा, ऊटनी, दासी, भैंस, बकरी और भेड़ में उत्पन्न करनेवाला, प्रजा का भागी नहीं होता, वैसे दूसरी स्त्रियों में भी॥ येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।

ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।

गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षमम् ॥५०॥

तथैवाऽक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।

कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजि लभते फलम् ॥५१॥

फलं त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

* अर्थात् पत्नी अर्वाङ्गी होने से, और पुत्र आत्मज होने से अपना रूप ही है देखो आप० २।१४।१६ † आर्य धर्मशास्त्रों में तलाक किसी तरह नहीं है, और यह मर्यादा आदि सृष्टि से मानी गई है ‡ भाई जो एकवार बांट लेते हैं, उसी को स्थिर मानते हैं, पछताकर उल्टा पलट नहीं करते

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।

तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिकएव च॥ ५३ ॥

जो बीजशाले क्षेत्र के स्वामी न होकर पर क्षेत्र में बोते हैं, वह उत्पन्न हुई खेती का कहीं (किसी देश में भी) फल नहीं पाते हैं ॥ ४९ ॥ अपना सांड यदि दूसरों की गौओं में सौ बछड़े भी उत्पन्न करें, वह गौओं के स्वामियों के ही बछड़े होते हैं, सांड का वीर्य सेचन (मालिक के लिये) व्यर्थ जाता है * ॥ ५० ॥ वैसे ही अक्षेत्री का बीज (निष्फल होता है) पर क्षेत्र में बोनो वाले क्षेत्रवालों का काम संचारते हैं, बीजवाला फल नहीं पाता है ॥ ५१ ॥ क्षेत्रवालों और बीजवालों में फल का संकेत (कि इसकी उपज हमारी सांझी होगी) न हुआ हो, वहाँ प्रत्यक्ष क्षेत्रवालों का काम बनता है, इसलिए बीज से योनि बड़ी है ॥ ५२ ॥ हां पहले नियम करके जब यह (क्षेत्र) बीज (बोने) के लिए दिया जाता है, उसके इस लोक में बीजवाला और क्षेत्रवाला दोनों भागी देखे गये हैं ॥

ओघवाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।

क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

एषधर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।

विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रभवं प्राति ॥ ५५ ॥

एतद्धः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

* याज्ञ० १ । ६५ १ वासि० १७।८

जो बीज प्रवाह और आंधी द्वारा (कहीं से) लाया हुआ जिसके क्षेत्र में उगता है, वह बीज क्षेत्रवालेका ही होजाता है, बाने वाला फल नहीं पाता है ॥ ५४ ॥ * यही मर्यादा गो, घेड़े, दासी, ऊट, भेड़, बकरी, भैंस और पक्षियों की सन्तान के लिए जाननी चाहिए ॥ ५५ ॥ यह तुम्हें बीज और योनि की प्रधानता अप्रधानता कही है, इससे आगे आपत्ति में * स्त्रियों का धर्म कहूंगा ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥
देवराद्धा सापिण्डाद्धा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेषिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥

जो बड़े भाई की भार्या है, वह छोटे की गुरुपत्नी * है, जो छोटे की भार्या है, वह बड़े की स्नुषा (पुत्र वधू) है ॥ ५७ ॥ आपत्काल के बिना (=सन्तान के होते हुए) बड़ा छोटे की भार्या और छोटा बड़े की भार्या के पास जाए, तो पतित होते हैं, चाहे वह नियुक्त भी हों § ॥ ५८ ॥ (अपने पति से) सन्तान के अभाव में भली भान्ति नियुक्त ¶ हुई स्त्री को चाहिए,

*यही मर्यादा जो ४८-५४ में कही है * जब उनके सन्तान न हो ॥

§ गुरु से अभिप्राय यहां पिता है, (राघ०) § ५८-६३ चासि० १७।५६-६१ गौत० १८।४-८ बौवा० २।४।९-१० याज्ञ० १।६८-६९ ¶ नियुक्त = आज्ञा दी हुई-पुत्र के अभाव में पत्नी अपने पति से आज्ञा दी जासक्ती है, और पति के मरने के पीछे दूसरे जातियों से (गोवि०)

किं देवर से, वा सापिण्ड से अभीष्ट * सन्तान उत्पन्न करे ॥५९॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।

अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थं निर्वृत्ते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवा † के साथ नियुक्त पुरुष (शरीर पर) घी मलकर बाणी को रोके हुए एक पुत्र उत्पन्न करे दूसरा किसी तरह नहीं ॥६०॥ पर दूसरे उस (नियोग विधि) के जानने वाले (एक से) नियोग का प्रयोजन न सिद्ध हुआ मानते हुए ‡ उन दोनों का दूसरा (गर्भ धारण) धर्म से मानते हैं ॥ ६१ ॥ विधवा में विधि अनुसार नियोग का अर्थ (गर्भ धारण) सिद्ध होने पर वह दोनों § परस्पर गुरु की तरह और स्नुषा की तरह वर्ते ॥ ६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

* अभीष्ट = अर्थात् पुत्र, न कि कन्या वा नपुंसक। सो यदि पुत्र न हो, तो पुत्र के लिये फिर प्रवृत्ति इसी से कही गई (नारा०) ।

† विधवा = सन्तानोत्पादन के योग्य न पतिवाली, क्योंकि पति के जीते हुए भी अयोग्य पति से आज्ञा दी जाती है, जैसे कुन्ती पाण्डु से (टीकाकार) ‡ एक पुत्र न के बराबर होता है, यह शिष्ट कहते हैं (मेधा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०) § वह दोनों बड़ा भाई और छोटे की भार्या ॥

नियुक्त जो (स्त्री पुरुष) विधि त्याग कर अपनी कामना से बर्ते, वह दोनों पतित होते हैं अर्थात् (बड़ा हो तो) पुत्रबधू गामी होगा, [छोटा हो तो] गुरुपत्नी गामी होगा ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

समही मखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपातिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत्कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शक्नुवन्नां शुचित्रताम् ।

मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्वतावृतौ ॥ ७० ॥

द्विजातियों को विधवा स्त्री दूसरे के साथ नियुक्त नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दूसरे के साथ नियुक्त करते हुए

सनातन धर्म का हनन करेंगे * ॥ ६४ ॥ विवाह वाले मन्त्रों में

* यह नियोग का विषय यहां मनु में विशेषतः विचारणीय है। ५९-६३ तक नियोग का स्पष्ट विधान है। ६४ से ६८ तक निषेध है। फिर ६९ में एक नया विधान है। यह परस्पर विरोध कैसे? इसके उत्तर यह दिए गए हैं—श्लोक ५९ में सन्तान के अभाव में नियोग कहा है, चाहे स्त्री विधवा हो, वा नपुंसक वा सदा रोगी पतिवाली सधवा। पर श्लोक ६४ में विधवा के नियोग का निषेध है। नपुंसक वा रोगी पतिवाली का नहीं, इसलिए नपुंसक वा रोगी पतिवाली का नियोग हो, विधवा का न हो, यह व्यवस्था है, (इति के चित्) इसका खण्डन—‘विधि वाक्य (श्लोक ५९ में) नियोग का निमित्त सन्तान का अभाव कहा है, वह जैसे व्याधित और नपुंसक पतिवाली के लिए है, वैसे मृत पति वाली के लिए भी है, इसलिए विधवा का अर्थ पति संबन्ध से रहित है। वह मृतपति की तरह व्याधित नपुंसक पतिवाली के भी तुल्य ही है। अवश्य यही अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा श्लोक ६० में कहा भी मलकर जाने आदि का नियम भी विधवा के विषय में हो गा, व्याधित नपुंसक पतिवाली के विषय में नहीं, इसलिए यह व्यवस्था ठीक नहीं है, (मेवा०) तो फिर क्या व्यवस्था है? ‘व्यासादि के दृष्टान्त से क्षेत्रज्ञ सन्तान के लिए सपिण्डों को दड़ों के नियोग (हुकम) की ज़रूरत है (जैसा कि व्यास माता के हुकम से विचित्रवीर्य की स्त्री के पास गया—सम्पादक) इस अभिप्राय से देवरादि से नियोग है, क्योंकि माहात्माओं की प्रवृत्ति राग से माननी उचित नहीं। और निषेध जो है, वह काम=राग से प्रवृत्ति के लिए है, जो राजा वेन के समय होगई थी, (देखो ६७) ऐसी प्रवृत्ति ही प्रायः लोगों की होसکتा है, इसलिए निषेध किया है, जो श्लोक ६५ में कहा है, कि विवाह सम्बन्धी मन्त्रों में नियोग नहीं कहा, इस से विवाह सम्बन्धी मन्त्रों में नियोग का आज्ञा नहीं, सो ठीक है, वहां आज्ञा नहीं, पर वहां निषेध भी नहीं। और आज्ञा अन्यत्र स्पष्ट है,—‘को वां शयुत्रा विधवे च देवरं मर्ये न योषा कृणुते सधस्थ आ’ (ऋग० १०।४०

कहीं नियोग नहीं कहा है, न विवाह के विधान में विधवा का

२) अर्थात् जैसे विधवा स्त्री देवर को अपना पति बनाकर एक शय्या पर अपनी ओर झुकाती है (मेधा०) (अर्थात् मेधा० के आशय से नियोग=बड़ों का हुक्म मानकर प्रवृत्ति है, न कि राग से प्रवृत्ति। प्रायः लोगों में राग प्रबल होता है, सो नियोग की खुली आज्ञा देने में सच्चा नियोग तो कहीं होगा। झूठे नियोग प्रायः हुआ करेंगे, इसलिए कहकर निषेध कर दिया—सम्पादक) 'जो यह नियोग कहा है उसका अनुष्ठान आजकल के लोगों से कठिन है, इसलिये अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, यह ६४—से ६८ तक पांच श्लोकों से कहा है (नन्दन) नियोग का विधान करके पुनर्विवाह का निषेध है, नहीं तो विधि और निषेध का परस्पर विरोध होगा। सो नियोक्तव्या=विवाह की आज्ञा नहीं देनी चाहिए, उद्धाहक मन्त्र 'अयं मणु देव इत्यादि। विवाह विधि=ब्राह्मोद्देव इत्यादि। पशुधर्म=पुनर्विवाह। प्रमोतपतिका=जिसका पति मर गया है, पर पुत्र है। अपत्यार्थ=संतान के लिए, जब कि संतान पहले है (राघ०) (सो राघवानन्द के अभिप्राय से नियोग उचित है, पुनर्विवाह निन्दित है, पर अर्थ बहुत खींचा हुआ है—संपादक) श्लोक ६४ में दूसरे के साथ अर्थात् देवर वा सपिण्ड से भिन्न के साथ नियोग का निषेध है, यह भी व्यवस्था की गई है, (पर अगले श्लोकों से स्वरसतः खण्डन ही झलकता है—संपादक) श्लोक ६९-७० के विषय में टीकाकार कहते हैं, कि नियोग के प्रकरण से वाग्दत्ता (सगाई की हुई) के विषय में यह नियम है, कि यदि वाग्दत्ता का पति मर जाए, तो उसे देवर विवाह ले, और एक ऋतु में एक ही बार उसके पास जाए, और वह स्त्री वस्त्र श्वेत रखे। मिताक्षरा में यह व्यवस्था की है, कि विधवा के नियोग का विधान करके फिर निषेध कर दिया, तिस पीछे श्लोक ६९-७० से यह बतलाया, कि वाग्दत्ता का नियोग ठीक है, विधवा का नहीं (याज्ञ० १। ६९ पर मिताक्षरा) (पर आचार इसके विरुद्ध है। वाग्दत्ता को फिर निःशंक अन्यत्र विवाह देते हैं, न कि देवर ही के साथ नियुक्त ही करते हैं—संपादक) ॥

पुनर्विवाह कहा है ॥ ६५ ॥ यह निन्दित, पृथुओं का धर्म वि-

संपादक की स्वतन्त्र सम्मति(१) नियोग स्मृति विहित है, यह निर्विवाद धर्मसूत्रों में भी विधान है. दृष्टान्ततया गौतम धर्मसूत्र अध्याय १८- “अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् ॥ ४ ॥”=पतिहीना स्त्री देवर से सन्तान पाने की इच्छा करे। “गुरुमसूता नर्तुमती यात् ॥ ५ ॥” बड़ों से आज्ञा दी हुई ऋतुकाल को न उलंघे। पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा ॥ ६ ॥ अथवा सपिण्ड सगोत्र, सप्रवर से, वा योनि मात्र=ब्राह्मणजाति मात्रसे (सन्तान पाना चाहे) “नादेवरादिसेके ॥ ७ ॥” कई कहते हैं, देवर के बिना नहीं। “नातिद्वितीयम् ॥ ८ ॥” दूसरे को उलंघकर न उत्पन्न करे। “जनयितुरपत्यम् ॥ ९ ॥” सन्तान उत्पन्न करने वाले की होती है। “समयादन्यस्य ॥ १० ॥” पर संकेत कर लेने से दूसरे (क्षेत्रवाले) की होती है (जैसे विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यास से) “जीवतश्च क्षेत्रे ॥ ११ ॥” जीते हुए के क्षेत्र में भी होती है (जब वह नपुंसक वा व्याधित) हो। इस प्रकार स्पष्ट विधि है। निषेध नहीं (२) पराशर स्मृति आदि में कलियुग में नियोग का निषेध भी प्राचीन विधि का द्योतक है (३) सारी स्मृतियों में १२ प्रकार के पुत्रों में से क्षेत्रज पुत्र औरस के तुल्य पिता का दाय भागी होता है। (देखो आगे ९।१४५) (४) दायभागी होने में धर्म सन्तान होना हेतु भी दिया है, (९।११) (५) निःसन्तान मरे भाई का धन सम्भाल कर उसकी स्त्री में मरे भाई के लिए पुत्र उत्पन्न करके वह धन उसको देने की आज्ञा भी है (९।१४६) इत्यादि प्रबल हेतुओं से नियोग धर्मशास्त्र विरुद्ध वा मानवधर्म-शास्त्र विरुद्ध नहीं होसक्ता। इसीलिए टीकाकार भी विधि निषेध की कोई न कोई व्यवस्था करते हैं। और जैसा कि मनु की प्रायः चाल है, कि विषय के आरम्भ में उस के आरम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं, और समाप्ति में समाप्ति जितलाते हैं। इसीतरह

द्वान् द्विजों ने मनुष्यों का भी बतलाया, जब वेन राज्य शासन

नियोग के आरम्भ में स्त्रियोंका आपद्धर्म कहने की (५६ में) प्रतिज्ञा करके दायभाग के आरम्भ में पिछले प्रकरण की समाप्ति करते हुए फिर कहा है (१०३ में) कि आपत्काल में (स्त्री के लिए) सन्तान की प्राप्ति कही है। इसलिए नियोग मनु का निःसन्देह अभिमत विषय है। जो व्यवस्था मिताक्षरा में की है। कि नियोग है ठीक, पर वह वाग्दत्ता का पति मरने पर होता है, यह आचार विरुद्ध है। वाग्दत्ता का पति मरने पर तो विवाह देते हैं, नियोग नहीं होता, किञ्च आगे ९७ में कहेंगे, कि जिसका शुल्क दिया गया है, ऐसी वाग्दत्ता का पति मर जाए, तो वह देवर को विवाह दी जाए, पर यदि कन्या मानले। सो जब मूल्य दीहुई, वाग्दत्ता को भी धक्के से देवर के साथ विवाह देना मनु को अभिमत नहीं, तो ऐसी वाग्दत्ता जो पुण्य की गई है, न कि बेची गई, भला उसका धक्के से (न कि उसकी इच्छा से) वह भी नियोग (न कि विवाह) मनुको कब अभिमत होसका है। इसलिए 'वाचा सत्ये कृते, से वाग्दत्ता अभिप्रेत नहीं। किन्तु विवाह की प्रतिज्ञाओं से अभिप्राय है। और कन्या से अक्षता अभिप्रेत है। अर्थात् यदि विवाह मात्र हुआ हो, और कन्या अक्षता हो, तो उसको उसका देवर उक्त विधि से विवाह सका है।

अस्तु जब नियोग विहित है, तो फिर ६४ से ६८ तक निषेध कथें। सम्भावित तो है, कि यह श्लोक प्रक्षिप्त हों, पर इतने पुराने अवश्य हैं, कि विक्रमादित्य के समय में थे, क्योंकि मिताक्षरा में इन पर विचार है, और उस से भी बहुत पहले बृहस्पति स्मृति के समय में भी थे, क्योंकि उसमें भी इनकी चर्चा है। सो यदि असला ही माने जाएं, तो इसकी व्यवस्था जैसी बृहस्पति ने की है, वही ठीक होगी, जैसा कि कुल्लू० ने ६८ की टीका में उद्धृत किया है, उक्तों नियोगों मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु । युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुं मन्यैर्विधानतः = मुनि ने नियोग कहा है, और आपही निषेध किया है, क्योंकि युग के क्रम से अब और लोगों से विधि अनुसार

करता था ॥ ६६ ॥ वह सारी पृथिवी का पालन करता हुआ राजऋषियों में मुखिया, काम से नष्ट बुद्धि होकर वर्ण संकर करता भया ॥ ६७ ॥ तब से लेकर जो कोई पुरुष मोह से मरे पाति वाली स्त्री को सन्तान के लिए नियुक्त करता है, उस को भले पुरुष निन्दते हैं ॥ ६८ ॥ जिस कन्या का बाणी से सत्य किया जाने पर पाति मरजाए, उसको इस विधि से अपना देवर विवाहे ॥ ६९ ॥ (देवर) विधि अनुसार इसे स्वीकार करके श्वेन वस्त्रों वाली पवित्र व्रतों वाली को गर्भ ग्रहण तक ऋतु २ में एक २ बार एकान्त में गमन करे ॥ ७० ॥

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।

दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥

विधिवत्प्रातिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।

व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मनाचोपपादिताम् ॥७२॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।

तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥७३॥

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः ।

अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥

कन्या किसी एक को देकर बुद्धिमान फिर किसी दूसरे को न दे, क्योंकि देकर फिर देता हुआ पुरुष के विषय में झूठ (के अप-

किया नहीं जासکتा । अर्थात् अब वह समय नहीं रहा, कि केवल आज्ञा मानकर प्रवृत्ति हो, नियुक्त स्त्री पुरुषों में राग का लेश कभी उत्पन्न न हो, इसीलिए निषेध किया है ताकि नियोग उच्च उद्देश्य से नची ने गिर जाए ॥

राध सहस्रपण दण्ड *) को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥ विधि अनुसार ग्रहण करके भी कन्या का त्याग कर सकता है, यदि वह निन्दित हो ॥ रोगिणी हो, (किसी पुरुष से दूषित हो चुकी हो, वा धोखे से दीगई हो ॥ ७२ ॥ जो दोषवाली कन्याको विन बतलाए दे देवे, उस दुरात्मा कन्यादाता के उस (दान) को निष्फल कर देवे ॥ ७३ ॥ काम पड़ने पर पुरुष अपनी पत्नी की जीविका (का प्रबन्ध) करके परदेश जाए, क्योंकि जीविका के अभावसे तंग हुई स्त्री शीलवाली भी बिगड़ जाती है विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियम मास्थिता ।

प्रोषिते त्वाविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

जीविका देकर पति परदेश जावे, तो नियमों के आश्रित रहे, (शरीर की सजावट, मेले में जाना, वा पर घर जाना आदि न करे) यदि जीविका न देकर परदेश जाए, तो दोष शून्य दस्तकारियों से जीविका करे ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरःसमाः ।

विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रीस्तुवत्सरात् ॥ ७६ ॥

धर्म कार्य के लिए परदेश गये पुरुष की आठ वर्ष, विद्या (प्राप्ति) और यश (विद्यादान वा विजय) के लिए छः वर्ष, और उपभोग (सैर आदि) के लिये तीन वर्ष (स्त्री) प्रतीक्षा करे**

* देखो पूर्व ८।९८ ॥ याज्ञ० १ । ६५ विष्णु० २५।९—१० ॥ दुष्कुलीना ॥ फुलबहरी आदि दोष ढांप कर दीगई हो ॥ देखो पूर्व ८।२०५, २२४ ॥ याज्ञ० १।४४ ।

** वासि० १७।७५—८० गौत० १८।१५, १७। इतने २ वर्ष प्रतीक्षा करके फिर क्या करे, यह यहां कुछ नहीं कहा। कुल्लू०

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
 ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हत्वा न संवसेत् ॥७७॥
 अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।
 सा त्रीन्मासान्पारित्याज्या सविभूषणपरिच्छदा ॥७८॥
 द्वेष करती हुई स्त्री की पति एक वर्ष प्रतीक्षा करे वर्ष के पीछे
 दिया (भूषण आदि) लेकर इसे साथ न बसाए (अलग करके
 अन्न वस्त्र देता रहे) ॥ ७७ ॥ जो स्त्री प्रमादी (जुए आदि में
 लगे), शराबी, रोग पीड़ित पति को उलांघे * , उसे भूषण
 और शय्यादिसे रहित करके तीन महीने त्याग देना चाहिए ॥७८॥
 उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
 न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्त्तनम् ७९
 मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
 व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थिनी च सर्वदा ॥८०॥
 वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
 एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥८१॥

हां पागल, पातित, नपुंसक, बीजसे रहित, और पाप रोगी से
 द्वेष करती हुई का न त्याग हो, न दिये (भूषण आदि) का
 राश्रव, कहते हैं, फिर पति के पास चली जाए। नन्दन कहता है,
 कि इस अवधि के पीछे दूसरा पति कर लेने में दोष नहीं है, यह
 अभिप्राय है, और जो मरे पति वालियों के लिये ब्रह्मचर्य बतलाया है।
 वह बहुत बढ़िया फल चाहने वालियों के लिये है, दूसरियों के लिये
 नहीं, इस लिए उस से इस बचन का विरोध नहीं ॥

* उलांघना=अपमान करना, वा पथ्य औषध आदि न करना ।

छीनना हो ॥ ७९ ॥ मद्य पीनेवाली, खोटे आचार वाली और जो (पति के) प्रतिकूल हो, सदा रोगिणी हो, (नौकरों और बच्चों को) ताड़नेवाली, और धन के नाश करनेवाली हो, इन पर दूसरी विवाह ले ॥ ८० ॥ पहली स्त्री बांझ हो, तो आठवें वर्ष, बच्चे मर जाते हों, तो दसवें वर्ष, निरी कन्याएं जने, तो ग्यारहवें वर्ष, अप्रिय वादिनी हो तो बहुत ही जल्दी दूसरी विवाह ले या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ।

सानुज्ञाप्याऽधि वेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात् ।

सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३

जो रोगिणी हो, पर पति के अनुकूल हो, और शीलवाली हो, उससे अनुज्ञा लेकर उस पर दूसरी विवाह, और कभी उसका अपमान न करे ॥ ८२ ॥ जिस पर विवाह हुआ है वह स्त्री यदि रूठकर घर से निकल जाए, तो उसे उसी समय (जबरदस्ती) रोक लेना चाहिए, वा उसे उसके पिता आदि के पास छोड़ देना चाहिए ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।

प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४

यदि स्वाश्रापराश्रैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।

तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

(पति आदि से) मना की हुई भी जो स्त्री (विवाह आदि) उत्सवों में भी मद्य पीवे, वा मेले तमाशे में जावे, उसको राजा छः

रत्नी दण्ड देवे ॥ ८४ ॥ यदि द्विज अपनी और दूसरी (अपने वर्ण की और निचले वर्ण की) स्त्रियों को विवाहें, तो उन का बड़प्पन, आदर सत्कार, और घर वर्ण क्रम से हों ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैतिकम् ।

स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।

यथा ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

पति की शरीर सेवा * और निस का धर्म-कार्य (अग्निशोत्र आतिथि सेवादि) सब (वर्णों) की सजातीया ही करे, विजातीया कभी नहीं † ॥ ८६ ॥ जो फिर सजातीया की स्थिति में दूसरी से यह (कर्म) करवाए, वह बड़ों से ऐसा माना गया है, जैसे ब्राह्मण चाण्डाल (ब्राह्मणीसे शूद्र का पुत्र) होता है ‡ ॥ ८७ ॥

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च ।

अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमपि ।

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कर्मार्युतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधि गच्छेद्यदि स्वयम् ।

नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥

* पति के लिये रोटी पकाना लाना आदि (मेघा०, कुल्लू०, राघ०) † याज्ञ० १।८८ विष्णु० २६।१ ‡ विष्णु० २६।२।

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्यास्वयंवरा ।
 मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥९२॥
 पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
 सहि स्वाम्यादति क्रामेद्वतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥
 त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
 त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥९४॥

(जो गुणों से) उत्कृष्ट, सुन्दर, सजातीय हो, ऐसे वर को न
 पहुंचती हुई भी * कन्या यथाविधि दे देवे ॥८८॥ चाहे कन्या
 ऋतुवाली होकर भी मरण पर्यन्त घर में रहे, पर इसे गुणहीन को
 कभी न दे ॥ ८९ ॥ (पिता से न दीहुई) कन्या ऋतुमती होकर
 भी तीन वर्ष प्रतीक्षा करे । इस समय से पीछे अपने तुल्य पाति
 को स्वयं वरले ॥ ९० ॥ (पिता आदि से) न दी हुई यदि स्वयं
 पाति को पाले, तो उसे कोई दोष नहीं होता, न उसको, जिस
 को वह वरती है ॥९१॥ किन्तु यह स्वयंवर वरने वाली कन्या
 पिता, माता, भाई से दिए हुए अलंकार को न लेजाए, यदि
 उसको लेजाए, तो यह चोरिणी † होगी ॥९२॥ (इधर वर भी)
 ऋतुवाली कन्या को लेता हुआ उसके पिता को कुछ शुल्क न दे,

* विवाह के अयोग्य आयुवाली भी (मेघा०) अथवा माता की छा:
 पीढ़ी में से हों तो भी इत्यादि । १० ८८-९२ वासि० १७ । ६९-७१
 गौत० १८।२०-२३ बौध्वा० ४ । १ । ११-१४ याज्ञ० १ । ६४ विष्णु०
 २४।४०-४१ † मेघा०, नन्द के अनुसार ' स्तेयं ' = चोरी पाठ, पढ़
 है । कुल्लू०, नारा०, राघ० ' स्तेना ' पढ़ते हैं । अर्थात् वह चोरिणी
 होगी, मेघा० ' स्तेनः ' वर चोर होगा, पाठान्तर भी देता है ।

क्योंकि ऋतुओं के रोकने से वह (पिता) स्वामित्व से अलग हो चुका है*॥९३॥ जब धर्म (पालने में) हानि पहुंचती हो, तो जल्दी करता हुआ † तीस वर्ष का पुरुष वारह बरस की सुन्दरी को और चौबीस वर्ष का आठ वर्ष की (सुन्दरी) को विवाह ले ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्या विन्दते नेच्छयात्मनः ।

तां सार्धं विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥९५॥

पति देवताओं से ‡ दी स्त्री को पाता है, न कि (निरा) अपनी इच्छा अनुसार, सो देवताओं का प्रिय आचरण करते हुए उसको सदा उस सती का पालन करना चाहिए ॥ ९५ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।

तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां प्रियेत यदि शुल्कदः ।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् ।

शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छत्रं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥

* 'केचिदाहुरमानवोऽयं श्लोकः' = कई कहते हैं यह श्लोक मनु का नहीं है, (मेधा०) † जब ब्रह्मचर्य समाप्त कर स्नान कर चुका है, तो गृहस्थाश्रम के प्रति बिलम्ब न करे, क्योंकि ब्रह्मचारी के धर्म समाप्त कर चुका है, और गृहस्थ के धर्म गृहाश्रम के बिना नहीं कर सकेगा और अनाश्रमी रहना नहीं चाहिये (कुल्लू०, नारा०, राघ०) ‡ भगोऽर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वा दुर्गा हंपत्याय देवाः इत्यादि से कहे भग, अर्यमा सविता आदि देवताओं से (कुल्लू०, राघ०) 'रथि च पुत्रांश्चादादाग्निर्मह्यमथो इमाम्' = इसके अनुसार-देवता से = अग्नि से (नारा०) सोम, गन्धर्व और अग्नि से (मेधा० नन्द०) ।

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।

यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरऽन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।

शुल्कसंज्ञेन मूल्यान छत्रं दुहितृविक्रयम् ॥१००॥

गर्भ ग्रहण के लिए स्त्रियों रची हैं, और गर्भ धारण के लिए पुरुष, इसलिए (गर्भोत्पादन की तरह अग्न्याधानादि भी पुरुष का) धर्म श्रुति में पत्नी के साथ कहा है ॥ ९९ ॥ कन्या का शुल्क देकर यदि शुल्क देने वाला मरजाए, तो वह देवर को दे देनी चाहिए, यदि कन्या स्वीकार करले ॥ ९७ ॥ शूद्र भी कन्या देता हुआ शुल्क न लेवे, क्योंकि शुल्क ग्रहण करता हुआ कन्या की गुप्त बिक्री करता है ॥ ९८ ॥ यह (काम) न पहले भले पुरुष करते रहे, न अब के करते हैं, कि एक के लिए प्रतिज्ञा करके फिर दूसरे को दीजाए ॥ ९९ ॥ पहली सृष्टियों में भी यह नहीं सुना है, कि शुल्क नामवाले मूल्य से कन्याओं को गुप्त विक्रय हुआ हो ॥ १०० ॥

अन्योन्यास्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।

एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री पुंसयोः परः ॥१०१॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।

यथा नाभिचरेतां तौ विद्युक्ता वितरेतस्म ॥१०२॥

एष स्त्री पुंसयो रुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।

आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

मरण पर्यन्त (पति पत्नी का) परस्पर व्यवभिचार नहीं

हो, यह संक्षेप से स्त्री पुरुषका परमधर्म जानना चाहिए ॥१०१॥
 विवाह करके स्त्री पुरुष सदा वैसा यत्न करे, कि वियुक्त होकर
 एक दूसरे से व्यभिचारी न हों ॥ १०२ ॥ यह स्त्री पुरुष का
 प्रेम भरा धर्म और आपत्काल में (नियोग से) सन्तान की
 प्राप्ति बतलादी है, अब दायभाग जानो ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
 भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥
 ज्येष्ठएव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
 शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥
 ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
 पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥१०६॥
 यस्मिन्ननृणं सन्नयति येन चानन्यमश्नुते ।
 सएव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥
 पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठोभ्रातृन् यवीयसः ।
 पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥
 ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
 ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिर्गर्हितः ॥१०९॥
 योज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेवसपितेवसः ।
 अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्ससंपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥
 एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
 पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥१११॥

पिता माता के पीछे * मिलकर भाई, माता पिता के धन को एक जैसा बाँटें, क्योंकि उन दोनों के जीते हुए वह (उन के धनों के) मालिक नहीं हैं ॥ १०४ ॥ अथवा बड़ा ही पिता के सारे धन को लेलेवे ७ दूसरे उसके आश्रित रहें, जैसे पिता के (आश्रित थे) ‡ ॥ १०५ ॥ बड़े के उत्पन्न होने मात्र से ही पुरुष पुत्रवाला बन जाता है, और पितरों का उद्गुण हो जाता है, इससे वह (बड़ा) सारे के योग्य हैं ॥ १०६ ॥ जिसके होने पर (पितृ-) ऋण को चुकाता है, और जिससे अमृतत्व को भोगता है ॥ वही धर्म से उत्पन्न हुआ पुत्र है, दूसरों को काम से उत्पन्न हुआ जानते हैं ॥ १०७ ॥ पिता की तरह बड़ा छोटे भाइयों को पुत्र की तरह पालन करे, और वह भी बड़े भाई के प्रति पुत्र की तरह धर्म से बर्ते ॥ १०८ ॥ बड़ा कुल को बढ़ाता है, बड़ा ही नाश करता है, (सो गुणवान्) बड़ा लोक में पूज्यतम है बड़ा श्रेष्ठों से अनिन्दित होता है ॥ १०९ ॥ जो बड़ा बड़ों के स बर्ताव वाला हो-१ वह माता के तुल्य है, वह पिता के तुल्य है, पर जो बड़ों के से बर्ताव वाला नहीं, वह बन्धुवत् पूजनीय है ॥ ११० ॥ इसप्रकार इकट्ठे बसों, वा धर्म की इच्छा से अलग अलग बसों, क्योंकि धर्म अलग २ बढ़ता है इसलिए अलग होना धर्म युक्त है ** ॥ १११ ॥

* पिता के मरने पीछे पिता के धन को, माता के मरने पीछे माता के धन को ७ यदि वह धार्मिक है (कुल्लू० राघ०) ‡ गौत० २८।३ बौध० २।३।१३ ॥ पुत्रवाले को ही मोक्ष का अधिकार है, मिलाओ वा १७।१ विष्णु २५।४५ ॥ अर्थात् पिता का सा बर्ताव करें। चाचे, मामे, आदिकी तरह उसका अभिवादन और प्रत्युत्थान आदि करें ॥ अलग २ अग्निहोत्र और अतिथि पूजा आदि होने से धर्म अधिक होता है ** गौत० २८।४ ॥

ज्येष्ठस्य विंशउद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्भरम् ।
 ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥
 ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
 येऽन्येज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥११३॥
 सर्वेषां धनजातानामाददीताग्रयमग्रजः ।
 यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्भरम् ॥ ११४॥
 उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।
 यात्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५॥
 एवं समुदधृतोद्दारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।
 उद्दारेऽनुदधृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥
 एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
 अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७॥

(जायन्नाद में से) बीसवां भाग और सब वस्तुओं में से
 जो श्रेष्ठ वस्तु हो, यह दो सब से बड़े लड़के का उद्धार (हिस्से
 से अलग भेंट) हो, इसमें आधा (चालीसवां भाग) मंझले का
 हो, और चौथाई (अस्सीवां भाग) सब से छोटे का हो, (शेष
 सब बराबर बांट लें) * ॥ ११२ ॥ (तीन से अधिक भाई हों
 तो) सब से बड़ा और सब से छोटा पूर्व कहे अनुसार लेवे, जो
 ज्येष्ठ कनिष्ठ से भिन्न है, उन सब का मंझले वाला (चालीसवां

* गौत० २८।५-७ बौध्वा २।३।९ विष्णु १८।३७ याज्ञ २।११४ मेधा-
 तिथि कहता है, कई इस नियम का बर्ताव पिछले युगों में मानते थे,
 पर कलियुग में विषम विभाग न होकर बराबर विभाग ही होने चाहिये

भाग उद्धार) हो ॥ ११३ ॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन है उसको बड़ा लेलेवे, और जो बहुत बढ़िया वस्तु है, उस को भी, और दस से * एक श्रेष्ठ लेलेवे, (यह नियम यदि बड़ा गुण वाला और दूसरे निर्गुण हों उस विषय में है। सब तुल्य गुणों वाले हों, तो) † ॥ ११४ ॥ जो यह दस पीछे उद्धार कहा है, यह यदि अपने कर्तव्यों में सभी एक जैसे सावधान हों, तो नहीं होता, किन्तु धन बढ़ाने के लिये यत्किञ्चित् वस्तु बड़े के प्रति देनी चाहिये ‡ ॥ ११५ ॥ इसप्रकार उद्धार के निकलजाने पर फिर बराबर २ भाग करें, यदि उद्धार न निकाला जाए, तो फिर इन (भाइयों) की भाग कल्पना यह हो § ॥ ११६ ॥ ज्येष्ठ पुत्र एक अधिक भाग लेवे (अर्थात् दो भाग लेवे) उससे छोटा बड़े भाग, उससे छोटे सब एक २ भाग यह धर्म मर्यादा है ॥
स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भातरः पृथक् ।

स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।

अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९

यत्रीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।

समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मोऽव्यवस्थितः ॥ १२०

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।

पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१

* गौत २८।१२ के अनुसार दस पशुओं में से एक पशु लेवे (कुल्लूः नारा० राय) † गौत २८।११-१३ बौध्वा २।३।६ ‡ आप० २।१३।१३ § गौत २८।८ ॥ गौत २८।९-१० वासि १।७।४२

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
 कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥१२२॥
 एकं वृषभमुद्धारं संहरत सपूर्वजः ।
 ततोऽपरेज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

भाई अपने भागों में से चौथा भाग अलग २ बहिनों को देवे*, न देना चाहते हुए पतित होंगे १० ॥ १०८ ॥ भेड़ बकरी और एक खुर वाले (घोड़े आदि) विषम (न बराबर=बराबर बांट कर वचे) को कभी न बांटें ६, किन्तु जो विषम भेड़बकरी आदि है, वह बड़े का ही विधान किया है ॥ ११९ ॥ छोटा भाई यदि बड़े भाई की स्त्री में से (नियोग विधि से) पुत्र उत्पन्न करे, वहां (चचा के साथ क्षेत्रज का) विभाग सम हो § (बड़े भाई को उद्धार मिलना था, वह अब चचा से भतीजा नहीं पाए) यह धर्म व्यवस्था है ॥ १२० ॥ अप्रधान (क्षेत्रज पुत्र) प्रधान के धर्म (बड़े को दिये जाने वाले उद्धार) से युक्त नहीं होता, इसलिये पूर्व कही मर्यादा से उसको भाग देवे क्योंकि उत्पन्न

* 'अलग २ बहिनों को देवे' अर्थात् जब भिन्न २ वर्णों की स्त्रियों में से पुत्र हों, तो उनमें से हर एक अपने २ वर्ण की बहिन को अपने भाग का चौथा हिस्सा देवे, ब्राह्मण ब्राह्मणी की कन्या का, क्षत्रिय क्षत्रिय कन्या को । पर यह भाग अविवाहिताओं को मिलता है, विवाहिताओं को नहीं (टीकाकार) १ याज्ञ २।१२४ विष्णु १८।३५ ६ अर्थात् बेचकर वा उसका मूल्य डालकर न बांटें (मेघा० कुल्लू० नारा० राघ०) § इससे यह भी सिद्ध होता है, कि पोते का भी दादा के धन में पितृव्यों की तरह भाग है, यद्यपि

करने में पिता प्रधान होता है * ॥ १२१ ॥ यदि बड़ी (पहिले विवाही) में से पुत्र छोटा हो, और छोटी (पीछे विवाही) में से बड़ा हो, तो वहां किस प्रकार विभाग होना चाहिये (क्या माता के विवाह क्रम से पुत्र का बड़प्पन हो, वा जन्म क्रम से) यह संशय हो तो ॥ १२२ ॥ पहली में उत्पन्न हुआ वह (छोटा) एक बैल उद्धार लेवे, उस (बैल) से भिन्न जो अच्छे बैल हैं, वह अपनी माता (के क्रम) से उससे छोटी के होते हैं (अर्थात् माता के विवाह के क्रम से बड़प्पन होता है) + ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद् वृषभषोडशाः ।

ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

पर यदि बड़ी में से उत्पन्न हुआ (आयु में भी) सब से बड़ा हो, तो वह पन्द्रह गौएं और एक सांड लेवे, तब शेष (पुत्र) अपनी माता के (विवाह के) क्रम से बांटें, यह निश्चय है ॥ १२४ ॥

सदृश स्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।

न मातृतोज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतोज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥

जन्म ज्येष्ठेन चाव्हानं सुब्रह्मण्यास्वापि स्मृतम् ।

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

१०४ में ' भाई मिलकर बांटे ' कहा है * यदि कहो, कि बड़े भाई का पुत्र होने से बड़े का स्वत्व उद्धार भी इसको मिलना चाहिये, तो उत्तर यह है पिता प्रधान ठीक है, पर यदि स्वयं पुत्र को उत्पन्न करे। किन्तु उस पुत्र के लिये उसकी प्रधानता नहीं होसक्ती, जो क्षेत्रज्ञ है । १* १२३-१२४ गौत २८।१४-१५। इन दो (१२३-१२४) श्लोकों में पहिले पीछे विवाहियों से अभिप्राय स्वजाति और

समान जाति की बहुतसी स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्रों का बिना किसी अपने विशेष के माता से बड़प्पन नहीं है, जन्म से बड़प्पन कहा जाता है ॥ १२५ ॥ सुब्रह्मण्या * में भी जन्म से बड़े के द्वारा (इन्द्र का) आवाहन बतलाया है, और सभी गर्भों में जोड़े उत्पन्न हुए दो पुत्रों में जन्म से बड़प्पन कहा है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥१२७॥

जिसके पुत्र न हो, वह अपनी कन्या को (विवाह के समय) इस विधि से पुत्रिका बनाए, कि (जामाता को कहे) जो सन्तान इसमें से हो, वह मेरा स्वधा (पिण्ड श्राद्ध) करने वाला हो * ॥

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।

विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥

अन्यजाति की स्त्रियों से है * ज्योतिष्टोम यज्ञ में ' सुब्रह्मण्योऽथ इन्द्रागच्छ' इत्यादि (पेट० ब्रा० ६।३ के) सुब्रह्मण्या निगद द्वारा जब इन्द्र का आवाहन किया जाता है, तो यजमान का नाम उसके बड़े पुत्र के पिता के तौर पर लिया जाता है, ' अमुकस्य पिता यजते ' । यहाँ उस बड़े का नाम लिया जाता है, जो जन्म से बड़ा है, चाहे पहिली विवाही का पुत्र हो, वा पीछे विवाही का, हां सवर्णा में से हो * जोड़े भाइयों में यद्यपि पीछे जन्मने वाला पहिले निषिक्त हुआ था, तथापि जन्म से बड़ा ही बड़ा होता है । सो जब माता के वर्ण से बड़ाई छुटाई किसी में न हो, तब सवर्णा में से जन्म से बड़ा ही बड़ा होता है ।

‡ वासि० १७। १७ गौत० २८। ८ बौध० २।३। १५ विष्णु० १।५। ५

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मानि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥१३०॥

इस विधि से पहिले स्वयं दक्षप्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिये पुत्रिकाएं की हैं ॥ १२८ ॥ उसने प्रसन्न होकर सत्कार करके दस धर्म को दीं, तेरह कश्यप को, और सत्ताईस राजा चन्द्र को ॥१२९॥ जैसा अपना आप है वैसा पुत्र है, और कन्या पुत्र के तुल्य है, उस अपने आप (पुत्रिका बनाई कन्या) के होते हुए कैसे कोई और (अपुत्र मरे पिता के) धन को लेवे *

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्रएव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१॥
दौहित्रोह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
सएव दद्यादद्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥१३२॥
पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ संभृतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

माता का जो धन है, वह कंवारियों का ही भाग होता है, और अपुत्र के सारे धन को दोहता * ही लेवे ॥ १३१ ॥ दोहता ही अपुत्र पिता का सारा धन लेवे § वही दो पिण्ड देवे, एक पिता को, दूसरा नाना को ॥ १३२ ॥ पौत्र और दोहते का लोक में धर्म से ॥ कोई भेद नहीं है, क्योंकि

* यहाँ सब टीकाकार कन्या से पुत्रिका बनाई हुई कन्या लेते हैं, क्योंकि प्रकरण उसी का है * दोहता = पुत्रिका का पुत्र § मौत २८ । २४ विष्णु ० १७।२१ § दोहता = पुत्रिका का पुत्र, यदि उसका और भाई न हो, तो वही अपने अपुत्र पिता का और वही नाना का धन लेवे, और दोनों को पिण्ड देवे (कुल्लू ०) ॥ धर्म से, न्याय से, (राघ० नन्द०) धर्म कार्य = पिण्ड दानादि में (कुल्लू ०)

इन दोनों के माता पिता उसके शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्रविभागः स्याज्ज्येष्ठतानास्तिहिस्त्रियः ॥१३४॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।

धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हन्तैवाऽविचारयन् ॥ १३५॥

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥१३६॥

पुत्रिका करने पर यदि पीछे (पिता के घर) पुत्र होजाए, वहां दोनों का विभाग बराबर हो, (बड़े को देने योग्य उद्धार पुत्रिका को न दिया जाए) क्योंकि कन्या की ज्येष्ठता नहीं होती है ॥ १३४ ॥ पुत्रिका यदि बिना पुत्र के मरजाए, तब उसके धन को भर्ता ही * बिना विचारे ग्रहण करे ॥१३५॥ (पुत्रिका) कीहुई वा न कीहुई भी † जिस पुत्र को अपने सदृश (पति से) पावे; उससे नाना पुत्र वाला होता है, वह ही पिण्ड देवे और धन लेवे ॥ १३६ ॥

याज्ञ० २।१२८ * न कि वक्ष्यमाण १८५ के अनुसार मरने वाले के भाई † (मेधा०, कुल्लू०, राघ०) का अर्थ यह है, पुत्रिका दो प्रकार की होती है, कीहुई अर्थात् कन्यादानकाल में वर की अनुमति से पुत्रिका कीहुई, और न की हुई अर्थात् वर की अनुमति से न की हुई, किन्तु अपने मन में कीहुई, क्योंकि ऐसी भी पुत्रिका होती है, जैसाकि गौत० २८।१० में कहा है । अतएव विवाह प्रकरण में जिस का भाई न हो, उसके विषय में लिखा है ' पुत्रिका धर्मशक्या ' । गोवि० और नन्द० यह सीधा अर्थ लेते हैं, कि पुत्रिका कीहुई, वा न कीहुई । पुत्रिका न की कन्या के पुत्र से भी पिता पुत्र वाला हो, वही सन्तान नाना को पिण्ड देवे और उसका धन लेलेवे ।

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
 अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥
 पुत्राप्नोन्नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
 तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥
 पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
 दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥
 मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
 द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥१४०॥

पुत्र (के होने) से लोकों * को जीतता है, पोते से अनन्तता को प्राप्त होता है, † और पुत्र के पोते से सूर्यलोक को प्राप्त होता है ‡ ॥१३७॥ पुत्र जिसलिए पुत्र नामी नरक से पिता को बचाता है, इसलिये स्वयं ब्रह्मा ने (उसे) पुत्र कहा है § ॥१३८॥ पोते और दोहते ¶ का लोक में कोई विशेष नहीं है, क्योंकि दोहता भी पोते की तरह इसको (नाने को) नरक से बचाता है ॥१३९॥ पुत्रिका का पुत्र पहला पिण्ड माता को दे, दूसरा उसके (माता के) पिता को, तीसरा उसके पिता के पिता को ॥१४०॥

* स्वर्गादिदस लोक जो विशोक (शोक से रहित) हैं (मेधा०),
 † अर्थात् इन्हीं लोकों में चिरकाल रहता है, (मेधा०, कुल्लू०) ‡
 दायभाग प्रकरण में ऐसा कहने का यह अभिप्राय है, कि पिता के धन में पुत्र का अधिकार है, चाहे उसकी पत्नी आदि भी हो । पुत्र के अभाव में पोते का, पोते के अभाव में प्रपोते का, (कुल्लू०) वासि०
 १७। ५ याज्ञ० १। ७८ विष्णु० १५। ४६ § विष्णु० १५। ४४ ¶ पुत्रिका के पुत्र दोहते का (मेधा०, कुल्लू०) ॥ बौधा० २। ३। १६ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्तमिदम् ।
 स हरेतैव तद्विधं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥
 गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्तमिदम् क्वचित् ।
 गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति दत्तः स्वधा ॥१४२॥
 अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्यासश्च देवरात् ।
 उभौ तौ नार्हतौ भागं जारजातक कामजौ ॥१४३॥
 नियुक्तायामपि पुमान्नार्या जातोऽविधानतः ।
 नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितोहि सः ॥१४४॥
 हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
 क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥
 धनं यो विभृयादर्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
 सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥
 याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यऽवाप्नुयात् ।
 तं कामजमऽरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

जिस का दत्तक पुत्र सारे गुणों से युक्त है वह दूसरे गोत्र
 से आया भी उस (पिता) के धन को अवश्य लेवे * ॥ १४१ ॥
 दत्तक पुत्र उत्पन्न करनेवाले (पिता) का गोत्र (नाम) और

* वासि० १५। ९-१० दत्तक=जिसको माता पिता ने दे दिया
 है। धन के अधिकारी मुख्यतया औरस और क्षेत्रज हैं, उनके
 अभाव में दत्तक यदि अधिकारी होते हैं, यह (१६१ में) कहेंगे। पर
 इस श्लोक का यह तात्पर्य है, कि औरस के होते हुए भी यदि दत्तक
 पुत्र, पुत्र के सारे गुणों से युक्त है, तो उसे भाग मिलना चाहिए,

धन कभी न लेवे, और देनेवाले (पिता) का (उस पुत्र द्वारा) पिण्ड और श्राद्ध निवृत्त होजाता है क्योंकि वह गोत्र और धन का अनुगामी है (जिसका गोत्र और धन लेवे, उसी को पिण्ड और श्राद्ध देना होता है) ॥१४२॥ (बड़ों से) नियुक्त न की हुई का पुत्र, और पुत्रवाली ने देवर से पाया पुत्र, वह दोनों भाग के योग्य नहीं होते, क्योंकि पहला जार से उत्पन्न हुआ है, और दूसरा काम से उत्पन्न हुआ है ॥ १४३ ॥ नियुक्ता नारी में से भी जो पुरुष बिना विधि † के उत्पन्न हुआ है, वह पिता के धन के योग्य नहीं होता, क्योंकि वह पातित से उत्पन्न किया गया है ॥ १४४ ॥ नियुक्ता में उत्पन्न हुआ पुत्र औरस की तरह (धन) लेवे, जिसलिए वह क्षेत्रवाले का बीज है, ऋ और उसी का धर्म से सन्तान है § ॥ १४५ ॥ जो मरे भाई के धन की रक्षा और उसकी स्त्री का पोषण करे, वह (नियोग धर्म से) भाई के सन्तान उत्पन्न करके उसी को उसका धन देवे ॥ १४६ ॥ जो नियुक्त हुई देवर से वा अन्य से पुत्र उत्पन्न करे, पर यदि वह काम से उत्पन्न हुआ है, तो उसे धन का अनधिकारी तथा उत्पन्न हुआ कहते हैं ॥ १४७ ॥

(मेघा०, कुल्लू०) † विधि=घृत मलकर जाना आदि । देखो पूर्व ६० § क्योंकि क्षेत्रवाले के लिए वह बीज डाला गया है § १२० में तो क्षेत्रज का चचा के साथ सम भाग कहा है, यहां औरस के तुल्य कहने से गुणवाले क्षेत्रज को अपने पिता के बड़प्पन का उद्धार भी मिलना चाहिए, (मेघा०, कुल्लू०) ॥ यह नियम वहां लगता है, जब दोनों भाई अलग २ हों चुके हों, पूर्व १२० वाला वहां लगता है, जब वह अभी इकट्ठे हों ॥ नियुक्त को मुख से मुख वा छाती आदि से छाती आदि नहीं मिलाने चाहियें, यदि वह ऐसा करे, तो उनका पुत्र कामज होगा ॥

एताद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।
 बर्हीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥
 ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतसस्तु यदि स्त्रियः ।
 तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिःस्मृतः ॥१४९॥
 कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च ।

विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

एक जाति की स्त्रियों में से एक (भर्ता) से उत्पन्न हुए पुत्रों के विभाग की यह विधि जाननी चाहिए, अब नाना जाति की बहुत सी स्त्रियों में से एक से उत्पन्न हुए पुत्रों के विभाग की विधि जानो ॥ १४८ ॥ ब्राह्मण की क्रम से यदि चारों स्त्रियें हों, तो उनके उत्पन्न हुए पुत्रों के विषय में विभाग की यह विधि कही है * ॥ १४९ ॥ खेती करनेवाला (दास), गौओं के लिए रखवा सांण्ड, यान, भूषण † और घर, और (हिस्सों में से) एक प्रधान हिस्सा ‡ ब्राह्मण को उद्धारतया देना चाहिए

त्र्यंशं दायाद्धरोद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।

वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥

सर्वेवा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।

* १४९-१५६ वासि० १७ । ४८-५० गीत० २८। ३५-३९ बौचा० २।३ । १० याज्ञ० २।१२५ विष्णु० १८।१-३३, ३८-५० † यान = गाड़ी (मेघा०) घोड़ा आदि (कुल्लू०) भूषण = अंगूठी आदि जो उसके पिता का हों, (मेघा० कुल्लू०, राघ०) ‡ जितने हिस्से हैं उनमें से एक प्रधान हिस्सा (कुल्लू०) प्रधान द्रव्य में से एक हिस्सा (जो आगे तीन हिस्से कहने हैं, उन हिस्सों के बराबर का हिस्सा)

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित् ॥१५२॥

चतुर्सेशान्हरेदिप्रस्त्रीनं शान्क्षत्रियासुतः ।

वैश्यापुत्रो हरेद्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५३॥

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपिवाभवेत् ।

नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियावेशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।

यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥१५५॥

(शेष) धन में से ब्राह्मणी का पुत्र तीन हिस्से लेवे, क्षत्रिया का दो हिस्से, वैश्या का डेढ़ हिस्सा, और शूद्रा का पुत्र एक हिस्सा लेवे ॥ १५१ ॥ अथवा सारे धन के दस हिस्से कल्पना करके मर्यादा का जाननेवाला इस विधि से धर्म युक्त विभाग करे ॥ १५२ ॥ चार हिस्से ब्राह्मण लेवे, तीन हिस्से क्षत्रिया का पुत्र, दो हिस्से वैश्या का पुत्र, एक हिस्सा शूद्रा का पुत्र लेवे ॥ १५३ ॥ यद्यपि और पुत्र उसके विद्यमान हों, वा और पुत्र न हों, पर शूद्रा के पुत्र को दसवें से अधिक धर्म से न दे, ॥ १५४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का धन भागी शूद्रा का पुत्र नहीं होता, जो इसको पिता दे, वही इसका धन हो ॥

(नारा०) ॥ पूर्व दसवां भाग कहा, यहां निषेध किया, यह गुणी और गुणहीन पुत्र की अपेक्षा से है, अथवा न विवाही शूद्रा में से पुत्र के विषय में है (कुल्लू०) यह दसवें से अधिक जो पिता ने दिया है, उससे अभिप्राय है, अर्थात् भाई उसको दसवां हिस्सा दें, और जो पिता ने दिया हो, वह भी उसके पास रहे, 'धन भागी नहीं' का अर्थ है, 'दसवें से अधिक धन का भागी नहीं' (नारा०) ॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।
 उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥१५६॥
 शूद्रस्य तु सर्वेणैव नान्या भार्या विधीयते ।
 तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥

द्विजातियों के समान जाति की स्त्रियों में जो पुत्र हुए हों, वह सारे बड़े को उद्धार देकर दूसरे (फिर बड़े के साथ) बराबर बांट लेंगे ॥ १५६ ॥ शूद्र की अपने वर्ण की ही भार्या कही है दूसरी नहीं उसमें उत्पन्न हुए बराबर हिस्सोंवाले होते हैं, चाहे सौ पुत्र भी हों ॥ १५७ ॥

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः ।
 तेषां षड्वन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥१५८॥
 औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च ।

गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥१५९॥

स्वायम्भुव मनु ने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं, उनमें से छः बान्धव और दायभागी हैं, छः दायभागी न होकर बान्धव हैं * ॥ १५८ ॥ औरस (असली पुत्र) क्षेत्रज (नियोगज) दत्तक (माता पिता से दिया हुआ) कृत्रिम (आप बनाया हुआ) गूढोत्पन्न (गुप्त उत्पन्न हुआ) अपविद्ध (लागा हुआ पाला गया) यह छः बान्धव हैं और दायभागी हैं ॥ १५९ ॥

* १५८-१५९ वासि० १७। २५-३८ गौत० २८। ३१-३६ बौध्वा० २। ३। ३१-३२ अदायाद बान्धव=न दायभागी न बान्धव (मेधा०) दायभागी न होकर बान्धव होते हैं, क्योंकि बौधायन ने उनका बान्धव होना माना है। बान्धव होने से उनका उद्कदान का अधि-

कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।

स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीन (कंवारी का पुत्र) सहोद (गर्भ में विवाह के साथ आया)
क्रीत (खरीदा हुआ) पौनर्भव (विधवा विवाही का पुत्र)
स्वयंदत्त (अपने आप आकर पुत्र बना) शौद्र (विवाही शूद्रा
में से पुत्र) यह छः दायभागी न होकर बान्धव हैं ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरञ्जलम् ।

तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरस क्षेत्रजौ सुतौ ।

यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृहीत नेतरः ॥ १६२ ॥

एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।

शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।

औरसोविभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

निकम्पी नौकाएं लेकर पानी से पार होता हुआ जैसे फल को
पाता है, वैसा ही फल कुपुत्रों † द्वारा अन्धकार से पार होता
हुआ पाता है ॥ १६१ ॥ यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक के
धन के भागी हों, तो जो धन जिसके पिता का है, उसको वह
ग्रहण करे, दूसरा नहीं ‡ ॥ १६२ ॥ एक औरस पुत्र ही पिता

कार होता है (कुल्लू०, नारा०, राघ०) † कुपुत्र=अनियुक्त के पुत्र
(कई, मेघा०) औरस से भिन्न पुत्र (कुल्लू०) ‡ न अलग हुआ
भाई यदि मर जाए, और उसकी स्त्री में से देवर भाई के लिए
सन्तान उत्पन्न करे, और पीछे उसके अपनी स्त्री में अलग लड़का

के धन को स्वामी होता है, दूसरों § को वह दयाभाव से जी-
विका देवे ॥ १६३ ॥ औरस पुत्र दाय को बांटता हुआ क्षेत्रज
को पिता के धन से छटा वा पांचवां हिस्सा देवे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृस्वित्थस्य भागिनौ ।

दशापरे तु क्रमशो गोत्रस्वित्थांश भागिनः ॥१६५॥

औरस और क्षेत्रज पुत्र पिता के धन के भागी होते हैं, दूसरे
दस गोत्र भागी और क्रमशः ॥ धन भागी होते हैं ** ॥१६५॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।

तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥१६७॥

माता पिता वा दद्यातां यमाद्धिः पुत्रमापदि ।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥१६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।

स गृहे गूढउत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

भी हो तो वह अपने २ पिता का भाग लेवे (नारा०) § क्षेत्रज से
भिन्न दूसरों को, क्षेत्रज को (१६४ में) छटा पांचवां कहेंगे, (कुल्लू)
॥क्रमशः अर्थात् पहले २ के अभाव में, क्षेत्रज न हो, तो दत्तक, दत्तक
न हो, तो कृत्रिम इत्यादि । * * वासि० १७। ३९ ॥

(बारह पुत्रों के लक्षण कहते हैं) (विवाह विधि से) संस्कार की हुई अपनी भार्या में से जिसको स्वयं उत्पन्न करे, उसको औरस जाने, वही मुख्य पुत्र है * ॥ १६६ ॥ नियोग के धर्म से नियुक्त हुई-मरे हुए, वा नपुंसक वा रोगी की भार्या-में से उत्पन्न हुआ पुत्र क्षेत्रज कहाता है * ॥ १६७ ॥ माता वा पिता * (लेने वाले को) सदृश § जिन पुत्र को आपत्काल ॥ में प्रीति पूर्वक * जन्म से देवे, वह दत्तक पुत्र जानना चाहिए * ॥ १६८ ॥ जो जिस सदृश, गुण दोष के जाननेवाले, पुत्र के गुणों से युक्त को आप पुत्र बनाए, वह कृत्रिम जानना चाहिए * ॥ १६९ ॥ जिसके घर में उत्पन्न होवे, पर निश्चित न हो सके, कि किसका है, वह घर में गुप्त उत्पन्न हुआ पुत्र उसका हो, जिसकी भार्या से हुआ है * ॥ १७०

* वासि० १७।१३ आप० २। १८। १ बौधा० २। ३। १४ याज्ञ० २। १२८ विष्णु० १५। २ (मेधा०, गोवि०, नारा०) 'प्राथमकल्पिक' पढ़ते हैं, राघ०, प्रथम कल्पकस, यहां 'अपनी भार्या' से अपने वर्ण के भार्या अभिप्रेत है, क्योंकि बौधायन में ऐसा कहा है, (कुल्लू०) यदि सजातीय ही पुत्र हों, तो त्रिजातीय पुत्र द्वादश पुत्रों में आ ही न सकेंगे, इसलिए सजातीय मुख्य पुत्र है, दूसरे गौण पुत्र हैं, यही बौधायन का अभिप्राय है, (राघ०) † वासि० १७। १४ बौधा० २। ३। १८ याज्ञ० १। ६९; २। १२७-१२८ विष्णु १५। ३ ‡ माता वा पिता एक दूसरे की अनुमति से (कुल्लू०) पिता न हो, तो माता (नारा०) § सदृश = समान जातीय (कुल्लू०, नारा०, राघ०, नन्द) 'सदृश' जाति से नहीं लेना, किन्तु अपने कुल के योग्य गुणों वाला, ऐसा क्षत्रियादि भी ब्राह्मण का दत्तक होसका है, (मेधा०) ¶ जब लेने वाले के घर सन्तान न हो, (कुल्लू०, राघ०) अथवा जब माता पिता अकाल से पीड़ित हों, (नारा०) ॥ प्रीति पूर्वक, न कि धन से वा (मंगलौमादि) से * * वासि० १७। २९ बौधा० २। ३। २० याज्ञ० २। १३० विष्णु०

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
 यं पुत्रं परिगृहीयादपविद्धः सउच्यते ॥ १७१ ॥
 पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
 तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥
 या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
 वोढुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥ १७३ ॥
 क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्य मन्तिकात् ।
 स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोपि वा ॥ १७४ ॥

माता पिता से त्यागे हुए वा उन दोनों में से एक से त्यागे हुए * जिस पुत्र को स्वीकार करे, वह अपविद्ध कहलाता है † ॥ १७१ ॥ पिता के घर में कन्या जिस पुत्र को गुप्त उत्पन्न करे, उस, कन्या से उत्पन्न हुए को विवाहनेवाले का पुत्र, नाम से कानीन कहते हैं ‡ ॥ १७२ ॥ जो गर्भवती जानी हुई, वा न जानी

१५। १८-१९ † † बौध्वा० २। ३। २१ याज्ञ० २। १३१ यहां भी सहश = गुणों से सहश (मेधा०) समान जातीय (कुल्लू०) † धृ० वासि० १७। २४ बौध्वा० २। ३। २२ याज्ञ० २। १२९ विष्णु० १५। १३-१४ ऋतुकाल में पति के सवर्णी (न कि नीच वर्ण वालों) अनेक पुरुषों का संसर्ग निश्चित हो, और किसका यह गर्भ है, ऐसा निश्चय न हो, (नारा०) * सन्तान के पालने में असमर्थ होने से वा मातापिता की भाक्तिहीन होने आदि दोष से त्यागाङ्गुआ (मेधा०) दो में से एक से एक के मरने पर दूसरे से त्यागा हुआ † वासि० १७। ३७ बौध्वा० २। ३। २३ याज्ञ० २। १३२ विष्णु० १५। २४-२५ † वासि० १७। २२-२३ बौध्वा० २। ३। २४ याज्ञ० २। १२९

हुई भी विवाही जाती है, उसका वह पुत्र विवाहने वाले का होता है, और सहोद कहलाता है § ॥ १७३ ॥ पुत्र के अर्थ जिसको माता पिता के पास से खरीदे, वह उसका क्रीतक पुत्र होता है, चाहे उसके सहश हो, वा असहश हो, ¶ ॥ १७४ ॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा सपौनर्भवउच्यते ॥ १७५ ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा ।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनो यस्यक्तो वा स्यादकारणात् ।

आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु सस्मृतः ॥ १७७ ॥

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।

स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

जो पति से त्यागी हुई, वा मरे पति वाली अपनी इच्छा से फिर किसी की भार्या होकर जिसको उत्पन्न करे, वह (उत्पादक का) पौनर्भव कहलाता है * ॥ १७५ ॥ (पुनर्भू का पुनर्विवाह कहते हैं) वह (पति से त्यागी हुई वा विधवा हुई) यदि अक्षतयोनि हो यद्वा गई, और बापिस आई भी हो, वह पौनर्भव भर्ता के साथ

विष्णु० १५। १०-११ यह समान वर्ण वा उत्तम वर्ण से उत्पन्न हुए के निश्चय में जानना, (नारा०) § वासि० १७। २६-२७ बौधा० २। ३। २५ याज्ञ० २। १३१ विष्णु० १५। १५-१६

॥ वासि० १७। ३०-३२ बौधा० २। ३। २६ याज्ञ० २। १३१ विष्णु० १५। २०-२१ यहां सहश असहश गुणों से न कि वर्ण से (कुल्लू०, राघ०) जातिसे (नारा०), , *वासि० १७-१८ बौधा० २। ३। २७ याज्ञ०

पुनः संस्कार के योग्य होती है । ॥ १७६ ॥ जो माता पिता से हीन हुआ वा बिना कारण त्यागा हुआ स्वयं जिस के ताई अपना आप सौंपदे, वह उसका स्वयंदत्त कहाता है ॥ १७७ ॥ जिसको ब्राह्मण शूद्रा में से काम से उत्पन्न करे, वह जीता हुआ ही मृत सदस्य है, इसलिए पारश्व कहाता है ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।

सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

पर शूद्र का पुत्र जो उसका दासी से हो वा दास की दासी से हो वह (पिता से) अनुज्ञा दिया हुआ भाग लेवे, यह धर्म मर्यादा है ॥

२।१३० विष्णु० १५।७-९।१ अभिप्राय यह है, कि पतिने जिस से विवाह मात्र किया है, संसर्ग नहीं किया, उसको यदि वह त्याग दे, वा वह विधवा होजाए, तो उसका पुनर्विवाह होना चाहिए, और उसका भी, जो आप पति को त्यागकर चली गई और फिर उसी के पास वापिस आई, पर अक्षत योनि है, पुनर्विवाह हो । हाँ क्षतयोनि हो, तो फिर विवाह नहीं होसका । पुनर्भू दोनों प्रकारकी होगी, इनमें से उत्पन्न हुआ पुत्र पौनर्भव, वह बीजवाले का पुत्र होगा । यहां पौनर्भव शब्द भर्ता का विशेषण है, अर्थात् जिस पति के पास वह टिक गई है, वह पति (नारा०) राघ० यहां वा शब्द से क्षत योनि का भी ग्रहण करता है । ‡ वासि० १७ । ३३-३५ बौधा० २।३। २८ याज्ञ० २। १३१ विष्णु० १५। २२-२३ § वासि० १७। ३८ बौधा० २।३। ३० विष्णु० १५। २७ यहां शूद्रा अपनी विवाहिता ही अभिप्रेत है, काम से इसलिए कहा है, कि द्विजों का शूद्रा को विवाहना काम से ही होता है, (टीकाकार) ब्राह्मण यहां क्षत्रिय वैश्य का भी उपलक्षण है, (नारा० जीता हुआ मृत इस लिए कहा है, कि शूद्र आदि का अधिकारी होकर भी धन का अधिकारी नहीं, ॥ याज्ञ० २। १३२ पिता के जीते हुए औरस पुत्रों के सम भाग लेवे,

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।

पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥१८०॥

इन यथोक्त क्षेत्रज आदि ग्यारह पुत्रों को बुद्धिमान पुत्र के प्रति-
निधि कहते हैं, जिससे कि कर्त्तव्य का लोप न हो * ॥ १८० ॥

यएतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसंगादन्यबीजजाः ।

यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

(औरस के) प्रसंग से यह जो दूसरे के बीज से उत्पन्न हुए पुत्र
कहे हैं, वह जिसके बीजसे उत्पन्न हैं, उसके होते हैं, दूसरेके नहीं +

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।

सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

सर्वासांमेक पत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणी भवेत् ।

सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८६ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ।

बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।

मरे पीछे बाँटे, तो आधा भाग (मेधा०) * पुत्र कर्त्तव्य आदि
का लोप न हो, (कुल्लू०) + आप० २।१३ । ७ बौधा० २।३।
३४-३५ औरस के होते हुए यह नहीं करने चाहिए, (मेधा०) औरस
और पुत्रिका के पुत्र के होते हुए यह नहीं करने चाहिए, (कुल्लू०)
पर नारा० इसप्रकार अन्वय करता है । 'यस्य ते बीजतो जाता
तस्य ते न भवन्ति' 'इतरस्य तु भवन्ति' = जिसके वह बीज से
उत्पन्न हुए हैं उसके वह नहीं होते, किन्तु दूसरे के (ग्रहण करने
वाले के) होते हैं ।

पिता हरेदऽपुत्रस्य रिक्थं भ्रातरएव च ॥ १८५ ॥

त्रयाणां मुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते ।

चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सापिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।

अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्यएव वा ॥ १८७ ॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।

त्रैविद्याः शुचयोदान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

भाई जो एक पिता की सन्तान हैं, उनमें से यदि एक भी पुत्रवाला हो, तो उन सब को उस पुत्र से मनु ने पुत्रवाले कहा है * ॥ १८२ ॥ और एक जाति वाली सब स्त्रियों में से यदि एक भी पुत्रवाली हो, तो उन सब को उस पुत्र से मनु ने पुत्रवती कहा है † ॥ १८३ ॥ उत्तम २ ‡ के अभाव में निचला (पुत्र) धन के योग्य होता है, बहुत से यदि एक तुल्य (एक दर्जे के) हों, तो सभी धन के भागी हैं ॥ १८४ ॥ न भाई, न चाचे ताए, किन्तु पुत्र पिता के धन के भागी हैं, जिसका पुत्र नहीं, उसके धन को पिता (माता) और (उनके अभाव में) भाई लेवें ॥ १८५ ॥ तीनों

* वासि० १७।१० विष्णु० १५।४२ किसी भी भाई के घर पुत्र हो, तो दूसरों को बनावटी पुत्र नहीं बनाने चाहिए, भतीजा ही पिण्ड दे और वही भाग ले। (क्षेत्रज भी नहीं बनाना चाहिए-नारा०) पर यह याज्ञ० २।१३।१ के अनुसार पत्नी कन्या, पिता, माता और भाइयों के अभाव में होता है (कुल्लू० राघ०) † वासि० १७।११ विष्णु० १५।४१ इसलिये सपत्नियों में से किसी के भी पुत्र हो, तो दूसरियों को दत्तक आदि नहीं बनाना चाहिये, (कुल्लू० राघ०) नियोग नहीं करना चाहिए (नारा०) ‡ उत्तम=पहला २

(पिता, पितामह और प्रपितामह) को जलाञ्जलि देवे, और तीनों में पिण्ड प्रवृत्त होता है, चौथा इनको देने वाला है, पांचवां नहीं बन सकता है * ॥१८६॥ सपिण्डों में से जो समीपी हो, उस २ का धन हो, इसके पीछे उस वंश का कोई हो, पीछे आचार्य और शिष्य का ॥१८७॥ सब के अभाव में वेदवेत्ता, शौचवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण धन भागी होते हैं, इसप्रकार धर्म की * हानि नहीं होती है ॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।

इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्र माहरेत् ।

तत्र यद्विक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।

तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृहीत नेतरः ॥ १९१ ॥

ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिए, यह मर्यादा है § दूसरे वर्णों का सब के अभाव में राजा लेवे, ॥ १८९ ॥ निःसन्तान मरे की पत्नी सगोत्र न से पुत्र लेवे, और वहां (मरे) का जो धन हो, वह इसको देवे ॥ १९० ॥ अलग २ दो से उत्पन्न हुए जो दो (पुत्र) स्त्री के धन में विवाद करें उनमें से जो जिसके

* इसलिए अपुत्र पितामह आदि के धन में गौण पोते का अधिकार है (कुल्लू०) † पिण्डादि धर्म की (कुल्लू०) ‡ वासि० १७।८४-८६ गौत० २८। ४१ बौध्दा० १। १३-१४ विष्णु० १७। १३-१४ ॥

§ यदि पूर्वोक्त वेदज्ञ ब्राह्मण न मिलें, तो ब्राह्मणमात्र को देदे, (कुल्लू० राघ०) ॥ वासि० १७। ८३ गौत० २८। ४२ आप० २। १४। ५ बौध्दा० १। १३। १५-१६ ॥ देवर वा सपिण्ड के साथ पूर्व नियोग कहा है, यह उनके अभाव में सगोत्र के साथ प्राप्ति के लिये

पिता का हो, उसको वह ग्रहण करे, दूसरा नहीं *॥१९१॥
 जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
 भजेरन्मातृकं स्विथं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥
 यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
 मातामह्याधनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥
 अध्यग्न्य ध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति कर्मणि ।
 भ्रातृमातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥
 अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
 पत्यौजीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥

माता के मरने पर सारे सहोदर भाई और सहोदर बहिनें मिलकर माता के धन को बांटें * ॥१९२॥ जो उन (बहिनों) की कन्याएं हों † उनको भी यथायोग्य नानी के धन से प्रीति पूर्वक कुछ देना चाहिए ॥ १९३ ॥ (वैवाहिक होम पर) अग्नि

है, (कुल्लू०, राघ०) * न नियुक्त हुई भी यदि सगोत्र से लेवे, तब वह सन्तान चाहे गोलक है, तौ भी और समीपियों के अभाव में वह क्षेत्रपति के धन का भागी हो, (नारा०) प्रथम पति से पुत्र होने पर पति मर गया. उस विधवा ने यदि दूसरा पुत्र दूसरे की पत्नी बनकर पौनर्भव उत्पन्न किया है, वा जार से गोलक उत्पन्न किया है, और उस पति वा जार के मरने पर उसका धन भी सम्भाला है, अब दोनों धन स्त्री के पास हैं, उन धनों के विषय में यदि विवाद हो तो ॥

† कुल्लू० बृहस्पति के वचनानुसार यह कहता है, कि बहिनें जो अविवाहिता हैं, विवाहिता हों, तो उनको चौथा हिस्सा मिले ॥ कुल्लू०

के सामने (जिस किसी से) पाया धन, पति के घर जाते समय जो मिला धन, पति ने जो प्रीति के काम में दिया, माता, पिता और भाई ने जब कभी दिया धन यह छः प्रकार का स्त्री धन कहा है * ॥ १९४ ॥ विवाह के पीछे जो (पति वा बन्धु से) पाया धन, और प्रसन्न हुए, पति ने जो (प्रीति कर्म से अन्यदा) दिया, वह दोनों (धन दोनों प्रकार का यद्यपि स्त्री धन नहीं, तथापि) पति के जीते मरी का उसकी सन्तान का हो ॥ १९५ ॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्व प्राजापत्येषु यदसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

स्त्रियां तु यद्वेदितं पित्रा दत्तं कथञ्चन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बादबहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री का धन है, वह निःसन्तान मरने पर पति का ही माना है (सन्तान हो, तो सन्तान का होता है) * ॥ १९६ ॥ पर जो इसको

यहां दोहतिवें आविवाहिता लेता है । नारायण कहता है, कि विवाही बाहिनों को जो मान के लिये देना है, वही उनकी कन्याओं को देवे,

* याज्ञ० २ । १४३ विष्णु० १७ । १७ † याज्ञ० २ । १४४

‡ १९६-१९७ याज्ञ० २।१४५ विष्णु० १७ । १९-२०

आसुरादि विवाहों में धन दिया गया है, वह, निःसन्तान मरने पर उसके माता पिता का होता है ॥ १९७ ॥ (ब्राह्मण की) स्त्री को जो धन उसके पिता ने दिया है, वह ब्राह्मणी कन्या लेंवे, (चाहे वह धन क्षत्रिया, वैश्या, वा शूद्रा स्त्री का भी हो) अथवा उसकी सन्तान का हो * ॥ १९८ ॥ बहुतों के सांझे कुटुम्ब (के धन) से स्त्रियों अपने आप कुछ न निकालें, अपने (न सांझे = निरे पति के) धन से भी अपने पति की आज्ञा बिना नहीं ॥ १९९ ॥ पति के जीते हुए स्त्रियों ने जो भूषण धारण किया हो, उसको वारिस न बांटें, बांटें तो पतित होंगे ॥ २०० ॥ अनीशौ क्लीबपतितौ जात्यन्ध बधिरौ तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्चयेचकेचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

नपुंसक, पतित, (महा पातकी) जन्मान्ध, बहिरा, पागल, जड़, गूंगा, और जो (लुब्धा, लंगड़ा आदि) विकल इन्द्रियोंवाले हैं, यह (पिता आदि के धन के) भागी नहीं होते ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपितु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यदद्वेत् ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दरैः स्यात्क्लीवादीनां कथञ्चन ।

तेषामुत्पन्नतन्तृनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

[*कुल्लू० नारा० दोनों कहते हैं, ब्राह्मणी कन्या हो, तो उसी को मिले, भाइयों को नहीं, न हो, तो भाइयों को मिले । राघ० उसकी सन्तान से अभिप्राय ब्राह्मणी कन्या की सन्तान लेता है ॥ विष्णु० १७।२२
श्रु २०१-२०३ वासि० १७।५२-५३ गौत० २८।२३, ४०, ४१
आप० २।१४।१-१५ बौध० २।३।३७-४० याज्ञ० २।१४०

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधि गच्छति ।

भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्यइति धारणा ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

किन्तु (धन लेने वाले) बुद्धिमान् को चाहिए, कि इन सब (नपुंसक आदि) को सदा * शक्ति अनुसार अन्न वस्त्र देवे, न दे, तो पतित होता है ॥ २०२ ॥ यदि कथञ्चन † इनको (स्त्रीवादि को) स्त्रियों से प्रयोजन हो, तो इनके जो सन्तान उत्पन्न हो, वह सन्तान दाय के योग्य है ॥ २०३ ॥ पिता के मरने पर बड़ा भाई जो कुछ धन कमाता है, उसमें छोटी का भाग होता है, यदि वह विद्या पढ़ रहे हों ‡ ॥ २०४ ॥ यदि सभी विद्याहीन भाइयों की चेष्टा (खेती वा वाणिज्य आदि) से धन हुआ हो, तो उस धन में जो पिता से नहीं आया (आप कमाया है) उस में विभाग सम हो, (बड़े को उद्धार न मिले) यह मर्यादा है § ॥ २०५ ॥ विद्या से, मित्रता से, और माधुपर्क के समय जो धन जिसको मिला हो, वह उसी का हो ॥

१४१ विष्णु० १५।३२।३७ * अत्यन्त=सदा नारा० इस शब्द को 'अदत्त' के साथ आन्वित करके यह अर्थ करता है, अत्यन्तं अदत्त,=बिल्कुल न दे, तो पापी होता है, † 'कथञ्चन' कहने से 'नपुंसक आदि विवाह के अयोग्य हैं, यह सूचित किया है । नपुंसक आदि की सन्तान क्षेत्रज होगी (कुल्लू०, राघ०) ‡ यह नियम वहाँ लगता है, जब भाई अलग हुए २ न हों (कुल्लू०) § गौत० ३८।३१ ॥ याज्ञ० २।११८-११९

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।

सनिर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्वत्पोपजीवनम् ॥२०७॥

जो अपने कर्म से (कमाने के) समर्थ हुआ भाइयों के (सांझे) धन के लिये चेष्टा न करे, उसको अपने भाग से कुछ जीवन देकर अलग कर देना चाहिए * ॥ २०७ ॥

अनुपगन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।

स्वयमीहित लब्धं तन्नाकामो दातु मर्हति ॥२०८॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।

न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यादि ।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।

प्रियेतान्यतरोवापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥

पिता के धन को खर्च न करके जो निरे पारिश्रम (खेती आदि) से कमाया है, उस निरे अपने उद्यम से कमाए धन को न चाहे, तो (भाइयों को बांट) न दे † ॥ २०८ ॥ खोए हुए पैतृक धन को यदि पिता (अपने पौरुष से) पावे, तो उस अपने कमाए को, न चाहे, तो पुत्रों के साथ न बांटे ‡ ॥ २०९ ॥ (भाई)

* याज्ञ० २।११६ † पूर्व २०५ में मिलकर कमाए में सब का भाग कहा है । २०८-२०९ याज्ञ० २।११८-११९ विष्णु० १८।४२-४३ ‡ पिता यदि जीते जी पुत्रों को अलग करे, तो अपने कमाए धन में उसका पूरा अधिकार है, जिसतरह चाहे दे, वा न दे, पर उसके पिता के धन पर, उसके तुल्य ही उसके पुत्रों का स्वत्व भी है । हां यदि कोई दूबी

पहले अलग होकर फिर (धन को) इकट्ठा करके, फिर इकट्ठे होकर रहें, वह यदि फिर विभाग करें, तो वह सम विभाग हो, बड़े का उद्धार वहां नहीं होता है, * ॥ २१० ॥ जिन (भाइयों) में से (विभाग के समय) छोटा वा बड़ा भाई अपने हिस्से से हीन होजाए * वा कोई मर जाए, उसका हिस्सा लुप्त नहीं होता है सोदर्याविभजेरस्तं समेत्य साहिताः समम् ।

भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२११॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभादभ्रातृन्यवीयसः ।

सोज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्चराजभिः ॥२१३॥

सर्वएव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।

न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥२१४॥

किन्तु सारे सहोदर भाई और सांझे भाई, और सहोदर बाहिनें सब इकट्ठे मिलकर बराबर २ बांट लें * ॥ २१२ ॥ जो बड़ा भाई लोभ से छोटे भाइयों को ठगे, वह बड़ा (पूजनीय) नहीं रहता, अधिक भाग का भागी नहीं रहता, और राजा से दण्ड-

हुई रक्म वह प्राप्त करे, तो उस पर अपनी कमाई के तुल्य उसका स्वत्व होगा । २०८-२०९ में 'अकामः=न चाहे' कहने का यह अभि-प्राय है, कि है तो बांट देना ही अच्छा, हां न्याय उसको बांटने पर अनुरोध नहीं कर सकता * विष्णु० १८। ४१ * कारण कि पतित होजाए, वा संन्यासी होजाए, ॐ गौत० २८ । २१ याज्ञ० २ । १३८ सहोदर भाई, और वैमात्र भाइयों में सभी जो उसके साथ सांझी हों (कुल्लू०) उसका स्वत्व सहोदर भाई लेवे, उसके अभाव में वै मात्र भी जो उसके साथ सांझी हों, उनके अभाव में सहोदर बाहिनें पर यह सब पुत्र, पत्नी, कन्या, माता, और पिता के अभाव में है ।

नयि होता है ॥ २१३ ॥ विरुद्ध कर्षों में प्रवृत्त जितने हों, वह सभी भाई, धन के योग्य नहीं होते, और न छोटी को न देकर बड़ा अलग धन करले * ॥ २१४ ॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।

न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥

भाई जो (पिता के साथ रहते हैं) अलग नहीं हुए, उन सब का यदि (धन कमाने में) मिलकर उद्योग हो, तो विभागकाल में पिता किसी को भी न्यून वा अधिक भाग न दे + ॥२१५॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेवहरेद्धम् ।

संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥२१७॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।

पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥२१८॥

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।

योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।

क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥२२०॥

इनके होने में तो इन्हीं को मिले, (नारा०) * गौत० २८। ४० आप० २। १४। १५ बौधाय० २। ३। ३८ ॥

+ किसी का अधिक प्रयास देखकर अधिक न दे । (नारा०) इससे यह भी सिद्ध है, कि पिता को न्यून अधिक विभाग करने में

विभाग से पीछे जो उत्पन्न हुआ है, वह पिता के ही धन को लेवे, अथवा जो उस (पिता) के साथ सांझी हों, उन (भाइयों) के साथ विभाग करे * ॥ २१६ ॥ निःसन्तान मरे पुत्र के धन को माता लेवे, और माता के भी मर जाने पर पिता की माता लेवे ॥ २१७ ॥ जब सारा ऋण वा धन यथाविधि बांट लिया हो, पीछे जो कुछ (ऋण वा धन का) पता लगे, वह सारा बराबर २ बांटें ॥ २१८ ॥ वस्त्र, सवारी, भूषण, पका अन्न, जल, स्त्रियें, लाभ और रक्षा और मार्ग इनको बांटने योग्य नहीं कहते § ॥ २१९ ॥ यह तुम्हें विभाग और क्षेत्रज आदि पुत्रों के करने की विधि क्रमशः कही है, अब जुए की व्यवस्था जानो ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।

राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

द्यूत और समाह्वय को राजा अपने राष्ट्र से हटाए, क्योंकि

अधिकार है, जैसा याज्ञ० २। ११६ में कहा है । (मेघा०) * गौत० ३८। २८ याज्ञ० २। १२२ विष्णु० १७। ३ १^० याज्ञ० २। १३५ विष्णु० १७। ७ पूर्व १८५ में अपुत्र का धन पितृ गामि कहा है यहां मातृ-गामि, याज्ञ० ने (२। १३५ में) माता पिता दोनों इकट्ठे कहे हैं, इसलिए व्यवस्था यह है, कि अपुत्र मरे का धन उसकी विधवा लेवे, विधवा न हो तो कन्या लेवे, कन्या भी न हो, तो माता पिता बांट कर लेवें, माता पिता न हों, तो दादी लेवे (कुल्लू०) पुत्र, पोता, प्रपोता, पत्नी, कन्या न हों, तब माता लेवे (नन्द०) धृ३ याज्ञ० २। १२६ § गौत० २८। ४६-४७ विष्णु० १८। ४४ यहां वस्त्र आदि जो जिसका है, वह उसी का रहे, जल=कूप आदि और स्त्रियें दासी आदि सांझी रहने दें । लाभ=राजा आदि से वजीफा आदि । क्षेम=घर के चारों ओर कोट आदि । प्रचार=चरागाह वा खेत बाग आदि में जाने आने का मार्ग ॥

यह दो दोष राजाओं के राज्यको नाश करनेवाले हैं *॥२२१॥

प्रकाशमेतत्तात्पर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।

तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्धत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।

प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत् वा ।

तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥२२४॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाखण्डस्थांश्च मानवान् ।

विकर्मस्थान्शौण्डिकांश्चक्षिप्रानिर्वासयेत्पुरात् ॥२२५॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।

विकर्म क्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६॥

यह सामने चोरी है, जो द्यूत और समाह्वय है, इन दोनों के रोकने में राजा यत्नवान् हो ॥२२२॥ अप्राणियों (नर्द कौड़ी, आदि) से जो खेला जाता है, वह लोक में द्यूत कहा जाता है,

और जो प्राणियों (कुक्कड़, मेढ़े, भैंसे, आदि) से खेला जाता है, वह समाह्वय कहलाता है ॥२२३॥ द्यूत और समाह्वय

को जो करे, और करवाए, उन सब को राजा ताड़ें

(अपराधानुसार पिटवाए वा हाथ आदि कटवाए) और द्विजों के चिन्हधारी शूद्रों को भी ॥२२४॥ जुआरिये, नाचने गाने

वाले, क्रूर, पाखण्डी, विकर्मी, शराब बेचनेवाले, इनको जल्दी

नगर में बाहर कराए ॥२२५॥ यह गुप्त चोर राजा के राष्ट्र

* २२१-२२९ गौत० १५। १८ आप० २। २५। १२-१५ बौध० २। २। १६ याज्ञ० २। १९९-२०३ गौ० याज्ञ० २। २०४ ऋ०=निर्दय

में रहते हुए अपने उलटे कामों से भली प्रजाओं को पीड़ा देते हैं*

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।

तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥२२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।

तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

क्षत्रविद् शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।

आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥२२९॥

यह जुआ पूर्व समय में बड़ा वैर उत्पन्न करनेवाला देखा गया है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष जी बड़लाने के लिए भी जुआ न खेले ॥ २२७ ॥ जो मनुष्य गुप्त वा प्रकट इसका सेवन करे, उसको राजा जैसा चाहे वैसा दण्ड हो ॥२२८॥ क्षत्रिय वैश्य शूद्र दण्ड न दे सकें, तो उचित कर्म करके दण्ड चुका दें, ब्राह्मण धीरे २ देदेवे† स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।

शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥२३०॥

स्त्री, बालक, पागल, वृद्ध, कङ्गाल और रोगी इनको राजा (वृक्ष की-) जड़, बांस की लाठी वा रस्सी आदि से ताढ़े ॥२३०॥

येनियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्पिणाम् ।

धनोष्मणा पच्यमानांस्तान्निस्त्वान् कारयेन्नृपः॥२३१॥

वर्ताव वाले, बेद विरोधी (कुल्लू०) “केरान्” बड़ी टेढ़ी चाल वाले (नारा०) । बिना आपत् के पर-धर्म से जीविका करनेवाले (कुल्लू०)

* पीड़ा देते हैं=दुःशाल बना देते हैं, (नन्द०)

† याज्ञ० २ । ४३ और मिलाओ ८ । १७७ से ॥

कूटशासनकर्तृश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।

स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद द्विद्विसेविनस्तथा ॥२३२॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्ववेत् ।

कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद् भूयो निवर्तयेत् ॥२३३॥

जो अधिकारों पर लगाए हुए पुरुष, धन की गर्मी से बिगड़ कर * कामवालों के काम बिगाड़ दें, उनका राजा सर्वस्व छीन ले † ॥२३२॥ झूठी राजाज्ञा बनानेवाले, मन्त्रियों में फोटक डालनेवाले, स्त्री बालक और ब्राह्मण की हत्या करनेवाले, और (राष्ट्र के) शत्रुओं से मिले हुएों को राजा मार डाले ॥२३२॥ जहाँ कहीं जो कार्य निर्णीत हो चुका, और न्यायानुसार उस पर दण्ड हो चुका उसको (राजा) किया हुआ जाने, उसको फिर न लौटाए § ॥२३३॥

अमात्याः प्राद्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।

एते सर्वे पृथक्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥२३५॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।

शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥२३६॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।

स्तेये श्वपदकं कार्यं ब्रह्महण्याशिराः पुमान् ॥२३७॥

* उत्कोच (रिद्धत) लेकर † मिलाओ पूर्व ७।१२४ विष्णु० ५। १८० ऋ याज्ञ० २। २४० विष्णु० ५। ९, ११ § यह किसी पहले राजा से किए के विषय में है (नारा०) अपने जजों से किए के विषय में

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याऽविवाहिनः ।

चरेयुः पृथिवीं दीना सर्वधर्मबाहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

हां (राजा के) मन्त्री वा जज निर्णय ठीक न करें, तो उसको स्वयं राजा फिर करे, और उनको सहस्र दण्ड देवे * ॥ २३४ ॥ ब्राह्मण का मारनेवाला, शराब पीनेवाला, † (ब्राह्मण का सोना) चुरानेवाला और गुरु स्त्री गामी, यह सारे मनुष्य अलग २ महा पातकी जानने चाहिए ‡ ॥ २३५ ॥ इन चारों को ही, यदि यह प्रायश्चित्त न करें, तो शरीर दण्ड, और धन दण्ड, धर्मानुसार देवे ॥ २३६ ॥ गुरु स्त्री गमन में (तपे छोड़े के साथ ललाट पर भग का चिन्ह बनावे, शराब पीने में शराब घर का, चोरी में कुत्त के पाओं का, और ब्रह्महत्या करनेवाले में बैतिल का पुरुष बनावे § ॥ २३७ ॥ इनके साथ बैठकर न भोजन करें, न इनको यज्ञ कराएं, न पढ़ाएं, न इनसे विवाह सम्बन्ध करें, यह सारे धर्मों से अलग किए हुए दीन होकर पृथिवी पर घूमें ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।

निर्दयानिर्नमस्कारास्तन्मनोऽनुशासनम् ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् ।

नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाण्यास्तूतमसाहसम् ॥ २४० ॥

है (मेघा०, कुल्लू०) * याज्ञ० २ । ३०५ मेघा० कुल्लू० के अनुसार यह नियम उत्कोच से भिन्न विषय में है, यह छोटे कार्य में दण्ड है, बड़े कार्य में अधिक दण्ड हो † ब्राह्मण (मेघा० राघ०) द्विजाति (कुल्लू०, नारा०) ‡ २३५-२४२ बौध्दा० १।१८। १८ विष्णु० ५।३-७ § २४० में ललाट पर निषेध कहने से सिद्ध है, कि यह चिन्ह ललाट पर बनाने चाहिये ।

इन चिन्हवालों को ज्ञाति और सम्बन्धी त्याग देवें, न यह दयाके पात्र, न नमस्कार के योग्य रहते हैं, यह मनु की आज्ञा है ॥ २२९
किन्तु शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करते हुए सारे वर्णों को * राजा
ललाट पर चिन्ह न दे, उत्तम साहस दण्ड देवे ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यऽकामतः ।

सर्वस्वहार मर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥२४२॥

ऐसे अपराधों में ब्राह्मण को मध्यम साहस (५०० पण) दण्ड देना चाहिए । अथवा धन और दूसरे सामान समेत उसे देश से निकाल देना चाहिए † ॥ २४१ ॥ (ब्राह्मण से) दूसरे यदि इन पापों को बिना इच्छा के करें; तो उनका सर्वस्व छीनने के योग्य है, जान बूझकर करें; तो देश निकाले ‡ के योग्य हैं ॥२४२॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।

आददानस्तुतलोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

धार्मिक राजा महापातकी के धन (दण्ड) को आप न लेवे, यदि

* सारे वर्ण=आर्य तीन वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य । नारा०, नन्द० 'पूर्व वर्णः'=पहले तीन, वर्ण पाठ पढ़ते हैं ॥

† अगले श्लोक में 'बिना इच्छा' और 'इच्छा से' कहने से यहां भी, इच्छा में गुणवान् ब्राह्मण को मध्यम साहस (निर्गुण को २४० में कहा उत्तम साहस) और इच्छा से किये में देश निकाला हो (कुल्लू०) ‡ कुल्लू० यहां प्रवासन का अर्थ बंध करता है, पर यहां बंध अर्थ नहीं हो सका, पूर्व २३८ में उन को पृथिवी पर घूमने

लालच से ले लेवे; तो महापातक के दोष से युक्त होता है ॥२४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।

श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

उस दण्ड को जल में (नदी आदि में) डालकर वरुण के अर्पण करे
अथवा वेद और व्रत से सम्पन्न ब्राह्मण को देवे, * ॥ २४४ ॥

ईशो दण्डस्यवरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।

ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

दण्ड का स्वामी वरुण है, क्योंकि वह राजाओं का भी दण्डधारी है,
और वेद के पार पहुँचा ब्राह्मण सारे जगत का स्वामी है ॥२४५॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भयो धनागमम् ।

तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

जहाँ राजा पापियों से धन की प्राप्ति त्यागता है, वहाँ मनुष्य
(टीक) समय पर उत्पन्न होते हैं और दीर्घ जीवी होते हैं ॥२४६॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि त्रिशां पृथक् ।

बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७॥

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।

हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्यवधे तावान्वध्यस्यमोक्षणे ।

अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥२४९॥

देना कह आए हैं, किंच स्वयं कुल्लू० ही पूर्व ८।२८४ की टीका में
प्रवाश्यः, का अर्थ देश निकाला करता है * याज्ञ २। ३०७

† वरुण राजाओं का अधिराज है, इसके लिये देखो तैत्ति ब्रा०
३।१।२।७ और विद्वान् ब्राह्मण के लिये देखो पूर्व १।९८-१०१

और वैश्यों की खेतियें जैसे बोई हों, वैसे अलग २ (समय २ पर) पकती हैं, बालक नहीं मरते हैं, और कोई विकार वाला (लूला लंगड़ा आदि) नहीं होता है ॥ २४७ ॥ जान बूझकर ब्राह्मणों को तंग करते हुए * शूद्रों को राजा तरह २ के वध के उपायों से मारे ॥ २४८ ॥ न मारने योग्य के मारने में जितना पाप राजा को देखा गया है, उतना मारने योग्य के छोड़ देनेमें है, और दण्ड देने वाले को, धर्म होता है † ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।

अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।

देशानलब्धौलिप्सेत लब्धौश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।

कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।

नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।

तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

नारा० 'कालेन' के स्थान 'लोकेतु' पढ़ता है, उस लोक में । * धन स्त्री आदि छीनते हुए (मेघा०) अत्यन्त दुःख देते हुए (नारा०) † मिलाओ पूर्व ८।१९, ३१०-३११, ३१७ ॥

द्विविधास्तस्करान् विद्यात्परद्रव्याऽपहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपातिः ॥२५६॥

* (ऋणका न देना आदि) अठारह मार्गों में परस्पर झगड़ते हुए (वादी प्रतिवादी) के व्यवहार का निर्णय विस्तार से कह दिया है ॥ २५० ॥ इस प्रकार धर्म युक्त व्यवहारों को निर्णय करता हुआ राजा (अपनी प्रजा में राज भक्ति बढ़ाकर) नए देशों को पाने की इच्छा करे, और पाए हुएों का पालन करे ॥ २५१ ॥ (रहने के लिये) भली भांति (उत्तम) देश का आश्रय लेकर और शास्त्रानुसार उसमें दुर्ग बनाकर कांटों के हटाने में पूरा २ यत्न करे † ॥ २५२ ॥ सदाचारियों की रक्षासे और कांटों के शोधने से प्रजा पालने में तत्पर राजा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ‡ ॥ २५३ ॥ जो राजा चोरों को दण्ड न देता हुआ बलि लेता है, उसके देश में हल चल पड़जाती हैं, और वह स्वर्ग से हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥ जिसके भुजबल का आश्रय लेकर देश निर्भय होता है, उसका देश सदा इसतहर बढ़ता जाता है, जैसे जल सेचन से वृक्ष ॥ २५५ ॥ दूसरों के धन ठगने वाले, गुप्त और प्रकट इन दो प्रकार के चोरों को राजा गुप्तचररूपी आंखों से जानता रहे ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनादविकादयः ॥२५७॥
उत्कोचकाश्चौपाधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥

* अठारह व्यवहारों का उपसंहार करते हुए राजा के कर्तव्य का परिशिष्ट कहते हैं (राघ०) † देखो पूर्व ७।६९-७० कांटे = चोर, ठग, राजद्रोही आदि ‡ २५३-२५४ देखो पूर्व ८।३०७, ३८६-३८७ ॥

असम्यकारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।

शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥२५९॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांलोककण्टकान् ।

निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥२६०॥

उन में से प्रकट ठग वह हैं, जो नाना विध व्यवहार्य वस्तु-ओं में (खोट मिलाने) से जीविका करने वाले हैं, और जो चोर दस्यु (धाड़वी) आदि हैं, यह गुप्त ठग हैं । २५७। रिश्वत खोर, छलिये*, ठग, जुआरिये, मंगल † की सूचना से जीविका करने वाले मक्कार ‡, भाग्य बतलाने वाले । २५८। ठीक काम न करने वाले उच्च अधिकारी और वैद्य, अपने हुनर की महारत दिखला कर जीविका करने वाले §, और चालाक वेश्याएं । २५९। इस प्रकार के लोगों को प्रकट लोक के कांटे जाने, और भी आर्यों के चिन्ह (संन्यासादि) धारकर छिपकर विचरते हुए अनार्य ॥२६०॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्म कारिभिः ।

चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥२६१॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥२६२॥

* अपने ऊपर दूसरे का विश्वास उत्पन्न करा कर धोखा दे जाने वाले, (मेधा०) भय दिखला कर ठगने वाले (कुल्लू० राघ०) स्तुति आदि से फुसलाकर ठगने वाले (नारा०) † धन पुत्रादिका लाभ (कुल्लू० राघ०) ‡ अन्दर से पापी और बाहर से सदाचारियों के चिन्ह धारे § हुए अनुपयोगी हुनर (मेधा०) ॥
का पूरा पता लगाकर ।

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापाविनिग्रहः ।

स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥२६३॥

इनको, अपने विश्वासी, (उन्हीं में मिलकर) उन २ कर्मों के करने वाले, गूढ़ गुप्तचरों से, और अनेकवेषधारी गुप्तचरों से (जानकर और) उखाड़ कर बस में लाए ॥२६१॥ अपने २ कर्म में जो उनके सच्चे दोष हैं, उन को प्रकट करके राजा बल और अपराध के अनुसार भली भांति दण्ड देवे ॥२६२॥ क्यों कि पृथिवी पर (भले वेष में) छिपे फिरते हुए दुष्ट-संकल्प चोरों की दुष्टता का रोकना दण्ड से बिना नहीं होसकता ॥२६३॥

सभाप्रपाऽपूपशाला वेशमद्यान्नविक्रयाः ।

चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥२६४॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकवेशनानि च ।

शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥२६५॥

सभा, प्रपा (प्याऊ=सबील), हलवाई का हट्ट, चकला, मद्य और अन्न के विकने के स्थान, चौराहे, प्रसिद्ध वृक्ष, समाज (लोगों के इकट्ठा), तमाशे ॥२६४॥ पुराने बगीचे, जंगल, कारीगरों की दुकानें, उजाड़ घर, असली और बनावटी वन ॥२६५॥

एवं विधान्नुपोदेशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।

तत्स्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।

विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥२६७॥

इस प्रकार के स्थानों में राजा ठहरे रहने वाले और चलनेफिरने

वाले सिपाहियों को और गुप्तचरों को चोरों के रोकने के लिये
फ़िराता रहे ॥ २६६ ॥ उनके साथी बनजाने वाले, उनके पीछे
लग जाने वाले, भांति२ के कर्मों के जानने वाले बड़े होशियार जो
पुराने चोर हों, उन गुप्तचरों से चोरोंको जाने और निमूँल करे *

भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।

चौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।

तान्प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।

सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

वह (गुप्तचर) उन चोरों को भक्ष्य भोज्य (चलो हमारे
घर प्रीतिभोजन करा) के बहाने से, ब्राह्मणों के दर्शन (के
बहाने) से (अमुक स्थान पर सिद्ध ब्राह्मण है,) शूर वीरता
के कर्म (अमुक स्थान पर एक पुरुष बहुतों के साथ युद्ध
करेगा) के बहाने से उन (चोरों) का (राज पुरुषों से)
समागम करादे (पकड़वा दें) ॥ २६८ ॥ जो (पकड़े जाने
की शंका से) वहां न जावें, और गुप्तचरों के विषय में सावधान
हो जाएं, उनको राजा बल से पकड़कर मित्र ज्ञातिबान्धवों
समेत मासुडाले ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा चुराई वस्तु (वा चोरी
के साधनों=मंथेवे आदि) के बिना चोर को न मारे, चोरी का
माल वा साधन निकल आए, तो बिन विचारे मरवाडाले ॥ २७० ॥

* “उत्सादयेत्” के स्थान पाठ ‘उत्साहयेत्’=उत्साह दे
(चोरी करने में) (गोवि० नारा० नन्द)

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।

भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥२७१॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।

अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिवद्रुतम् ॥२७२॥

गाओं में भी जो कोई चोरों को (जानकर) अन्न देते हैं, वा सामान (रखने) के लिये स्थान देते हैं, * उन सबको भी मरवा दे ॥ २७१ ॥ देश में जो रक्षा के काम पर लगाए गए हैं (पुलिस), और हद्दों पर रहने वाले जो सहायता के लिये नियत हैं, वह यदि (चोरों वा डाकुओं से की) मारपीट में मध्यस्थ रहें (सहायता के लिये न जाएं, वा पास खड़े देखते रहें) तो उनको भी जल्दी चोर की तरह दण्ड देवे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।

दण्डेनैव तमप्योषेत स्वकाद्धर्माद्धिविच्युतम् ॥ २७३ ॥

ग्रामघाते हिताभंगे पथिमोषाभिदर्शने ।

शक्तितोनाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदा ॥२७४॥

जो धर्म (पुरोहिताई आदि से) जीविका करनेवाला अपने कर्तव्य के नियम से फिसलजाए, उसको भी अपने कर्तव्य से फिसलने को, दण्ड से ही संतप्त करे ॥ २७३ ॥ गाओं के लूटने, जल का बांध टूटने, और मार्ग में मोस खोस देखने में जो (आस पास वाले) शक्ति अनुसार (सहायता के लिये) नहीं दौड़ते हैं, वह अपने माल असबाब समेत देश से निकाल देने चाहिये †

* (इत्यादि खरीदने के लिये) मूल धन देते और स्थान देते हैं (नारा०) † विष्णु ५।७४

राज्ञः कोषापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
 घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥२७५॥
 सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
 तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णेश्चूलेनिवेशयेत् ॥२७६॥
 अंगुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
 द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥
 अग्निदानं भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
 संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरभिवेश्वरः ॥२७८॥

राजा के खजाने को चुराने वाले, और (राजा के)
 प्रतिकूल स्थित, और शत्रुओं को भेद बतलाने वालों को
 राजा नाना प्रकार के दण्डों से मरवाए ॥ २७५ ॥ जो चोर
 रात को सन्धि देकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथ काटकर
 तीक्ष्ण सूली पर चढ़ावे * ॥ २७६ ॥ गांठकतरने वाले की पहली
 पकड़ में अंगुलियों † कटवादे, दूसरी में हाथ और पाओं, तीसरी
 में वध के योग्य होता है ‡ ॥ २७७ ॥ (जान कर भी) जो इन
 को अग्नि § और अनाज देते हैं, शस्त्रों के रखने के लिये स्थान
 देते हैं और चोरी के माल को अपने पास रखते हैं, उनको भी
 राजा चोर की तरह मरवाए ॥ २७८ ॥

* याज्ञ० २।२७३ † दो अंगुलिये अंगूठा और तर्जनी (कुल्लू०
 राघ० नारा०) तर्जनी और मध्यमा (नन्द०)

‡ याज्ञ० २।२७४ विष्णु ५।१३६

§ अग्नि शीतादि दहन के लिये (मेघा०) घर आदि को
 लगाने के लिये (नारा०)

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।

यद्वापि प्रतिसंस्क्रुयाद् दाप्यस्तूतमसाहसम् ॥२७९॥

(बड़े उपकारक) तालाब के फोड़ने वाले को जल में (डुबाने से) वा शुद्ध वध * से मारे, यद्वा (तालाब को) फिर बनवादे और उत्तम साहस (सहस्रपण) दण्ड दे † ॥२७९॥

कोष्ठगारायुधागार देवतागार भेदकान् ।

हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हेरत् ।

आगमं वाप्यपां भिन्द्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् ॥२८१॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वऽमेध्यमनापादि ।

स द्वौकार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥२८२॥

आपदगतो ऽथवा वृद्धो गर्भिणी बालएव वा ।

परिभाषण मर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥२८३॥

(राजकीय) गोदाम घर, शस्त्रघर, और मन्दिरों के तोड़नेवालों और (राजकीय) हाथी, घोड़े और रथों के चुरानेवालों को बिन विचारे मार ही दे ॥ २८० ॥ जो पूर्व समय के बने तालाब का जल ही ग्रहण करे, वा जलों के आने के मार्ग को नष्ट करे, उसे उत्तम साहस दण्ड देवे § ॥ २८१ ॥ जो बिना आपत् (रोग आदि) के राजमार्ग पर मल त्यागे, वह दो कार्षापण दण्ड दे और मल को जल्दी शोधे ¶ ॥ २८२ ॥ आपत् में पड़ा हुआ वा

* शुद्ध वध=सिर काटना (नारा० राघ०) † याज्ञ २।२७८

‡ याज्ञ २।२७३ § और मार्ग को ठीक करे (नारा०)

¶ विष्णु ५।१०६-१०७

वृद्धा वा गर्भिणी स्त्री वा बाल यह झिडकने योग्य हैं, और मल शोधदें, यह मर्यादा है ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।

अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।

प्रातिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।

मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

बिनजाने इलाज करने वाले सभी चिकित्सकों को दण्ड हो, मनुष्यों से भिन्न (पशु आदि) के विषय में प्रथमसाहस (अढ़ाई सौ) और मनुष्यों के विषय में मध्यम साहस (पांच सौ) हो * ॥ २८४ ॥ पुल, ध्वज, लकड़ी † और मूर्तियों का तोड़ने वाला उस हर एक वस्तु को नया बनवा दे और पांच सौ दण्ड दे ‡ ॥ २८५ ॥ न निर्दोष वस्तु (केसर आदि) को (मिलावट मिलाकर) दूषित करने, (न फोड़ने योग्यों माणिक आदि को) फोड़ने, और मणियों के खराब छेद करने में प्रथम साहस दण्ड हो § समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।

समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

* याज्ञ २।२४२ विष्णु ५।१७५-१७७ पर यह मृत्यु न होने पर है, मृत्यु हो, तो अधिक दण्ड हो (नारा०) † गाओं आदि की झेड़ी (नारा०) पोहकर से पार होने की लकड़ी (कूल्लू०)

‡ याज्ञ २।२९७ विष्णु ५।१७४

§ याज्ञ २।२४५-२४६ विष्णु ५।१२४ (दण्ड के सिवाय वस्तु का मूल्य स्वामी को देवे)

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।

दुःखिता यत्र दृश्येरान्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

जो सरल पुरुषों के साथ बेईमानी बर्ते वा मूल्य में विषमता करे*
(घट वस्तु का अधिक मूल्य ले, वा उनकी वस्तु का घट मूल्य दे)
उसको प्रथमसाहस वा मध्यम साहस दण्ड हो ॥ २८७ ॥ राजा
बन्धनगृहों को सड़क के ऊपर बनवाए, जहाँ पापकारी दुखिया
और विकराल (लंबे वालों नखों वाल) दीखते रहें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

कोट (फसील) के तोड़ने वाले, खाइयों के भरने वाले और
द्वारों के तोड़ने वाले को जल्दी ही देश से निकाल दे ॥२८९॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्त्तव्यो द्विशतो दमः ।

मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

सारे अभिचारों (मारने के होमों) में, असम्बन्धियों से किये +
मूल कर्म (जड़ से किये जादू) में, और अनेक प्रकार के दोनों
(मारण, मोहन, उच्चाटनादि) में दो सौ दण्ड देवे ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ।

मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्धधम् ॥ २९१ ॥

अबीजों (न उगने योग्यों) का, और, (निकुष्ठों को) उत्कृष्ट
बीज करके बेचने वाला, (ग्राम नगर आदि की) सीमा का तोड़ने
वाला विकराल वध (नासा छेद आदि) को प्राप्त हो ॥२९१॥

* एक जैसा मूल्य देने वालों के साथ विषम बर्ते (कुल्लू०)

† भर्ता आदि के वश करने में दोष नहीं (नारा०)

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।

प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेत्तद्वशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।

कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

सब कांटों में से अधिक पापी सुनारे को जब वह अन्याय (खोट मिलाकर देने) में प्रवृत्त हो, तो राजा क्षुरों से टुकड़े २ कटवाए ॥ २९२ ॥ खेती करने की वस्तुओं (हल आदि) के शस्त्रों के और औषध के चुराने में राजा समय और प्रयोजन को * देखकर दण्ड नियत करे ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।

सप्त प्रकृतयोद्धेताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानियाद्रव्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।

अन्योन्यगुणवैशेष्यान्नकिञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

राजा, मन्त्री, पुर, देश, कोश, दण्ड (हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे) और मित्र यह सात प्रकृतियों मिलकर + सात अंगों वाला राज्य कहलाता है ॥ २९४ ॥ राज्य की इन सात प्रकृतियों में से यथा क्रम (परले २ से) पूर्व २ (के विनाश) को भारी व्यसन जाने ॥ २९५ ॥ यह सात अंगोंवाला राज्य जो (यति के) त्रिदण्ड की तरह एक दूसरे से जकड़ा हुआ है, इन में से एक दूसरे से

* खेत बोने के दिनों में अधिक दण्ड हो अन्यथा न्यून इत्यादि । इसी प्रकार अधिक काम की वस्तु में अधिक दण्ड हो

+ देखो तर्क ७।२५७ याज्ञ १।३५२

(अपने २) गुण की विशेषता से कोई भी बढ़कर नहीं है *
तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।

येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७॥

(क्यों कि अपने २) उन २ कामों में, वह २ अंग विशेष है,
जिस से जो काम सिद्ध होता है, उसमें वह श्रेष्ठ कहाता है ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।

स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपातिः ॥ २९८॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।

आरभेतततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।

राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

गुप्तचरों से, उत्साह के सम्बन्ध से, और कर्मों के
अनुष्ठान से राजा अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति को सदा
जानता रहे ॥ २९८॥ सारी पीड़ाएं (= अकाल आदि), व्यसन
(प्रकृतियों में क्षोभ आदि) और उनकी गुरुता लघुता सोच कर
राजा कार्य (सन्धि विग्रह आदि) का आरम्भ करे ॥ २९९॥ थक-
कर फिर २ कामों को आरम्भ करे, काम करने वाले पुरुष को

* पूर्व २९५ में जो पूर्व २ बड़ा कहा है, वह एक दूसरे के
उपयोग की बहुमूल्यता से है, पर इनमें से एक के बिना भी काम नहीं
चल सका, इस लिये अत्यावश्यक होने से सब एक जैसे हैं ।

लक्ष्मी सेवन करती है ॥ ३०० ॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि यह सब राजा के वर्ताव हैं, राजा ही युग कहलाता है ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद द्वापरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यत स्नेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

सोया हुआ (निरुद्यमी पड़ा हुआ) वह कलि होता है, निरा जागता हुआ (जानकर भी न करता हुआ) द्वापर, कर्मों में उद्यत हुआ त्रेता और करता हुआ सत्य युग होता है * ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।

चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।

तथाभिवर्षेत्स्वराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि, और पृथिवी के तेज के योग्य राजा वर्ताव करे ॥ ३०३ ॥ इन्द्र जिस तरह वरसात के चार महीने वरसता है, वैसे इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ देशपर कामनाओं (के पूरा करने) की वर्षा करे ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।

तथाहरेत्करं राशान्नित्यकमर्कव्रतं हितत् ॥ ३०५ ॥

जैसे सूर्य आठ महीने रश्मियों द्वारा जल खींचता है, वैसे देशसे सदा † कर लेवे, यह सूर्य का व्रत है ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथाचरति मारुतः ।

तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

* मिलाओ पेट० ब्रा० ७।२५ ॥

† नन्द० 'नित्यं' के स्थान 'सम्यक्' भलीभांति, पढ़ता है ॥

जैसे वायु सब जन्तुओं के अन्दर प्रवेश करके विचरता है, वैसे
युसचरों के द्वारा (सब के अन्दर) प्रवेश करे, यह वायु का व्रत है॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।

तथा राजा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥

वरुणेन यथा पार्श्वे बद्ध एवाभिदृश्यते ।

तथा पापान्निगृहीयाद् व्रत मेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।

तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।

दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।

तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥३११॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।

स्तेनान् राजा निगृहीयात् स्वराष्ट्रे परएव च ।

जैसे यम समय आने पर (निष्पक्ष हो अपराधानुसार) दण्ड
देता है, वैसे राजा से प्रजा दण्डनीय होनी चाहिये, यह यम का
व्रत है ॥ ३०७ ॥ वरुण से जैसे फाँसों द्वारा बांधा हुआ ही दीखता
है (पहले कुछ पता नहीं लगता) इस प्रकार पापियों को दण्ड
दे, यह वरुण का व्रत है ॥ ३०८ ॥ जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर
मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे जिसपर प्रकृतियें प्रसन्न हैं, वह राजा
चन्द्र व्रत वाला है ॥ ३०९ ॥ पाप करने वालों पर सदा प्रचण्ड

और तेजस्वी हो, और दुष्ट सापन्तों (हृद पर रहने वालों) के मारने वाला हो, यह अग्नि का व्रत है ॥३१०॥ पृथिवी जैसे सब भूतों (उच्च नीचों) को तुल्य धारण करती है, वैसे (उच्च, नीच, दीन, अनाथ) सब भूतों को धारण करे, यह पृथिवी का व्रत है ॥३११॥ इन उपायों से और (अपनी बुद्धि से समझे) अन्य उपायों से युक्त राजा सावधान हो अपने देश में (रहते हुए) और दूसरे (देश) में (रहते हुए) अपने देश में आकर चोरी करने वाले) चोरों को रोके ॥३१२॥

परामर्थापदं प्राप्नो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।

क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥

(कोश के क्षय आदि से) बड़ी आपदा में पड़ा हुआ भी ब्राह्मणों को (धनग्रहणादि से) प्रकुपित न करे, क्योंकि वह कुपित हुए इसको जल्दी सेना और वाहनों समेत मार सक्ते हैं ॥

जिन्होंने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय (खारी) बना दिया, चन्द्र को क्षीण होने और पूरा होनेवाला बना दिया, उनको प्रकुपित करके कौन नहीं नष्ट होगा * ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।

देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिप्वंस्तान्समृन्ध्यात् ॥३१५॥

* इस श्लोक में जिन कथाओं की ओर इशारा है, वह महाभारत मोक्ष धर्म १२ । ३४४, ५१, ५७—५८, ६०—६१ में दी हैं कि भृगु ने शाप से अग्नि को सर्वभक्षी बनाया, बडवामुख ऋषि ने समुद्र को खारी बनाया, और दक्ष ने चन्द्र को घटने बढने वाला ।

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
 ब्रह्मचैवधनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः॥३१६॥
 अविद्वांश्चैवविद्वांश्च ब्राह्मणोदैवतं महत् ।
 प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथामिदैवतं महत् ॥३१७॥
 श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
 हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवामि वर्धते ॥ ३१८ ॥
 एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हितत् ॥३१९॥
 जो कुपित हुए दूसरे लोकों और दूसरे लोकपालों को रच दें, और देवताओं को अदेवता बना दें, उनको पीड़ा देता हुआ कौन बढ़ सकता है + ॥ ३१६ ॥ जिनके आश्रय लोक और देवता सदा खड़े हैं, और धन जिनका वेद है, कौन जीना चाहता हुआ उनको पीड़ा दे ॥ ३१६ ॥ जैसे स्थापन किया, और न स्थापन किया अग्नि बड़ा देवता है, इसप्रकार अविद्वान् और विद्वान् ब्राह्मण बड़ा देवता है ॥ ३१७ ॥ जैसे तेजस्वी अग्नि श्मशानों में भी दूषित नहीं होता है, किन्तु यज्ञ में बुलाया हुआ फिर भी बढ़ता ही है ॥ ३१८ ॥ इसप्रकार यद्यपि सारे ही अनिष्ट कर्मों में वर्त्तमान हों, तथापि ब्राह्मण सर्वथा पूजनीय हैं, यह बड़े देवता हैं ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।

ब्रह्मैव संनियन्तु स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥

१* दूसरे लोकों को विभ्रामित्र ने रचा, दूसरे इन्द्र (लोकपाल) को बालाहिल्यों ने, और माण्डव्य के शाप से यम (देवता) विदुर बना (महाभारत १ । १०८, १६) † देखो पूर्व १ । ९३—९५

ब्राह्मणों के प्रति सब प्रकार से बहुत ऊंचे आए क्षत्रबल का, ब्रह्म-
बल ही रोकनेवाला है, क्योंकि क्षत्रबल ब्रह्मबल से उत्पन्न हुआ है

अध्वोऽभिर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥

नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।

ब्रह्मक्षत्रं च संयुक्तमिहचामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।

पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।

हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥३२४॥

जलों से अग्नि, ब्रह्म से क्षत्र, और पत्थर से शस्त्र
प्रकट हुआ है, उनका सब जगह पहुंचने वाला तेज अपने कारणों
में ठण्डा होजाता है ॥ ३२१ ॥ बिना ब्रह्म के क्षत्र नहीं बढ़ता,
और बिना क्षत्र के ब्रह्म नहीं बढ़ता है, ब्रह्म और क्षत्र मिला
हुआ लोक परलोक में बढ़ता है * ॥ ३२२ ॥ दण्ड से उत्पन्न
हुआ सारा धन (जो विनियोग से बचा हुआ हो) ब्राह्मणों को
देकर, राज्य भारको पुत्र पर डालकर रण में प्राणत्याग करे ॥ ३२३ ॥
इसप्रकार राजधर्मों में सदा सावधान होकर विचरता हुआ राजा
सब भृत्यों को प्रजा के हित में लगाए रहे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।

इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥३२५॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपाग्निहम् ।

वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥३२६॥

यह राजा का सारा सनातन कर्मानुष्ठान कह दिया, अब क्रमशः वैश्य और शूद्र को यह कर्म विधि जाने ॥ ३२५ ॥ वैश्य जिनका संस्कार (उपनयन) हो चुका है, विवाह करके व्यापार में और पशुओं के पालन में सदा सावधान हो * ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाःपरिददे प्रजाः ॥३२७॥

न च वैश्यस्य कामःस्यान्न रक्षयं पशूनिति ।

वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लौहानां तान्तवस्य च ।

गन्धानां च रसानां च विद्यादर्धबलाबलम् ॥३२९॥

बीजानामुसिविच्चस्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।

मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥३३०॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।

लाभालाभं च पण्यानां पशूनां पस्विर्धनम् ॥ ३३१

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्वाषाश्च विविधा नृणाम् ।

द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

ब्रह्मा ने पशु रचकर वैश्य को सौंपे हैं, और ब्राह्मण और क्षत्रिय को सारी प्रजाएं सौंपी हैं ॥३२७॥ वैश्य की ऐसी इच्छा कभी न

हो, कि मैं पशुओं की रक्षा न करूँ, और जब वैश्य चाहता है तो फिर दूसरे से कभी रक्षा न कराए ॥ ३२८ ॥ मणि, मोती गुलियें, धातें, वस्त्र, गन्ध और रसों के भाओं के बल अबल को जाने रहे ॥ ३२९ ॥ (सब प्रकार के) बीजों के बोने को और क्षेत्र के गुण दोष को जाननेवाला हो, सब प्रकार के माप और तोल को जाने ॥ ३३० ॥ वस्तुओं के सार अपार, देशों के गुण अगुण और व्यवहार्य वस्तुओं के लाभ अलाभ और पशुओं का बढ़ाना जाने ॥ ३३१ ॥ (भिन्न २ योग्यता के) नौकरों की भृति (तनख्वाह) जाने, मनुष्यों की नाना भाषाएं जाने, वस्तुओं के रखने की युक्ति और क्रय विक्रय को जाने ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।

दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदाविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।

शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

धर्म से धन के बढ़ाने में पूरा प्रयत्न करे, और सब भूतों को अन्न ही प्रयत्न से दे ॥ ३३३ ॥ वेद के जाननेवाले यशस्वी गृहस्थ ब्राह्मणों की सेवा ही शूद्र का परम कल्याणकारी धर्म है + ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहङ्कृतः ।

ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।

आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तं निबोधत ॥ ३३६ ॥

स्वच्छ रहनेवाला, ऊँचे (वर्णों) की सेवा करनेवाला, मृदु बोलने वाला, निरहंकार, ब्राह्मणादि का आश्रय लिए, * (शूद्र) उत्कृष्ट जाति को प्राप्त होता है ॥ ३३५ ॥ यह वर्णों का बिना आपत्काल के कर्मानुष्ठान कहा, अब आपत्ति में जो उनका धर्म है उसको (मिश्रित वर्णों के वर्णन के पीछे) जानो ॥ ३३६ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
 प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥
 सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद वृत्त्युपायान्यथाविधिः ।
 प्रब्रूयादितिरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥
 वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
 संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥
 ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
 चतुर्थएकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

† अपने कर्मों में स्थित द्विजाति तीनों वर्ण (वेद को) पढ़ें, ब्राह्मण इनको पढ़ाएँ, न कि दूसरे दोनों (क्षत्रिय, वैश्य पढ़ाएँ) यह निश्चय है ॥ १ ॥ ब्राह्मण सब (वर्णों) की जीविका के उपायों को शास्त्रानुसार जाने, और दूसरों को उपदेश करे, और आप

* “ ब्राह्मणोपोश्रयः ” पाठ, (मेधा० गोवि० नारा०) ।

† चारों वर्णों के कर्त्तव्य कहकर अब वर्णों की और वर्णसंस्कारों की उत्पत्ति और उनकी वृत्तियों बतलाते हैं ॥ अब्राह्मण से अध्ययन

वैसा हो (शास्त्रानुसार जीविका करे) * ॥ २ ॥ (अपने गुणों की) विशेषता से, अपने कारण की श्रेष्ठता से, और (विशेष) नियम † के धारणे से, और संस्कार (उपनयन) की विशेषता से ब्राह्मण सारे वर्णों का स्वामी है ‡ ॥ ३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य यह तीनों वर्ण द्विजाति (द्विजन्मा) हैं, चौथा एक जाति (एक जन्मा) है शूद्र, चांचवां (कोई वर्ण) नहीं है § ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।

आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्तएव ते ॥ ५ ॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।

सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अनन्तरासु जातानां त्रिधिरेष सनातनः ।

द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमंविधिम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।

निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां कूराचारविहारवान् ।

क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तु रुग्नोनाम प्रजायते ॥ ९ ॥

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेवर्णयोर्दयोः ।

वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

आपत्काल में विहित है, देखो पूर्व २ । २४१-२४२ * वासि० १ । ३९-४१ गौत० ११ । २५ † स्नातक के नियम जो चौथे में कहे हैं (मेघा० गोवि०, नारा०, राघ०) नियम = वेद (कुल्लू०) ‡ देखो पूर्व १ । ९३ § वासि० २ । १-२ आप० १ । १ । ३ याज्ञ० १ । १०

सारे वर्णों में अपने तुल्य वर्ण की अक्षतयोनि (कंवारी, विवाही) पत्नियों में से अनुलोमता से जो उत्पन्न हुए हों, वह जाति से वही जानने चाहिए * ॥५॥ बिना व्यवधान (निचले वर्ण में) उत्पन्न हुई स्त्रियों में से जो पुत्र द्विजों ने उत्पन्न किये हैं, उनको माता की निचाई से नीच होने के हेतु सदृश ही कहते हैं † ॥ ६॥ व्यवधान रहित स्त्रियों में से उत्पन्न हुआ की यह सनातन विधि है, दो वां एक (वर्ण) के व्यवधान वालियों में से उत्पन्न हुआ की यह धर्मयुक्त विधि जाने ॥ ७॥ ब्राह्मण से वैश्य की कन्या में से अंबष्ठ उत्पन्न होता है, शूद्र की कन्या में से निषाद जो पारशव कहलाता है § ॥ ८॥ क्षत्रिय का शूद्र की कन्या में से क्रूर आचार विहार वाला, क्षत्रिय शूद्र के स्वपाशवा उग्रनामी उत्पन्न होता है ॥ ९॥ ब्राह्मण का तीनों वर्णों (की स्त्रियों) में से, क्षत्रिय का दोनों में से, और वैश्य का एक में से यह छः 'अपसद' कहे हैं ॥ १०॥

१६। * आप० २।१३। १ याज्ञ० १। १० विष्णु० १६। १ इसमें अक्षतयोनि और अनुलोमता यह दो शब्द विचारणीय है । यदि अक्षत योनि के ही पुत्र उस वर्ण के होते हैं, तो सहोद और कानीन, तथा कुण्ड और गोलक किस वर्ण के होंगे ? राघ० ने यह उत्तर दिया है, कि उनका द्विज होना गौण है । अनुलोमता से अभिप्राय संधि क्रम से है अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी में से, क्षत्रिय का क्षत्रिया में से, (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) बड़ी आयु के वर द्वारा छोटी आयु की स्त्री में से (नारा०, राघ०) † ६-१६ वासि० १८ गौत० ४। १६-२८ बौध० १। १६। ६-१७ याज्ञ० १। २१-२५ विष्णु० १६। २-१५ सदृश ही = पिता के सदृश न कि पिता के सजातीय (कुल्लू०) माता के समान वर्ण ही (नन्द०) मिलाओ आगे १४ दो का व्यवधान जैसे ब्राह्मण का शूद्रा में से, एक का व्यवधान जैसे ब्राह्मण का वैश्या में से § देखो पूर्व ९। १७८ यहां पारशव अलग संज्ञा का प्रयोजन यह है, कि यह निषाद उस निषाद से अलग है, जो प्रति-लोमज है और मछलियों पकड़ना जिसकी जीविका है ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।

वैश्यान्मगधवैदेहौ राजविप्रांगनासुतौ ॥ ११ ॥

शूद्रादायोगवःक्षत्ता चण्डालश्चाऽधमोऽनृणाम् ।

वैश्यराजन्य विप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

(अनुलोम कहकर प्रतिलोम कहते हैं) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में से जाति से सूत उत्पन्न होता है, वैश्य से क्षत्रिया और ब्राह्मणी के पुत्र मागध और वैदेह होते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणी में से आयोगव, क्षता और चण्डाल जो मनुष्यों में नीच है, यह वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ।

क्षत्रवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।

ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

अनुलोमता में एक के व्यवधान में जैसे अंबष्ठ और उग्र माने हैं, प्रतिलोम उत्पत्ति में वैसे क्षत्ता और वैदेह हैं * ॥ १३ ॥ द्विजों के पुत्र जो क्रम से एक ही वर्ण नीचे की स्त्रियों में से उत्पन्न हुए हैं, उनको माता की निचाई से माता के वर्ण से बुलाते हैं † ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतोनाम जायते ।

आभीरोऽम्बष्ठकन्यामायोगव्यांतुर्धिग्वणः ॥ १५ ॥

* बिन व्यवधान के प्रतिलोम की अपेक्षा एक का व्यवधान होने से निन्दित हैं ॥ † माता की जाति के अनुसार उनके संस्कार हों (मेघा० गोवि० कुल्लू० नारा० नन्द०) देखो आगे ४१ ।

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः ।

अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥

सूतोवेदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।

मागधःक्षत्रजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अब जो संकरजातियां प्रतिलोम और अनुलोमों के परस्पर मिश्रण से होती हैं, उनको पूर्णतया कहूंगा ॥२५॥ सूत, वैदेहक, और मनुष्यों में नीच चण्डाल, मागध, क्षत्ता, और आयोगव ॥२६॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।

मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्यजायते ।

आनन्तर्यात्स्वयोन्यांतु तथा बाह्येष्वपिक्रमः ॥२८॥

ते चापि बाह्यान्सुबह्वंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।

परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।

तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यातरान्पुनः ।

हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥

यह छः अपनी जाति में, माता की जाति में और उत्कृष्ट जाति में अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में से दो में (क्षत्रिय वैश्य में) ब्राह्मण का पुत्र द्विज होता है, और अपनी जाति में भी द्विज होता है, वैसे बाह्यों में

द्विजातयः सवणार्सु जनयन्त्यव्रतांस्तुयात् ।
 तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥२०॥
 ब्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
 आवन्त्यवाटधानौच पुष्पधःशैखएवच ॥ २१ ॥
 श्लो मलश्चराजन्याद ब्रात्यान्निच्छिविरेव च ।
 नटश्च करणश्चैव खसो द्रविडएवच ॥ २२ ॥
 वैश्यात्तुजायतेब्रात्यात्सुधन्वाचार्यएवच ।
 कारूषश्चविजन्माच मैत्रः सात्वतएव च ॥२३॥

द्विज अपने वर्ण की स्त्रियों में से जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, वह यदि (उपनयन) व्रत से हीन हों, तो उन, सावित्री से भ्रष्ट हुआओं को ब्राह्मण से ब्राह्मण से दुष्टात्मा भूर्जकण्टक, आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध वा शैख उत्पन्न होता है ॥२१॥ क्षत्रिय ब्राह्मण से श्लो, मल, निच्छिवि नट, करण, खस वा द्रविड होता है ॥ २२ ॥ वैश्यब्राह्मण से सुधन्वाचार्य, कारूष, विजन्मा मैत्र वा सात्वत उत्पन्न होता है ॥२३॥
 व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

वर्णों के परस्पर व्यभिचार से, न विवाहने योग्य (सगोत्रा आदि) को विवाहने से, और अपने कर्मों के त्याग से वर्ण संकर होते हैं (इस लिये इस प्रकरण में ब्राह्मणों का कथन है) ॥२४॥

* देखो पूर्व २।३९ । यह एक के ही देश भेद से भिन्न नाम है (इसी तरह अगले दोनों श्लोकों में भी) (कुल्लू०) यहां भूर्ज कण्टक के स्थान, (मेधा०) भृजकण्टक कहता है ॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः ।
 अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥
 सूतोवेदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
 मागधःक्षत्रजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अब जो संकरजातियां प्रतिलोम और अनुलोमों के परस्पर
 मिश्रण से होती हैं, उनको पूर्णतया कहूंगा ॥२५॥ सूत, वेदेहक,
 और मनुष्यों में नीच चण्डाल, मागध, क्षत्रा, और आयोगव ॥२६॥
 एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
 मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥
 यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते ।
 आनन्तर्यात्स्वयोन्यांतु तथा बाह्येष्वपिक्रमः ॥२८॥
 ते चापि बाह्यान्सुबह्वंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
 परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥
 यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
 तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥
 प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यातरान्पुनः ।
 हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥

यह छः अपनी जाति में, माता की जाति में और उत्कृष्ट
 जाति में अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥ जैसे
 तीनों वर्णों में से दो में (क्षत्रिय वैश्य में) ब्राह्मण का पुत्र द्विज
 होता है, और अपनी जाति में भी द्विज होता है, वैसे बाह्यों में

भी क्रम है * ॥२८॥ वह (बाह्य छः) भी एक दूसरे की स्त्रियों में अधिक दोष वाले निन्दित अनेकप्रकार के बाह्यों को उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणी में से बाह्य जन्तु (चण्डाल) को उत्पन्न करता है, वैसे वह बाह्य चारों वर्णों में बाह्यतर को उत्पन्न करता है ॥ ३० ॥ प्रतिकूल वर्तते हुए बाह्य फिर पन्द्रह बाह्यतरों को उत्पन्न करते हैं और हीन पन्द्रह हीनों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३१ ॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।

सैरिन्ध्रं वायुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

* छपे पुस्तकों में ' क्रमात् ' पाठ मिलता है । टीकाकारों के अनुसार ' क्रमः ' होना चाहिये, सो कर दिया है । श्लोक का आशय यह है, कि प्रतिलोम जातियां बाह्य जातियां हैं, अर्थात् विद्या सम्बन्ध और योनि सम्बन्ध से अलग की हुई हैं । कि जैसे ब्राह्मण का पुत्र द्विजों में (क्षत्रिया वा वैश्या में से वा अपनी योनि में से) द्विज ही होता है । वैसे प्रतिलोम में भी द्विजों की सन्तान द्विज ही होती है, अर्थात् क्षत्रिय का ब्राह्मणी में से और वैश्य का क्षत्रिया या ब्राह्मणी में से द्विज ही होता है । द्विज होने का फल यह है, कि इन छः (ब्राह्मण के २ पुत्र क्षत्रिया वैश्या में से, + क्षत्रिय का १ वैश्या में से + १ क्षत्रिय का ब्राह्मणी से + २ वैश्य के क्षत्रिया ब्राह्मणी में से) उपनयन के योग्य हैं (मेधा०) ॥

† शूद्र से प्रतिलोम आयोगव, क्षत्ता और चण्डाल यह तीन होते हैं । इनमें से आयोगव, आयोगवी में और चारो वर्णों में इन पांच में पांच सन्तान उत्पन्न करता है, वह पांच आयोगव से निकृष्ट होते हैं, इसलिये बाह्यतर हैं । इसी तरह क्षत्ता, और चण्डाल भी अपनी २ जाति और चारो वर्णों में पांच २ सन्तान मिलाकर तीनों बाह्यों की १५ बाह्यतर जातियां बनजाती हैं । इसी प्रकार तीन जो हीन हैं (बाह्य नहीं) सूत, मागध, वैदेह (देखो ११) यह भी अपनी जाति और चारों वर्णों में १५ हीनों को उत्पन्न करते हैं ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
 नृन्प्रशसंत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥
 निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
 कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥
 मृतवस्त्र भृत्स्वर्नायासु गर्हितान्नाशनासु च ।
 भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥
 कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
 वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥
 चाण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
 आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

दस्यु * आयोगवी (=शूद्र से वैश्य की कन्या) में से सैरिन्ध्र को उत्पन्न करता है, जो (बालों को) सजाने और (अंगों को मलने आदि) सेवा को जानता है, दास न होकर, दासों की जीविका करता है, वा फांसों से (हिरण आदि पकड़ कर) जीविका करता है ॥ ३२ ॥ (वैश्य से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ) वैदेह मीठा बोलने वाले 'मैत्रेयक' को उत्पन्न करता है, जो प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजाओं की स्तुति पढ़ता है ॥ ३३ ॥ (ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ) निषाद आयोगवी में से)नौका चलाने से जीविका करने वाले 'मार्गवं' 'दास' को उत्पन्न करता है, जिसको आर्यावर्तनिवासी कैवर्त कहते हैं ॥ ३४ ॥ मृतकों के वस्त्र पहनने वाली, निन्दित अन्न (लहसुन आदि वा जूठा आदि)

* 'दस्यु' देखो आगे ४१।

खाने वाली अनार्या * आयोगवी में से अलग यह तीनों हीनजाति के (सैरिन्ध्र, मैत्रेयक, मार्गव) उत्पन्न होते हैं ॥ ३८ ॥ वैदेही में से निषाद से 'कारावर' 'चमार'। वैदेहिक से अन्ध और भेद, जो गाओं से बाहर रहते हैं, चण्डाल से 'पाण्डुसोपाक' जो वांस के व्यवहार वाला है, और निषाद से वैदेही में ही आहिण्डिक उत्पन्न होता है ॥ ३६-३७ ॥
चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।

पुक्कस्यां जायते पापः सदासज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्यावसायिनम् ।

श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपिगर्हितम् ॥ ३९ ॥

सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।

प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

चण्डाल से पुक्कसी (निषाद से शूद्रा की कन्या) में से सज्जनों से सदा निन्दित पापात्मा 'सोपाक' उत्पन्न होता है, जिसकी वृत्ति मारने योग्यों को (राजा की आज्ञा से) मारना है ॥ ३८ ॥ निषाद की स्त्री चण्डाल से श्मशान में रहने वाले 'अन्यावसायी' पुत्र को जनती है, जो बाह्यों का भी निन्दित है ॥ ३९ ॥ वर्ण-संकर में जो यह जातियें पिता माता के द्वारा दिखलाई हैं, यह गुप्त वा प्रकट अपने २ कर्मों से जाननी चाहियें ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट्सुता द्विजधर्मिणः ।

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

*मेघाङ्गोबि०कुल्लू०नन्द० के अनुसार 'मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु' पाठ पढ़ा है 'मूल खोदकर उनके बेचने से जीविका करने वाला (नारा० नन्द० राम०) ॥

तपोबीजप्रजावैस्तु ते गच्छन्ति युगेयुगे ।

उत्कर्षचापकर्षं च मनुष्येष्विहजन्मतः ॥ ४२ ॥

(आर्यों के) सजाति में से उत्पन्न हुए (ब्राह्मण के ब्राह्मणी में से, क्षत्रिय के क्षत्रिया में से, वैश्य के वैश्या में से) और अनन्तर जाति में से उत्पन्न हुए ^{दुर्ग} ~~सजाति~~ का क्षत्रिया, वैश्या में से, क्षत्रिय का वैश्या में से) यह छः पुत्र द्विजों के धर्म वाले हैं (उपनयन के योग्य हैं) और प्रतिलोम से उत्पन्न हुए सभी शूद्रों के समान धर्मी कहे हैं ॥४१॥ यह सब तप के प्रताप से (विश्वामित्र की तरह) और बीज के प्रताप से (ऋष्यशृंग की तरह) समय २ पर मनुष्यों में से यहां ऊंची नीची जाति को प्राप्त होते हैं*॥४२॥

शनकैस्तुक्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रविडाः काम्बोजा यवनाःशकाः ।

पारदा पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

(जैसाकि) यह क्षत्रिय जातियें (उपनयन आदि) क्रियाके लोप से, और ब्राह्मणों के (कर्म कराने के अर्थ) न मिलने से † लोक में धीरे २ शूद्रता को प्राप्त हुई हैं ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की जो

*देखो आगे ६४ † मेघा० गोवि० ने 'ब्राह्मणातिक्रमेण=ब्राह्मणों को उलंघने से' पाठ माना है ।

जातिये (धर्म से) बाहर होगई हैं, वह चाहे म्लेच्छ भाषा बोलती हैं, चाहे आर्य भाषा बोलती हैं, वह सब दस्यु कहे गए हैं ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदा येचापध्वंसजाः स्मृताः ।

ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानांचिकित्सनम् ।

वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

मत्स्यघातोनिषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।

मेदान्ध्रुचुचुमुदगूनामारण्यपशुर्हिंसनम् ॥ ४८ ॥

क्षत्रुप्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधवन्धनम् ।

धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

जो द्विजों के अपसद हैं, और जो अपध्वंसज कहे हैं, वह द्विजों के ही निन्दित कर्मों से जीविका करें *॥ ४६ ॥ सूतों का (कर्म) घोड़ों का भिधाना च ठाना, अम्बष्ठों का चिकित्सा करना, वैदेहिकों का अन्तःपुर की रक्षा, मागधों का वणिज ॥ ४७ ॥ निषादों का मछलिये मारना, आयोगव का तरखाना काम, मेद, अन्ध्र, चुचु और मुदु का जंगली पशुओं का मारना ॥ ४८ ॥ क्षत्र उग्र और पुक्कसों का बिल में रहने वालों (गोह आदि) का बांधना, मारना, धिग्वणों का चमड़ा बनाना बेचना, वेणों का वर्तन (कंसी आदि) बजाना ॥ ४९ ॥ पट (गाओं आदि के पास के) प्रसिद्ध

* देखो पूर्व १७ और ४१ ।

वृक्षों के नीचे, श्मशानों में, पर्वतों और उपवनों में अपने कर्मों से
मकट जीविका करते हुए बसें ॥ ५० ॥

चण्डालश्चपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।

अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥

वासांसि धृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।

काष्ण्यायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

नतैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।

व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने ।

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिन्हिता राजशासनैः ।

अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।

वध्यवासांसि गृहीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

चण्डाल और श्वपचों का ग्राम से बाहर निवास हो और यह
पात्र से अलग कर देने चाहिये, धन इनका कुत्ते और गधे हों ॥ ५१ ॥

वस्त्र, मुरदों के कपड़े हों, भोजन टूटे बर्तनों (ठीकरों) में हो, भूषण
लोहे के हों, और नित २ घूमते फिरें ॥ ५२ ॥ धर्मानुष्ठान करता

हुआ पुरुष इनके साथ संगत (बैठना, बोलना आदि) न चाहे, उनका
(लेनदेन का) व्यवहार और विवाह आपस में तुल्यों के साथ

हो ॥ ५३ ॥ अन्न इनको टूटे बर्तन में दूसरे के आधीन करके

(=दास द्वारा) देना चाहिये, रातको वह गाओं में वा नगरों में न विचरे ॥ ५४ ॥ दिन को कार्य के लिये राजा की आज्ञा से (अपना) चिन्ह * लगाए हुए फिरे, और अनाथ मुरदे को ग्राम से बाहर लेजाए, यह मर्यादा है ॥ ५५ ॥ राजा की आज्ञा से शास्त्रानुसार सदा बध के योग्य के वस्त्र, शय्या और भूषण लेवें ॥ ५६ ॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।

पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

वर्ण से अलग हुआ, जो संकर योनि पुरुष, वे मालूम हो, उस अनार्य को जो आर्यों के रूप में हो, अपने कर्मों से जाने ॥ ५७ ॥ अनार्यपन, कठोर बोलना, क्रूर होना, कर्म से हीन होना यह (धर्म) इस लोक में संकरयोनि को प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।

न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः ।

संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जयन्ते वर्णदूषकाः ।

राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

*लोहे के भूषण वा मोर के पिच्छ आदि (नारा०) । * ५७-५९ वासि० १८।७ विष्णु० १६।१७ ।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
 स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२॥
 अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
 एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥

(क्योंकि वह) पिता के स्वभाव को, वा माता के स्वभाव को वा दोनों के स्वभाव को सेवन करता है, दुष्टयोनिवाला अपने कारण को किसी तरह छिपा नहीं सकता है ॥ ५९ ॥ शुद्ध कुल में उत्पन्न हुए का भी जितका (गुप्त) जाति संकर हो, वह मनुष्य उसके स्वभाव को थोड़ा बहुत लेताही है ॥६०॥ जहां यह वर्णों के बिगाड़ने वाले वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह देश देशवासियों समेत जल्दी नष्ट होता है (इसलिये राजा को वर्णसंकर रोकना चाहिये) ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण के लिये, गौ के लिये, स्त्री वा बाल की सहायता के लिये शुद्ध भावना से देह का त्याग प्रतिलोमजों को सिद्धि (स्वर्ग) देने वाला है *॥ ६२ ॥ किसी को न सताना, सत्य बोलना, किसी का हक न दबाना वा छीनना (मट्टी जल आदि से) शुद्धि, इन्द्रियों का संयम यह संक्षेप से चारों वर्णों में मनु ने धर्म कहा है † ॥ ६३ ॥

शूद्रायांब्राह्मणाज्जातः श्रेयसाचेत्प्रजायते ।
 अश्रेयाञ्श्रेयसींजातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥६४॥
 शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
 क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

*विष्णु०१६।१८ † गौत०८।२३ याज्ञ १।१२२ इस प्रकरण में कहने से संकर जातियों का भी यही धर्म जानना चाहिये (कुल्लू०) ।

शूद्रा में से ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ यदि श्रेष्ठ से सन्तान उत्पन्न करे, तो न श्रेष्ठ भी सातवें जन्म में श्रेष्ठ जाति को प्राप्त होता है * ॥ ६४ ॥ शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार क्षत्रिय से उत्पन्न हुए को और वैश्य से उत्पन्न हुए को जाने । ॥ ६५ ॥

* गौत० ४। २२ आप० २। १०-११ याज्ञ० १। ९६ मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, कि ब्राह्मण की शूद्रा में से उत्पन्न हुई कन्या, यदि ब्राह्मण को विवाही जाए और उसकी फिर ब्राह्मणको, इसप्रकार छठी पीढ़ी में जाकर जो आगे सन्तान होगी, अर्थात् सातवीं पीढ़ी, वह शुद्ध ब्राह्मण समझे जाएंगे (इस अभिप्राय में ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ 'यह पुंलिंग जाति के अभिप्राय से है तात्पर्य कन्या से है, पुत्र से नहीं, जैसे पूर्व श्लोक ३२ में 'आयोगव' पुंलिंग स्त्री के अभिप्राय से है-सम्पादक) नारा० नन्द० के अनुसार ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ पारशव, यदि आप भी सदाचारी हो, और सदाचारिणी ही पारशवी को विवाहे, तो इस तरह उसकी सन्तान सातवीं पीढ़ी में शुद्ध ब्राह्मण बनजाती है । १ कुल्लू० राघ० के अनुसार पूर्वोक्त रीति से शूद्र अर्थात् ब्राह्मण का शूद्रा में से उत्पन्न हुआ पुत्र सातवीं पीढ़ी में शुद्ध ब्राह्मण होजाता है, और ब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से शूद्रा में से उत्पन्न हुआ आगे यदि शूद्रा स्त्री को ही विवाहता जाए, तो सातवीं पीढ़ी में शुद्ध शूद्र होजाता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न हुए में जाति का बदलना जानना चाहिये । किन्तु 'याज्ञवल्क्य १। ९६ में पांचवीं पीढ़ी में भी जाति का बदलना कहने से क्षत्रिय द्वारा शूद्रा में से उत्पन्न हुई सन्तान पांचवीं पीढ़ी में शुद्ध शूद्र बनजाती है, और इसी नियम से वैश्य की शूद्रा में से उत्पन्न हुई सन्तान तीसरी ही पीढ़ी में शुद्ध वैश्य वा शुद्ध शूद्र होजाती है । इसी न्याय से ब्राह्मण की वैश्या में से सन्तान पांचवें ही जन्म में, क्षत्रिया में से हुई तीसरे ही जन्म में, और क्षत्रिय की वैश्या में से हुई भी तीसरी पीढ़ी में जाननी चाहिये

अनार्याणां समुत्पन्नो ब्राह्मणास्तु यदृच्छया ।

ब्राह्मण्यामप्यनार्यास्तु श्रेयस्त्वं केति चेद्वेत् ॥६६॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः ।

जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यइतिनिश्चयः ॥ ६७ ॥

एक पुरुष अनार्या में से यदृच्छा से (काम चार से, न कि विवाह सम्बन्ध से) ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ है, दूसरा ब्राह्मणी में से अनार्य से उत्पन्न हुआ है, इन दोनों में से श्रेष्ठता किस में है ? यदि यह (संशय) हो *॥६६॥ तो निर्णय यह है, कि अनार्या नारी में से उत्पन्न हुआ आर्य गुणों से आर्य होता है, पर अनार्य से आर्या में से भी उत्पन्न हुआ (गुणों से) अनार्य ही होता है ॥६७॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।

वैगुण्याज्जन्मनःपूर्वं उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

सुबीजंचैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा ।

तथार्याजातआर्याणां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

(कुल्लू० राघ०) नारा० यहां भी क्षत्रिय की शूद्रा में से सन्तान वा वैश्य की शूद्रा में से सन्तान अपने जैसों में ही विवाह करके भी उत्तम आचरण करते हुए सातवीं वा पांचवीं पीढ़ी में शुद्ध क्षत्रिय और शुद्ध वैश्य बनजाते हैं, और शूद्रों केसे कर्म करते हुए शुद्ध शूद्र बनजाते हैं। नन्द० अनुलोमजों की तरह प्रतिलोमजों की भी यही व्यवस्था इस श्लोक से ठहराता है, अर्थात् शूद्र से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज संतान भी यदि ब्राह्मणों ही में धंसती जाए, तो सातवीं पीढ़ी में शुद्ध ब्राह्मण बनजाती है। *यहां 'अनार्या' और 'अनार्य' से शूद्र स्त्री और शूद्र पुरुष से अभिप्राय है (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० नन्द०) ब्राह्म्य आदि की कन्या और ब्राह्म्य आदि से अभिप्राय है (नारा०) ।

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
 बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥
 अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
 अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥
 यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन् ।
 पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥
 अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्भिणम् ।
 संप्रधार्याऽब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

वह दोनों ही संस्कार के योग्य नहीं, यह धर्म मर्यादा है, पहिला जन्म की विगुणता से, दूसरा प्रतिलोम होने से ॥ ६८ ॥ जैसे उत्तम बीज उत्तम क्षेत्र में उत्पन्न हुआ पूर्ण उत्तम होता है, वैसे आर्य से आर्या में से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण संस्कार के योग्य होता है * ॥ ६९ ॥ कई बुद्धिमान् बीज की स्तुति करते हैं, दूसरे क्षेत्र की, तीसरे बीज और क्षेत्र दोनों की, किन्तु इसमें यह व्यवस्था है ॥ ७० ॥ अक्षेत्र (कालरी आदि) में बीज बोया मध्य में ही नष्ट हो जाता है, बिना बीज के क्षेत्र भी निरा चौतरा ही होता है ॥ ७१ ॥ जिस लिये बीज के प्रताप से तिर्यग्गोनि में उत्पन्न हुए ऋषि पूजनीय और प्रशंसनीय हुए हैं, इससे बीज की प्रशंसा है ॥ ७२ ॥ अनार्य जो आर्य कर्मों वाला है, और आर्य जो अनार्य कर्मों वाला है, इन दोनों का विचार करके

* ६९-७२ मिलाओ पूर्व ९।३३-४१ † यहाँ टीकाकार ऋष्यश्रृंग की हरिणी से उत्पत्ति उदाहरणतया बतलाते हैं देखो पर्व ० ९। २३

ब्रह्मा ने कहा न सम हैं, न असम हैं* ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

षण्णां तु कर्माणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।

अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।

न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

ब्राह्मण जो ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न हुए अपने कर्मों में स्थित हैं, वह यथाक्रम इन छः कर्मों का आश्रय लें ॥७४॥

* सम इसलिये नहीं, कि निरे द्विजों के कर्म करने से शुद्ध द्विज बन नहीं गया । असम इसलिये नहीं, कि निषिद्ध के आचरण में दोनों तुल्य हैं (कुल्लू०) नारा० यह भाव लेता है, कि अनार्य=व्रात्य का पुत्र, ब्राह्मण का कर्म करे, और आर्य=अव्रात्य का पुत्र, खेती आदि करे, यह दोनों ब्राह्मण के सम नहीं, दोष वाले होने से, अत्यन्त नीचे भी नहीं, क्योंकि ब्राह्मण ही हैं । ॥ ७४-८० वासि० २।१३-१९ गौत १।१-७, ४९ आप २।१।४-७ चौघा० १।१।१-३ याज्ञ १।१।८-११९ विष्णु २।१-७ और पूर्व १।८८-९० यथा क्रम कहने का यह अभिप्राय है, कि आप वेद पढ़ें और दूसरों को पढ़ाएँ, आप यज्ञ करे और दूसरों से कराएँ, आप दान दें और दूसरों से लें (नन्द०) ।

पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना यह छः कर्म ब्राह्मण के हैं ॥ ७५ ॥ छः कर्मों में से तीन कर्म इसके जीविका हैं, यज्ञ कराना और पढ़ाना, और शुद्ध से (अपने कर्म में रते) से दान लेना ॥ ७६ ॥ तीन धर्म ब्राह्मण (के धर्म) से क्षत्रिय के लिये हट जाते हैं। पढ़ाना, यज्ञ कराना और तीसरा दान लेना ॥ ७७ ॥ वैसे ही यह वैश्य के लिये भी हट जाते हैं, यह मर्यादा है, प्रजा का स्वामी मनु उन दोनों (क्षत्रिय, वैश्य) के लिये यह धर्म नहीं बतलाता है ॥ ७८ ॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषीर्विशः ।

आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।

वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

(किन्तु प्रजा की रक्षा के लिये) शस्त्र अस्त्र का धारण यह क्षत्रिय का, और वणिज, पशु पालन, और खेती यह वैश्य का जीविका के लिये है, और धर्मार्थ-दान, पढ़ना और यज्ञ हैं ॥ ७९ ॥ (जीविका के लिये भी) वेदाभ्यास ब्राह्मण का, प्रजा की रक्षा क्षत्रिय का, व्यापार वैश्य का यह अपने कर्मों में विशेष हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।

जीवेत्क्षत्रियधर्मेण सत्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्याप्यजीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता ।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण अपने निज के कर्म से निर्वाह न कर सक्ता हुआ क्षत्रिय के धर्म से जीविका करे, क्योंकि वह (धर्म) इसका समीपी है*॥८१॥दोनों से निर्वाह न करसके, तो फिर कैसे हो, यदि यह संशय हो, तो खेती और पशुपालन का आश्रय लेकर वैश्य की जीविका से जीवे ॥८२॥ वैश्य वृत्ति से भी जीविका न करसके, तो ब्राह्मण वा क्षत्रिय अधिक हिंसा वाली और (वृष्टि आदि के) पराधीन^१ खेती को यत्र से छोड़ देवे ॥ ८३ ॥ खेती को कई अच्छा समझते हैं, पर यह जीविका श्रेष्ठों से निन्दित है, क्योंकि (इसमें) लोहे का सुखवाला काठ (इल वा कुदाल) भूमि, और भूमि में रहने वाले जन्तुओं की हिंसा करता है*॥८४॥

इदं तुवृत्तिवैकल्यात्पुण्यजतो धर्मनैपुणम् ।

विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

सर्वान्नरसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।

अश्मनो लवणंचैव पशवो ये चमानुषाः ॥ ८६ ॥

जीविका की छुटि से धर्म की निपुणता (अपनी सच्ची जीविका) त्यागते हुए (ब्राह्मण और क्षत्रिय) को वैश्य की

*८१-९८ वासि० २।२२।३९ गौत० ७।१-२६ आप० १।२०।१०-२१,४ बौध्वा० २।३।१६-२१ याज्ञ० ३।३५-४० विष्णु० २।१५; ५।४।१८-२१ + पूर्व० ४।१५९-१६० में छातक के व्रतों में पराधीन कर्म का निषेध है
* यह खेती की निन्दा वासि० २।३२-३६ के विरुद्ध है और यजु० १२।७१ में भी खेती की प्रशंसा के विरुद्ध है ।

बेचने योग्य वस्तुएं धन के बढ़ाने के लिये बेचनी चाहियें, पर यह वस्तुएं त्याग के योग्य जान त्यागदे ॥ ८५ ॥ सारे रस, पके अन्न, तिल, पत्थर, लवण और पशु, और मनुष्य छोड़दे ॥ ८६ ॥

सर्वे च तान्तव रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।

अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

अपःशस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।

क्षारं क्षौद्रं दधिघृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।

मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

रंगा हुआ हर एक प्रकार का सूती कपड़ा, सन, अलसी और ऊन के वस्त्र चाहे न भी रंगे हुए हों, फल, मूल और औषधियाँ (छोड़ दे) ॥ ८७ ॥ जल, शस्त्र, विष, मांस, सोम, सब प्रकार के गन्ध (चन्दन इतर आदि) खार, शहद, दही, घी, तेल, मोम, गुड़ और कुशा ॥ ८८ ॥ सारे जंगली पशु (हाथी आदि) दाढ़ों वाले (शेर आदि) और पक्षी (चकोर आदि) मद्य, नील, लाख और एकखुर वाले सभी (घोड़ा आदि) ॥ ८९ ॥

काममुत्पाद्यकृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।

विक्रीणीत तिलाञ्जुद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।

कृमिभूतः श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

खेती करने वाला स्वयमेव खेती में उत्पन्न करके बेशक

धर्म के अर्थ तिलों को बेच दे, पर वह शुद्ध * हों, और (अधिक लाभ के लिये) देर तक रखे न हों ॥ ९० ॥ खाने और मलने और दान करने के सिवाय तिलों से यदि कुछ और करता है, तो कृमि बनकर कुत्ते के † विष्टा में पितरों समेत डूबता है ॥ ९१ ॥

सद्यःपतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।

त्र्यहेणशूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।

ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या नत्वेव लवणं रसैः ।

कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

मांस के, लाख के और लवण (के बेचने) से ब्राह्मण जल्दी पतित होता है, और दूध के बेचने से तीन दिन में शूद्र होजाता है ॥ ९२ ॥ दूसरे (निषिद्ध) व्यवहार्य द्रव्यों के इच्छा पूर्वक ‡ बेचने से ब्राह्मण सातदिन में वैश्य भाव को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥ रस (गुड़ आदि) दूसरे रसों (घृत आदि) से बदल लेने चाहियें, पर लवण दूसरे रसों के साथ नहीं, पका अन्न, कच्चे अन्न से § और तिल धान से उनके बराबर बदले जाएं (न कि भाओ करके न्यून अधिक) ॥ ९४ ॥

* किसी दूसरे द्रव्य से मिले न हों (कुल्लू० राघ०) विशुद्ध = श्वेत हों, ऐसा कहने से काले तिलों का सर्वथा निषेध है (नन्द०)
† मेघा० के अनुसार 'श्व=कुत्ता' के स्थान 'सः=वह' पाठ है।
‡ नकि आपत्काल में लाचारी से § 'कृतान्नेन' तय्यार अन्न से, पाठ (मेघा० नन्द)।

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।

तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

आपदा को प्राप्त हुआ क्षत्रिय इस सब से जीविका करे, किन्तु ऊंची जीविका (ब्राह्मण की वृत्ति) कभी न स्वीकार करे ॥ ९५ ॥ जो निचली जाति का लोभ से ऊंचे के कर्षों से जीविका करे, उसको राजा निर्धन करके जल्दी ही निकाल दे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।

परधर्मेण जीवन्निह सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।

अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।

पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजात्ययः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

अपना कर्म विगुण हुआ भी अच्छा है, न कि बेगाना चाहे बहुत अच्छा हो सके, क्योंकि बेगाने कर्म से जीविका करता हुआ जल्दी जाति से पतित हो जाता है * ॥ ९७ ॥ वैश्य अपनी

* ब्राह्मण को दान, मान के साथ निन्दित व्यवहार वाले से भी मिल-जाए, तो वह उसके लिये अच्छे वणिज की अपेक्षा अच्छा है (नारा०)

वृत्ति से जीविका न करसके, तो अकार्यों (जूठा खाना आदि) को न करता हुआ शूद्र की वृत्ति से भी जीविका कर सकता है, पर सामर्थ्य वाला होकर उसे त्याग दे ॥ ९८ ॥ जब (भूख से) पुत्र स्त्री तंग हों, तो (द्विजों से पूरी जीविका न मिलने पर उनकी) सेवा करने को अशक्त हुआ शूद्र कारुक (दस्तकार-शिक-लीगर आदि) के कर्मों से जीविका करे* ॥ ९९ ॥ जिन कर्मों के करने से द्विजों की सेवा होती हो, उन कारुक कर्मों और अनेक प्रकार के शिल्पों (चित्र खींचना आदि) को करे ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।

अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण, वैश्य की जीविका न करता हुआ, यदि जीविका के अभाव से तंग होकर दुःख उठा रहा हो, तो इस धर्म का आचरण करे † ॥ १०१ ॥ विपदा को प्राप्त हुआ ब्राह्मण सब से (निन्दिततम से भी) दान लेलेवे, क्योंकि पवित्र वस्तु दूषित हो, यह शास्त्रमर्यादा से युक्त नहीं है ‡ ॥ १०२ ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गृहिताद्वाप्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हिते ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

* ९९-१०० गौत० १०।६० विष्णु० ३। १४ † १०१-११४ गौत० ७।४-५, २३ आप० १।१८।५-८, १४-१५ देखो उदाहरण १०३ में ‡

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।

न चालिष्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

श्वमांसमिच्छन्नातोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

(आपद् में) ब्राह्मणों को निन्दित, पढ़ाने, यज्ञ कराने और दान लेने से दोष नहीं होता है, क्योंकि वह अग्नि और जल के तुल्य हैं * ॥ १०३ ॥ प्राण संकट में पड़ा जो (ब्राह्मण) जहां तहां से अन्न खाता है, वह कीचड़ में आकाशवत्, पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥ अजीगर्त भूख का मारा हुआ पुत्र के मारने को तय्यार हुआ, वह भूख के दूर करने को ऐसा करने पर भी पाप से लिप्त नहीं हुआ † ॥ १०५ ॥ धर्म अधर्म के जानने वाला वामदेव (भूख से) पीड़ित हो प्राणों की रक्षा के लिये कुत्ते के मांस को चाहता हुआ (पाप से) लिप्त नहीं हुआ ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।

बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।

चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

महातपस्वी भरद्वाज पुत्र समेत भूख से पीड़ित हुआ निर्जन वन में वृधु † तरखान से बहुतसी गौएं दान लेता भया ॥ १०७ ॥ धर्म

* वासि० २७९ जैसे अग्नि अपवित्र वस्तुओं को भी भक्षण करता हुआ दूषित नहीं होता, और गंगाजल में मैला भी पड़ता हुआ दूषित नहीं करता है। अजीगर्त की कथा देखो ऐते० ब्रा० ७।१३-१६ गोवि० ने बबु लिखा है। जो सायण ने ऋग्वेद ६।४।१३ पर लिखा है।

अधर्म का जानने वाला विश्वामित्र भूख से पीड़ित हुआ चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की टांग लेकर खाने को तय्यार हुआ*॥१०८॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

शिलोज्ज्वलप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युज्जः प्रशस्यते॥११२॥

प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन में से प्रतिग्रह निकृष्ट है, जो परलोक में ब्राह्मण के लिये बुरा है (अर्थात् आपत्काल में भी निन्दित याजन अध्यापन से काम चलसके, तो निन्दित प्रतिग्रह न ले) ॥१०९॥ क्योंकि याजन अध्यापन तो (उपनयन) संस्कार वालों के ही किये जाते हैं, पर प्रतिग्रह तो नीच जन्म वाले शूद्र से भी † किया जाता है ॥११०॥ (दुष्टों के) याजन और अध्यापन से किया पाप जप होमों से दूर होता है, (दुष्ट) प्रतिग्रह से हुआ पाप (लिये दान के) साग से और तप से (दूर होता है) ‡॥१११॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से न निर्वाह करसक्ता हुआ, शिल और

*देखो महाभा० १२।१४१।२८ आदि † शूद्र और चण्डाल से भी (नारा०) ‡ वासि० २०।४५ आप० १।२८।११ बिष्णु० ५४।२८ तप पर देखो १।११९३

उज्ज भी जहां तहां से लेलेवे, दान से शिला अच्छा है और उससे भी उज्ज उत्तम है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।

याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च ।

हिरण्यंधान्यमन्नं च पूर्वपूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

स्नातक ब्राह्मण भूख से पीड़ित हों, तो राजा से कुप्य * और धन मांगे, वह न देना चाहे, तो त्याग के योग्य है ॥ ११३ ॥ जोते हुए खेत से बंजर; तथा गौ, बकरी, भेड़, सोना, अनाज और अन्न इनमें से पहला २, थोड़े दोष वाला है † ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः कृषिः ।

धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनेहेतवः ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।

कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥

* कुप्य=सोने चांदी से भिन्न धातें अर्थात् कांसी तांबे आदि के बर्तन । इसी तरह अनाज वस्त्रादि भी । राजा यहां शास्त्र को उलंघन कर बर्तने वाला क्षत्रिय राजा, वा शूद्र राजा अभिप्रेत है । मिलाओ पूर्व० ४।३३; ४।८४ आदि † अर्थात् जो नहीं देना चाहता, उससे न मांगे (कुल्लू०) उस राजा को त्यागदे, उसके देश में न रहे, (मेधा० गोवि० राय०) ‡ वासि० १२।३

धन के यह सात आगम धर्मयुक्त हैं, दाय, लाभ, खरीद, जप, प्रयोग, कर्मयोग, और सत्प्रतिग्रह * ॥ १.१५ ॥ विद्या (चिकित्सा आदि), शिल्प, (हुनर, चित्र बनाना आदि), मज़दूरी सेवा, पशु रक्षा, व्यापार, खेती, सन्तोष (थोड़े में), भीख और व्याज यह दस जीवन के हेतु हैं † ॥ १.१६ ॥ ब्राह्मण वा क्षत्रिय व्याज न लेवें, हां (अत्यन्त आपद् में) बहुत निचले पुरुष (सूत आदि) को देवें, वह भी धर्म (पञ्चमहायज्ञादि के पूरा करने) के लिये, और वह भी बहुत थोड़ी व्याज पर देवें ‡ १.१७

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।

प्रजा रक्षन्परंशक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥११८॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नभये स्यात्पराङ्मुखः ।

शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥११९॥

* गौत० १०।३१-३२, दाय=बेटों की जायदाद । लाभ=दबे हुए धन का मिलना, वा मित्र वा श्वसुर से धन का मिलना । खरीद=जो वस्तु आप खरीदी हो । जय=जीत में मिला धन । प्रयोग=व्याज पर लगाना । कर्मयोग=खेती वा वणिज । सत्प्रतिग्रह=नेक से दान लेना । सभी टीकाकारों के अनुसार इन सात में से पहिले तीन चारों वर्णों के लिये धर्मयुक्त हैं, जय क्षत्रिय के लिये, प्रयोग और कर्मयोग वैश्य के लिये और सत्प्रतिग्रह ब्राह्मण के लिये । पर नारा० के अनुसार कर्मयोग=शिल्पादि कर्म से धन की प्राप्ति शूद्र का धर्म है । और नन्द० के अनुसार जय=मुकद्दमे का जीतना, प्रयोग=पढ़ाना; कर्मयोग=यज्ञ कराना है † अर्थात् आपत्काल में इन दस में से किसी से कोई जीविका करे । ‡ वासि० २।४०-४३ गोवि० नारा० ' अल्पकां ' के स्थान ' अल्पकं ' पाठ पढ़ते हैं अर्थात् थोड़ा धन लगाएँ ।

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।

कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥१२०॥

शूद्रस्तुवृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि ।

धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥१२१॥

क्षत्रिय (राजा) आपदा में (पैदावार का) चौथा भाग लेता हुआ भी, प्रजा की पूरी शक्तिभर रक्षा करता हुआ (अधिक लगान के) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥ उसका अपना धर्म विजय पाना है, अतः भय में *पीठ न दे, शस्त्र के साथ वैश्यों की रक्षा करता हुआ उनसे धर्मयुक्त बलि लेवे ॥ ११९ ॥ अर्थात् अनाज में वैश्य से आठवां भाग, (सोने चांदी के लाभ में) बीसवां भाग जो कि घट से घट एक कार्षापण हो, लेवे, शूद्र, शिकलीगर शिल्पी (बढ़ई आदि) अपने कर्म से (राजा का) उपकार करें (उनसे कर न ले) † ॥ १२० ॥ शूद्र वृत्ति चाहता हुआ चाहे क्षत्रिय की सेवा करे, वा धनाढ्य वैश्य की सेवा करके जीना चाहे ‡

* छत्रे 'नाहवे' के स्थान गोवि० 'न भये' पढ़ता है अर्थात् भय में पीठ न दे । 'रण में पीठ न दे' से भी अभिप्राय यही है, कि भय उपस्थित होने पर युद्ध में पीठ न दे । ऐसा ही मेधा० कुल्लू० लिखते हैं, इसलिये 'न भये' पाठ ही रखा है ॥ मेधा० के अनुसार अनाज में आठवां अर्थात् अनाज के व्यवहारी वैश्यों से लाभ में से आठवां, और गोवि० के अनुसार किसानों से अनाज का आठवां अभिप्रेत है । पूर्व० ७।१३० में अनाज में बारहवां कहा है, सो यह आपद् में आठवां है और अत्यन्त आपद् में ११८ में कहा चौथा भाग लेवे । और वहां सोने चांदी का पचासवां कहा है, यह आपद् में बीसवां है । और ७।१३८ में शूद्रादि से महीने २ कर्म कराना लिखा है, यहां आपद् में अधिक भी कराले यह अभिप्राय है । ‡ १२१-१२९ गौत० १० । १०-६५ याज्ञ० १।१२०-१२१

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।

जातब्राह्मणशब्दस्य साह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।

यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्यनिष्फलम् ॥१२३॥

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।

शक्तिंचावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।

पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदः ॥१२५॥

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

अथवा स्वर्ग (की प्राप्ति) के लिये, वा दोनों (स्वर्ग और जीविका) के लिये के लिये ब्राह्मणों की ही सेवा करे, क्योंकि ब्राह्मण का दास कहलाना इसकी कृतकृत्यता है ॥१२२॥ ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र का उत्तम कर्म कहा है, इससे भिन्न जो करता है, वह इसका निष्फल होता है ॥ १२३ ॥ उस (सेवक) की (सेवा की) शक्ति, (काम करने का) उत्ताह और उसके पालने योग्यों का खर्च देखकर अपने कुटुम्ब से उसकी जीविका नियत करें ॥ १२४ ॥ झूठा अन्न, पुराने कपड़े, अनाज का तिलछट (वा चावलों की पिच्छ) और पुराने सामान (बर्तन आदि) देने चाहिये ॥ १२५ ॥ शूद्र में कोई पातक* (जाति से गिराने

* लहसन खाना आदि (गोवि० कुल्लू०) सूना आदि का पाप नहीं होता ब्रह्महत्या आदि का पाप उसको भी होता ही है (राघ०)

वाला कर्म) नहीं होता है, न वह संस्कार (उपनयनादि) के योग्य है, न इसका (द्विजों के) धर्म में अधिकार है, न धर्म से प्रतिषेध है ॥ १२६ ॥

धर्मेऽवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

(शूद्र) जो धर्म प्राप्ति की कामना वाले हैं, अपने धर्म को जानते हैं, वह यदि मन्त्र को छोड़कर (और कामों में) नेकों (आर्यों) के आचार में स्थित होते हैं, तो वह पापी नहीं होते, अपितु प्रशंसा पाते हैं ॥ १२७ ॥ (आर्यों का) निन्दक न होकर जैसे २ भूतों के आचरण का अनुष्ठान करता है, तैसे २ अनिन्दित हुआ इस लोक और परलोक को प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।

यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

एषधर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

(धन कमाने में) समर्थ भी शूद्र को धन का सञ्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणों को ही तंग करता है * ॥ १२९ ॥ यह चारों वर्णों के आपद्-धर्म कहे हैं,

* धन के मद से और सेवा न करने से (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०)

जिनका पूरा २ अनुष्ठान करते हुए (चारों वर्ण) परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥ यह चारों वर्णों के धर्म की विधि पूर्ण कह दी है, इससे आगे प्रायश्चित्त की शुभविधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।

गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥

नवैतान्स्नातकान्विद्यादब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् ।

निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्रयेभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।

इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

* वह जो सन्तान (के लिये विवाह) चाहता है, जिसने यज्ञ करना है, जो पथिक है, जो (विश्वजित् यज्ञ में) सर्वस्व दे चुका है, गुरु के लिये (अर्थी), पिता के लिये (अर्थी), माता के लिये अर्थी, स्वाध्याय (अध्ययन अध्यापन) के लिये अर्थी, और रोगग्रस्त † ॥ १ ॥ इन नौ ब्राह्मणों को धर्म से मांगने वाले स्नातक जाने, इन निर्धनों को इनके विद्याविशेष के अनुसार देना चाहिये ॥ २ ॥ इन नौ ब्राह्मणों को दक्षिणा सहित अन्न (वेदि

* पूर्व कहे अनुसार इस अध्याय में प्रायश्चित्त का विधान होना चाहिये था, पर १ से ४३ तक दान का विधान है, यह क्यों ? (उत्तर) दान से भी प्रायश्चित्त होते हैं, यह आगे दिखलाएंगे, इसलिये यहां दान के पात्र आदि का निर्णय आरम्भ में कर दिया है † गौत० ५।२१ आप० २।१०।१-२ बौध्वा० २।१।२९

के अन्दर) देवे, औरों को वेदि से बाहर पका अन्न देना कहा है (धन के देने में वेदि के अन्दर बाहर का कोई नियम नहीं है) *॥ ३॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।

ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वायोऽधिगच्छति ।

रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥ ५ ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

राजा वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को यथायोग्य सारे रत्न और यज्ञ के लिये दक्षिणा (= धन) देवे ॥ ४ ॥ जो स्त्री वाला हुआ (धन) मांगकर और स्त्री विवाहता है, उसको रतिमात्र फल है, (उसमें उत्पन्न हुई) सन्तति तो धनदाता की होती है (अर्थात् होते हुए स्त्री के विवाह नहीं करना चाहिये, न ऐसे को धन देना चाहिये) + ॥ ५ ॥ वेदज्ञ पवित्र ब्राह्मणों को धन यथा-शक्ति देवे, इससे मर कर स्वर्ग को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

अतःस्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।

स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

जिसके कुटुम्ब के पालन पोषण के लिये अनाज तीन वर्ष के

* गौत० ५।२२ बौध० २।५।२० + आप० २।१०।३ मेधा० गोवि० नारा० राघ० राम० ने इस श्लोक को छोड़ दिया है ।

लिये पर्याप्त हो वा अधिक हो वह सोम पीने योग्य है * ॥ ७ ॥
इससे थोड़े धन के होते हुए जो द्विज सोम पीता है, वह जो पहले
सोम पी चुका है,† उस का फल भी नहीं पाएगा, क्योंकि ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।

मध्वापातो विषास्वदः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।

तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥

यो वैश्यः स्यादबहुपशुर्हीनकतुरसोमपः ।

कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

जो समर्थ हुआ अपने कुटुम्बियों के भूखे मरते हुए दूसरे
लोगों को दान देता है, उसका वह दान धर्माभास है, जो
ज़ाहरा शहद है, पर विष के स्वाद वाला है (अन्त में नरक में
डालता है) ॥ ९ ॥ कुटुम्बियों को तंग करके जो कुछ परलोक
के लिये करता है, वह उसके लिये दुःख परिणाम वाला होता है
जीते हुए भी और मरकर भी ॥ १० ॥ (क्षत्रिय आदि) यजमान का,
विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ (दूसरे अङ्ग पूरे होकर निरा)
एक अङ्ग से रुका हुआ हो, तब, जो वैश्य बहुत धन वाला हो,

* वासि० ८।१० याज्ञ० १।१२४ विष्णु० ५९।८ सोम पीने योग्य
है, सोमयज्ञ कर सकता है । यह काम्य सोमयज्ञ के विषय में निषेध
है, नित्य तो यथा कथञ्चित् अवश्य करना चाहिये (मेघा० गोवि०
कुल्लू० राघ०) † नित्य यज्ञ में, देखो पूर्व० ६।२६, ६।१०

पर पाक यज्ञों से रहित हो और सोमयाजी न हो, उसके घर से यज्ञ की सिद्धि के लिये धन लेसक्ता है, जबकि राजा धार्मिक है*

आहेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

योऽनाहिताग्निः शतगु रयज्वा च सहस्रगुः ।

तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।

तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

यदि दो वा तीन अङ्ग रुके हों, तो शूद्र के घर से भी लेसक्ता है, क्योंकि शूद्र का यज्ञों में (स्वतन्त्र) कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १३ ॥ जो सौ गौ वाला होकर आहिताग्नि नहीं, वा सहस्र गौ वाला होकर सोमयाजी नहीं, उन दोनों के कुटुम्बों से भी बिना विचारे ले आवे † ॥ १४ ॥ जो सदा लेता है, देता नहीं, ‡ उस न देते हुए से (धक्के से) लेवे है, इसप्रकार इसका यश फैलता है और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडऽनश्रता ।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

*११-१५ गौत० १८।२४-२७ 'राजा धार्मिक हो' जो कि इस अंश में शास्त्र पर चलते को दण्ड न दे । गोवि० के अनुसार यह नियम केवल क्षत्रिय कुटुम्ब से लेने के विषय में है, मेघा० कुल्लू० के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मण दोनों से धृष्ट 'जो सदा दान लेता है' ऐसा ब्राह्मण (गोवि० कुल्लू० राघ०) 'जो सदा कमाता ही है, दान नहीं करता, ऐसा चारों वर्णों में से कोई (मेघा० नारा०)

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते ।

आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥

ऐसे ही जिमने छः भोजन नहीं खाए (=तीन दिन रात भूखा रहा है) वह सातवें भोजन में हीनकर्म वाले * से एक दिन मात्र के लिये हरसक्ता है † ॥ १६ ॥ खल्यान से, खेत से, वा घर से अथवा जहां से मिले (लेवे), हां यदि वह पूछे, तो उसे साफ बतला देना चाहिये, (कि मैंने इस निमित्त चुराया है) ॥१७॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।

दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।

स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।

अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।

क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।

श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।

राजाहिधर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥

* अपने से हीन कर्म वाले (मेधा०) दानादि धर्म से रहित (कुल्लू०) पति त आदि नारा०) † १६-२३ गौत० १८।२८-३२ याज्ञ० ३।४३-४४

(ऐसे निमित्तों में भी) क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन कभी नहीं हरना चाहिये, हाँ भूख से मरता हुआ वह दस्यु से * और यज्ञ हीन (क्षत्रिय ब्राह्मण) से हरसक्ता है ॥ १८ ॥ जो दुष्टों से धन लेकर भलों को देता है, वह अपने आपको नौका बनाकर उन दोनों को तारता है † ॥ १९ ॥ यज्ञशीलों का जो धन है, उसको बुद्धिमान् (यागादि में लगाने से) देवताओं का धन कहते हैं, यज्ञ न करने वालों का जो धन है, वह असुरों का धन कहलाता है ॥ २० ॥ धार्मिक राजा उसको (ऐसे निमित्तों पर हरने वाले को) दण्ड न दे, क्योंकि राजा की ही मूर्खता से ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है ‡ ॥ २१ ॥ (इसलिये) उसके (ब्राह्मण के) कुटुम्ब को देखकर, और उसकी विद्या और आचार को जानकर राजा अपने कुटुम्ब से धर्मयुक्त जीविका नियत करे ॥ २२ ॥ इसकी जीविका नियत करके सब से (शत्रु चोरादि से) इसकी रक्षा करे, क्योंकि रक्षा किये हुए ब्राह्मण से राजा उसके धर्म से छटा हिस्सा पाता है § ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्रादिप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।

यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।

सयाति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

* 'दस्यु' देखो १०।३५ नारा० के अनुसार यह हक राजा को है † एक का धन शुभकर्म में लगाने से, दूसरे को शुभकर्म के पूरा कराने से । नन्द० ने १९-२१ श्लोक नहीं लिखे ‡ २१-२२ देखा पूर्व० ७-१३४-१३५ § देखो पूर्व० ८।३०४

देवम्बं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
 स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥
 इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
 कल्शानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥
 आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
 स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥
 विश्वेश्व देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
 आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥२९॥
 प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते ।
 न साम्परायिकं तस्य दुर्मतं विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से कभी धन न मांगे, क्योंकि
 मांगकर यज्ञ करता हुआ मरकर चण्डाल होता है * ॥ २४ ॥
 यज्ञ के लिये धन मांगकर जो सारा नहीं लगाता है, वह ब्राह्मण
 सौ वर्ष तक भास वा काक बनता है † ॥ २५ ॥ देवता के धन
 को और ब्राह्मण के धन को जो लोभ से हरता है, वह पापी
 दूसरे जन्म में गिद्ध की जूठ से जीता है ॥२६॥ जिस जो पशुयाग
 और सोमयाग है उनके (धनाभाव से) न होसकने में, प्रायश्चित्त
 के लिये, वर्ष बदलने पर (चैत्र शुक्ल के आरम्भ में) सदा वैश्वानरी
 इष्टि ॐ करे ॥ २७ ॥ जो द्विज बिना आपत् के आपत्काल की
 विधि से धर्म करता है, वह परलोक में उसका फल नहीं पाता है,

* याज्ञ० १।१२७ विष्णु० ५९।११ † याज्ञ० १।१२७ ‡ याज्ञ०
 १।१२६ विष्णु० ५९।१० और मिलाओ पूर्व० २५-२६

यह विचारा हुआ है ॥ २८ ॥ क्योंकि विश्वेदेवों, साध्यों, ब्राह्मणों और महर्षियों ने आपदा में मरने के भय से * (आपद्धर्म) असली कर्म का प्रतिनिधि बनाया है ॥ २९ ॥ सो जो मुख्य-विधि के समर्थ होकर अनुविधि से बर्तता है (प्रतिनिधि से कर्म करता है) उस दुर्मति को पारलौकिक फल नहीं होता है ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।

स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।

तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्रिजः ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।

वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥ ३३ ॥

धर्मका जाननेवाला ब्राह्मण कुछ भी (अपकार) राजा से न निवेदन करे, केवल अपनी शक्ति[†] से ही उन अपकारी मनुष्यों को दण्ड दे ॥ ३१ ॥ (स्वाधीन) अपनी शक्ति से और (पराधीन) राजशक्ति से (स्वाधीन होने से) अपनी शक्ति बलवत्तर है, इसलिये अपनी ही शक्ति से ब्राह्मण वैरियों का निग्रह करे § ॥ ३२ ॥ बिना विचारे ॥ अथर्व और अङ्गिरस से देखी श्रुतियों का प्रयोग करे, बाणी ही ब्राह्मण का शस्त्र है, उसमे ब्राह्मण वैरियों को मारे ॥ ३३ ॥

* ऐसा न हो, कि भूखा ही मरजाय । † अपनी शक्ति जो आगे ३३ में कही है § मिलाओ पूर्व ०९।२९० § मिलाओ पूर्व ९।३१३-३२१ ॥ 'अविचारयन्' के स्थान 'अभिचारयन्' अभिचार कर्म करता हुआ (नारा०) 'अभिचारितं' (मन्द०) अभिचारकर्म=ऐसा कर्म जिसका फल शत्रु का मरना हो ।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।

धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

विधाता शासितावक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।

तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

क्षत्रिय भुजबल से अपनी आपदा तरे, वैश्य और शूद्र धन से, ब्राह्मण जप और होम से* ॥ ३४ ॥ ब्राह्मण मर्यादा बनाने वाला, शासन करने वाला (अधर्म का दण्ड-प्रायश्चित्त-देने वाला) आचार्य, और सब का द्वितैषी कहा है, उसके लिये अनिष्ट वचन न कहे, न कठोर वचन कहे † ॥ ३५ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।

होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तोनासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

* वासि० २६।१६ † पूर्वार्ध के अर्थ में टीकाकारों का भेद है । विधाता=बनाने वाला (जगत् का अग्निहोत्र के द्वारा) (मेधा० नारा०) विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला (गोवि० कुल्लू०) करने, न करने और अन्यथा करने के समर्थ (राघ०) अभिचार आदि का करने वाला (नन्द०) शासिता=निग्रह करने वाला, राजा का भी (मेधा०) पुत्र शिष्यादि का (कुल्लू०) अधर्म का (नारा०) धर्म कराने वाला (नन्द०) वक्ता=अध्यापक (गोवि० नारा०) हित का बतलाने वाला (मेधा०) धर्मादि का बतलाने वाला (कुल्लू० राघ०) मुद्रित पुस्तकों में जो 'शुष्कां' पाठ है, उसके स्थान मेधा० गोवि० नारा० नन्द० के अर्थानुसार 'शुक्तां' पाठ चाहिये । अनिष्टवचन=इसे मारो बांधो इत्यादि । कठोरवचन, नीच मूर्ख इत्यादि । नारा० 'ब्रूयात्' के स्थान 'कुर्यात्' पढ़ता है । अर्थ-उसके लिये न अनिष्ट करे, न कठोर बोले ।

नरके हि पतन्त्येते गुह्यतः स च यस्य तत् ।

तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

न कन्या, न (विवाही हुई) युवति, न थोड़ी विद्यावाला, न मूर्ख, न पीड़ित, न जिसका उपनयन नहीं हुआ वह, अग्निहोत्र का होता हो * ॥ ३६ ॥ यह होम करते हुए नरक में गिरते हैं, और वह (यजमान) भी, जिसका वह कर्म है, इसलिये श्रौत कर्मों में कुशल, वेद के पार पहुंचा हुआ होता होना चाहिये ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।

अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः ।

न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।

हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

ब्राह्मण धन के होते हुए यदि प्रजापति देवता के लिये घोड़ा अग्न्याधान की दक्षिणा न दे, तो वह अनाहिताग्नि होता है (आधान का फल नहीं पाता है) ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय हुआ दूसरे पुण्यकर्म करे, किन्तु थोड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों से कभी यजन न करे ॥ ३९ ॥ थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ इन्द्रिय, (जीतेजी) यश, स्वर्ग, आयु, (मरने के पीछे) कीर्ति, प्रजा और पशुओं को हमन करता है, इसलिये थोड़े धनवाला यज्ञ न करे ॥ ४० ॥

* ३६-३७ वासि० २।६ गौत० २।४ आप० २।१।१८-१९ और पूर्व० २।१७२; ५।१५५; ९।१८

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।

चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

ये शूद्रादधिगम्यार्थमाग्निहोत्रमुपासते ।

ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।

पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छा से अग्नियों को सागकर (=सायं प्रातः होम न करके) महीनाभर चान्द्रायण करे, क्योंकि वह वीर, * हत्या के तुल्य है † ॥ ४१ ॥ जो शूद्र से धन पाकर अग्निहोत्र करते हैं, वह शूद्रों के ऋत्विज हैं, वेद वादियों में निन्दित हैं ‡ ॥ ४२ ॥ वह जो सदा शूद्र की अग्नियों को § उपासते हैं, उन मूर्खों के माथे पर पाओं धर कर दाता दुःखों को तर जाता है ॥ ४३ ॥

अकुर्वन्निहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

विहितकर्म को न करता हुआ और निन्दित को करता

* वीर=पुत्र (गोबि० कुल्लू० नारा० राघ०) अग्निये पुत्र इस लिये हैं, कि आप उत्पन्न की होती हैं (नारा०) वीर=क्षत्रिय (नन्द०) अथवा वीर=देवता (राघ०) † वासि० १।१८; २।१७ गौत० २।३४ विष्णु० ५।१३ ‡ मिलाओ पूर्व० १।२४ § शूद्र के धन से अग्निहोत्र करते हैं। नन्द० पूर्वार्ध को इस तरह पढ़ता है 'पापानां सततं तेषामग्निं शूद्रस्य जुह्वतां' ।

हुआ, तथा इन्द्रियों में फंसा हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है* ॥४४॥ बुद्धिमान् पुरुष विन इच्छा (विनमर्जी) से किये पाप में प्रायश्चित्त कहते हैं, दूसरे आचार्य इच्छा करके किये में भी कहते हैं, क्योंकि श्रुति में देखते हैं † ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ।

कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४६॥

प्रायश्चीत्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।

न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥४७॥

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

विन इच्छा किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है, और मोहवश इच्छा से किया पाप भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों से (शुद्ध होता है) ॥ ४६ ॥ प्रमाद से वा पूर्वले (जन्म के) कर्म से ‡ प्रायश्चित्ती होकर द्विज प्रायश्चित्त किये बिना धर्मात्माओं के साथ संसर्ग न करे ॥ ४७ ॥ कई यहां के छोटे कर्मों से, और कई पूर्वले (जन्म में) कर्मों से रूप के उलट पलट को

* ४४-४६ वासि० २०।१-३; २२ गीत० १९ बौध० ३।१० याज्ञ० १२१९, २२६ † पेट० ब्रा० ७।२८ में लिखा है; कि इन्द्र ने यतियों से भेड़ियों के आगे डाल दिया (भेड़ियों के आगे डालना बिना च्छा नहीं होसका) उसको हत्या लगी, वह प्रायश्चित्त के लिये ह्मा के पास गया, ब्रह्मा ने उसको प्रायश्चित्त के लिये उपह्वय में बतलाया । ‡ पूर्वले जन्म का पाप, छोटे नख होने इत्यादि शरीर में आई छुटियों से अनुमान किया जाता है ।

प्राप्त होते हैं (इसलिये भी प्रायश्चित्त करना चाहिये *॥ ७८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापःश्यावदन्तताम् ।

ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्रम्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः प्रुतिवक्त्रताम् ।

धान्यचोरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

(ब्राह्मण के) साने का चुराने वाला खोटे नखों को, शराब पीने वाला काले दांतों को, ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोग को, और गुरुस्त्रीगामी दुष्ट चमड़े को (पाता है) ॥ ४९ ॥ चुगली खाने वाला नाक की दुर्गन्धि को, झूठी निन्दा करने वाला मुंह की दुर्गन्धि को, अनाज का चोर अंगहीनता को और (अनाज) मिलाने वाला अङ्ग की अधिकता को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागऽपहारकः ।

वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

एवं कर्मावशेषेण जायन्ते सद्भिर्गर्हिताः ।

जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये ।

निन्त्रैर्हिलक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः ॥ ५३ ॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

अन्न चुराने वाला अग्नि की मन्दता (बदहज़मी) को, बाणी

का चुराने वाला * गुंफेपन को, वस्त्रों का चुराने वाला लङ्गड़ेपन को प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ इसप्रकार कर्म शेष † से भलों से निन्दित जड़, गूंगे, अन्धे, बहिरे और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥ जिस लिये प्रायश्चित्त न किये पुरुष निन्दित लक्षणों से युक्त हुए उत्पन्न होते हैं, इसलिये शुद्धि के लिये सदा प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या, सुरा (नामी शराब) का पीना, चोरी (ब्राह्मण के सुवर्ण की), गुरु स्त्री के पास जाना, इन (कर्मों) को महापातक कहते हैं, और उन (महा पातकियों) के साथ संसर्ग ‡ भी (पांचवां महापातक है) ॥ ५४ ॥
अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्वन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्रथः ।

गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।

भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

* बाणी=वेद, वेद का चुराने वाला, जो बिना आज्ञा लिये दूसरे पढ़ते हुए से सुनकर पढ़ लेता है (गोवि० कुल्लू० राघ०) दूसरे की रचना को अपनी प्रकट करने वाला (नारा०) † कर्मशेष=परलोक में भुक्त कर जो बचा कर्म । छप पुस्तकों में 'कर्मविशेषण' के स्थान 'कर्मविशेषण' पाठ नारा० नन्द० के अनुसार कर दिया है । मेधा० गोवि० कुल्लू० का अर्थ भी इसी पाठ में ठीक बनता है । ‡ संसर्ग=नाते रिश्ते, और वेद पढ़ने पढ़ाने का लिया जाता है, न कि निरा मिलना वा बात करना । § ५४-७० वासि० १।१९-२३ गौत० २।११-१२ आप० १। २१। ७-१९ बौध्वा० २।२।१-८ ; १२-१३ ; १५-१६ याज्ञ० ३।२२७-२४२ विष्णु० ३।४।१; ३।५-३।८, ३९-४२ देखो पूर्व० १।२३।

रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीश्वन्त्यजासु च ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५८॥

जंघे जन्म के लिये (अब्राह्मण होकर मैं ब्राह्मण हूँ इसादि)
झूठ बोलना, राजा के पास (प्रजा की) चुगली करना, गुरु पर
झूठा अपराध लगाना, ब्रह्महत्या के तुल्य हैं ॥ ५५ ॥ वेद को
भुला देना, वेदों की निन्दा, झूठी साक्षिता ; मित्र की हत्या, निषिद्ध
आहार, वा आहार के लिये अनुचित वस्तु का खाना, * यह
छः सुरापान के तुल्य हैं ॥ ५६ ॥ अमानत का, मनुष्य, घोड़े,
चांदी, भूमि, हीरे और मणियों का हरलेना सोने की चोरी
के तुल्य कहा गया है ॥ ५७ ॥ सगी बहिन, कंवारी, चण्डाली,
मित्र और पुत्र की स्त्री में वीर्य सेचन गुरु स्त्री के गमन के तुल्य है।
गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।

गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥५९॥

परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।

तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥

कन्याया दूषणंचैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।

तडागारामदारणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

* निषिद्ध लहसन आदि, अनुचित विष्टा आदि (गोवि० कुल्लू०
राघ०) निषिद्ध और जिसके खाने को जी न चाहे (मेघा०)
अपवित्र पुरुष वा वस्तु के संसर्ग से दूषित और स्थभावतः खाने के
अयोग्य (नारा० नन्द०) † ५५-५८ श्लोकों में जो पाप जिस २ के
तुल्य कहे हैं, उनके लिये वही प्रायश्चित्त नहीं होता, थोड़ा घट होता
है, क्योंकि तुल्यता घट में दी जाती है (टीकाकार) ।

व्रात्यताबान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।

भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

* गोहत्या, यज्ञ के अयोग्य (शूद्रादि, वा दुष्टकर्मी) को यज्ञ कराना, परस्त्री गमन, अपने आपको बेचना, गुरु, माता, पिता का त्याग (सेवा आदि न करना) ब्रह्मयज्ञ का त्याग, अग्नि का त्याग और पुत्र का त्याग ॥६१॥ छोटे (भाई) के पहले विवाहे जाने पर (बड़े के) विवाह का उलंघा जाना, और (छोटे का बड़े को) उलंघ कर विवाह करना, उन दोनों को कन्या देना, और उन दोनों को यज्ञ कराना (विवाह होम कराना) ॥६०॥ कन्या पर दोष लगाना, व्याज लेना, व्रत का भंग, तालाब, बगीचा, स्त्री और सन्तान का बेचना ‡ ॥ ६१ ॥ व्रात्यता, बान्धवों का त्याग, नौकर होकर पढ़ाना, नौकर से विद्या ग्रहण, बेचने के अनुचित (तिल आदि) का बेचना § ॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।

हिंसौषधीनां स्रयाजीवोऽभिचारोमूलकर्म च ॥ ६३ ॥

* अब आठ श्लोकों से उपपातक कहते हैं ॥ यहाँ अपने आपको बेचना=दास बनना (मेधा०) यह केवल आर्यों के लिये उपपातक है, शूद्र दास होते ही हैं (नारा०) वेद को भुला देना पूर्व० ७५ में महापतक कहा है, यहाँ ब्रह्मयज्ञ का त्याग उपपातक कहा है ॥ यहाँ व्याज लेना वैश्य से भिक्ष के लिये उपपातक है, वा शास्त्र प्रतिषिद्ध व्याज लेना वैश्य के लिये भी । और व्रतभंग ब्रह्मचर्य का तोड़ना (गोवि० कुल्लू० राघ०) किसी भी स्वीकार किये नियम का भंग (मेधा० नारा०) § यहाँ व्रात्यता=समय पर उपनयन न होना (देखो पूर्व० १०।२०) बान्धव=चाचे, मामे और उनके कन्या पुत्र आदि । इनका त्याग आपदा में इनको रलने और अनाथ होने देना ।

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।

आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६४॥

सब प्रकार की खानों में अधिकार, महायन्त्रों का जारी करना, औषधियों की हिंसा, (समय से पूर्व, वा व्यर्थ काटना) स्त्री से जीविका करना, अभिचारकर्म, और मूलकर्म * ॥ ६३ ॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों का काट गिराना, निरा अपने लिये कर्म का आरम्भ, और निन्दित का अन्न खाना † ॥ ६४ ॥

अनाहितामितास्तेयमृणानामनपक्रिया ।

असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्यचक्रिया ॥६५॥

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।

स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवयो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

* यहाँ 'महा यन्त्रों का जारी करना' अपनी भूमि के सेचन के लिये दूर जाने वाले जल के प्रतिबन्ध के यन्त्र बनाना (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) सूअर आदि बड़े २ प्राणियों के मारने के लिये बड़े २ यन्त्र बनाना (नारा०) स्त्री से जीविका करना=स्त्री धन से अपना और कुटुम्ब का पालन (मेधा०) पर घर में सेवा आदि के लिये स्त्री को भेजकर उससे जीविका (राघ०) स्त्री को वेदवा बनाकर उससे जीविका (कुल्लू०) पर घरों में सेवादि कराके स्त्री से कमाए धन से जीविका (नारा० नन्द०) † यहाँ 'निरा अपने लिये' देवता, पितर और अतिथियों के उद्देश के बिना केवल अपने लिये पकाना आदि (मेधा० कुल्लू० राघ० नारा० नन्द०) और देखो ३।११८ निन्दित=राजा वा जुआरिया आदि । निन्दित अन्न का खाना पूर्व० ५७ में कहा है, किन्तु मेधा० और कुल्लू० यहाँ भी ५७ में कहा ही लेते हैं । भेद यह करते हैं, कि लहसन आदि का जान बूझकर बार २ खाना महापातक है, बिन जाने एक बार खालेना उपपातक ।

अग्न्याधान करना (सोने चांदी से भिन्न वस्तु की) चोरी,
ऋणों का न चुकाना, असव शास्त्रों की शिक्षा, नाट्य का कर्म*
॥ ६५ ॥ अनाज, (सोने चांदी से भिन्न) धातों और पशुओं का
चुराना, शराब पीने वाली स्त्री का सेवन, स्त्री, शूद्र, वैश्य और
क्षत्रिय का वध, और नास्तिकपन (यह सब) उपपातक हैं ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।

जैह्वयंचमैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविक वधस्तथा ।

संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण को पीड़ा देना (चोट लगाना), न सूंघने योग्य
(विष्टा आदि) का और शराब का सूंघना, (सरल पुरुषों से)
कुटिलता करना, पुरुष से मैथुन, यह जाति भ्रंशकर (जाति से
फिसलाने वाला) पातक कहा है ॥ ६७ ॥ गधे, घोड़े, ऊंट,
हरिण, हाथी, बकरी, भेड़, मछली, सांप, भैंसे की हत्या संकरी-
करण (वर्णसंकर तुल्य बनाने वाला) कहा है ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।

फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

* ऋण-ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण देखो वासि०
११।४५ असच्छास्त्र=चार्वाक और निग्रन्थ (मेधा०) पाषण्ड
शास्त्र (नारा०)

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।

यैर्यैर्व्रतैरेपोह्यन्ते तानिसम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

निन्दितो * से धन (दान) लेना, वणिज, शूद्र की सेवा, और असस भाषण यह अपात्रीकरण (दान लेने के अयोग्य बनाने वाला) पातक जानना चाहिये ॥ ६९ ॥ कृमि, कीड़े, और पक्षियों की हत्या, शराब के साथ रक्खी वस्तु का भोजन, फल, लकड़ी और फूलों की चोरी, और धीरज न होना (अत्यन्त कायरपन) यह मलावह (अपवित्र बनाने वाला) पातक है ॥ ७० ॥ यह (ब्रह्महत्यादि) अलग कहे हुए सारे पाप, जिनके व्रतों से दूर होते हैं, उनको भली भाँति जानो ॥ ७१ ॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कृटीं कृत्वा वने वसेत् ।

भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वास्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ।

प्रास्येदात्मानममौ वा समिद्धेत्रिवाकिशराः ॥ ७३ ॥

ब्रह्महत्या करने वाला वन में कुटिया बनाकर और मुरदे की खोपरी की झंडी लटकाकर भिक्षा का अन्न खाता हुआ शुद्धि के लिये बारह वर्ष रहे † ॥ ७२ ॥ अथवा जानते हुए शस्त्रधारियों का अपनी इच्छा से निशाना बने, अथवा जलती अग्नि में अपने आपको नीचे सिर करके तीनबार डाले ॥ ७३ ॥

* निन्दित (देखो पूर्व० ४।८४) † ७२-८६ वासि० २०।२१-२८ गौत० २२।२-१० आप० १।२४। १०-२५; २।५।११-१२; २।८।२१-२९, याज्ञ० ३।२४३-२५०, विष्णु० २।५।६; ५०।१-६, ११ यह ७२ में कहा प्रायश्चित्त कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार इरादे से की हुई ब्रह्महत्या

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।
 अभिजिद्विश्वजिद्व्यां वा त्रिवृतामिष्टुतापिवा ॥७४॥
 जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
 ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्गनियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥
 सर्वस्वं वेदाविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
 धनं हि जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छेदम् ॥७६॥

अथवा अश्वमेध वा स्वर्जित, वा गोसव, वा अभिजित् वा विश्वजित् वा त्रिवृत् अग्निष्टुत् यज्ञ करे * ॥ ७४ ॥ अथवा ब्रह्महत्या के दूर करने के लिये मिताहारी और संयमी होकर किसी एक वेद का स्वाध्याय करता हुआ सौ योजन यात्रा करे † ॥ ७५ ॥ अथवा किसी विद्वान् ब्राह्मण को सारा धन देदे, जो धन जीवन के लिये पर्याप्त हो, वा सारे सामान समेत घर ॥७६॥

का है ऽऽ जानते हुए=यह ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिये निशाना बना है, ऐसा जानते हुए (मेधा० गोवि० कुल्लू० राम०) नारा० के अनुसार यह प्रायश्चित्त इच्छापूर्वक ब्रह्महत्या करने वाले को है । कुल्लू० राघ० यह दो प्रायश्चित्त और ७४ में कहा अश्वमेध यह तीन प्रायश्चित्त जब कोई क्षत्रिय जान बूझकर ब्रह्महत्या करे, तो उसके विषय में हैं । पहले दो प्रायश्चित्तों में ज़खमी होकर बच रहे, तो भी उसका प्रायश्चित्त होजाता है ।

* गोसव, (देखो कात्या० श्रौ० २२।२।३) अभिजित् (देखो आश्व० श्रौ० ८।५।१३) अग्निष्टुत् (देखो आश्व० ९।७।२२-२५) गोवि० नारा० के अनुसार त्रिवृत् स्तोम वाले अग्निष्टुत् से, † कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त बिना इरादे के निरे नाम-मात्र (निर्गुण) ब्राह्मण के मारने में है ऽऽ मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार ' धनं हि ' पाठ रक्खा है, जोकि छपे पुस्तकों में ' धनं वा ' है । कुल्लू० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त अज्ञान से जातिमात्र के ब्राह्मण के मारने में हैं ।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ।
 जपेद्भानियताहारस्त्रिवे वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥
 कृतावपनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
 आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥
 ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् ।
 मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥
 त्रिवारं प्रतिरोद्धावा सर्वस्वमवजित्य वा ।
 विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

अथवा हविष्य भोजन करता हुआ उलटे प्रवाह सरस्वती के मूलतक जाए, वा अल्पाहारी हुआ तीन बार वेद की संहिता का स्वाध्याय करे * ॥ ७७ ॥ अथवा गोब्राह्मण के हित में रत हुआ सिर मुंडवाकर ग्राम के निकट वा गोशाला, वा आश्रम वा वृक्ष के नीचे निवास करे † ॥ ७८ ॥ गोब्राह्मण के लिये छूट प्राणों का त्याग करे, गौ और ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ‡ ॥ ७९ ॥ तिनवार (चोरी को) रोकने

* कुल्लू० के अनुसार इनमें से पहला प्रायश्चित्त ज्ञानपूर्वक जातिमात्र ब्राह्मण के वच में है, दूसरा अज्ञान से जातिमात्र ब्राह्मण के वच में है † नारा० के अनुसार सारे प्रायश्चित्तों में यह नियम बर्ते, मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार ७२ में कहे १२ वर्ष प्रायश्चित्त का यह विकल्प है, अर्थात् चाहे १२ वर्ष उस तरह वन में काटे, चाहे इस तरह ग्राम समीपादि में काटे ३२ वर्ष का व्रत आरम्भ किये को जब गौ ब्राह्मण की रक्षा का अवसर मिले, उस समय प्राणों की परवाह न करके उनको बचाता हुआ मरजाए, तौभी, बच रहे, तौ भी, उसी समय हत्या से छूट जाता है (गोवि० कुल्लू० नारा०)

वाला, वा सर्वस्व जीत देने वाला, अथवा उसके निमित्त ब्राह्मण को जीवन लाभ हो, तो (ब्रह्महत्या से) छूट जाता है * ॥८०॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।

समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

शिष्टा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।

स्वमेनोऽवभृथस्नातो ह्यमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणोमूलमग्रं राजन्यउच्यते ।

तस्मात्समागमे तेषामेनोविख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ।

प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सु निष्कृतिम् ।

सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्राविदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

इसप्रकार सदा पक्के नियमों वाला, ब्रह्मचारी और संयमी हुआ बारहवें वर्ष के समाप्त होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है ॥८१॥ अथवा अश्वमेध में ब्राह्मणों के और राजा के समागम में अपना पाप निवेदन करके अवभृथ स्नान करके (ब्रह्महत्या के पाप से) छूटता है ‡ ॥ ८२ ॥ क्योंकि ब्राह्मण धर्म की जड़

* ब्राह्मण का सर्वस्व हरते हुए का तीनबार पूरा मुकाबिला करने वाला न छुड़ासके तो भी, और छुड़ा देसके, तो एकबार ही, अथवा ब्राह्मण जब स्वयं प्राण संकट में पड़जाए, तो उसे बच्चा लेने से भी पाप से छूट जाता है ।

† यह भिन्न २ प्रायश्चित्त देश, काल और अवस्था के अनुसार हैं । ‡ गोवि ५ इसको १२ वर्ष के प्रायश्चित्त के अन्दर ही यदि

है, और सन्निय अग्र है, इसलिये उनके समागम में अपना पाप प्रसिद्ध करके शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण उत्पत्ति से ही देवताओं का भी देवता है, और जगत् के लिये प्रमाण है, क्योंकि इसमें वेद मूल है (उसका उपदेश वेद मूलक है) ॥ ८४ ॥ उन (ब्राह्मणों) में से तीन भी जो वेदवेत्ता हैं, पाप का प्रायश्चित्त वतलामक्ते हैं, वही उन (पापियों) के पवित्र करने के लिये होगा, क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र करने वाली है ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।

ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा ।

अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृदधम् ॥ ८८ ॥

इनमें से किसी विधि का आश्रय लेकर संघमी ब्राह्मण (आदि) अच्छे मनवाला होने से ब्रह्महत्या से किये पाप को दूर करता है ॥ ८६ ॥ (ब्राह्मण का) गर्भ जो (स्त्री पुरुष नपुंसक रूप से) अज्ञात है, उसकी हत्या करके, यज्ञ करते हुए सन्निय और वैश्य की हत्या करके, और आत्रेयी स्त्री की हत्या कर के यही प्रायश्चित्त करे * ॥ ८७ ॥ गवाही में झूठ बोलकर,

अबभूथ स्नान का अवसर मिलजाए, तो उत्तन से ही शुद्धि मानता है । कुल्लू० भविष्य पुराण के आश्रय इसका खण्डन करके इसे स्वतन्त्र प्रायश्चित्त मानता है, अर्थात् जबकि गुणवान् ब्राह्मण निर्गुण ब्राह्मण को मारे तो ।

* ८७-८८ वासि० २०।३४-३६ गौत० २२।११-१४ आप० १।२४।

गुरु पर मिथ्या दोष लगाकर, अमानत को चुराकर, अपनी स्त्री और मित्र का वध करके भी (यही प्रायश्चित्त करे) *॥८८॥

इयंविशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतोद्विजम् ।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

सुरां पीत्वा द्विजोमोहादभिवर्णां सुरां पिबेत् ।

तथा सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

यह शुद्धि बिना कामना के ब्राह्मण के वध में कही है, इच्छा से ब्राह्मण के वध में प्रायश्चित्त † नहीं बतलाया है ॥८९॥ द्विज राग से सुरा पीकर अभि के तुल्य गर्म सुरा पिये, उससे शरीर के दग्ध होने पर उस पाप से छूटता है ॥ ९० ॥

६-९, २३ बौधा० २।१।१२ याज्ञ० ३।२५१ विष्णु० ५०।७-१०; ५२।४ मेधा० और दूसरे कई टीकाकारों के अनुसार आत्रेयी, अत्रिगोत्र की स्त्री, कुल्लू० और कई टीकाकारों के अनुसार रजस्वला ब्राह्मणी * गवाही में झूठ बोलकर, जहां उस गवाही से किसी का वध हो (मेधा० गोवि० नारा०) सोने भूमि आदि की गवाही में (कुल्लू० राघ०) गुरु पर मिथ्या कलंक (देखो पूर्व० ५५) अमानत, क्षत्रिय वैश्य का सोना, वा ब्राह्मण की चांदी आदि (कुल्लू० नारा० राघ०) अथवा निर्धन ब्राह्मण का चाहे कुछ ही हो (मेधा०) स्त्री=अपनी स्त्री (नारा० नन्द०) अपना मित्र चाहे ब्राह्मण न भी हो (नारा०)

† अर्थात् यह प्रायश्चित्त नहीं, इससे दुगुना होता है (राघ०) ‡ ९०-९७ वासि० १०।१९।२२ गौत० २३।१०-१२ आप० १।२५।३।१०; २५।१० बौधा० २।१।१८-२२ याज्ञ० ३।२५३-२५३ विष्णु० ५१।१-४; १०-११ के प्रायश्चित्त इच्छा से सुरा पीने में हैं देखो आगे १४६। सुरा आगे ९५ में तीन प्रकार की कहेंगे, ब्राह्मणों को उन तीनों के पीने में यह प्रायश्चित्त है, क्षत्रिय वैश्य को पेयि=पीठी की, आटि के रस से निकाली में यह प्रायश्चित्त है देखो आगे ९३-९४

गोमूत्रमभिवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।

पयोघृतं वाऽऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।

सुरापानापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अथवा अग्नि के तुल्य (गर्म) गोमूत्र वा जल पिये, वा दूध, वा घी वा गोबर का रस मरने तक पिये ॥ ९१ ॥ अथवा बालों के वस्त्र पहने, जटा धारे, (बोटल की) झंडी लगाए बरसभर चावलों के कण, वा खली एकवार रात को खावे*॥ ९२ ॥

सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद्ब्राह्मणराजन्यो वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥

गौडी पैष्टी चमाध्वी च विज्ञेयान्निविधा सुरा ।

यथैवैका तथा सर्वा नपातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।

तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रता हविः ॥ ९५ ॥

सुरा अन्नों की मल है, और पाप मल कहलाता है, इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सुरा न पिये †॥ ९३ ॥ गुड़की (गौड़ी)

* गोवि० कुल्लू० राघ० नन्द० के अनुसार यह प्रायश्चित्त अज्ञान से पैष्टी सुरा के पीने में है, नारा० के अनुसार माध्वी से मिले जल के पीने में है, मेघा० राघ० के अनुसार अज्ञान से पैष्टी के पीने में और ज्ञानपूर्वक गौड़ी माध्वी के पीने में है ।

† यहां अन्न की मल कहने से पैष्टी सुरा से अभिप्राय है, वह सारे द्विजों के लिये महापातक है और ब्राह्मण के लिये दूसरी दो गौड़ी और माध्वी भी महापातक हैं ।

पीठी की (पैठी) और महुए की (माध्वी) *यह तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये, जैसी एक है, वैसी सभी हैं, ब्राह्मणों को नहीं पीनी चाहियें ॥९४॥ यक्ष राक्षस और पिशाचों का अन्न है मद्य, मांस, सुरा और आसन्न, वह देवताओं की हवि खाने वाले (खाने योग्य) ब्राह्मण को नहीं खाने चाहियें ॥ ९५ ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।

अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

यस्यकायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैतिब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥९७॥

एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

मद से मूढ़ हुआ ब्राह्मण अपवित्र स्थान में गिरेगा वा (अनुचित रीति से) वेद का उच्चारण करेगा, वा कोई और अकार्य करेगा ॥ ९६ ॥ जिसके शरीर में स्थित वेद एकबार भी मद्य से डुबो दिया जाता है, उसका ब्राह्मणत्व दूर होजाता है और वह शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ ९७ ॥ यह सुरा पीने का नानाप्रकार का प्रायश्चित्त कहा, इससे आगे (ब्राह्मण का) सोना चुराने का प्रायश्चित्त कहूंगा ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्भिर्प्रो राजानमभिगम्य तु ।

स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान् मां भवाननुशास्तिवति ॥९९॥

* माध्वी=महुए के फूलों की (कुल्लू०) महुए के फूलों की वा हशद की (नारा०) अंगूरों की (कई)

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।

वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण (आदि) राजा के पाम
जा अपना कर्म प्रकट करता हुआ कहे, मुझे आप दण्ड दें*॥१०१॥
राजा (उमके कन्धे पर से) मूसल को लेकर एकवार उसे स्वयं मारे,
वध से चोर शुद्ध होता है, ब्राह्मण निरा तप से ही † ॥ १०० ॥
तपसाऽपनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।

चरिवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।

गुरुमन्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

तप से सुवर्ण की चोरी से उत्पन्न हुए पाप को दूर करना
चाहता हुआ द्विज चौर पहनकर वन में ब्रह्महत्या करने वाले के
व्रत को करे ‡ ॥ १०१ ॥ इन व्रतों से चोरी के पाप को द्विज
दूर करे, और गुरुस्त्री गमन के पाप को इन व्रतों से दूर करे॥१०२॥

गुरुतल्पमभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।

सूमीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

* ११-१०० देखें पूर्व० ८।३१४-३१६ † 'तपसैवतु' पाठ मेघा०
ने पढ़ा है। यही पाठ हमने स्वीकार किया है। गोवि० कुल्लू० नारा०
राघ० ने 'तपसैव वा' पाठ पढ़ा है। वा=पर (नारा० नन्द०) वा=
अथवा, वा से अभिप्राय यह है, कि क्षत्रिय वैश्य भी तप से शुद्ध
हो सकते हैं। पर ब्राह्मण के लिये निरा तप है, क्योंकि 'तपसैव' में 'एव'
पढ़ा है। (कुल्लू०) वा=अथवा सात लक्ष गायत्री का जप (राघ०) जो
प्रायश्चित्त अगले श्लोकों में कहे हैं, उनकी अपेक्षा से 'अथवा' कहा
है (गोवि०) ‡ आप० १।२५।१० याज्ञ० ३।२५८ विष्णु० ५।२।३

स्वयं वा शिश्रुवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलो ।

नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्वगः ॥१०४॥

गुरुस्त्रीगामी अपने पाप को बतलाकर तभी हुई लोहे की शय्या पर सोवे, और जलती हुई लोहे की प्रतिमा को गले लगाकर मृत्यु से शुद्ध होता है * ॥१०३॥ अथवा आप अपना क्लिंग और अण्डकोश काटकर और अञ्जलि में रखकर शरीर के गिरने तक दक्षिण पश्चिम कोण को चर्छा जाए ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासी वा श्मश्रुलो विजने वने ।

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।

हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा खाट का पाया हाथ में लिये चीर पड़ने दाढ़ी मूँछ धारे एकाग्रमन हो निर्जन वन में एकवर्ष कृच्छ्र प्राजापत्य करे + ॥ १०५ ॥ अथवा गुरु स्त्री गमन (पाप) के दूर करने के लिये इन्द्रियों को रोक कर तीन महीने हविष्य वा यवागू (जौ

*१०३-१०६ वासि० २०।१३-१४ गौत० २३।८-१२ आप० १।२५।१-२, १०; २।१५-१८ याज्ञ० ३।२।५-२६० विष्णु० ३४।२; ५३।१ यहाँ गुरु का अर्थट्वा मेधा० आचार्य और पिता दोनों लेता है, कुल्लू० नारा० राघ० निरा० पिता लेते हैं + मेधा० कुल्लू० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त गुरु स्त्री को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर गमन करने में है, नारा० के अनुसार अपने वर्ण से छोटे वर्ण की गुरुस्त्री के विषय में है । प्राजापत्य कृच्छ्र देखो आगे २११

के दक्षिणे) के भोजन में चान्द्रायण व्रत करे * ॥ १०६ ॥
एतैर्व्रतैर्गोहैर्युमहापातकिना मलम् ।

उपपातकिनस्त्वेवमोभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

उपपातकमयुक्तो गोघ्नोमासं यवान् पिबेत् ।

कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

इन व्रतों में महापातकी अपने पाप के दूर करें, † और उपपातकी इसी प्रकार इन (अगले) नाना प्रकार को व्रतों से (पाप को दूर करें) ॥ १०७ ॥ गो हत्या करने वाला उपपात की (तीन महीने प्रायश्चित्त करे) बाल सारे (सिर, दाढ़ी मुँह) मुँडाए दूध, उम चमड़े (मारी गौ के चमड़े) से ढका हुआ गोस्थान में रहे, एक महीना निरे जाँ (पतले करके) पिये ‡ ॥ १०८ ॥

चतुर्थकाष्ठमश्रीयादक्षात्कवणं मितम् ।

गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वायमासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

द्विवातुगच्छेद्गमास्नास्तु तिष्ठन्नुर्व्वं रजःपिबेत् ।

शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

दो महीने संयमी बन कर गोमूत्र से स्नान करे, (भोजन के) चौथे घंटे खार और लवण से बिना परिमित भोजन करे ॥ १०९ ॥

* मेघा० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त गुरुवत् माने गए मामा चाचा आदि की स्त्री के गमन में है । कुल्लू० के अनुसार अपतिव्रतः वा असवर्णा गुरुस्त्री के गमन में है । चान्द्रायण देखो आगे २१६ । † नारा० यहाँ महापातकी से तात्पर्य उन से लेता है जो पूर्व ५५ आदि में महा पातकियों के तुल्य कहे हैं ‡ १०८-११६ गौत २०।१८ आप १।२६।१ याज्ञ ३।०६३-२६४ विष्णु ५०।१६-२४ ।

दिन को उन गौओं के पीछे जाए, खड़ा हुआ ऊपर उठी गोधूलि को पिये, (गौओं के शरीर पर हाथ फेरने, वा हाथ से खुजाने आदि की) सेवा करके और नमस्कार करके रात को वीरासनसे रहे *

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।

आसीनासु तथासीनो नियतोवीतमत्सरः ॥ १११ ॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।

पतितां पङ्कलमां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

उष्णेवर्षतिशीते वा मारुते वाति वाभृशम् ।

नकुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

गौएं ठहरें, तो उनके साथ ठहरें, चलें, तो उनके साथ चले, बैठें, तो बैठे, शुद्ध रहे, और (गौओं पर) क्रोध न करे ॥ १.१.१.११ ॥
रोगिणी, वा चोर बाघ आदि भयों से पीड़ित हुई, गिरी हुई, वा कीचड़ लगी को सारे उपायों से छुड़ाए ॥ १.१.२ ॥ धूप में, वर्षा में, सर्दी में, वा बहुत वायु चलने में शक्ति अनुसार गौओं की रक्षा किये बिना अपनी रक्षा न करे ॥ १.१.३ ॥

आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवाखले ।

भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अनेनविधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।

स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

* वीरासन से रहे = दीवार शय्या आदि के सहारे बिना ठहरे रखवाली करे) (कुल्लू०)

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥११६॥

एतदेव व्रतं कुरुष्वपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णिवर्जं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११७॥

अपने वा दूसरों के घरमें खेत में वा खलयाण में भक्षण करती हुई किसी को न बतलाए, और दूध पीते हुए बछड़े को न बतलाए ॥११४॥ इस विधि से जो गो हत्यारा गौओं की सेवा करता (हुआ व्रत करता) है, वह गोहत्या से किये पाप को तीन महीने में दूर करता है ॥ ११५ ॥ भली भांति व्रत पूरा करके दस गौएं और एक बैल, न हो, तो अपना सर्वस्व, वेद ब्राह्मणों को देवे ॥ ११६ ॥ अवकीर्णों के सिवाय दूसरे उपपातकी भी अपनी शुद्धि के लिये यही व्रत अथवा चान्द्रायण करें ॥११७॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।

पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्भोमानन्ततश्च समेतृचा ।

वातेन्द्रगुरुवन्दीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥११९॥

कामनो रेतसः सेकं व्रतमथम्य द्विजन्मतः ।

अतिक्रामं व्रतम्याहुर्मर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।

चतुर्गोत्रातिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥१२१॥

* याज्ञ ३।२६५ + ११७-१२३ यासि २३।१४ मात० २५।१-४
आप १।२६।८ षोडशो २।१८-३५ याज्ञ ३।२८० विष्णु २८।४८-५०

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।

सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥

पर अवकीर्णी रातको चौराहे में पाकयज्ञों की विधि * से, काने गधे से निर्ऋति का यज्ञ करे ॥ १.१८ ॥ यथाविधि (निर्ऋति के लिये) अग्नि में होम करके, अन्त में 'समा' इस ऋचा† से, वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि के लिये घी से आहुतियों दे ॥ १.१९ ॥ ब्रह्मचारी द्विज का अपनी इच्छा से वीर्य रखलन व्रत का लोप है, यह वेदवादी धर्मात्मा कहते हैं ॥ १.२० ॥ ब्रह्मचारी अवकीर्णी होजाए, तो उसका ब्रह्मतेज वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि इन चारों को प्राप्त होता है (इसलिये इनको आहुतियों देनी कही है) ॥ १.२१ ॥ इस पाप के प्राप्त होने पर (निर्ऋतियाग करके) गधे का चमड़ा पहन कर अपना कर्म बतलाता हुआ सात घों से भिक्षा मांगे ॥ १.२२ ॥ उनसे पाई भिक्षा से एक काल भोजन करता हुआ, और (दिन में) तीनवार स्नान करता हुआ वरममें जाकर शुद्ध होता है ॥ १.२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्यान्यतममिच्छया ।

चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।

मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥

* पशु कल्प, जैसा कि आश्व० गृ० (१।११) आदि में कहा है (नारा०) † यह ऋचा तैति० आर० २।१।४ में है ।

जाति भ्रंश करने वाला कोई कर्म अपनी इच्छा से करे, तो सान्तपन कुछ कर, बिना इच्छा के करे, तो प्राजापत्य कर * ॥ १२४ ॥ संकर करने और अपात्र बनाने वाले कर्मों में शुद्धि के लिये महीना भर चान्द्रायण करे मलीन करने वालों में तीन दिन गर्म यवागू पिये † ॥ १२५ ॥

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।

वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

अकामनस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।

वृषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १२७ ॥

ब्रह्महत्या का चौथा भाग (=तीन वरस) क्षत्रिय के मारने में (प्रायश्चित्त) कहा है, सदाचारी वैश्य (के मारने) में आठवां भाग (डेढ़वर्ष) और शूद्र में सोलहवां भाग (९ महीने) जानो † ॥ १२६ ॥ बिना इच्छा के क्षत्रिय को मारकर ब्राह्मण अपनी शुद्धि के लिये एक बैल समेत एक सहस्र गौएं दान करे ‡ ॥ १२७ ॥

* जाति भ्रंश करने वाले कर्म देखो पूर्व ६७ सान्तपन कुछ देखो आगे २१२ † संकर, अपात्र और मलीन बनाने वाले कर्म देखो पूर्व ६८-७० यवागू=जौ का पानी, देखो बौध्वा ३। ६ ‡ १२६-१३० चासि० २०। ३१-३३ गीत० २२। १४-१६ आप० १। १४। १-४ बौध्वा० १। १९। १-२; २। ८-१० याज्ञ० ३। २६६-२६७ विष्णु० ५०। १२-१४ पूर्व० (६६ में) क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का मारना उपपातक कहा है, उपपातकी को तीन मास का गोहत्या वाला प्रायश्चित्त कहा आप है, इसलिये यह सारी प्रायश्चित्त सदाचारी क्षत्रिय वैश्य को इच्छा से मारने में है ‡ मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार 'शुद्ध्यर्थ मात्मनः' करा दिया है, जो छपे पुस्तकों में 'सुचरित व्रतः' है।

अथ ब्रह्मं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महृणो व्रतम् ।
 वसन्दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥
 एतदेव चरेद्ब्रह्मं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
 प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥
 एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्छूद्रहा चरेत् ।
 वृषभैकादशा वापि दद्याद्विधाय गाः सिताः ॥ १३० ॥

अथवा संयमी जटाधारी होकर ग्राम में बहुत दूर वृक्षों के नीचे रहता हुआ तीन वर्ष व्रत मरत्या करने वाले के व्रत को करे * ॥ १२८ ॥ यही प्रायश्चित्त ब्राह्मण मदाचारी वैश्य को मारकर करे, वा एक सौ गौएं देवे † ॥ १२९ ॥ यही सारा व्रत छः महीने, शूद्र के मारने वाला करे, अथवा (अरनी शुद्धि के लिये) ‡ एक बैल महित दस श्वेत गौएं ब्राह्मण को देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चापं मण्डूकमेव च ।
 श्वगोधोल्बुककाकांश्च शूद्रहत्या व्रतंचरेत् ॥ १३१ ॥
 पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनोव्रजेत् ।
 उपस्पृशेत्सवन्त्यां वा सूक्तं वाऽद्वयतं जपेत् ॥ १३२ ॥

*-१२६ में तीन वर्ष का व्रत कहा जा था, फिर यहां कहने का यह तात्पर्य है, कि ब्रह्महत्या के और चिन्ह 'मुरद की खोपरी का झंडा आदि' न धारे। निरा ग्राम से दूर वृक्षों के नीचे रहे (गोवि० कुल्लू० नारा०) † १२९-१३० इन दोनों में कहे दो २ प्रायश्चित्त बिना इच्छा के वैश्य और शूद्र के मारने में है। इच्छा से मारने में पूर्व १२७ में है।

अग्निं कार्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।

पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

व्रतकुम्भं वराहं तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।

शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।

वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

बिल्ला, नेउला, चाप, मेंडक, कुत्ता, गोह, उल्लू, कौआ, इनको मारकर शूद्रहत्या का व्रत करे * ॥ १३१ ॥ अथवा तीन दिन निरा दूध पिये, वा चार कोस चले, वा नदी में स्नान करे, वा जल देवता वाला सूक्त जपे † ॥ १३२ ॥ सर्प को मारकर ब्राह्मण तेज भ्रष्टवाले लोहे का दण्ड दान करे, नपुंसक (के मारने) में पलाल का एक भार और एक मासा सिक्का दान करे ‡ ॥ १३३ ॥ सूभर में घी का घड़ा, तित्तिर में एक द्रोण तिल, तोते में दो वर्ष का बछड़ा, और कूँज में तीन वर्ष का (बछड़ा दान करे) § ॥ १३४ ॥ हंस, बलाका, बगले, मोर,

* वासि० २१।२४ गीत० २२।१९ आप० १।२५।१३ याज्ञ० ३।२७० विष्णु० ५०।३०-३२ यहाँ शूद्र हत्या के व्रत से गोवधव्रत चान्द्रायण अभिषेक है, न कि १२७ में कहा, वह भी बार २ हत्या करने में है । क्योंकि यह छोटी वस्तुएँ हैं (गोवि० कुल्लू० नन्द०) † यह अज्ञान से मारने में प्रायश्चित्त है, इनमें से भी पूर्व २ न होसके, तो परला २ कराए (गोवि० कुल्लू० नारा० राघ०) जल देवता वाला सूक्त ऋग्वेद १०।१ ‡ गीत० २२।२३, २५ याज्ञ० ३।२७३ विष्णु० ५०।३४-३५ § गीत० २२।२४ याज्ञ० ३।२७१, २७३-२७४ विष्णु० ५०।३६-३९ यहाँ घड़ा=१०० पल (नारा०) द्रोण=चार आढक (मेघा०) १२८ पल (नारा०)

बानर, बाज, और भास को मारकर ब्राह्मण को गौ देवे*॥१.३५॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।

अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकशयनम् ॥ १.३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।

अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१.३७॥

जीनकार्मुकवस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवास्थिताः ॥१.३८॥

घोड़े को मार कर बस्त्र देवे, हाथी को मार कर पांच नीले बैल, और बकरे मेढे को मारकर बैल और गधे को मार कर एक वर्ष का बछड़ा देवे † ॥ १.३६ ॥ हिंस्र पशुओं को मार कर दूधवाली धेनु देवे, अहिंस्रों को मार कर बड़ी बछड़ी, और ऊँट का मारकर रत्ती भर (देवे) ‡ ॥१.३७॥ चारों भी वर्णों की चञ्चल स्त्रियों को मार कर हत्ता की छद्म के लिये (ब्राह्मणादिक्रम से) जीन, धनुष, बकरी, भेड़ देवे § ॥१.३८॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।

एकैकशश्चरन्तुकृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १.३९ ॥

अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।

पूर्णे चानस्यनस्थानां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१.४०॥

* याज्ञ ३।२७२ विष्णु० ५०।३३ † याज्ञ० ३।२७१, २७४ विष्णु० ५०। २५-२८ ‡ याज्ञ० ३। २७२-२७३ विष्णु० ५०।२९। ४०-४१ यहाँ रत्ती भर सोना अभिप्रेत है (मेघा० गावि० कुल्लू० नारा० नन्द० राघ०) † गौत० २। १६ याज्ञ० ३।२६८

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
 अनमृतां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति॥१४१॥
 फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृकशतम् ।
 गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥१४२॥
 अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
 फलपुष्पोद्भवानां च वृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥
 कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
 वृथालम्भेऽनुगच्छेद्वां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

दान में सर्पादि की हत्या की शुद्धि करने में असमर्थ हो,
 तो पाप के दूर करने के लिये द्विज (हर एक पाप के लिये)
 एक २ कृच्छ्र करे * ॥ १.३९ ॥ हड्डी वाले (क्षुद्र) जीवों के
 हज़ार के मारने में, और बिना हड्डी वालों का गड्ढा भर मारने
 में शूद्र हत्या का व्रत करे † ॥ १.४० ॥ हड्डी वालों के (एक २
 के) वध में कुछ ही (कोई एक पण ही) ब्राह्मण को देवे, और
 बिना हड्डी वालों (में से एक २) की हिंसा में प्राणायाम से शुद्ध
 होता है ‡ ॥ १.४१ ॥ फल देने वाले वृक्षों, झाड़ियों, (खरबूजे

* यास्मि० २१।२६ याज्ञ० ३।२७४

† यास्मि० २१।२५ गौत० २२। २०-२१ आप० १।२६।२ याज्ञ०
 ३।२६९ विष्णु ५०।४६ हड्डी वाले क्षुद्र जन्तु छिपकिली आदि गोवि०
 कुल्लू० नारा०) ॥ गौत० २२।२२ याज्ञ० ३। २७५ विष्णु० ५०।४७
 मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार यह प्रायश्चित्त एक २ के मारने
 में, नारा० के अनुसार पिछले श्लोक में कही संख्या से थोड़ों के
 मारने में है । कुछ ही=एक पण (नारा०) आठ मुट्ठी दाने (नन्द०)

आदि की) वल्लों, (गिलो आदि) बेजों, और फूले हुए पौदों के काटने में सौ ऋचा जपे * ॥ १.४२ ॥ खाने योग्य अन्न में उत्पन्न होने वाले, रसों (गुड़ आदि) में उत्पन्न होने वाले, और फल फूल में उत्पन्न होने वाले जीवों के वध में घी पीना पाप का शोधक है † ॥ १.४३ ॥ जोती भूमि में उत्पन्न हुई (धान आदि) और अपने आप वन में उत्पन्न हुई (नीवार आदि) ओषधियों के व्यर्थ काटने में एक दिन दुग्धाहारी हुआ गौ के पीछे जाए ‡ ॥ १.४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।

ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १.४५ ॥

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।

मतिपूर्वं मनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १.४६ ॥

आपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।

पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १.४७ ॥

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।

शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वाऽपः कुशवारि पिबेत्त्रयहम् ॥ १.४८ ॥

इन व्रतों से जाने और बिन जाने की हिंसा से उत्पन्न हुआ पाप दूर करना चाहिये, अब अभक्ष्य के भक्षण में प्रायश्चित्त सुनो

* याज्ञ० ३ । २७६ विष्णु० ५० । ४८ पूर्व० ६४ में रस वाले वृक्षों का काटना उपपातक कहा है, उसका प्रायश्चित्त चान्द्रायण होता है, यह छोटासा प्रायश्चित्त बिना जाने एक बार काटने में है (कुल्लू०) सौ ऋचा=गायत्री आदि (कुल्लू०) गायत्री (नारा०) † याज्ञ० ३ । २७० विष्णु० ५० । ४९ रस ॥ गुड़ मट्ठा आदि (मेघा० गोवि० कुल्लू०) ‡ याज्ञ० ३।१४४ विष्णु० ५०।५०

अज्ञान से मदिरा पीकर संस्कार (उपनयन) से ही शुद्ध होजाता है, जानकर पिये, तो भी प्राणान्तिक नहीं बतलाना चाहिये यह मर्यादा है * ॥ १४६ ॥ सुरा के भाँडे में वा मद्य के भाँडे में स्थित जल को पीकर पाँच दिन शंखपुष्पी (लेहली) डालकर उबाले हुए दूध को पिये । ॥ १४७ ॥ मदिरा को छूकर वा दान देकर वा यथा विधि दान लेकर, वा शुद्ध का जूठा पानी पीकर तीन दिन कुशा में काँढा हुआ पानी पिये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाग्राय सोमपः ।

प्राणान्पु त्रिगयस्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥

अज्ञानान्प्राश्य विष्मृत्रं सुरामंस्पृष्टमेव च ।

पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥

वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्या व्रतानि च ।

निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि ॥१५१॥

सोम यज्ञ करचुका हुआ ब्राह्मण तो सुरा पिये हुए के (मुख के) गन्ध को भी मृग्ये, तो जल में तीन बार प्राणायाम करके पी पीकर शुद्ध होता है * ॥१४९॥ अज्ञान से विष्टा मूत्र वा सुरा

* वासि० २०१९ गौत० २३२ आप० १२५।२० बौध० २।१।१९ याज्ञ० ३।२।५५ विष्णु० ५२। २, ४ पूर्व० ९३-२४ द्विजों को सुरापान महारपातक है, और सुरा के तीन भेद बतलाए हैं, उनसे भिन्न मद्य के विषय में यह प्रायश्चित्त है । यह उपनयन भी तत्त छुछू कराकर होना चाहिये, जैसाकि गौत० २१। ७ में कहा है । जानकर पीने में ७२ में कहा प्रायश्चित्त वा दूसरी स्मृतियों में कहे प्रायश्चित्त कराए । वासि० २०।२१ बौध० २।१।२२ विष्णु० ५१।२३-२४ ‡ गौत० २३।६ विष्णु० ५१।२५

से स्पर्श की हुई वस्तु को खाकर तीन द्विज वर्ण फिर उपनयन के योग्य होते हैं* ॥१५०॥ फिर उपनयन करने में द्विजों के (मिर) मूँडना, तडागी, दण्डधारण, भिक्षा माँगना और व्रत नहीं होते हैं।

अभोज्यानां तु भुक्तवान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।

जग्ध्वामांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यानपिद्विजः ।

तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

जिनका नहीं खाना चाहिये, उनका अन्न खाकर, वा स्त्री और शूद्र का जूठा खाकर, वा अभक्ष्य मांस खाकर सात दिन (पाना बनाकर) जो पिये ‡ ॥ १५२ ॥ (देर पड़ा रहने में) खट्टे हुए (अन्न) और काढ़े, चाहे मेध्य भी हों, § उनको पीकर द्विज तब तक अशुद्ध होता है, जब तक वह नीचे नहीं जाता ॥१५३॥

विद्वराहसरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१५४॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

गाओं का सूअर, गधा, ऊँट, गीदड़, बानर और कौए के

* वासि० २०।२० गीत० २३ । ३ याज्ञ० ३।२३।५ विष्णु० ५१ । २
† वासि० २०।१८ बौधा० २।१। २० विष्णु० ५१।५ व्रत अग्नि की सेवा
और मद्य मांसादि का त्याग (गोवि० कुल्लू० रात्र०) वेदव्रत (नारा०)

‡ वासि० १४।३३ विष्णु० ५।१।०, ५४, ५६ पूर्व० ४।२२२ में कहे
प्रायश्चित्त के साथ इसका विकल्प है § राघ० नन्द० 'अमेध्यानपि'
पद छेद करके, अमेध्य = लहसन आदिक, अर्थ करते हैं ।

मूत्र वा विष्टा को खाकर द्विज चान्द्रायण करे ॥ १५४ ॥ सूखे मांस, पृथिवी में उत्पन्न होने वाले कुकरमुत्ते (छत्रिये), अज्ञात, (स्वभाव वाले का मांस) और हसा घर से लाया मांस, इनको खाकर यही व्रत (चान्द्रायण) करे * ॥ १५५ ॥

कव्यादमूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।

नरकाकवगणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

मांसिकान्नं तु योऽश्रीयदसमावर्तको द्विजः ।

सत्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदकेवसेत् ॥ १५७ ॥

ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधु मांसकथञ्चन ।

सकृत्वाप्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

विडालकाकाम्बूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।

केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

कच्चा मांस खाने वाले, (गाओं के) मूअर, ऊंट, (गाओं के) कुकरमुत्त, पनुण्य का मांस कोण और गधे के भक्षण में तप्त कृच्छ्र शुद्ध करने वाला है ॥ १५६ ॥ जो द्विज (ब्रह्मचारी) समावर्तन हुए बिना मांसिक (श्राद्ध) का अन्न खावे, वह तीन दिन उपवास करे,

* विष्णु० ५।१।२७, ३४ राघ० 'भौमानि' = भूमि में होने वाले (कुकरमुत्त) कवकानि = कुकरमुत्ते (वृक्षों पर होने वाले) लेता है। पर मेधा० 'भौमानि' को विशेषण मानकर यह कहता है, कि वृक्ष की खाइयों में होने वालों का निषेध नहीं । १ वासि० २३।३० गौत० २३।४-५ विष्णु० ५।१।३-४ पूर्व० ५।१९-२१ में भी प्रायश्चित्त कहा है, यह बार २ करने के विषय में है, यह एकही बार करने के विषय में है (कुल्लू० राघ०) तप्त कृच्छ्र देखो आगे २१५

एक दिन जल में बास करे*॥१५७॥ जो ब्रह्मचारी शहद वा मांस
किमी तरह खाले, वह माजापस कृच्छ्र करके शेषव्रत को समाप्त
करदे । ॥ १५८ ॥ बिल्ली, कौए, चूहे, कुत्ते और नेउछे का झूठा
तथा बाल वा कीड़े से दूषित खाकर ब्राह्मी सौचल का काढ़ा पिये।

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।

अज्ञानभुक्तंतूतार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥१६०॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।

स्तेयदोषापहर्तृणां व्रतानां श्रूयतांविधिः ॥ १३१ ॥

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।

स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राद्धेन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

जो अपनी शुद्धि चाहता है, उसे अभोज्य अन्न नहीं खाना
चाहिये, जो भूल से खालिया हो, तो उगल दे, वा प्रायश्चित्तों
से जल्दी शोधन करे § ॥ १६० ॥ यह अभक्ष्य भक्षण के व्रतों

* विष्णु० ५१।४३-४३ टीकाकार यहाँ मांसिक से मांसिक
श्राद्ध लेते हैं, वह भी सपिण्डी करण से पूर्व एकोद्दिष्ट
श्राद्ध, क्योंकि पूर्व० २।१८९ में श्राद्ध भोजन की अनुज्ञा है । मेधा०
के अनुसार जलवास चौथे दिन करे, कुल्लू० राघ० के अनुसार
तीन दिन में से पहलं दिन करे वासि० २३।१२ याज्ञ० ३।२८२ विष्णु०
५१।४५ 'ब्रह्मचारी' के स्थान मेधा० गोवि० नारा० नन्द० 'व्रतचारी'
पढ़ते हैं । अर्थ व्रतचारी का भी ब्रह्मचारी ही लेते हैं, किन्तु नारा०
ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, विधवा आदि लेता है § वासि०
२३।१ विष्णु० ५१।४६ बाल वा कीड़े से दूषित = बाल वा कीड़े के
संसर्ग से दुष्ट (गोवि० कुल्लू० राघ०) § गौत० २३।२६ शोधनैः =
प्रायश्चित्तों से (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) शोधक वस्तुओं से
(नारा० नन्द०)

की नाना विधियें कही हैं, अब (महापातक से भिन्न) चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों की विधि सुनो ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों के घर से ही इच्छा पूर्वक धान, अन्न, धन की चोरी करके वर्ष भर कृच्छ्र से शुद्ध होता है * ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।

कृपवापीजलानां च शुद्धिश्रान्द्रायणं स्मृतम् ॥१६३॥

द्रव्याणामल्पसागणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेशमतः ।

चरेत्सान्त्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥१६४॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।

पुष्पमृत्फलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥

मनुष्य, स्त्री, क्षेत्र और घर तथा कुएं और बावड़ी के जल के सारा हर लेने में प्रायश्चित्त चान्द्रायण बतलाया है ॥ १६३ ॥ थोड़े मूल्य वाले द्रव्यों की दूसरे के घर से चोरी करके, वह (चुराया धन स्वामी को) चुकाकर अपनी शुद्धि के लिये सांतपन कृच्छ्र करे ॥ १६४ ॥ भक्ष्य भोज्य, यान, शय्या, आसन, पुष्प, मृत् और फलों के चुगने में पञ्चगव्य शुद्धि करने वाला है ॥ १६५ ॥

† विष्णु० ५२।५ यह हह का प्रायश्चित्त बतला दिया है, देशकाल द्रव्य के परिमाण आदि की अपेक्षा से घट होसकता है (मेधा० गोवि० कुल्लू० नारा० मन्द०) † विष्णु० ५२।६ मनुष्य, स्त्री=दास, दासी (मेधा०) 'जलानां' के स्थान 'तडागानां तालाबों के' पाठान्तर है (राघ०) ‡ विष्णु० ५२।७ थोड़े मूल्य वाले=मट्टी के बर्तन बटलोई आदि, लकड़ी के घ्रौण आदक आदि, लोहे के कुदाल आदि (मेधा०) रांगा सिक्का आदि (गोवि० कुल्लू० राघ०) पलाल आदि (नारा०) § १६५-१६६ विष्णु० ५२।८-९ यह और अगला नियम अज्ञानसे करने में हैं (नारा०)

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
 चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥
 मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।
 अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६७॥
 कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।
 पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

घास, काठ, वृक्ष, सूखा अन्न, गुड, वस्त्र, चमड़ा और मांस के चुराने में तीन दिन उपवास हो ॥ १६६ ॥ मणि, मोती, गुलियें, तांबा, चान्दी, लोहा, कांसी और पत्थर के चुराने में बारह दिन (चावलों के) कण खाए ॥ १६७ ॥ मूती, रेड्डी, ऊनी कपड़ों के, दो खुर वाले (गौ आदि) एक खुर वाले (घोड़े आदि) के, पक्षियों, गन्धों (चन्दन आदि), औषधियों के और रस्सी के चुराने में तीन दिन दूध पिये * ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
 अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत ॥ १६९ ॥
 गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्वेतः सित्त्वा स्वयोनिषु ।
 सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

इन व्रतों से द्विज चोरी के पाप को दूर करे, और गमन न करने योग्य स्त्री से गमन करना इन व्रतों से दूर करे ॥ १६९ ॥ सगी बहिन, मित्र वा पुत्र की स्त्री, कंवारी और चण्डाली में

* त्रिष्णु० ५२।१० रस्सी कुएं की (मेधा०)

वीर्य मेचन करके गुरु स्त्री गमन का प्रायश्चित्त करे * ॥१७०॥

पैतृष्वमेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।

मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥

पुत्राप्तिमस्तु भार्यायै नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।

ज्ञातिव्येनानुपेयाभ्याः पततिह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

पिता की बहिन, तथा माता की बहिन की कन्या और माता के सगे भाई की कन्या जो बहिन के तुल्य हैं, इनका गमन करके चान्द्रायण करे ॥१७१॥ इन तीनों को बुद्धिमान् पत्नी के अर्थ न विवाहे क्योंकि यह (सपिण्ड) सम्बन्ध वाली होने से विवाह के योग्य नहीं इनको विवाहता हुआ नीचे गिरता है † ॥१७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदकयायामयोनिषु ।

रेतः मिश्रत्वा जले चैव कृच्छ्रं मान्तपनं चरेत् ॥१७३॥

* धासि० २० । १५-१६ गौत० २३ १८-१३, ३२ बौध्दा० २।।१३ याज्ञ० ३ । २३३ विष्णु० ३४।२ ; ३६।७ ; ५३।१ और देखो पूर्व० ५९ । मेघा० गोवि० कुल्लू० राघ० के अनुसार जानकर बार २ ऐसा पाप करे तो मरण प्रायश्चित्त इतरथा १०९ में कहा प्रायश्चित्त करे, नारा० के अनुसार १२ वर्ष का करे ।

† सब टीकाकारों के अनुसार 'भ्रातुराप्तस्य' पाठ चाहिये जो छपे पुस्तकों में 'भ्रातुराप्तस्य' है । नन्द० के अनुसार 'भ्रातुराप्तस्य' है । पूर्व० २।९ में माता की सपिण्डा को विवाहने का निषेध कहा ही है, किन्तु दक्षिणान्यों में मामा की कन्या के विवाहने का आचार देखकर निषेध की दृढ़ता के लिये फिर कहा है (कुल्लू०) नीचे गिरता है = नरक में पड़ता है (कुल्लू०) जाति से गिर जाता है (नाग०)

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।

गोयानेऽसु दिवा चैव सवासाःस्नानमाचरेत्॥१७४॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुत्का च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति॥१७५॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेशमनि ।

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥१७६॥

मनुष्यसे भिन्न जाति की नारियों (भेड़ आदि) में, रजस्वला (स्त्री में), योनि से भिन्न स्थान में, और जल में वीर्य सेचन करके कृच्छ्र सांतपन करे * ॥१.७३॥ द्विज किसी पुरुष से, वा अपनी स्त्री से छकड़े में, पानी में, वा दिन में मैथुन करे, तो वस्त्रों समेत स्नान करे † ॥१.७४॥ ब्राह्मण चण्डाल वा अन्त्यजों की स्त्रियों का गमन करके, उनका भोजन खाकर वा दान लेकर, यह सब भूल से करे तो पतित होता है. ज्ञान से तुल्यता को प्राप्त होता है ‡ ॥१.७५॥ व्यभिचारिणी स्त्री को पति एक घर में रोके और जो व्रत पुरुष को परस्त्री गमन में है, वह इसे करवाए § १.७६

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपमन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

* गौत० २२। ३६; २३। ३४ याज्ञ० ३। २८८ विष्णु० ५३। ४, ७ † याज्ञ० ३। २९१ विष्णु० ५३। ४ बिना इच्छा के करने में यह प्रायश्चित्त है (नारा०) ‡ वासि० २३। ४१ बौध० २। ४। १३-१४ विष्णु० ५३। ५-६ अन्त्यज=स्लेच्छ भील आदि (मेघा० गे वि० कुल्लू०) सूत आदि (नारा०) यवन आदि (राघ०) § वासि० २१। ८। १२-१३ विष्णु० ५३। ८ पर स्त्री गमन को ५९ में उपपातक कहा है, और ११७ में उसका प्रायश्चित्त चान्द्रायण कहा है ।

यत्करोत्येकगत्रेण वृषलीसेवनाद्विजः ।

तद्भक्षभुजपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

वह मजानीय पुरुष मे प्रार्थना कीहुई यदि फिर दूषित हो,
तो कृच्छ्र चान्द्रायण इसका पवित्र करने वाला कहा है *
॥ १७७ ॥ द्विज एकरात वृषली के सेवन से जो पाप करता
है, उसको भीष मांगकर खाता हुआ, नित्य (गायत्री का)
जप करता हुआ तीन वर्षों में दूर करता है ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।

पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन महाचरम् ।

याजनाध्यापनाद्येनान्न तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

यह स्वयं पाप करने वाले चारों (हत्यारे, चोर, अभक्ष्य
भक्षक और अगम्यागाधियों) की भी शुद्धि कही है, अब पतितों के
साथ संसर्ग वालों के प्रायश्चित्त सुनो ॥ १७९ ॥ पतित के साथ
बरस भर के लगातार संसर्ग मे पतित होजाता है, पर यज्ञ कराने,
पढ़ाने वा गिडेनागी मे, न कि साथ चलने बैठने वा खाने से ॥

* छंद पुस्तकों में ' उपयन्त्रिता ' पाठ है । टीकाओं के अनुसार
' उपमन्त्रिता ' चाहिये, सो कर दिया है ॥ आप० १।२७।११ बौध्वा०
२।।११ विष्णु० १।३।१२ वृषली=वृषडाली (मेघा० कुल्लू० राघ०)
शुद्धा (मेघा० गोवि० नारा०)

॥ वासि० १।२२ गौत० २१ । ३ बौध्वा० २।२।३५ याज्ञ० ३ । २६१
विष्णु ३।१३-५ गोवि० नारा० यह कराने आदि से दोनों अभिप्राय
लेते हैं, उसको यज्ञ करवाना वा उससे यज्ञ करवाना, इसी प्रकार
उससे पढ़ना वा उसको पढ़ाना, और यह भी कि साथ चलने बैठने
खाने से चार बरस में पतित होता है ।

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्वहिः ।

निन्दितेऽहनि सायाहने ज्ञात्यृत्विग्गुरुमन्त्रिवो ॥ १८२ ॥

जो मनुष्य इनमें से जिन पतित के साथ संसर्ग को प्राप्त हो, वह उसके संसर्ग (दोष) की शुद्धि के लिये उमी का प्रायश्चित्त करे * ॥ १८१ ॥ (पतित के) सपिण्ड और बान्धव (समानोदक) निन्दित दिन में सायं समय ग्राम से बाहर निकलकर ज्ञाति, ऋत्विज् गुरुओं के सामने पतित की उदक क्रिया (जलाञ्जलि) करें (मानों वह मर गया है) † ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।

अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ।

दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।

ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

और दासी जल भरे घड़े को प्रेतवत् धँ पाओं से उलटे, और बान्धवों के साथ एक दिन रात आशौच करें ॥ १८३ ॥

* विष्णु० ५४.१ ७ १८२-१८५ यासि० १५।१२-१६ गौत० २०.४-७
बौध्वा० २।१।३६ याज्ञ० ३।२९.१

† प्रेतवत्=यह अमुक के लिये है, ऐसा कहती हुई (मंथा०)
दक्षिण मुख होकर (गोवि० कुल्लू० राघ० नारा० नन्द०)

उम पतित से मंभापण, इकठ्ठे बैठना, जायदाद का देना, और लोक व्यवहार (उन्मवादि में निमन्त्रण आदि) छोड़ देवें ॥१८४॥ उसका बड़प्पन (आगे से उठना आदि) और बड़े को मित्रने योग्य उद्धार हटा दिया जाए, और उसका भाग उससे छांटा जो गुणों में अधिक हो, वह लेवे ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।

तेनैव सार्धं प्राम्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥१८६॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।

सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥

एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥१८८॥

जब प्रायश्चित्त पूरा होजाए, तब उसके साथ किसी पवित्र जलाशय में स्नान करके, जल का भरा एक नया घड़ा (उसी जलाशय में) फेंक दें (मानों पानी सांझा कर दें) * ॥ १८६ ॥ उस घड़े को जल में फेंककर अपने भवन में प्रवेश करके पूर्ववत् सारे ज्ञाति कार्यों को करे ॥ १८७ ॥ पतित हुई स्त्रियों के विषय में भी यही विधि बर्ते, पर उनको स्नान पान और वस्त्र (घर से) देना चाहिये, और वह (अपने) घर के समीप रहें ॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् ।

कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥

* १८६-१८७ वासि० १५।१७-२१ गौत० २।१०-१४ बौध० २।१।३६ याज्ञ० ३। २९६ १ याज्ञ० ३। २९७

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तृश्च स्त्रीहन्तृश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

प्रायश्चित्त पूरा न किये पापियों के साथ कोई व्यवहार न करे, पर प्रायश्चित्त कर चुकों को कभी न निन्दे (पूर्ववत् बर्ते)*
॥ १८९ ॥ बालहत्या करने वाले, कृतघ्न (भलाई के बदले बुराई करने वाले) और शरणागत के मारने वालों के साथ न रहे, चाहे वह धर्ममर्यादा से शुद्ध भी होचुके हों ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥
प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

जिन द्विजों को विधि अनुसार सावित्री का उपदेश न हो, उनको तीन कृच्छ्र कराकर यथाविधि उपनयन कराएँ ॥ १९१ ॥
जो द्विज (शास्त्र) विरुद्ध आजीविका वाले हैं, वा (उपनीत होकर भी) वेद नहीं पढ़े हैं, वह यदि प्रायश्चित्त करना चाहें, तो उनको भी यही (तीन कृच्छ्र) उपदेश करे ‡ ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जपेन तपसैव च ॥ १९३ ॥
जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मांसं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

* १८९-१९० याज्ञ० ३।२९९ विष्णु० ५४।३२-३३ वासि० १।१०६-०९ आप० १।१।२३; २।१० विष्णु० ५४।२६ उपनयन का समय देखो पूर्व० २।३८ ऋ० विष्णु० ५४।२७

उपवासकृशं तं तु गोत्रजात्पुनरागतम् ।
 प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥
 सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
 गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥
 ब्राह्मणानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
 अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छैर्व्यपोहति ॥१९७॥
 शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
 संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधाति ॥ १९८ ॥
 श्वश्रृगालखैर्दंष्ट्रो ग्राम्यैः क्रव्याद्विरेव च ।
 नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

यदि ब्राह्मण निषिद्ध कर्म से धन कमाते हैं, तो उसके त्याग से, स्वाध्याय से और तप से शुद्ध होते हैं * ॥ १९३ ॥
 एकाग्रचित्त हो तीन हजार गायत्री जपकर, महीना भर गोष्ठ में दूध पीकर, दुष्ट प्रतिग्रह से छूटता है † ॥१९४॥ उपवासों से दुर्बल हुए, गोष्ठ से फिर आए, नम्र हुए उसको (ब्राह्मण) पूछें, हे सौम्य ! क्या तू हमारे साथ समता चाहता है (अर्थात् फिर दुष्ट प्रतिग्रह नहीं करेगा) ‡ ॥ १९५ ॥ ब्राह्मणों के सामने सस कहकर (सस कहता हूँ, फिर ऐसा नहीं करूँगा, कहकर) गौओं के लिये चारा ढाले, गौओं में बनाए तीर्थ § (जहां

* याज्ञ० ३। २९० विष्णु० ५४। २४, २८ निषिद्ध कर्म=दुष्ट प्रतिग्रह आदि † मेघा० गायत्री जप में दो मत्त दिखलाता है, कई कहते हैं, प्रति दिन तीन हजार गायत्री जपे, दूसरे कहते हैं महीने में तीन हजार जपे अर्थात् प्रति दिन १०० गायत्री जपे । ‡ १९५-१९६ याज्ञ० ३। ३०० § गौओं के पानी पीने के घाट (मेघा०) ;

गौओं ने चारा खाया है) पर (ब्राह्मण व्यवहार में) उसका स्वीकार करें ॥ १.९६ ॥ ब्राह्मणों को यज्ञ कराके, बेगानों की अन्त्येष्टि करके, अभिचार करके और अहीन यज्ञ करके तीन कुच्छों से शुद्ध होता है * ॥ १.९७ ॥ शरणागत को त्याग कर, वेद को बिगाड़ कर, द्विज बरस भर निरे जौ खाता हुआ उस पाप को दूर करता है † ॥ १.९८ ॥ कुत्ते, गीदड़, गधे, ग्रामीण कच्चा मांस खाने वाले (विल्ली आदि), मनुष्य, घोड़े, ऊँट, और सूअर से काटा हुआ पुरुष प्राणायाम से शुद्ध होता है ‡ ॥ १.९९ ॥

षष्ठान्नकालता मांसं संहिताजपएव वा ।

होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् २००

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।

स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति २०१

विनाद्विरप्सु वाप्यार्तः शरीरं सन्निवेश्य च ।

सचैलौबहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।

स्नानकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

* आप० १।२६।७ याज्ञ० ३।२८९ विष्णु० ५४।२।५ वात्य देखो पूर्व० १०।२० अभिचार=किसी के मारने के लिये यज्ञ-इयेन आदि † याज्ञ० ३।२८९ वेद को बिगाड़ कर=न पढ़ाने योग्य को पढ़ाकर (मेघा० गोवि० कुल्लू० नन्द०) मिथ्या अर्थ करके (नारा०) अनश्यास से भूलकर (राघ०) ‡ वासि० २३। ३१ गौत० २३।७ याज्ञ० ३।२७७ विष्णु० ५४। १२ नारा० 'अग्राभ्यैः' पद च्छेद कर 'अग्राभ्यैः क्रव्याद्भिः=जंगली दरिन्दे=भेड़िया आदि' अर्थ लेता है ।

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।

स्नात्वाऽनश्नन्नदः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

महीना भर छटे समय (तीसरे दिन रात को) भोजन, प्रति दिन माँहिता का स्वाध्याय और शाकल होम यह पंक्ति-दूषकों का शोधक है * ॥ २०० ॥ ऊँट के यान, वा गधे के यान पर चढ़कर, वा इच्छा में नंगा हुआ स्नान करके प्राणायाम से शुद्ध होता है † ॥ २०१ ॥ पीड़ित होकर मल मूत्रादि का त्याग जल (-प्रयोग) के बिना, वा जलों के अन्दर करे, तो वस्त्रों समेत (गाओं में) बाहर (नदी आदि में) स्नान कर गौ को स्पर्श करके शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥ वेदविहित नित्य कर्मों के लोप में और स्नातक के व्रतों के लोप में (एक दिन) भोजन न करना प्रायश्चित्त है ‡ ॥ २०३ ॥ ब्राह्मण को 'हुं' कहकर और बड़े को 'तूं' कहकर, स्नान करके बाकी दिन कुछ न खाए, और (उमको) नमस्कार करके प्रसन्न करे ॥ ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वावध्य वाससा ।

विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥

* पंक्ति दूषक ३। १५१ आदि में कहे हैं, शाकल होम देखो यजुर्वे० ८। १३ नारा० कहता है, जिन पंक्ति-दूषकों का अलग प्रायश्चित्त नहीं कहा, उनका यह प्रायश्चित्त है † याज्ञ० ३। २९१ विष्णु० ५४। २३ मेधा० कुल्लू० कहते हैं, जो ऊँट वा गधे की सीधा पीठ पर (न कि यान पर) चढ़े वह एक से अधिक प्राणायाम करे ‡ विष्णु० ५४। १० § विष्णु० ५४। २९ स्नातक व्रत अध्याय ४ में कहे हैं ॥ याज्ञ० ३। ९२ 'हुं' रोकने के लिये, हुं, ऐसा मत कहे, इत्यादि । 'तूं' बिना आदर के एकवचन से बुलाकर 'तूं' ऐसा कह कर इत्यादि ।

अवगूर्य त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

(ब्राह्मण को) तिनके से भी ताड़कर, वा गले में कपड़ा बांधकर वा विवाद में जीतकर, प्रणायाम करके प्रमत्त करे * ॥ २०५ ॥ (ब्राह्मण को) मारने की इच्छा से दण्ड उठाकर सौ बरस, और मारकर हजार बरस नरक को प्राप्त होता है ॥ २०६ ॥ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति द्विजन्मनः ।

तावन्त्यद्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।

तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

(ब्राह्मण का) लहू जितने धूलिकणों को लपेटता है, उतने हजार बरस लहू निकालने वाला नरक में रहता है † ॥ २०७ ॥ ब्राह्मण को (मारने की इच्छा से) दण्ड उठाकर कृच्छ्र करे, प्रहार करके अतिकृच्छ्र, लहू उत्पन्न करके कृच्छ्र और अति-

* याज्ञ० ३। २९२ देखो पूर्व० ४। १६६ † २०६-२०७ मिलाओ पूर्व० ४। १६५, १६७-१६९ ॥ छपे पुस्तकों में ' संगृह्णाति महीतले ' पाठ है । पर टीकाकारों के सब के अनुसार ' संगृह्णातिद्विजन्मनः ' चाहिये वैसा कर दिया है ।

कृच्छ्र दोनों करे * ॥ २०८ ॥ जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है, उनके दूर करने के लिये शक्ति और पाप को देखकर प्रायश्चित्त की कल्पना करे । ॥ २०९ ॥ जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर करता है, उन उपायों को तुम्हें बतलाऊंगा, जो देव ऋषि और पितरों ने सेवन किये हैं ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातम्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।

त्र्यहं परं च नाश्रीयात्प्राजापत्यं चरन्दिजः ॥ २११ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिं सर्पिः कुशोदकम् ।

एकगत्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।

त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्दिजः ॥ २१३ ॥

प्राजापत्य (कृच्छ्रव्रत) करता हुआ द्विज तीन दिन प्रातः काल ही खाए, तीन दिन सायंकाल ही खाए, तीन दिन बिन मांगा खाए और फिर तीन दिन कुछ न खाए ऋ ॥ २११ ॥ गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी, कुशा का उबला हुआ पानी, यह सब इकट्ठा करके एक दिन खाए, और एक दिन उपवास करे, यह कृच्छ्र सांतपन कहा है ऋ ॥ २१२ ॥ अतिकृच्छ्र करता

* याज्ञ० ३।२९३ विष्णु० ५४।३० पूर्व० ६७ में ब्राह्मण को पीड़ा देना और १२४ में उसका प्रायश्चित्त कहा है । ऋयाज्ञ० ३।२९४ विष्णु० ५४।३४ : वासि० २१।२० गौत० २६।२-५ आप० १। २७। ७ बौध्वा० २। २। ३८। ४। १६-७ याज्ञ० ३।३२० विष्णु० ४६।१० मेधा० के अनुसार बिन मांगे अपनी स्त्री वा नौकरों से दिया भी अयाचित है ऋबौध्वा० ४। ५। १३ याज्ञ० ३।३२३ विष्णु० ४६।१९

हुआ तीन २ दिन तीन बार करके पूर्व कहे की तरह एक २ ग्रास खाए, अन्त्य में तीन दिन उपवास करे * ॥ २१.३ ॥

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।

प्रति त्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१.४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नामकृच्छ्रोऽयं सर्वपापानोदनः ॥ २१.५ ॥

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१.६ ॥

एतमेवविधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।

शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१.७ ॥

तप्त कृच्छ्र करता हुआ ब्राह्मण तीन २ दिन गर्भ किया जल, दूध, घी और वायु पिये और एकबार स्नान करे और संयमी रहे † ॥ २१.४ ॥ मन को वश में रखकर, अप्रमत्त हो, बारह दिन कुछ न खाना, पराक कृच्छ्र होता है, जो सारे पापों का मिटाने वाला है ॥ २१.५ ॥ तीन समय स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में एक २ ग्रास घटाता जाए, और शुक्ल में बढ़ाता

* वासि० २४।१-२ गौत० २५।१८-१९ बौध० २।२।४०; ४।५।८ याज्ञ० ३।३२० पूर्व कहे की तरह=२१.१ में कहे की तरह, एक २ ग्रास तीन दिन प्रातः, तीन दिन सायं, तीन दिन बिन मांगा । † वासि० २१।१८ बौध० २। २। ३७; ४।५। १० याज्ञ० ३। ३१८ विष्णु० ४६। ११ ऋ० बौध० ४। ५। १५ याज्ञ० ३। २२१ विष्णु० ४६। १८ अप्रमत्त हो= व्रत के अंगों में भूल न करता हुआ, (मेधा० ना०) कृच्छ्र के अंग देखो वासि० २४।५

जाए, यह चान्द्रायण कहा है * ॥ २१३ ॥ यही सारी विधि
(=ग्रास का बढ़ाना घटाना और तीन समय स्नान) शुरुपक्ष
से आरम्भ करके यह मध्यम चान्द्रायण करता हुआ करे ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते ।

नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणंचरन् ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।

चतुरोऽस्तमितेसूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।

मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैतिसलोकताम् ॥ २२० ॥

एतद्रास्त्रादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।

सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

* २१६-२२१ ब्राह्म० १४।४५-४७; २७।२१ गौत० २७
बौध्वा० ३।८; ४।११७-२१ याज्ञ० ३।३२४-३२७ विष्णु० ४७ पूर्णमासी
को १५ ग्रास खाकर कृष्ण प्रतिपदा से एक २ घटाता आए, इस
प्रकार चतुर्दशी को एक ग्रास रह जाएगा, फिर अमावस्या को उप-
वास करके प्रतिपदा से एक २ बढ़ाए, पूर्णमासी को फिर १५ ग्रास
खाए। यह पिपिलिकामध्य चान्द्रायण है। चंद्र की गति वाला होने से,
एक २ कला की तरह, एक २ ग्रास घटने बढ़ने से चान्द्रायण और
पिपिलिका मध्य=चींटी की कमर वाला है। जैसे चींटी दोनों ओर मोटी,
मध्य में पतली होती है, इस प्रकार इसके दोनों ओर अधिक ग्रास
और मध्य में उपवास आता है। शुरु प्रतिपदा से एक २ ग्रास
बढ़ाता हुआ पूर्णमासी को १५ ग्रास खाकर, कृष्णपक्ष में एक २ घटाता
जाए। जो भी तरह इसका मध्य मोटा और किनारे पतले होने से
'यवमध्य चान्द्रायण' है।

यतिचान्द्रायणं करने लगा संयमी हुआ, इविष्य भोजन करता हुआ (शुक्ल वा कृष्ण पक्ष से आरम्भ करके) दुपहर के समय आठ २-ग्रास खाए ॥ २१८ ॥ सावधान हुआ प्रातःकाल चार ग्रास खाए, चार सायं काल को खाए, यह शिथु चान्द्रायण कहा है ॥ १.१९ ॥ सावधान हुआ जिस किस रीति से इविष्य अन्न के २४० ग्रास जिस किम तरह खाता हुआ चन्द्र की मलोकता को प्राप्त होता है * ॥ १.२० ॥ इस व्रत को रुद्र, आदित्य, वसु, मरुत और महर्षियों ने सम्पूर्ण पापों से छुटने के लिये किया है महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।

अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२२॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।

स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।

ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२४॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।

सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैर्नसः ।

अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

महाव्याहृतिर्होमे प्रति दिन स्वयं (व्रती) होकर होम करे,

* जिस किसी तरह अर्थात् एक २ दिन में इतने २ ग्रास इस नियम के बिना जिस दिन जितने चाहे, खाए । महीने में २४० ग्रास ही खाए, यह नियम रहे (नारा०)

अहिंसा, मत्स्य, अक्रोध और सरलता का आवरण करे ॥२२२॥ तीन बार दिन को और तीन बार रात को बस्त्रों समेत जल में प्रवेश करे, और (व्रत करता हुआ) स्त्री, शुद्ध और पतितों के साथ कभी संभाषण न करे * ॥ २२३ ॥ (दिन) खड़ा रहने और (रात) बैठने में लंघाण, ब्रह्मचारी और व्रती † हो, गुरु देवता और ब्राह्मणों का पूजक हो ॥ २२४ ॥ गायत्री का और पावन मन्त्रों ‡ का शक्ति अनुसार नित्य जप करे, सभी व्रतों में प्रायश्चित्त के लिये इस प्रकार श्रद्धा से करे ॥२२५॥ जिन्होंने अपने पाप प्रकट किये हैं, वह द्विज इन व्रतों से शोधनीय हैं, पर जिन्होंने पाप प्रकट नहीं किये, उनको मन्त्रों से और होमों से शुद्ध करे §

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यतेपापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयंकृत्वाऽनु भाषते ।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

प्रकट करने से, पश्चात्ताप से, तप से, वेदाध्ययन से, तथा

* स्त्रियों से संभाषण का निषेध माता और बड़ी बहिन आदि के सिवाय है, और पत्नी से किसी कार्य के उपयोगी संभाषण में निषेध नहीं (मेघा०) † व्रती=नडागी बांधना आदि, ब्रह्मचारी के व्रतों से व्रती हो (गोवि० कुल्लू० नारा०) ‡ पावनमन्त्र=अधर्मघ्न और पावमानी ऋचा आदि देखो विष्णु० ५६ § वासि० २५।३ रहस्य पापों का प्रायश्चित्त पूछा इस तरह जासکتा है, कि अमुक पाप काँई करे, तो क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये (कुल्लू० राघ०) जैसे पापों के प्रकाश में निरी अपनी ही बदनामी नहीं, किन्तु दूसरे की भी बदनामी और हानि है, ऐसे पाप रहस्य होते हैं (नारा०)

आपत्काल में * दान से पाप करने वाला पाप में छूटना है
॥ २२७ ॥ जैसे २ मनुष्य अधर्म करके स्वयं कहता है, तैस २
कैचुली से साँप की तरह उस पाप में छूटना है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृह्णति ।

तथा तथा शरीरं तत्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापान् प्रमुच्यते ।

नैवं कुर्या पुनरिति निवृत्त्या पूर्यते तु सः ॥ २३० ॥

जैसे २ उसका मन पाप-कर्म की निन्दा करता है, वैसे २
उसका वह शरीर उस पाप में छूटना है । ॥ २२९ ॥ पाप करके
पश्चात्ताप करने से उस पाप में छूटना है, फिर ऐसा नहीं कहेगा,
(ऐसे दृढ़ संकल्प द्वारा) निवृत्ति से वह पवित्र हो जाता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।

मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।

तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।

तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

इस प्रकार परलोक में कर्म के फल का परिणाम मन से
सोचकर मन वाणी और शरीर से सदा शुभ कर्म करे ॥ २३१ ॥

* आपत्काल में अर्थात् जब प्रायश्चित्ती प्रायश्चित्त करने के वा
चेद् पाठ करने के असमर्थ हो ।

† शरीर=आत्मा मेधा० गोवि० कुल्लू० नंद०) सूक्ष्म शरीर (नारा०)

भूत मे वा जानकर निन्दित कर्म करके उससे छुटना चाहता हुआ दुबारा न करे ॥ २३२ ॥ (तप कहते हैं) जिस कर्मके करने पर मन हल्का न रहे (मन पर बोझ पड़जाए) उसमें उतना तप करे, जितना संतोष देने वाला हो ॥ २३३ ॥

तपोमृलमिदं सर्वं देवमानृषिकं सुखम् ।

तपोमध्यं ब्रूथैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

सारा सुख जो देवताओं और मनुष्यों का है, वेद के द्रष्टा ऋषि बतलाते हैं, इसका अर्थात् तप, मध्य तप और अन्त तप * ॥ २३४ ॥ ब्राह्मण का तप ज्ञान है, क्षत्रिय का तप रक्षा करना है, वैश्य का तप व्यापार है, और शूद्र का तप सेवा है ॥ २३५ ॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमृलानिलाशनाः ।

तपमैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदोविद्या देवी च विविधा स्थितिः ।

तपमैव प्रमिच्छन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम् ।

सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

अपने ऊपर बश रखने वाले, फल मूल और वायु के खाने

* सुख की तप से उत्पत्ति, तप से स्थिति, और तप से पूर्णता होती है ।

वाले ऋषि केवल तप से ही चर-अचर समेत त्रिलोकी को देखते हैं ॥ २३६ ॥ औषध, अरोगता, विद्या, और अनेक प्रकार की दैवी स्थिति, तप से प्राप्त होते हैं, क्योंकि तप इन सब का साधन है*॥ २३७ ॥ जिससे पार होना कठिन है, जिसको पाना कठिन है, जिस पर चढ़ना कठिन है, जिसको करना कठिन है, वह सब तप से होजाता है, तप की शक्ति को कोई नहीं उलंघ सकता ॥ २३८ ॥

महापातिकनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।

तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

कीटाश्चाहिपतंगाश्च पशवश्च वयांसि च ।

स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।

तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

महापातकी और दूसरे भी अकार्य करने वाले, भली भाँति तपे तप द्वारा उस पाप से छूटजाते हैं ॥ २३९ ॥ कीड़े, पतंगे, साँप, पशु, पक्षी और स्थावर जीव (वृक्ष बेल आदि) तप के बल से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं † ॥ २४० ॥ जो कुछ पाप

* मेघा० गोवि० नारा० 'अगदो' के स्थान 'अगदाः'। औषधं = रसायन, अगद = रोग-नाशक औषध (मेघा०) विष-नाशक मन्त्र रूप औषध (नारा०) दैवी स्थिति इन्द्रादि देवता रूप से स्थिति । (कुल्लू०)

† नारा० 'कीटाश्च' के स्थान 'श्वानश्च = कुत्ते' पढ़ता है। पक्षी आदि का तप देखो कपोताख्यान (महाभा० १२) राघ० कहता है, कीड़े आदि का दुःख भोगना ही तप है, जो अपने छोटे कर्मों का फल भोग रहे हैं।

मन बाणी वा शरीर से मनुष्य करते हैं, उस-सारे पाप को तपो-
धनी पुरुष तप से ही जल्दी जला देते हैं ॥ २४१ ॥

तपमैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।

इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।

तथैववेदानृपयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा माहाभाग्यं प्रचक्षते ।

सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुद्भवम् ॥२४४॥

तप से ही शुद्ध हुए ब्राह्मण के यज्ञों को देवता स्वीकार
करते हैं, और उसकी कामनाएं पूरी करते हैं ॥ २४४ ॥ तप से
ही प्रजापति प्रभु ने इस शास्त्र को रचा, वैसे ही ऋषि तप से ही
वेदों को प्राप्त हुए ॥२४३॥ देवता इस सब(जगत)की तप से पवित्र
उत्पत्ति देखने हुए इस प्रकार यह तप का माहात्म्य कहते हैं*२४४
वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।

नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥२४५॥

यथैवस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।

तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२४६॥

यथाशक्ति प्रतिदिन वेदाभ्यास, महायज्ञों का करना,
(अपराध को) क्षमा करना, यह कर्म महापातकों से उत्पन्न हुए

* छपे पुस्तकों ' पुण्यमुत्तमं ' पाठ है, पर टीकाकारों के सब
के अनुसार 'पुण्यमुद्भवं' पाठ होना चाहिये, सो ठीक कर दिया है ।

पापों को भी, जल्दी नष्ट कर देते हैं * ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि प्राप्त हुई लकड़ी को अपने तेज से झट दग्ध कर देता है, वैसे वेदवेत्ता पुरुष ज्ञान की अग्नि में मारे पापों को दग्ध कर देता है ।

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।

अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधन ॥ २४७ ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि भ्रूणहणमासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

यह (ब्रह्महत्यादि) पापों का यथाविधि प्रायश्चित्त कहा है, इसमें आगे रहस्यों का प्रायश्चित्त जानो ॥ २४७ ॥ ओंकार, और व्याहृतियों सहित प्रति दिन किये सोलह प्राणायाम, महीने में गर्भ हत्यारे को भी पवित्र कर देते हैं † ॥ २४८ ॥

कौत्सं जप्त्वा पइत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।

माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥ २४९ ॥

सकृज्जप्त्वा स्यवाभीयं शिवमंकल्पमेव च ।

अपहत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

कौत्स (कुत्स ऋषि से देखा) ' अपः ' यह मूक्त (ऋग्वेद १।९७), वासिष्ठ (वसिष्ठ से देखा) ' प्रति ' यह मूच (ऋग्वेद ७।८०) माहित्र (महित्रीणामत्रो, इसादि मूक्त) (ऋग्वेद १.८१] १.८५) और शुद्धवती ऋचाओं (ऋग्वेद ८।८।७ ९) का स्वाध्याय

* वासि० २७।७ याज्ञ० ३।३११ † वासि० २७।१-२

† वासि० २६।४ बौध० ४।१।२९ विष्णु० ५५।५

करके सुरा पीने वाला भी शुद्ध होता है *॥२४९॥ अस्यवामीय (मूक्त) (ऋग् १।१६४) को वा शिव संकल्प (यजु ३४।१-६) को एक बार जपकर सोना चुराने वाला क्षण से निर्मल होता है। हविष्यन्तीयमभ्यस्य नतमंहइतीति च ।

जपित्वापौरुषंसूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।

अवेत्यृचं जपेद्वदं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥२५२॥

हविष्यन्तीय (मूक्त-ऋग् १०।८८) और 'नतमंहः' (ऋग् २।२३।२) का अभ्यास करके, और पुरुष सूक्त (ऋग् १०।१०) का जप करके गुरुस्त्रीगामी (पाप से) छूटता है * ॥ २५१ ॥ छोटे बड़े पपों को दूर करना चाहता हुआ 'अव' (ऋग् १।२४।१४) इस ऋचा का, अथवा 'यत्किञ्चेदं' (ऋग् ७।८१।२) इस ऋचा का वर्ष भर जप करे ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वाचान्नं विगर्हितम् ।

जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्यहात् ॥ २५३ ॥

सौमारौद्रं तु बह्वना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति ।

सूत्रन्त्यामाचरन्स्नानमर्घ्यमभिति च तृचम् ॥२५४॥

दान के अयोग्य का दान लेकर, और निन्दित अन्न खाकर मनुष्य तरत्समन्दीय (१।५८।१-४) जपता हुआ तीन दिन से

* वासि० २६।५ † वासि० २६।६ 'यहां एक बार' से पूरा महीना प्रति दिन एक २ बार अभिप्रेत है (गावि० कुल्लू० नारा०) ‡ वासि० २६।७ याज्ञ० ३।३०।५

पवित्र होता है * ॥ २५३ ॥ नदी में स्नान करके महीना भर सोम और रुद्र देवता वाला सूक्त (६।७।१-४) और 'अर्यम्णम्' (इत्यादि) तीन ऋचा (ऋग्० ४।२।४-६) का स्वाध्याय करता हुआ बहुत पापों वाला शुद्ध होता है ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।

अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५५॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।

सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नमस्तृचम् ॥२५६॥

महापातकसंयुक्तोऽनु गच्छेद्वाः समाहितः ।

अभ्यस्याब्दं पावमानी भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५७॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।

मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः ।

मुच्यते पातकैः सर्वैः स्त्रिर्जपित्वाऽधमर्षणम् ॥२५९॥

यथाश्वमेधः क्रतुराद् सर्वपापापनोदनः ।

तथाऽधमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।

ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥

(किसी तरह का भी) पापी ' इन्द्रम् ' इत्यादि (ऋग्वेद १।१०।१-७) सात ऋचाएं छः महीने जपे, वा जल में

* गौत० २४।२-३ बौद्धा० ४।२।२-१

निन्दित बात (मैथुन वा मलमूत्र त्याग) करके महीना भर भीख मांग कर खाए ॥ २५५ ॥ शाकल होम के मन्त्रों (यजु० ८।१.३) से वर्ष भर घी का होम करे, वा 'नमः' (ऋग्० ६।५.१।८) इस ऋचा को जप करे, तो द्विन बड़े भारी पाप को भी दूर करता है * ॥ २५६ ॥ महापातकों से युक्त हुआ सावधान होकर गौओं के पीछे जाए, और भिक्षा के अन्न का आहार करता हुआ वर्ष भर पावमानी ऋचाओं (ऋग्वेद मण्डल ९) को जप करके शुद्ध होता है ॥ २५७ ॥ तीन पराकों से पवित्र हुआ शुद्ध हो जंगल में तीनवार वेदसंहिता का अभ्यास करके सारे पापों से छूट जाता है † ॥ २५८ ॥ सावधान हो तीन दिन उपवास करे, दिन में तीन बार स्नान करे, और तीन बार अघमर्षण सूक्त (१.०।१.१०) का जप करे, तो सारे पातकों से छूट जाता है ‡ ॥ २५९ ॥ जैसे यज्ञों का राजा अश्वमेध सारे पापों का दूर करने वाला है, वैश्वे अघमर्षण सूक्त सारे पापों को दूर करने वाला है ॥ २६० ॥ इन तीनों लोकों को भी मार कर, और जहाँ तहाँ से भी खाता हुआ ऋग्वेद को धारण करता हुआ ब्राह्मण (आदि) किसी पाप को नहीं प्राप्त होता § ॥ २६१ ॥
 ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।

साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

* नारा० कहता है 'नमः' इस ऋचा को प्रति दिन १०८ बार पढ़े † पराक देखो पूर्व० २१५ । वेदसंहिता=मन्त्र ब्राह्मण दोनों (कुम्भू० राघ०) केवल मन्त्र संहिता (नारा०) यह श्लोक 'अन-श्रन्पारायण' का वर्णन करता है, त्रिसका पूरा वर्णन बोधा० ३।२ में है, § २५९-२६० वासि० २६।८ गौत० २४।१०-१२ बोधा० ३।५; ३।२।१५ याज्ञ० ३।३०२ विष्णु० ५५।७ § वासि० २७।२

यथा महाहृदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टं विनश्यति ।
 तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥
 ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
 एषज्ञेयस्त्रिवृद्धेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ २६४ ॥
 आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयो यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
 सगुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥२६५॥

ऋचाओं की संहिता वा यजुओं की संहिता, वा उपनिषद् समेत सामों की संहिता को एकाग्र हो तीन बार अभ्यास करके सारे पापों से छुट जाता है * ॥ २६२ ॥ जैसे मट्टी का ढेला बड़ी झील में प्रवेश करके जल्दी ही बे पता होजाता है, वैसा हर एक दुष्कर्म तीन लड़वाले (ऋचा, यजु, साम मन्त्रों वाले) वेद में डूब जाता है ॥ २६३ ॥ ऋचाएं, यजु, और अनेक प्रकार के (तृहृत्थन्तर आदि) साम और अन्य † यह तीन लड़वाला वेद जानना चाहिये, जो इसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है ॥२६४॥ (सारे वेदों के) आदि में होने वाला,

* बौध्वा० ४।५।२९ † गोवि० के अनुसार 'क्षिप्रं' पाठ कर दिया है, जो छपे पुस्तकों में 'क्षिप्तं' है ‡ अन्य से इन तीनों के ब्राह्मण अभिप्रेत है (कुल्लू०) अन्यानि के स्थान 'मेधा० गोवि० आद्यानि पढ़ते हैं अर्थ मुख्य । इस मुख्य का साम से अन्वय करके मेधा० दो तात्पर्य लेता है, मुख्य साम, जो संहिता में आए हैं, न कि वह जो ब्राह्मण में आए हैं, अथवा जो संहिता पाठ से पढ़े गए हैं, न कि पद पाठ, वा क्रम पाठ से । गोवि० इनमें से पहला तात्पर्य ही मानता है ।

तीन अक्षरों वाला ब्रह्म (ओम्) है, जिस पर वेद की बुनियाद है, वह एक दूसरा तीन लड़ का गुह्य वेद है, जो उसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है ॥ २६५ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

चातुर्वर्ण्यस्य कृस्त्रोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।

कर्मणां फलनिर्वृतिं शंस न स्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

मतानुवाच धर्मात्मा महर्षिन् मानवो भृगुः ।

अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।

कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः ॥ ३ ॥

हे निष्पाप तूने चारों वर्णों का धर्म सम्पूर्ण कह दिया है, अब हमें कर्मों की परली (मरने के पीछे) फल सिद्धि ठीक २ बतलाएं * ॥ १ ॥ वह मनु का पुत्र धर्मात्मा भृगु उन महर्षियों से बोला, इस सारे कर्मयोग का निर्णय सुनो ॥ २ ॥ शुभ-अशुभ फल वाला कर्म मनव भी और शरीर से उत्पन्न होता है, और मनुष्यों की उत्तम अधम मध्यम गतियों कर्म से उत्पन्न होती हैं ॥ ३ ॥

तस्येह त्रिविधम्यापि त्र्यविष्टानस्य देहिनः ।

दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

* ' तत्त्वतः पराम् ' मुक्ति की ठीक २ बतलाएं (राघ०)

परद्रव्येष्वभिधानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
 वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥
 पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
 असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥
 अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
 परदारोपसेवा च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥
 मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
 वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
 शरीरजैः कर्मदापैर्याति स्थावरतां नरः ।
 वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

उम देही का जो तीन प्रकार का तीन (मन, बाणी, शरीर) के आश्रित दस लक्षण से युक्त कर्म है, उमका मेरक मन को जाने * ॥ ४ ॥ (वह दस लक्षण यह हैं) दूसरे के धन का चिन्तन (किम तरह मेरे हाथ आजाए), मन से अनिष्ट का चिन्तन, और मिथ्या दृढ़ विश्वास (परलोक कुछ नहीं, सब लूटने का ढकौमला बनाया हुआ है इत्यादि) यह तीन प्रकार का मानस कर्म है † ॥ ५ ॥ कठोर, झूठ, सब प्रकार की चुगली, और निष्प्रयोजन बकवास, यह चार प्रकार का बाणी का (पाप) है ॥ ६ ॥ बिना दिये (किसी का धन) लेना,

* तीन प्रकार का उत्तम, मध्यम, निकृष्ट । दस लक्षण, जो आगे ५-७ में कहे हैं † अनिष्ट चिन्तन=दूसरे के बध आदि का चिन्तन, वा निषिद्ध ब्रह्महत्यादि का चिन्तन । ५-२ याज्ञ० ३।१३१ ; १३४-१३६

(शास्त्र) अज्ञा से बिना हिंसा, परस्त्री का सेवन यह तीन प्रकार का शारीर माना है ॥ ७ ॥ मन से किये शुभ-अशुभ कर्म को मन से, बाणी से किये को बाणी से, और शरीर से किये को शरीर से भोगना है ॥ ८ ॥ शरीर से किये कर्म दोषों से मनुष्य स्थावर योनि (वृक्षादि योनि) को, बाणी से किये कर्मों से पक्षी और पशु योनि को और मन से किये पापों से नीच योनि (चण्डादि जन्म) को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथमनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।

यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीत स उच्यते ॥१०॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।

कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥११॥

बाणी का दण्ड, मन का दण्ड, शरीर का दण्ड, जिसकी बुद्धि में यह तीन दण्ड स्थित हैं, वह त्रिदण्डी कहलाता है * ॥ १० ॥ मनुष्य इन तीनों दण्डों को सब जीवों के विषय में लगाकर, काम और क्रोध को रोक कर भिद्धि को प्राप्त होता है

योऽम्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥

जीवमंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

* दण्डी संन्यासी तीन दण्डों को इकट्ठा बांधकर हाथ में रखते हैं। यह श्लोक बतलाता है, कि वह तीन दण्ड इसलिये हैं, कि मनुष्य को अपने मन, बाणी और शरीर को अपने बस में रखना चाहिये, उनको दमन करना चाहिये।

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।

उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।

उच्चावचानिभूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

इस शरीर का जो प्रवर्तक (काम में लगाने वाला) है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, और जो कर्म करता है, उसको बुद्धिमान् भूतत्वा (भूतों का बना-शरीर) कहते हैं ॥ १२ ॥ एक और अन्तर्गता*जीव नामवाला है, जो सब देहधारियों का स्वभाविक साथी है, जिसमें हर एक जन्म में सारे सुख दुःख को जानता है ॥ १३ ॥ वह दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ (पृथिवी आदि-) भूतों के साथ मिले हुए ऊँचे नीचे सब भूतों में स्थित उस (परमात्मा) के आश्रय रहते हैं ॥ १४ ॥ उस (परमात्मा) के शरीर से अमंख्य मूर्तियें निकली हैं, जो ऊँचे नीचे भूतों को सदा चेष्टा कराती हैं†

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।

शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।

तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदकान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।

व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

मरने के पीछे पापियों के लिये (नरक की) यातना (भोगने)

* जीव से यहां महत् तत्त्व-बुद्धि, लिंग शरीर अभिप्रेत है, जैसाकि अगले श्लोक में महान् कहा है † मूर्तियें=मिश्रदेह ।

के लिये (भूतों की) पांच मात्राओं से एक और दृढ़ * शरीर उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥ उस शरीर में यम से दी उन यातनाओं को भोगकर उन्हीं भूत मात्राओं में वह अलग २ फिर लीन होजाते हैं ॥ १७ ॥ वह विषयामक्ति से उत्पन्न हुए दुःख फल वाले पापों को भोगकर, पाप में छूटा हुआ फिर उन दोनों बड़े पराक्रम वालों (महान् और परमात्मा) को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥
तौ धर्म पश्यन्तस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।

याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।

तैरेव चावृत्तोभूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

वह सावधान हो इसके पुण्य पाप दोनों को इकट्ठा देखते हैं, जिसमें युक्त हुआ यह जीव परलोक और इस लोक में सुख दुःख को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ यदि वह धर्म अधिक और पाप थोड़ा करता है, तब वह उन्हीं भूतों (स्थूल देह से खींच कर साथ लिये भूतों) में लपेटा हुआ स्वर्ग में सुख भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।

तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य सजीवो वीतकल्मषः ।

तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यदि अधिक अधर्म और थोड़ा धर्म सेवन करता है, तब

* ध्रुव का अर्थ दृढ़ है । गोवि० और नारा० ने 'ध्रुवं' के स्थान 'दृढं' पढ़ा है ।

बह इन भूतों से त्यागा हुआ (मरा हुआ) यम की दी यातनाओं को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ यम की यातनाएं पाकर दूर हुए पाप वाला वह जीव फिर उन्हीं पांचों भूतों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वाऽभ्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।

यैर्व्याप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वान् शेषतः ॥ २४ ॥

इस जीव की धर्म और अधर्म से यह गतियाँ अपने चित्त से देखकर मन को सदा धर्म में लगाए ॥ २३ ॥ सत्त्व, रज, तम यह, तीन आत्मा (=महान् आत्मा) के गुण जाने, जिन में वह महान् आत्मा इन सारे भावों को पूरा २ व्याप कर स्थित है ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणोदेहे साकल्येनातिरिच्यते ।

स तदा ददगुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजःस्मृतम् ।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।

प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।

अग्रयोमध्योजघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

(यद्यपि सारे देह इन तीनों गुणों वाले हैं तथापि) इनमें से जो गुण जब देह * में पूरा २ बढ़ता है, वह तब उस देही को उस गुण की अधिकता वाला (उस गुण के अधिक लक्षणों वाला) बना देता है ॥ २५ ॥ सत्त्व (का लक्षण) ज्ञान है, तम का अज्ञान, रागद्वेष रजस् कहे हैं । इन (गुणों) का यह लक्षण सब प्राणिशरीरों का व्यापक है (सब शरीरों में पाया जाता है) ॥ २६ ॥ सो मनुष्य जब अपने अन्दर सुखसे भरा हुआ गहरी शान्ति वाला, मानों शुद्ध प्रकाश वाला जो कुछ (संवेदन) प्रतीत करे, उसे सत्त्व निश्चय करे ॥ २७ ॥ और जो (संवेदन) दुःख से युक्त, और आत्मा का सन्तोषकारी न हो, उसको रजस् जाने, जिसका रोकना कठिन † और देहधारियों को सदा (विषयों की ओर) खींचता है ॥ २८ ॥ जो (संवेदन) भूल से युक्त है, जिसका विषय स्फुट नहीं । जो तर्क से निश्चित न हो, (बाह्य इन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियों से) निश्चित न हो, उसको तम निश्चय करें ॥ २९ ॥ इन तीनों गुण के यथा क्रम उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फल की जो उत्पत्ति है, उसको पूरा २ कहूंगा

* लिङ्ग देह में (राघ०) पूर्व कर्म की प्रबलता के वश इस देह में कोई गुण प्रबल होता है (मेघा० गोवि०) † मेघा० 'अप्रतिघं' के स्थान 'अप्रतिपं' पढ़कर 'अप्रत्यक्ष' अर्थ लेता है । छपे पुस्तकों में भी यही पाठ है । पर दूसरी टीकाओं का पाठ 'अप्रतिघं' है अर्थ भी स्पष्ट है सो कर दिया है ‡ 'अव्यक्तं विषयात्मकं' पाठ है । गोवि० कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार 'अव्यक्त विषयात्मकं' है ।

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥३१॥

आरम्भरुचिनाऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।

विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय-संयम, (दान-
धर्म का अनुष्ठान, आत्म-विचार यह सत्त्व गुण के चिन्ह हैं ॥३१॥
(कामना से) कर्मों में रुचि, धीरज न होना, निषिद्ध कर्मों का
स्वीकार, लगातार विषयों की सेवा यह रजो-गुण के चिन्ह हैं ३२

लोभः स्वप्नाऽध्यातः कौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।

इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशोगुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

लोभ, निद्रा, कायश्चन, क्रूरपन, नास्तिकपन, आचार का
साग, मांगना और प्रमाद यह तमो-गुण के लक्षण हैं ॥ ३३ ॥
तीन (कालों) में * रहने वाले इन तीनों गुणों का क्रमशः
यह संक्षिप्त अपने २ गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।

तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥३५॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।

न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

* नन्द० 'त्रिषु' के स्थान 'नृषु' = मनुष्यों में, पढ़ता है ।

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्नलज्जति चाचरन् ।

येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥३७॥

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।

सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

जिम कर्म को करने के पीछे, करते हुए, वा करने लगे, लज्जा आती है, वह सब, बुद्धिमान् को तमो-गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥ ३५ ॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि चाहता है, और असिद्धि में शोक नहीं करता है, * वह रजो-गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥ ३६ ॥ जब (किसी विषय को) पूरे तौर से जानना चाहता है, जिसका आचरण करता हुआ लज्जा नहीं करता है, जिससे इसका आत्मा प्रसन्न होता है, वह सत्त्व गुण का चिन्ह है ॥ ३७ ॥ तम का लक्षण काम है, रज का अर्थ है, सत्त्व का लक्षण धर्म है, इनमें से अगला २ श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥
येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।

तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥३९॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च-राजसाः ।

तिर्यक्तत्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

त्रिविधात्रिविधैषातु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।

अधमा मध्यमाऽग्रया च कर्मविद्याविशेषतः ॥४१॥

* यदि उस काम में सफलता न हो, तो दूसरा काम आरम्भ करता है, शोक से छोड़ नहीं देता है ।

इनमें से जिस गुण से जो पुरुष जिन २ गतियों को प्राप्त होता है, वह इस सारे जगत् की संक्षेप से यथा क्रम कहूंगा॥३९॥ सत्त्व-गुणी देवता भाव को प्राप्त होते हैं, रजो-गुणी मनुष्य भाव को, तमो-गुणी तिर्यक्-योनि को प्राप्त होते हैं, यह तीन प्रकार की गति हैं ॥४०॥ गुणों की गति कर्म और उपासना के भेद से उत्तम मध्यम और अधम तीन २ प्रकार की जाननी चाहिये ॥४१॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपः ।

पशवश्चमृगाश्चैव जघन्या तामसीगतिः ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्चतुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्चर्हिताः ।

सिंहाव्याघ्रावराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीभूतमा गतिः ॥४४॥

पोदे, कृमि, कीड़े, मछलिये, सांप, कछुए *, पशु और भृग यह तमो-गुणी अधम गति है ॥ ४२ ॥ हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ †, सिंह, बाघ, और सूअर, यह तमो-गुणी मध्यम गति है ॥-४३॥ चारण, सुपर्ण ‡, दम्भी पुरुष, राक्षस और पिशाच यह तमो-गुणी उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

* 'सकच्छपाः' पाठ (गोवि० कुल्लू० राघ०) के अनुसार है । पर मेघा० नारा० नन्द० के अनुसार 'सरीसृपाः' = रींगन वाले, पाठ है † म्लेच्छ = शबर आदि (नारा०) ‡ चारण = कथक गायक आदि (मेघा०) रस्सी आदि पर नाचने वाले (नारा०) नट (गोवि० कुल्लू०) देवयोनि विशेष (राघ०) सुपर्ण = पक्षिराज ।

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाश्च कुवृत्तयः ।

सूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।

वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधाऽनुचराश्चये ।

तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीष्टतमा गतिः ॥ ४७ ॥

तापसा यतयो विप्रा येच वैमानिका गणाः ।

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः॥४८॥

झल्ल, मल्ल, नट और खोटी जीविकाओं वाले पुरुष, जुए और मद्यपान के व्यसनी, यह रजो-गुणी अधम गति है*॥४५॥ राजे, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित, और वाद-युद्ध के प्यारे† यह रजो-गुणी मध्यम गति है ॥४६॥ गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, और जो देवता के अनुचर हैं (विद्याधर आदि) तथा सारी अप्सराएं यह रजो-गुणी उत्तम गति है ‡ ॥४७॥ तपस्वी, यति, ब्राह्मण, विमानों पर विचरने वाले, नक्षत्र और दैत्य यह सत्त्व-गुणी अधमगति है ।

* झल्ल, मल्ल, जो पूर्व (१०।२ में) कहे हैं (कुल्लू० नारा०) झल्ल=गतकेबाज़, मल्ल=पहलवान (मेधा० कुल्लू०) मेधा० गोवि० नारा० के अनुसार 'पुरुषाश्चकुवृत्तयः' पाठ हमने स्वीकार किया है, जोकि कुल्लू० और छपे पुस्तकों के अनुसार 'पुरुषाः शस्त्र वृत्तयः' है । † वादयुद्ध=शास्त्रार्थ, अथवा वाद=विवाद और युद्ध लड़ाई । नन्द० 'दान युद्ध प्रधानाश्च' दान देने के प्यारे और युद्ध के प्यारे पढ़ता है ‡ गुह्यक=बच्चों को हानि पहुंचाने वाले यक्ष=धन के रखवाले (नारा०)

यज्वानऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
 पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥४९॥
 ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमव च ।
 उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥
 एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
 त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥

यज्ञ करने वाले, ऋषि, देवता, वेद, ज्योति, वत्सर, पितर और साध्य यह दूमरी सत्त्व-गुणी गति है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा, विश्व के रचने वाले (मरीचि आदि), धर्म, महान्, अव्यक्त, इसको बुद्धिमान् सत्त्व-गुणी उत्तमगति कहते हैं ॥ ५० ॥ यह तीन प्रकार के कर्म (मानव-वाचिक, कायिक) की सब जीवों से सम्बन्ध रखने वाली तीन २ प्रकार की सारी गति पूरी २ कहदी है ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽमेवनेन च ।
 पापान्संयान्ति संसारानऽविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥
 यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।
 क्रमशो याति लोकेऽस्मिन्स्तत्तत्सर्वं निबोधन ॥५३॥
 बहून्वर्षगणान्घोरात्ररकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।
 संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥५४॥

इन्द्रियों में लगाव से, धर्म पर न चलने से, मूर्ख अधम पुरुष पाप गतियों को प्राप्त होते हैं * ॥ ५२ ॥ जिस २ कर्म से

* याज्ञ० ३।२१९ मूर्ख = जिन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया (गोवि० कुल्लू०)

यह जीव जिस २ योनि को इस लोक में क्रमशः प्राप्त होता है, उस सारे को जानो ॥ ५३ ॥ महापातकी पुरुष बहुत वर्ष समूह घोर नरकों में पड़कर, उसके क्षय से इन जन्मों को प्राप्त होते हैं।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।

चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

कृमिकीटपतंगानां विडम्बुजां चैव पक्षिणाम् ।

हिंस्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ ५६ ॥

ब्रह्महत्या करने वाला कुत्ते, सूअर, गधे, ऊँट, गौ, बकरी, मृग, पक्षी, चण्डाल, और पुक्कस की योनि को प्राप्त होता है * ॥ ५५ ॥ सुरा पीने वाला ब्राह्मण कृमि, कीड़े, पतंगे, मैछा खाने वाले पक्षियों और हिंस्र जीवों की योनि को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।

हिंसाणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥

तृणगुल्मलतानां च कव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।

क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

(सोना) चुराने वाला ब्राह्मण मकड़ी, साँप, गिरगिट, जलचर तिर्य-योनियों (मकर आदि) हिंस्र (राक्षसों) और पिशाचों के जन्मको हजार बार प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ गुरुस्त्रीगामी पुरुष घास, झाड़ी, बेल, कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि), दाढ़ों वाले और क्रूर कर्म करने वालों की योनि को सैकड़ों बार प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

हिंसा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
 परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥५९॥
 संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
 आहत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

हिंसकजन कच्चा मांस खाने वाले बनते हैं, अभक्ष्य के खाने वाले कृमि बनते हैं, चोर आपस में एक दूसरे के खाने वाले जन्तु बनते हैं, अन्त्यज स्त्रियों के सेवने वाले प्रेत बनते हैं। ५९। (जितना समय पतितों के साथ संयोग से पतित होता है, उतना समय) पतितों के साथ संयोग को प्राप्त होकर, वा दूसरे की स्त्री से संयोग करके तथा ब्राह्मण का धन चुराकर ब्रह्म राक्षस होता है* ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हत्वा लोभेन मानवः ।
 विविधानिचरत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥
 धान्यं हत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
 मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥६२॥

लोभ से मणि मोती गुलियें और अनेक प्रकार के रत्न चुराकर मनुष्य हेमकारों * में जन्म लेता है ॥६१॥ अनाज को चुराकर चूहा, कांस को हंस, जल को जल कुकड़, शहद को, डांस, दूध को कौआ, रस को कुत्ता, और घी चुराकर नेउला होता है † ॥

मांसं गृध्रो वपां मदगुस्तैलं तैलपकः खगः ।
 चीरीवाकस्तु लवणं वलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

* ६०-६१ याज्ञ३।२।२-२।३† हेमकार=पक्षी विशेष । ‡ याज्ञ०३।२।४-२।५ विष्णु०४४।१५-२० रस=इंस आदि का रस (कुल्लू०) पारा नारा०)

कौशेयं तित्तिरिहत्वा क्षौमं हत्वा तु दर्दुरः ।

कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधां गां वाग्गुदोऽगुडम् ॥६४॥

मांस को चुराकर गिद्ध, चर्बी को चुराकर महु, तेल को चुराकर तेलपायिक पक्षी, लवण को चुराकर झींगर (बींटा) दही को चुराकर बलाका पक्षी होता है * ॥६३॥ रेदपी कपड़ा चुराकर तिन्नर, अलसी को चुराकर मेंडक, कपास का कपड़ा चुराकर क्रौञ्च, गौ को चुराकर गोह, गुड़ को चुराकर चमगादड़ होता है ॥६४॥

लुल्लुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकंतुवर्हिणः ।

श्ववित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥

बको भवति हत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।

रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

उत्तम गन्धों को चुराकर लुल्लुन्दर, पत्तों के शाक को चुराकर मोर, सब प्रकार का पका अन्न चुराकर सेह, और कच्चे अन्न को चुराकर शल्यक होता है ‡ ॥ ६५ ॥ अग्नि को चुराकर बगला होता है, (घर का) सामान (छाज, मूसल आदि) चुराकर गृहकारी, लाल वस्त्र चुराकर चकोर होता है § ॥६६॥

वृकोभृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।

स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥

* याज्ञ० ३।२११, २१५ विष्णु० ४४।२१-२१ वषा के स्थान मेघा० गोवि० नन्द० वसा० पढ़ते हैं † याज्ञ० ३।२१५ विष्णु० ४४।२५-२० ‡ याज्ञ० ३।२१४ विष्णु० ४४।३१-३४ § याज्ञ० ३।२१४-२१५ विष्णु० ४४।३५-३७

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य बलान्नरः ।

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः॥ ६८ ॥

मृग और हाथी को चुराकर भेड़िया, घोड़े को चुराकर बाघ, फल-मूल को चुराकर बन्दर, स्त्री को चुराकर रीछ, पानी को चुराकर पिपीहा, यान को चुराकर ऊंट और पशुओं को चुराकर बकरा होता है * ॥ ६७ ॥ चाहे कुछ ही (असार भी) दूसरे की वस्तु चुराकर बलवान् मनुष्य अवश्य तिर्यग्योनि को प्राप्त होता है, और होम से पहिले हवि को खाकर भी ॥ ६८ ॥

स्त्रियोप्येतेन कल्पेन हत्वा दोषमवाप्नुयुः ।

एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।

पापान्सं सृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

वान्ताश्चुल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।

अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।

चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।

तथातथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

स्त्रियें भी चुराकर इसी प्रकार दोष को प्राप्त होती हैं,

* याज्ञ ३।२।४ विष्णु०४४।३८-४३ † याज्ञ० ३।२।७ विष्णु०४४।४५

इन्हीं जन्तुओं की वह स्त्रियें बनती हैं * ॥ ६९ ॥
 (इस प्रकार निषिद्ध के अनुष्ठान का फल कहा, अब विहित के न करने का फल कहते हैं-) बिना आपत्काल के अपने २ कर्मों से च्युत हुए वर्ण निन्दित योनियों को पाकर, फिर दस्युओं के दास बनते हैं † ॥ ७० ॥ अपने धर्म से च्युत हुआ ब्राह्मण बमन खाने वाला ज्वाला-मुख प्रेत होता है, क्षत्रिय अमेध्य, और मुरदों के खाने वाला कटपूतन होता है ‡ ॥ ७१ ॥ वैश्य अपने धर्म से च्युत हुआ पीब खाने वाला मैत्राक्ष-ज्योतिक प्रेत होता है, शूद्र चैलाशक होता है ॥ ७२ ॥ विषयों के लालची ज्यों २ विषयों का सेवन करते हैं, वैसे २ उनमें उनकी कुशलता होती है तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।

संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोप्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।

असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनीनि च ॥ ७५ ॥

विविधाश्चैव संपीडाः काकोल्लुकैश्च भक्षणम् ।

करम्भबालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

विष्णु० ४२-४१† मेघा० गोवि० नारा० नन्द० राघ० के अनुसार 'दस्युषु' पाठ रक्खा है, जो कि छपे पुस्तकों में 'शत्रुषु' है । गोवि० ने 'दस्युषु' का अर्थ 'शत्रुषु' किया है, और कुल्लू० ने भी 'शत्रुषु' लिया है । मेघा० का अर्थ 'चोर, डाकू' है । नारा० के अनुसार जंगली जातियें शबर आदि । नन्द० 'प्रेष्यतां' के स्थान 'प्रेततां' पढ़ता है । अर्थात् दस्यु देशों में प्रेत बनता है और यह अगले श्लोक के अनुसारी है ‡ ज्वालामुख=जिसके मुख से ज्वाला निकलती है । कटपूतन=दुर्गन्धित नाक वाला (कुल्लू० नारा० राघ० नन्द०)

वह थोड़ी बुद्धि वाले उन कर्मों के अभ्यास से उन २ योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥ तामिस्र आदि घोर नरकों में घूमते हैं, और बांधने छुड़ने वाले अमिषत्रवन आदि नरकों को प्राप्त होते हैं * ॥ ७५ ॥ अनेक प्रकार से पीड़ा जाना, कौष, उल्लुओं में खाया जाना, अत्यन्त तपी बालु के सन्ताप को और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं † ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।

शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥

असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।

बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अधिक दुःख वाली तिर्यग्योनियों में नित्य २ जन्म पाते हैं, सरदी गर्मी की चोटों और अनेक प्रकार के भयों को प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥ बार २ गर्भ स्थान में वाम, दुःख देने वाला जन्म, काठ की बेड़ियों और लोगों के दासपन को प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।

द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

जरांचैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।

क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेकं च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

* ७५-७६ देखो पूर्व० ४। ८८-८९ याज्ञ० ३। २०६। २२१-२२५
† मेघा० 'करम्भबालुकातप्तः' पढ़ता है। अर्थ-कीचड़ और रेत से तपा हुआ 'च दारुणान्' के स्थान मेघा० गोवि० राघ० नन्द० 'सुदुःसहान्' न सहारे जाने वाले, पढ़ते हैं।

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्रुते ॥ ८१ ॥

एष सर्वःसमुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।

नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

बन्धुओं और प्यारों से वियोग, दुर्जनों के साथ संवास, धन कमाने का परिश्रम और धन का नाश, (कष्ट से) मित्र का मिलना, (बिना कारण) शत्रुओं का प्रकट होना, इन सारे दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७९ ॥ न हटाई जाने वाली वृद्धावस्था, रोगों से पीड़ा, भ्रांति २ के क्लेश, और न जीती जाने वाली मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥ जैसे २ भाव (सात्विक, राजस वा तामस) से जिन २ कर्म का सेवन करता है, वैसे शरीर से उस २ फल को भोगता है ॥ ८१ ॥ यह तुम्हें (विहित निषिद्ध) सारा कर्मों का फलोदय कहा है, अब यह मोक्ष देने वाला ब्राह्मण का कर्म जानो वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरंपरम् ॥ ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।

किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामत्मज्ञानं परं स्मृतम् ।

तद्धयग्रं सर्वविद्यानां प्रप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

षण्णां मेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।

श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, और गुरु-मेवा यह उत्तम मोक्ष साधन है * ॥ ८३ ॥ इन सारे शुभ कर्मों में से भी कोई कर्म पुरुष के लिये बहुत ही कल्याणकारी कहा है ॥ ८४ ॥ इन सब में से आत्म-ज्ञान सब से उत्तम माना गया है, यह सब विद्याओं में मुख्य है, इसमें अमृत प्राप्त होता है † ॥ ८५ ॥ इन सारे छः कर्मों में से वैदिक कर्म सदा इस लोक और परलोक में कल्याणकारी जानना चाहिये ‡ ॥ ८६ ॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।

अन्तर्भवन्ति क्रम शस्तस्मिन्स्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

सुखाभ्युदयिकं चैव नैः श्रेयसिकमेव च ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक कर्म-योग में यह सारे क्रमशः अलग २ उभ २ क्रिया विधि में अन्तर्गत होते हैं § ॥ ८७ ॥ वैदिक कर्म दो प्रकार का है । प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप (इनमें से प्रवृत्ति-कर्म) सुख और स्वर्ग का साधन और (निवृत्ति-कर्म) मोक्ष का साधन है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तकर्म कीर्त्यते ।

निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति यच्च वै ॥ ९० ॥

* याज्ञ० ३।१९० † याज्ञ० १।१९९ आत्म-ज्ञान = परमात्मा का ज्ञान (मेधा० गोवि० कुल्लू० नन्द०) 'सर्वेषां' षष्ठी पञ्चमी के अर्थ में है । सब से बढ़कर (नन्द०) ‡ छः कर्म जो ८३ में कहे हैं ।

§ वेदाभ्यासादि आत्म-ज्ञान के साधन होने से आत्म-ज्ञान में ही आजाते हैं देखो बृह० १।४।२२

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति ॥९१॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।

आत्मज्ञाने शमे च स्यादेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥

एतद्विजन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशिषतः ।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति तान्प्रथा ॥९३॥

यहां त्रा परलोक की कामना को छोड़ने किंवा कर्म प्रवृत्त कर्म कहलाता है, और ज्ञानपूर्वक निष्काम-कर्म निर्वृत्त कहलाता है ॥९१॥ प्रवृत्त-कर्म को सेवन करके देवताओं की समता को प्राप्त होता है, निवृत्त को सेवन करता हुआ पांच भूतों को उलंघन करता है (मुक्त हो जाता है) ॥९०॥ सब भूतों में आत्मा की ओर सब भूतों को आत्मा में सम देखता हुआ आत्मा की पुजा की स्मरण (मोक्ष) को प्राप्त होता है * ॥ ९१॥ शास्त्रोक्त भी (अर्थ)

कर्मों का त्याग कर ब्राह्मण आत्म-ज्ञान में, शम में और विदाभ्यास में यत्न वाला हो ॥९२॥ यही जन्म की साफल्य है, विशेष

करके ब्राह्मण की इसको पाकर द्विज कृत-कृत्य होता है, अर्थात् विधि

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सत्तावत्तमः ।

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

यावेदबाह्याः स्मृतया याश्च काश्चकुदृश्यः ।

सर्वास्तपतिफलाः प्रेत्य तमपेक्षितानि स्मृतः ॥९५॥

* आत्मा का पुजाशी, सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करने वाला

† अन्य कर्म = अग्निहोत्रादि (मेषां गोविं कुल्लू) *
(कुल्लू राजा) है अर्थात्

उत्पद्यन्तेच्यवन्ते, च यान्यतो न्यानि कानिचित् ।
 तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनुतानि च ॥९६॥
 चातुर्वर्ण्यत्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
 भूतं भव्यं भविष्यं च सर्ववेदात्प्रसिध्यति ॥९७॥

वेद मनुष्यों का, देवताओं का और पितरों का सनातन नेत्र है (वेद सब को सीधा रस्ता दिखलाता है) वेद शास्त्र अशक्य है और अप्रमेय (जिसके प्रमेय की चाह नहीं) है, यह मर्यादा है * ॥ ९४ ॥ जो स्मृतियों वेद-मूलक नहीं, और जो कुदर्शन (कुतर्कों वाले दर्शन) हैं, वह सब परलोक में निष्फल हैं, वह अन्धकार से प्रकट हैं ॥ ९५ ॥ वेद से भिन्न (परलोक सम्बन्धी) जो कोई (शास्त्र) हैं, वह उत्पन्न होते हैं, और गिरते हैं, वह अब के किसी पुरुष से किये हुए होने से निष्फल हैं क्योंकि झूठे हैं ॥ ९६ ॥ अलग २ चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब वेद से जाना जाता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्चरूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रसिध्यन्ति प्रसूतिगुणकर्मतः ॥९८॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।

तस्मादेतत्परमं न्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

* अशक्य = मनुष्य से बनाए जाने के अशक्य है, अर्थात् अपौरुषेय है (गोवि० कुल्लू)

यथाजातबलो वन्निहर्दहत्याद्रानपिदुमान् ।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजंदोषमात्मनः ॥१०१॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध यह अपनी उत्पत्ति, गुण और कर्म द्वारा वेद से ही जाने जाते हैं * ॥१८॥ सनातन वेदशास्त्र मारे भूतों का पालन-पोषण करता है, इसलिये मैं इसको उत्तम मानता हूँ, जोकि इस मनुष्य के (लोक परलोक) का साधन है ॥ १९ ॥ सेनापति होने के, राजा होने के, दण्ड का नेता होने के, और सब लोकों का अधिपति होने के योग्य वेद-शास्त्र का जानने वाला होता है ॥१००॥ जैसे बड़ी हुई अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देती है, वैसे वेद का जानने वाला अपने कर्म जन्य दोषों को (ज्ञानाग्नि से) जला देता है ॥ १०१ ॥ वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाग्रन्थिभ्यो धारिणोवराः ।

धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाज्ञानिभ्योव्यवसायिनः ॥१०३॥

तपो विद्या च विप्रस्य निः श्रेयसकरं परम् ।

तपसाकिल्बिषंहन्तिविद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

वेद और शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला जिस किसी

* छपे पुस्तकों में ' प्रसूयन्ते ' पाठ है । टीकाकारों के अनुसार ' प्रविध्यन्ति ' चाहिये, सो वैसा कर दिया है । ' उत्पत्ति, गुण और कर्म द्वारा ' उत्पत्ति-शब्दादि की मूल-प्रकृति में कई एक परिणामों के अनन्तर आकाशादि से, गुण-आकाशादि के शब्दादि, कर्म-अवकाश देना आदि । यह सब भी वेद से ही जाने जाते हैं । † वासि० २७।२

आश्रम में रहता हुआ, यहाँ पृथिवी में रहता हुआ ही मुक्त होने के योग्य होता है ॥१०२॥ (वेद के सर्वथा) न जानने वालों से ग्रन्थों (ग्रन्थोंका पीठ पान्न करने वाले) श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थियों से धारने वाले (स्मरण रखने वाले) श्रेष्ठ हैं, धारने वालों से ज्ञानी (तात्पर्य को ज्ञानमें लीले) श्रेष्ठ हैं, ज्ञानियों से अनुष्ठानी श्रेष्ठ हैं ॥१०३॥ तप और विद्या ब्राह्मण के लिये सर्वोत्तम मोक्ष-साधन है, तप से पश्य को कूर करता है, विद्या से मोक्ष लाभ करता है ॥१०४॥

प्रत्यक्षं चिन्तिमानं च शास्त्रं चविविधागमम् ।

त्रयसुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥

आषधमापदेशच वेदशास्त्राऽविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्त सधर्मं वेदनेतरः ॥१०६॥

धर्म की शुद्धि चाहने वाल को प्रत्यक्ष, अनुमान अनेक प्रकार का शास्त्र यह तीनों भली भान्ति जानने चाहिये ॥१०५॥ वेद और धर्मापदेश को जो वेद और शास्त्र के अविरोधी तर्क से जानता है, वह धर्म को जानता है, दूसरा नहीं ॥१०६॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमेषतः ।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपादिश्यते ॥१०७॥

अनीघ्रातेषु धर्मेषु कथस्यादितिचेद्भवेत् ।

यन्मोक्षोपादानां सधर्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥

॥ १०७ ॥ यथोदितं = अपने २ आश्रम का कर्म, और विद्या = ब्रह्मज्ञान, अपदेश = धर्मशास्त्र । अविरोधी तर्क = जिस लौकिक वा अलौकिक फल को लक्ष्य रख कर जिसकी प्रवृत्ति हुई है, उस तक पहुँचाने वाला तर्क ।

यह मोक्ष-साधन कर्म यथावत् समग्रं कहा है, अर्थात् इस मोक्ष-साधन कर्म के विषय उपदेश करते हैं ॥ १०७ ॥ न वतलाष्ट धर्मों में कौमे (मर्यादा) हो, यदि यह (संशय) हो, तो जो शिष्ट ब्राह्मण कहें, वह निश्चित (मर्यादा) हान्ता चाहिये * ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञयाः श्रुतिप्रत्यक्षहतवः ॥ १०९ ॥

दशावरा वा परिषद्य धर्म परिकल्पयेत् ।

त्रयवरा वापि वृत्तस्था ते धर्म न विचालयेत् ॥ ११० ॥

त्रैविद्याहेतुकस्तर्का नेरुक्तो धर्मपाठकः ।

त्रयश्चाश्रुमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

जिन्हां ने मर्यादाऽनुसार परिबृहण समेत वेद को पढ़ा है, और जो श्रुति के प्रत्यक्ष के हेतु हैं (वेदार्थ में प्रत्यक्ष तुल्य निश्चय केरासक्त हैं) वह शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहिये ॥ १०९ ॥

यट भे यट दस की परिवर्त, जो सदाचार में स्थित है—वह, जो धर्म नियत कर, उस धर्म को न हिलाए ॥ ११० ॥ ऋचा, यजु, साम के जानने वाले (तीन पुरुष), एक नैयायिक, एक मीमांसक, एक नेरुक्त, एक धर्म-शास्त्री, और तीन पढ़ने आश्रमी (ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और गृहस्थ) यह दशावरा परिषद् है ॥ १११ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेवच ।

त्रयवरा परिषज्ज्ञया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

* १०८-११५ ब्राह्म० ३।२० गौत० २।८-११ आप० २। २९ ।

१३-१४ बौध्वा० १।१।१-१३, १६ याज्ञ० १९-२० । परिबृहण = जिन्हां से वेदार्थ-रूप बीज का फलाव होता है । अर्थात् अंग-उपांग ।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यन्व्यवस्येद्विजोत्तमः ।
 सविज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥
 अत्रतानाममन्त्राणां जाति मात्रोपजीविनाम् ।
 सहस्रशः समेतानां परिपत्त्वं न विद्यते ॥११४॥
 यंवदान्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
 तत्पापं शतधाभूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥११५॥
 एतद्वोऽभिहितं सर्वेभिः श्रेयसकरं परम् ।
 अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥
 एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया ।
 धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥
 सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चा सच्चममाहितः ।
 सर्वह्यात्मनिसंपश्यन्ना धर्मो कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

धर्म-विषयक संशय मिटाने में एक ऋग्वेद का जानने वाला,
 एक यजुर्वेद का जानने वाला, एक सामवेद का जानने वाला
 यह व्यवसाय परिषद् जाननी चाहिये ॥ १.१.२ ॥ (चारों) वेदों का
 जानने वाला एक भी ब्राह्मण जिस धर्म का निश्चय करे, वह
 उत्तम धर्म जानना चाहिये, न कि हम सहस्र अविद्वानों से कहा
 हुआ ॥११३॥ (ब्रह्मचर्य) व्रत में हीन, वेद के न जानने वाले,
 जाति-मात्रधारी ब्राह्मणों के सहस्रों के मिलने से भी परिषद् नहीं
 होती है ॥ ११४ ॥ जो धर्म उसके (धर्म के) न जानने वाले
 तमो-गुणी मूर्ख बतलाते हैं, वह भी गुणा पाप बनकर उस (धर्म)
 के बतलाने वालों को प्राप्त होता है ॥ १.१.५ ॥ यह उत्तम मोक्ष

साधन तुम्हें सारा बतला दिया है, इससे न फिसला हुआ ब्राह्मण परम-गति को प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥ इस प्रकार वह भगवान् देव(मनु राजा)लोकों के हित की कामना से धर्म का यह सारा गुह्य भेद मुझे बतलाता भया ॥ ११७ ॥ एकाग्र-मन होकर सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म को परमात्मा में देखे, क्योंकि सब को परमात्मा में देखता हुआ मन को अधर्म में नहीं लगाता है * ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥

स्वसन्निवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।

पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽयोगां वमूर्तिषु ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रेकान्ते विष्णुं बले हरम् ।

वाच्यामिभिर्त्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि ।

रुक्माभं स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

एतमेकैव दन्त्यामि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेकैरेप्राणम परे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

परमात्मा ही (इन्द्रादि) सारे देवता है, सब परमात्मा में स्थित है, परमात्मा ही उन देहधारियों के लिये कर्म-योग को उत्पन्न करता है (जिस पर चलने से मोक्ष मिलता है) ॥१२९॥

* कुल्लू नन्द ने आत्मा से परमात्मा अभिप्राय लिया है । गोविन्द ने आत्मा से अपना आत्मा लिया है। पर अगले श्लोक में उसने भी आत्मा से परमात्मा अभिप्राय लिया है ।

आकाश को (शरीर के) छेदों में मिलाए (बाह्य) चेष्टा और
स्पर्श में वायु को, पाक और दृष्टि (जठराग्नि और नेत्र की दृष्टि)
में बड़े तेज को (बाह्य आग्नि और सूर्य को) (शरीर के) स्नेह
में जल को, शरीर में पृथिवी को ॥ १.२० ॥ मन में चन्द्र को,
श्रोत्र में दिशाओं को, गति में विष्णु को, बल में शिव को, वाणी
में अग्नि को, पायु (गुदा) में मित्र को और उपस्थ में प्रजापति को
(मिलाए) ॥ १.२१ ॥ सब का शासन करने वाला, सूक्ष्म से
भी सूक्ष्म, सोने की आभा वाला, केवल समाधि ज्ञान से जानने
योग्य उसे परमपुरुष को जाने ॥ १.२२ ॥ इसको कई अग्नि कहते हैं,
दूसरे प्रजापति, कई इन्द्र दूसरे प्राण, कई सनातन ब्रह्म कहते हैं
एषसर्वाणिभूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयाति चक्रवत् ॥ १.२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परंपदम् ॥ १.२५ ॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।

भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टं प्राप्नुयाद्भक्तिम् ॥ १.२६ ॥

यह सब प्राणियों को पाचों भूतों के साथ लपेट कर जन्म
वृद्धि और मोक्ष के द्वारा सदा चक्रवत् घुमाता है ॥ १.२४ ॥ इस
प्रकार जो आत्मा से परमात्मा को सब भूतों में देखता है, वह
सब की समता को प्राप्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो मनु से
ऊंचा पद है * ॥ १.२५ ॥ भृगु से कहे इस मानव-शास्त्र को
पढ़ता हुआ द्विज सदाचारी होता है, और मनमानी गति पाता है
* मनुस्मृति समाप्त हुई *

* ' परं पद ' के स्थान नन्द० ' सनातन ' पढ़ता है ।

१-ईश उपनिषद्	=)	८-ऐतरेय उपनिषद्	=)
२-कैन उपनिषद्	=)	९-छान्दोग्य उपनिषद् १.॥=)	
३-कठ उपनिषद्	1-)	१०-बृहदारण्यक उपनिषद् १.॥=)	
४-प्रश्न उपनिषद्	1)	११-श्वेताश्वतर उपनिषद् 1)॥	
५,६-मुण्डक और माण्डूक्य-	2)	ग्यारह इकट्ठी लेने में	५1=)
७-ऐतरेय उपनिषद्	1=)		

[४] उपनिषदों पर बड़े उत्तम २ विचार के ग्रन्थ ।

(१) उपनिषदों की भूमिका—उपनिषदों के सभी विषय और उपनिषदों पर विचार करने वाले पुराने सभी आचार्यों के निदान इस में दिखलाए गए हैं । 1)॥

(२) उपनिषदों की शिक्षा—इस में सारी उपनिषदों के वाक्य लेकर एक २ विषय ऐसा पूर्ण बना दिया गया है कि पढ़ने वाला गूढ़ हो जाता है । इसके चार भाग हैं । (१) पहला भाग निरा परमात्मा के वर्णन में—परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े २ अद्भुत ३७ प्रकार के विचार हैं ॥=) (२) दूसरा भाग—आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ६८ प्रकार के विचार ॥) (३) तीसरा भाग—मर्ने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म, चरित और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में २५ प्रकार के विचार ॥) (४) चौथा भाग, उपासना, उपासना का फल, और मुक्ति के सम्बन्ध में ८१ प्रकार के विचार ॥=)

(३) मनुस्मृति—भाषा अर्थ बड़ा सरल, गूढ़ बातों का तात्पर्य खोला हुआ, मनुस्मृति पर संस्कृत में जो पुरानी सात टीका हैं, उनके तात्पर्य भी नीचे साथ २ । हर एक विषय पर दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ २ । आदि में विषय सूची और सारे श्लोकों का अक्षरानुअक्षर सूची भी दे दिया है । १)

(च) वेदों के उपदेश—(१) वेदोपदेश पहला भाग—भगवान

की महिमा वेद मन्त्रों में ॥१॥ (२) अथर्ववेद-मन्त्रों के लिये वेद के उपदेश ॥१॥ (३) अथर्ववेद-मन्त्रों के लिये वेद के उपदेश ॥१॥ (३) अथर्ववेद-मन्त्रों के लिये वेद के उपदेश ॥१॥

(ख) दर्शन शास्त्र (१) दर्शन शास्त्र-दो भागों में पहला भाग १॥॥=) दूसरा भाग १॥॥=) दोनों एकट्ठे १॥॥ (२) नव दर्शन-बड़ा खोल कर सज्जना हुआ ॥१॥ नव दर्शन संग्रह चार्वाक, बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, शिवाय, और वेदान्त इन नौ दर्शनों के सिद्धांतों का पूरा वर्णन २॥

(४) सांख्य शास्त्र-के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥॥॥ (ज) पारस्कर गृह्यसूत्र-संस्कारों की पद्धतियों, यज्ञों के वर्ण और हवा के सबकुछ इनमें है, दूसरा गृह्य के नाम से जाना जाता है ॥॥॥

(झ) स्वामी शङ्कराचार्य का जीवन चरित्र-इसी में कुमारिक भट्टाचार्य, और प्रसन्न मिश्र का जीवन चरित्र भी है ॥॥

(ग) धर्म के उपदेश-(१) उपदेश सप्तक १-७ (२) कर्मिक धर्म ७-१॥ (३) प्रार्थना पुस्तक -७ (४) ओङ्कार की उपासना और औदात्त्य -७ (५) वेद और समायण के उपदेश -७ (६) वेद और महाभारत के उपदेश -७ (७) वेद, मनु और गीता के उपदेश -७ (८) सामाजिक स्तुति संग्रह - ७ (९) चरित्र - ७

(८) श्रुत पुस्तकें-(१) बाल व्याकरण-संस्कृत भाषा का हिन्दी में बड़ा सरल व्याकरण । इस पर २००) इनाम मिला है ॥॥ (२) संस्कृत की प्रथम पुस्तक -७। (३) हिन्दी की पहली ७। (४) हिन्दी गुरुमुखी ७॥

पता—मैनेजर आर्ष-ग्रन्थावलि, लाहौर